

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग

में

पी-एच.डी.

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबंध

2010-11

(RJ. 252/2008)



शोध-निर्देशक

डॉ. सागरमल जैन
संस्थापक, निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

शोधार्थी

साध्वी प्रमुदिता श्री

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूं (राजस्थान) ३४९ ३०६

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग

में

पी-एच.डी.

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबंध

2010-11

(RJ. 252/2008)

3/2/2011
(RJ. 252/2008)

डॉ. सागरमल जैन

निदेशक

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

शोध-निर्देशक



शोधार्थी

साध्वी प्रमुदिता श्री

साध्वी प्रमुदिता

डॉ. सागरमल जैन
संस्थापक, निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूं (राजस्थान) ३४९ ३०६

प्रो. (डॉ.) सागरमल जैन

संस्थापक निदेशक

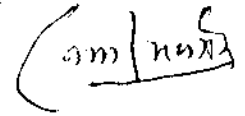
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

दिनांक : 22-03-2011

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि साध्वी श्री प्रमुदिता श्रीजी द्वारा प्रस्तुत “जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन” नामक शोध-प्रबन्ध मेरे निर्देशन में तैयार किया गया है। उन्होंने यह कार्य लगभग 1 वर्ष तक मेरे सानिध्य में रहकर पूर्ण किया है। मेरी दृष्टि में यह शोधकार्य मौलिक है और इसे किसी अन्य विश्वविद्यालय में पी-एच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है।

मैं इस शोध-प्रबन्ध को जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं की पी-एच.डी. की उपाधि हेतु समीक्षार्थ अग्रसारित करता हूँ।



प्रो. (डॉ.) सागरमल जैन

संस्थापक निदेशक

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

डॉ. सागरमल जैन

निदेशक

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

भूमिका

पाश्चात्य-मनोविज्ञान में प्राणीय-व्यवहार का प्रेरक तत्त्व मूलप्रवृत्तियों [Instinct] को माना गया है, इन्हीं प्राणीय-व्यवहार के प्रेरक-तत्त्वों को जैनदर्शन में 'संज्ञा' कहा गया है। जैनदर्शन और आधुनिक-मनोविज्ञान -दोनों में ये प्रवृत्तियाँ जन्मजात मानी गई हैं। प्राणीय व्यवहार की प्रेरक या संचालक इन मूलवृत्तियों को ही संज्ञा कहा जाता है, क्योंकि मूलप्रवृत्तियों के समान संज्ञा भी जन्मना होती है। एक अन्य अपेक्षा से, संसारी जीव के जीवत्व को जिससे जाना या पहचाना जाता है, उसे संज्ञा कहते हैं, वस्तुतः, जीव के जीवत्व को उसके बाह्य एवं आभ्यान्तर-व्यवहार से ही जाना जाता है, अतः जो इस व्यवहार का प्रेरक-तत्त्व है, वही संज्ञा है। संज्ञा शारीरिक-आवश्यकताओं एवं मनोभावों की वह मानसिक-संचेतना है, जो अभिलाषा या आकांक्षा के रूप में अभिव्यक्त होती है और हमारे व्यवहार की प्रेरक बनती है। संज्ञाओं से बाधित होकर ही जीव इस लोक में कर्म करता है और कर्म के परिणाम-स्वरूप जीव सांसारिक-सुख या दुःख को प्राप्त होता है। दूसरे, इन्हीं संज्ञाओं की उपस्थिति के कारण व्यक्ति तनावग्रस्त भी बनता है। क्षुद्र प्राणी से लेकर विकसित मनुष्य तक सभी संसारी जीवों में जो आहार, भय, मैथुन व परिग्रहरूप वृत्तियाँ पाई जाती हैं, जैनधर्म में उन्हें संज्ञा कहते हैं। जैनदर्शन में संज्ञा एक पारिभाषिक-शब्द है। उसमें संज्ञा की शास्त्रीय-परिभाषा इस प्रकार है - "वेदनीय तथा मोहनीय-कर्म के उदय से एवं ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय-कर्म के क्षयोपशम से आहारादि की प्राप्ति की जो अभिलाषा, रुचि या मनोवृत्ति है, वही संज्ञा है।" जैनागमों में संज्ञा शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जैसे -

1. नाम या वाचक शब्द के अर्थ में [Noun]
2. विवेकशक्ति के अर्थ में [Knowledge & Reason]

3. इच्छा या अभिलाषा के अर्थ में [Desire]

सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में 'संज्ञा' का अर्थ नाम है —“संज्ञा नामेत्युच्यते।” व्यक्ति, वस्तु, स्थान एवं भाव को जो नाम दिया जाता है, अर्थात् जिस नाम से वह पहचाना जाता है, व्याकरण-शास्त्र की अपेक्षा से उसे ही संज्ञा कहते हैं। यद्यपि संज्ञा के कारण ही व्यक्ति की अपनी पहचान होती है और उसी पहचान के कारण ही वह विश्व में जाना जाता है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में संज्ञा शब्द इस अर्थ में गृहीत नहीं है।

यदि संज्ञा की व्युत्पत्ति सम् + ज्ञान से मानें, तो वह विचार-विमर्श की प्रवृत्ति के रूप में सिद्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख करते हुए, उसमें संज्ञा को मतिज्ञान का पर्यायवाची माना गया है। मनुष्य में ज्ञानावरणीय-कर्म के क्षयोपशम से, जो ज्ञान व विवेक की शक्ति प्रकट होती है, उसे भी संज्ञा कहा गया है। इसी आधार पर, हित की प्राप्ति और अहित का त्याग करने की क्षमता जिस जीव में होती है, उसे संज्ञी कहा जाता है। यहाँ नोइन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए विवेक-सामर्थ्य को भी संज्ञा कहा गया है। विमर्श-रूप मन के अभाव अथवा अन्य इन्द्रियों के ज्ञान से युक्त जीव असंज्ञी होते हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में संज्ञा का यह अर्थ भी सीमित है। व्यापक अर्थ में संज्ञा संसारी जीवों के व्यवहार का प्रेरक दैहिक या चैतसिक-आन्तरिक-वृत्ति है।

क्योंकि जैनागमों में संज्ञा का एक अर्थ इच्छा या आकांक्षा [Desire] भी लिया गया है, फिर भी इच्छा, आकांक्षा तथा संज्ञा में अन्तर है। संज्ञा प्रसुप्त या अवचेतन में रही हुई इच्छा है। आहार आदि विषयों की अव्यक्त इच्छा को संज्ञा कहा गया है। यह प्रसुप्त चेतना वाले एकेन्द्रिय आदि में भी पाई जाती है। जैनदर्शन में जीव-वृत्ति [wants], क्षुधा [Appetite], अभिलाषा [Desire], वासना [Sex], कामना [wish], आशा [Expectation], लोभ [Greed], तृष्णा [Patience], आसक्ति [Attachment] और संकल्प [Will] ये सभी संज्ञा के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिनका सामान्य अर्थ शरीर, इन्द्रियों और मन की अपने विषयों की चाह से है। प्रत्येक जीव-तत्त्व, चाहे वह एकेन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय, उसमें आहार आदि संज्ञाएँ अव्यक्त या

व्यक्त रूप में अवस्था पाई जाती हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पशुजगत् तक प्राणी में जीववृत्ति के साथ-साथ क्षुधा का भी योग रहता है, लेकिन मानवीय-स्तर पर तो संज्ञा के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। इस स्तर पर अव्यक्त आकांक्षाएँ चेतना के स्तर पर आकर व्यक्त हो जाती हैं। वस्तुतः, जीववृत्ति से लेकर संकल्प तक के सारे स्तरों में इच्छा के मूलतत्त्व की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं है, चाहे वह आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की संज्ञा क्यों न हो, अन्तर है तो केवल चेतना में उसके स्पष्ट बोध का।

सभी प्राणीय-प्रवृत्तियों एवं आकांक्षाओं का मूल कारण संज्ञा है। वर्तमान युग में सामान्य मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान, बाल-मनोविज्ञान, काम-मनोविज्ञान आदि में प्राणियों की इन मूलवृत्तियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। जैनदर्शन की ये संज्ञाएँ वस्तुतः आधुनिक मनोविज्ञान की मूलवृत्तियों से बहुत कुछ समानता रखती हैं जो प्राणी की आन्तरिक-मनोवृत्ति और बाह्यप्रवृत्ति -दोनों को सूचित करती हैं, जिससे प्राणी की जीवन-शैली का भलीभांति अध्ययन हो सकता है। इन संज्ञाओं के अध्ययन द्वारा मनुष्य या किसी भी प्राणी की वृत्ति-प्रवृत्तियों का पता लगाकर उसके जीवन में सुधार या परिवर्तन लाया जा सकता है, इसी दृष्टि से संज्ञाओं के अध्ययन का जीवन में बहुत महत्त्व है। स्वयं की वृत्तियों को टटोलने और तदनुसार उसमें संशोधन-परिवर्द्धन करके हम आत्मचिकित्सा कर सकते हैं। अतीत काल से आज तक प्रत्येक प्राणी अनुकूल परिवेश में रहना चाहता है। वह प्रतिकूल परिवेश का त्याग कर अनुकूल परिवेश के साथ समायोजन करता है, किन्तु यहाँ प्रश्न है -

1. वह ऐसा क्यों करता है ?
2. किस प्रकार करता है ?
3. उसका उद्देश्य क्या है ?

उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियाँ हमें एक बार यह सोचने को विवश करती है कि उनके पीछे कौन-सा तत्त्व है। वस्तुतः उनके पीछे या मूल में जो तत्त्व है, वही संज्ञा है।

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, इसलिए चिन्तन और मनन करना उसका प्रधान लक्ष्य है। चिन्तन-मनन की योग्यता से ही आचरण में विवेकशीलता प्रकट होती है। विवेकपूर्ण आचरण में ही मानव-जीवन की महत्ता है। यों तो आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि सामान्य प्रवृत्तियाँ मनुष्य और पशु सबमें होती हैं, किन्तु अपनी विवेक-शक्ति के कारण ही मनुष्य उचित या अनुचित का भेद कर सकता है। ज्ञान न्यूनाधिक रूप में एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में होता है, फिर भी संज्ञी प्राणियों में विवेकशक्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

प्राणी-जगत् में आसक्ति या आकांक्षा का मूल कारण परिग्रह-संज्ञा है। परिग्रह-संज्ञा के कारण ही जीव सुख-दुःख की प्राप्ति करता है। सुख की प्राप्ति के लिए ही प्राणी पूरा संसार रचाता-बसाता है। चींटी रहने के लिए मिट्टी का टीला बनाती है, तो चूहे, साँप, छछून्दर आदि बिल बनाते हैं, पक्षी घोंसला बनाते हैं, तो जंगली पशु गुफाओं और कंदराओं में अपने रहने के लिए जगह खोजते हैं और मनुष्य अपने लिए मकान का निर्माण करते हैं—ऐसा क्यों? क्योंकि प्राणीमात्र की यह इच्छा होती है कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सुखपूर्वक रहे। वे घर इसलिए भी बनाते हैं, कि शीत, उष्ण एवं वर्षाकाल में वे सुरक्षित रह सकें, या फिर कोई बलवान् प्राणी उन पर हमला करे, तो वे अपने को सुरक्षित रख सकें। इस भय के कारण भी वे अपने लिए अनुकूल जगह की खोज करते हैं। आहार आदि चार संज्ञाएं बाह्य-रूप से दृश्य हैं, पर मानसिक-संज्ञाएं तो मन में जमी रहती हैं व जीवन-शैली को सतत दिशा देती रहती हैं। क्रोधादि कषायों एवं नोकषायों से सम्बन्धित जो मानसिक-संज्ञाएं हैं, वे कर्मों के बंध का मूल कारण हैं। प्राणी विषय-कषायों में पड़कर भवभ्रमण को बढ़ाता है एवं लक्ष्य से भटक जाता है। यहाँ तक कि जब जीव काम, वासना, क्रोध, लोभ आदि संज्ञाओं के वशीभूत हो जाता है, तो वह पशुतुल्य व्यवहार करता है। उसे हित-अहित का भान ही नहीं रहता। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि प्राणीय व्यवहार की प्रेरक होने से संज्ञाओं का हमारे जीवन में बहुत अधिक महत्त्व है।

संज्ञा के विभिन्न प्रकार एवं भेद -

जहाँ तक जैन-आगमों का प्रश्न है, उनमें संज्ञाओं की संख्या के सम्बन्ध में एकरूपता नहीं मिलती है। संज्ञा शब्द के विभिन्न अर्थों को लेकर उनका वर्गीकरण भी भिन्न-भिन्न रूप में हुआ है। संज्ञा का एक अर्थ आभोग है, अर्थात् जिसका अनुभव किया जाए, यह ज्ञानरूप है। इस आधार पर संज्ञाएं दो प्रकार की कही गई हैं -

1. क्षयोपशमजन्य और
2. उदयजन्य

पुनः, क्षयोपशमजन्य संज्ञाओं के भी अनेक भेद हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली मतिज्ञान के भेदरूप संज्ञाएं तीन हैं -

1. दीर्घकालोपदेशिकी-संज्ञा,
2. हेतुवादोपदेशिकी-संज्ञा
3. दृष्टिवादोपदेशिकी-संज्ञा

1. दीर्घकालोपदेशिकी-संज्ञा - अतीत, अनागत एवं वर्तमान का ज्ञान दीर्घकालोपदेशिकी-संज्ञा है। जैसे मैं यह करता हूँ, मैंने यह किया, मैं यह करूंगा, इत्यादि। अतीत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति दीर्घकालोपदेशिकी-संज्ञी है। यह संज्ञा मनःपर्याप्ति से युक्त गर्भज, तिर्यच, गर्भज मनुष्य, देव और नारक के ही होती है, क्योंकि त्रैकालिक चिन्तन उन्हीं को होता है। इस संज्ञा वाले प्राणी के सभी बोध स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

2. हेतुवादोपदेशिकी-संज्ञा - जिस संज्ञा के कारण को देखकर किसी कार्य का ज्ञान हो जाता है, या जिस संज्ञा द्वारा प्राणी अपने देह की रक्षा हेतु इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट में निवृत्ति करता है, वह हेतुवादोपदेशिकी-संज्ञा है। जैसे - गर्मी हो तो छाया में जाना, सर्दी हो, तो धूप में जाना, भूख लगने पर आहारादि के लिए प्रवृत्ति करना आदि। यह संज्ञा प्रायः वर्तमानकालीन प्रवृत्ति-निवृत्तिविषयक है। द्वीन्द्रिय आदि जीवों

को अतीत—अनागत की चेतना होती है, फिर भी उनका अतीत—अनागतकाल का चिन्तन अति अल्प होता है, अतः वे असंज्ञी हैं। इसी प्रकार, प्रवृत्ति, निवृत्ति से रहित एकेन्द्रिय जीव भी असंज्ञी ही हैं। यद्यपि पृथ्वी आदि में भी आहारादि दस संज्ञाओं की विद्यमानता प्रज्ञापनासूत्र में बताई गई है, तथापि वे संज्ञी नहीं कहलाते। कारण, उनमें ये संज्ञाएं अति अव्यक्त रूप में हैं। जैसे अल्पधन होने से कोई धनवान् नहीं कहलाता, या आकार—मात्र से कोई रूपवान् नहीं कहलाता, वैसे ही आहारादि संज्ञा होने से कोई संज्ञी नहीं कहलाता।

3. दृष्टिवादोपदेशिकी—संज्ञा — जिसमें सम्यक्त्व विषयक प्ररूपणा हो, अथवा आत्मा के हित—अहित को दृष्टिगत रखते हुए निर्णय करना दृष्टिवादोपदेशिकी—संज्ञा है। इस संज्ञा की अपेक्षा से ही क्षायोपशमिक—सम्यग्ज्ञानयुक्त सम्यग्दृष्टि—जीव संज्ञी कहे जाते हैं। मिथ्यादृष्टि सम्यक् ज्ञान से रहित होते हैं, फिर भी व्यवहार की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में कोई अन्तर नहीं होता। मिथ्यादृष्टि भी सम्यग्दृष्टि की तरह घट को घट ही कहता है, इस कारण दोनों संज्ञी कहे जाते हैं, तथापि तीर्थंकर परमात्मा द्वारा प्ररूपित वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा न होने से मिथ्यादृष्टि का व्यावहारिक—सत्यज्ञान भी अज्ञानरूप ही माना जाता है। वस्तुतः, अतीत वस्तु का स्मरण और अनागत की चिन्ता करना संज्ञा है। केवलज्ञानी के ज्ञान में त्रैकालिक सभी वस्तुएं सदाकाल प्रतिभासित होने से उन्हें स्मरण, चिन्तन करने की आवश्यकता ही नहीं है, अतः संज्ञा के इस अर्थ की अपेक्षा से क्षायोपशमिक ज्ञानी ही संज्ञी है।

4. उदयजन्य—संज्ञाएँ — कर्मों के उदय के कारण जो जीव आहारादि संज्ञाओं में स्थित रहता है, वह कर्मोदयजन्य संज्ञा कहलाती है। जैनागमों में कर्मोदयजन्य संज्ञा का वर्गीकरण अनेक प्रकार से मिलता है, जिसमें तीन वर्गीकरण प्रमुख हैं —

1. चतुर्विध वर्गीकरण — 1. आहारसंज्ञा, 2. भयसंज्ञा, 3. परिग्रहसंज्ञा और 4. मैथुनसंज्ञा।

2. दशविध वर्गीकरण — 1. आहार, 2. भय, 3. मैथुन, 4. परिग्रह, 5. क्रोध, 6. मान, 7. माया, 8. लोभ, 9. लोक और 10. ओघ।

3. षोडशविध वर्गीकरण — 1.आहार, 2. भय, 3. मैथुन, 4. परिग्रह, 5. क्रोध, 6. मान, 7. माया, 8. लोभ, 9. लोक, 10. ओघ, 11 सुख, 12. दुःख, 13. धर्म, 14. मोह, 15. शोक और 16. विचिकित्सा।

प्रस्तुत शोधकार्य का प्रयोजन एवं महत्त्व —

मनुष्य का व्यक्तित्व बहुआयामी है, उसमें इच्छा, आकांक्षा, कामना, भावना, तृष्णा, वासना, विवेक आदि अनेक पक्ष रहे हुए हैं। मानव—व्यक्तित्व को समझने के लिए इन सभी तत्त्वों को जानना आवश्यक है। प्राणीय—जीवन या मानव—व्यक्तित्व के इन सभी पक्षों को समाहित करने के लिए जैनदर्शन में संज्ञा की अवधारणा प्रस्तुत की गई है। वासना और विवेक मानव—जीवन के अनिवार्य अंग हैं। जैनदर्शन में इन दोनों पक्षों को संज्ञा शब्द में समाहित किया है। आधुनिक मनोविज्ञान इन्हें मूलप्रवृत्तियों के रूप में मानता है।

‘बृहदारण्यकोपनिषद्’ में कहा गया है कि ‘यह पुरुष कामनामय है’, जैसी उसकी कामना होगी, वैसा ही उसका चरित्र और व्यक्तित्व होगा। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि संज्ञा व्यक्ति के व्यक्तित्व का एक निर्धारक—तत्त्व है। व्यक्तित्व के समग्र अध्ययन के लिए संज्ञाओं और उनके पारस्परिक संबंधों एवं प्रभावों को जानना आवश्यक है, क्योंकि वे ही हमारे सारे बाह्य और आभ्यन्तर—व्यवहार को नियंत्रित करती हैं। संज्ञाओं अर्थात् मूलवृत्तियों [Instinct] या व्यवहार के प्रेरक—तत्त्वों को जाने बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो सकता, अतः व्यक्तित्व के सम्यक् अध्ययन के लिए संज्ञा की अवधारणा का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि इन संज्ञाओं के स्वरूप को समझकर ही हम यह निर्धारित कर सकते हैं कि किन परिस्थितियों में व्यक्ति किस प्रकार का व्यवहार करेगा। संज्ञाएँ व्यवहार की प्रेरक हैं— प्रेरकों के अध्ययन के बिना व्यवहार का अध्ययन सम्भव नहीं है।

इस प्रकार, प्रस्तुत शोध का प्रथम प्रयोजन यह बताना है कि मानव-जीवन के प्रेरक-तत्त्व कौन-कौन से हैं। भारतीय-चिन्तन में मनुष्य और पशु के व्यवहार की तुलना करते हुए कहा गया है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये चारों क्रियाएँ दोनों में समान रूप से पायी जाती हैं, परंतु मनुष्य की यह विशेषता है कि उसमें वासना एवं विवेक—दोनों के होते हुए भी उसके व्यवहार का नियंत्रण विवेक भी करता है, मात्र वासनाएँ नहीं, क्योंकि कहा गया है “विवेक से हीन मनुष्य पशु के समान है।” अतः, यह समझना आवश्यक है कि मनुष्य विवेक-बुद्धि से किस प्रकार अपनी मूल प्रवृत्तियों को संयमित करके आत्मकल्याण के सोपान पर अपने कदमों को अग्रसर करे।

प्रस्तुत शोध का दूसरा प्रयोजन यह बतलाना है कि संज्ञाएँ किस प्रकार से मानवीय-व्यवहारों को प्रभावित करती हैं। संज्ञा से चालित होकर मनुष्य भव-भ्रमण को बढ़ाता है और कर्मों का बंध करता जाता है। कामना, इच्छा, आशा, अभिलाषा, वासना, तृष्णा, आसक्ति आदि को जनसाधारण छोड़ तो नहीं सकता, पर विवेकपूर्वक उन पर अंकुश तो लगा ही सकता है। क्षुधानिवृत्ति हेतु भोजन से विमुख तो नहीं हो सकते, किन्तु क्या खाना, कब खाना, कितना खाना—इसका विवेक तो रख सकते हैं। इच्छाओं पर इतना अंकुश लगाने के लिए प्रयत्न तो अवश्य किया जाना चाहिए, जिससे कर्मों का बंध कम हो और संतोषप्रद ढंग से जीवन का निर्वाह भी हो सके।

प्रस्तुत शोधकार्य के तीसरे प्रयोजन में यह बताया है कि वर्तमान परिवेश में मानव स्वास्थ्य के प्रति जाग्रत हुआ है। साथ-ही-साथ वह मानसिक-शान्ति को भी प्राप्त करना चाहता है। आहार-संज्ञा पर विवेक रखने का अर्थ शरीर को स्वस्थ बनाना है, वहीं क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मानसिक-आवेगों पर संयम रखकर मानसिक-शान्ति को प्राप्त किया जा सकता है। आज न केवल जनसाधारण, अपितु प्रबुद्धवर्ग भी भौतिक चकाचौंध के कारण यह निर्णय नहीं ले पाते कि वे अपने जीवन को किस प्रकार से संयमित करें और साथ ही मानसिक-शान्ति को किस प्रकार से

प्राप्त करें। इस प्रकार, प्रस्तुत शोध का प्रयोजन प्राणी की मूलभूत वृत्तियों के आधार पर उनके जीवन की सम्यक् दिशा का निर्धारण करना है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में 'संज्ञा' विषय चुनने के पीछे मेरा उद्देश्य यही रहा था कि संज्ञाएं प्राणीय-व्यवहार की मूलभूत प्रेरक-तत्त्व हैं। मेरी जानकारी के अनुसार, मात्र संक्षिप्त लेखादि के द्वारा अपने विचारों को व्यक्त किया है। जैनागमों में संज्ञाओं की विवेचना मिलती है, परन्तु प्रज्ञापना के अतिरिक्त ऐसा कोई भी ग्रन्थ देखने में नहीं आया, जिसमें विस्तृत रूप से संज्ञाओं की विवेचना की गई हो। प्रज्ञापना में भी मात्र दस संज्ञाओं और उनके अर्थ का संक्षिप्त विवेचन है। आधुनिक-मनोविज्ञान में मैकड्यूगल ने मूलवृत्ति के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था। उन्होंने मूलवृत्तियों की संख्या चौदह मानी है— 1. भोजन ढूँढना, 2. भागना, 3. लड़ना, 4. उत्सुकता, 5. रचना, 6. संग्रह, 7. विकर्षण, 8. समर्पण, 9. काम, 10. वात्सल्य, 11. सामाजिकता, 12. आत्मप्रकाश, 13. विनीतता और 14. हंसना।

मनोविज्ञान के अतिरिक्त बौद्धदर्शन में भी संज्ञाओं की चर्चा है, किन्तु वह चैतसिकों के रूप में मिलती है। बौद्धदर्शन में चैतसिक धर्म के बावन भेद किए हैं, जिनमें अकुशल चैतसिक और कुशल चैतसिकों की चर्चा है। जैनदर्शन में स्वीकृत लगभग सभी संज्ञाएं बौद्ध-दर्शन के अकुशल चैतसिकों के वर्गीकरण में आ जाती हैं। इतना ही नहीं, वरन् बौद्ध-दार्शनिक उनका काफी गहन विश्लेषण भी प्रस्तुत करते हैं, लेकिन मूलभूत धारणाओं के विषय में दोनों का दृष्टिकोण समान ही है। इस प्रकार प्रस्तुत शोधप्रबन्ध मैंने एक तुलनात्मक दृष्टि से भी विवेचन प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार मैंने यह देखा है कि जैनदर्शन के अनुसार संज्ञाएँ (सण्णा) प्राणी-जीवन के वासनात्मक-पक्ष को निर्देशित करती है, फिर भी यह आवश्यक माना गया है कि वासनाओं पर विवेक का अंकुश सदा बना रहे। यह सत्य है कि हमारे लौकिक-अस्तित्व में वासनाएँ रही हुई हैं। जब तक शरीर है, शारीरिक-धर्म रहेंगे, किन्तु इन पर विजय प्राप्त करना ही जैन-दार्शनिकों का मुख्य लक्ष्य रहा है। जैनदर्शन के अनुसार, वासना पर विवेक का अंकुश ही सही अर्थ में साधना है,

इसीलिए जैन आचार्यों ने यह माना है कि विवेकात्मक—संज्ञा के द्वारा जीव अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है।

इस प्रकार, जैनदर्शन में संज्ञा के विवेकात्मक और वासनात्मक —दोनों पक्षों को स्वीकार करते हुए भी वासनाओं पर विवेक के द्वारा विजय की बात कही गई है।

इस प्रकार, प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में संज्ञा शब्द के विविध अर्थों का स्पष्टीकरण करते हुए यह बताया गया है कि वासनात्मक—संज्ञाओं पर विवेक या धर्म—संज्ञा के द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है।

शोधप्रबंध के प्रथम अध्याय में हमने 'संज्ञा' शब्द के वासनात्मक और विवेकात्मक —इन दोनों पक्षों का निरूपण करके, फिर प्रत्येक संज्ञा के स्वरूप को समझाया है और उन संज्ञाओं पर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है, इसका भी निर्देश किया है।

इस प्रकार, प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के प्रथम अध्याय में संज्ञा के स्वरूप की और उस पर नियन्त्रण कैसे हो —इसकी सामान्य चर्चा की गई। दूसरे में आहार—संज्ञा, तीसरे में भय—संज्ञा, चौथे में मैथुन—संज्ञा, पांचवें में परिग्रह—संज्ञा, छठवें में क्रोध—संज्ञा, सातवें में मान—संज्ञा, आठवें में माया—संज्ञा, नौवें में लोभ—संज्ञा, दशवें में लोक और ओघ—संज्ञा, ग्यारहवें में सुख और दुःख—संज्ञा, बारहवें में धर्म—संज्ञा, तेरहवें में मोह, शोक और विचिकित्सा (जुगुप्सा)—संज्ञा का विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबंध का चौदहवां अध्याय जैनधर्म की संज्ञा की अवधारणा और बौद्धधर्म की चैतसिकों की अवधारणा से तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करता है। पन्द्रहवें अध्याय में संज्ञा की जैनदर्शन की अवधारणा और मनोवैज्ञानिक मैकड्यूगल की मूलवृत्ति की अवधारणा का तुलनात्मक—विवेचन प्रस्तुत किया है और सोलहवें अध्याय में पूर्व अध्यायों की विषयवस्तु का उपसंहार किया गया है।

कृतज्ञता—ज्ञापन

सर्वप्रथम मैं हृदय की असीम आस्था के साथ नतमस्तक हूँ धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले परमतारक सिद्ध बुद्ध निरंजन निराकार परमात्मा एवं उनके शासन को, जिन्होंने अपने साधना के माध्यम से केवलज्ञान के आलोक को उपलब्ध किया एवं उनकी कल्याणकारिणी वाणी के प्रति, जो मेरी श्रुतसाधना के अवलंबन बने। मेरी दर्शन—विशुद्धि, आत्मविशुद्धि के साथ इस कृति के सर्जन का भी आधार बनी है।

इस शोध—कार्य की सम्पन्नता महान आत्म साधिका, भाववत्सला प.पू. गुरुवर्या श्री अनुभवश्री जी म.सा. की दिव्य कृपा के बिना संभव नहीं थी। उनकी अदृश्य प्रेरणा ही मेरे आत्मविश्वास का अटल आधार बनी। प.पू. सुप्रसिद्ध गुरुवर्या श्री हेमप्रभा श्री जी म.सा. (सांसारिक भुआ जी म.सा.) की पावन स्मृति मेरी आत्मतृप्ति का अलौकिक अमृत है, वे मेरी चेतना है वे मेरी प्रेरणा है, दीक्षा दात्री हैं एवं जिनका शिष्यत्व मेरे लिए गौरव का विषय है। गुरु समर्पिता विनीतप्रज्ञा श्रीजी म. सा. जिनकी प्रेरणा ही मेरे अध्ययन का आधार थी। परंतु कालचक्र के क्रूरप्रहार ने गुरुवर्याश्री को और उन्हें हमसे अलग कर दिया। मैं उनके साथ अल्पावधि तक ही रह पाई, उनकी अदृश्य प्रेरणा ही मेरे आत्मविश्वास का आधार है, उनका मंगलमय आशीर्वाद मेरे जीवन पथ को सदा आलोकित करता रहे, इन्हीं आकांक्षाओं के साथ आराध्य चरणों में अनन्तशः वंदना समर्पित।

जिनके आशीर्वाद एवं स्नेह की मुझे सदा अपेक्षा है; प.पू. सुदीर्घसंयमी विनोदश्री जी म.सा. (सांसारिक बड़ी भुआ जी म.सा.) एवं प.पू. आदर्श संयमी सेवामूर्ति विनयप्रभाश्री जी म.सा.। मेरी आत्मीय गुरुभगिनी कोकिलकंठी श्री कल्पलता श्री जी म.सा. जिन्होंने लंबी अवधि से अधूरे रहे इस शोध कार्य को पूर्ण करने हेतु प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच भी मुझे वापस शाजापुर भेजा, वह मेरे प्रति उनके अनन्य प्रेम का साक्षी है। वे मेरे अपने हैं, उनके प्रति कृतज्ञता कर परायेपन

की प्रतीति कराने का अक्षम्य अपराध नहीं करूंगी, आपका स्नेहिल सहयोग मुझे सदा मिलता रहे, यही शुभाकांक्षा।

प.पू. विनीतयशा श्रीजी म.सा., प्रियवंदा श्रीजी म.सा., अमितयशा श्रीजी म.सा., श्रद्धांजना श्रीजी म.सा., शीलांजना श्रीजी म.सा., दीपमाला श्रीजी म.सा., दीपशिखा श्रीजी म.सा., प्रशमिता जी, अर्हमनिधि जी, धर्मनिधि जी, जयप्रिया जी एवं कल्याणमाला जी का अविस्मरणीय सहयोग मेरी श्रुतसाधना का प्राण है।

प्रतिभामूर्ति प.पू. शुद्धांजना श्रीजी म.सा., कर्मठ एवं सेवाभावी सदाप्रसन्ना योगांजना श्रीजी म.सा. एवं अध्ययनरता संवेगप्रिया श्री जी का सहयोग तो कृति के साथ सदा जुड़ा ही रहेगा। जिन्होंने मेरे अध्ययन को प्रमुखता दी, जिनकी स्नेहिल सहयोग सद्भावमय सन्निधि में यह कार्य संपन्न हुआ। उनकी निर्मल सेवायें कदम-कदम पर स्मरणीय रही हैं। इनका मेटर कलेक्शन, प्रूफरीडिंग में पूर्ण सहयोग रहा है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर उनकी आत्मीयता का अवमूल्यन नहीं करूंगी, बस इन सभी के स्नेह सहयोग से मेरी संयम यात्रा, ज्ञानयात्रा और साधना यात्रा सतत गतिमान रहे, यही चाहूंगी। इसी प्रसंग पर मुनि प्रवर श्री महेन्द्रसागरजी म.सा., मनीषसागरजी म.सा. आदि सन्तों एवं साध्वी प्रियश्रद्धांजना श्रीजी एवं प्रियश्रेष्ठांजन का सहयोग एवं मार्गदर्शन सदैव स्मरणीय रहेगा।

इस कार्य का परम एवं चरम श्रेय प्रज्ञाप्रोज्ज्वल भास्वर व्यक्तित्व के धनी, जैन धर्मदर्शन के मूर्धन्य विद्वान, आगम मर्मज्ञ, भारतीय संस्कृति के पुरोधा डॉ. सागरमलजी जैन को है। जिन्होंने इस शोधप्रबन्ध को प.पू. गुरुवर्या श्री के सपने के अनुरूप साकार करने में पूर्ण रूपेण सहयोग दिया और विषयवस्तु को अधिकाधिक प्रासंगिक, उपादेय बनाने हेतु सूक्ष्मता से देखा, परखा और आवश्यक संशोधनों के साथ मार्गदर्शन प्रदान किया। यद्यपि वे नाम-स्पृहा से पूर्णतः विरत हैं तथापि इस कृति के प्रणयन के मूल आधार होने से इसके साथ उनका नाम सदा- सदा के लिए स्वतः जुड़ गया है। वे मेरे शोध-प्रबन्ध के दिशा-निर्देशक ही नहीं हैं वरन् मेरे आत्मविश्वास के प्रतिष्ठाता भी हैं। उनका दिशानिर्देशन ही इस शोधकार्य का सौंदर्य

है। उनका वात्सल्यभाव एवं असीम आत्मीयता मेरे जीवन का गौरव है जो आजीवन बना रहे, यही गुरुदेव से प्रार्थना है

संस्कृतभाषा एवं न्याय के प्रकाण्ड विद्वान डॉ. बलराम गुरुजी (नेपाल) जिन्होंने मुझे संस्कृत और न्याय की शिक्षा दी और उन सभी गुरुजन एवं शिक्षकगणों को जिन्होंने मुझे ज्ञानार्जन हेतु हमेशा प्रेरित और प्रोत्साहित किया। उन सबके प्रति भी अपना आभार प्रकट करती हूँ।

वैसे तो शाजापुर मेरा मूल वतन है, यहाँ के सभी स्वजन-परिजन मेरे अपने हैं, फिर भी 'शाजापुर श्रीसंघ' के सदस्यों की आत्मीय स्मृतियाँ इस श्रुतसाधना में सहयोगी रही।

'मध्यप्रदेश की काशी' के नाम से प्रसिद्ध, प्राकृतिक सौंदर्य के मध्य स्थित सुरम्य 'प्राच्य विद्यापीठ' का विशाल पुस्तकालय एवं सुविधाएँ युक्त शान्त वातावरण, इस लक्ष्य की प्राप्ति में सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुआ है।

इस शोध-सामग्री को कम्प्यूटराइज़्ड करने में राजा 'जी'. ग्राफिक्स, शाजापुर के श्री शिरीष सोनी एवं प्रूफ-संशोधन में श्री चैतन्यकुमार जी सोनी शाजापुर का विशिष्ट सहयोग रहा है। प्राच्य विद्यापीठ में कार्यरत विद्वद्वर्य राम जी एवं प्रवीण जी शर्मा का सहयोग भी अनुमोदनीय रहा एतदर्थ उनके प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस शोध प्रबंध के प्रणयन् में जो भी सहयोगी बने, उन सबके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

इस सम्पूर्ण शोध प्रबंध में अज्ञान एवं प्रमादवश त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक है। अतः प्रबुद्ध पाठक अपने सुझाव एवं मंतव्य प्रस्तुत करने हेतु सादर आमंत्रित हैं। अन्त में शास्त्र विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

— मिच्छामि दुक्कडं।

अध्याय – 1

1-33

1. विषय प्रवेश
2. संज्ञा की परिभाषा और स्वरूप
3. संज्ञा के विभिन्न प्रकार चार, दस एवं सोलह
4. संज्ञा इच्छा या आकांक्षा के रूप में
5. संज्ञा बौद्धिक विवेक के रूप में
6. संज्ञा व्यवहार के प्रेरक तत्त्व के रूप में
7. अन्य धर्मदर्शनों में संज्ञा की अवधारणा
8. आधुनिक मनोविज्ञान में संज्ञा मूल प्रवृत्तियों के रूप में

अध्याय – 2 आहार संज्ञा

34-91

1. आहार संज्ञा का स्वरूप एवं लक्षण
2. आहार संज्ञा के उद्भव के कारण
3. आहार के विभिन्न प्रकार
4. विभिन्न जीवोन्तियों में आहार का स्वरूप
5. खाद्य-अखाद्य विवेक
6. अनंतकाय एवं भक्ष्य-अभक्ष्य
7. जैन दर्शन में भक्ष्य-अभक्ष्य विवेक और उसकी प्रासंगिकता

1. भय का स्वरूप और लक्षण
2. भय के कारण और भय के दुष्परिणाम
3. भय के प्रकार
4. सप्तविध भय की अवधारणा और उसका विश्लेषण
5. आधुनिक मनोविज्ञान में भय की अवधारणा और उसकी जैन दर्शन में तुलना
6. भय मुक्ति और अभय की साधना
7. वैश्विक शस्त्रों की दौड़ का कारण भय
8. अभय और विश्वशांति

1. कामवासना का स्वरूप और लक्षण
2. कामवासना के प्रकार
3. जैनदर्शन की वेद (कामवासना) और लिंग (शारीरिक संरचना) की अवधारणा
4. जैनदर्शन की मैथुन संज्ञा की फ्रायड के लिबिडो से तुलना एवं समीक्षा
5. कामवासना के दमन एवं निरसन के संबंध में जैन दृष्टिकोण
6. व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास और कामवासना
7. वासना-जय की प्रक्रिया और ब्रह्मचर्य की साधना

1. परिग्रह का स्वरूप एवं लक्षण
2. जैन दर्शन में परिग्रह के प्रकार
3. परिग्रह या संचयवृत्ति के दुष्परिणाम
4. जैन दर्शन में परिग्रह वृत्ति के नियंत्रण के उपाय – परिग्रह परिमाण व्रत
5. परिग्रह वृत्ति के विजय के संबंध में गांधीजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धांत
6. धन अर्जन की वृत्ति एवं धनसंचय की वृत्ति में अंतर
7. ममत्ववृत्ति का त्याग एवं समत्ववृत्ति का विकास

अध्याय -- 6 क्रोध संज्ञा

291-324

1. क्रोध का स्वरूप एवं लक्षण
2. क्रोध के विभिन्न रूप
3. क्रोध के दुष्परिणाम
4. क्रोध पर विजय के उपाय
5. आधुनिक मनोविज्ञान में क्रोध-संवेग और आक्रामकता की मूलवृत्ति

अध्याय --7 मान संज्ञा (अहंकार संज्ञा)

325-350

1. मान का स्वरूप एवं लक्षण
2. मान के विभिन्न रूप
3. मान के दुष्परिणाम
4. मान पर विजय के उपाय

अध्याय -- 8 माया संज्ञा

351-372

1. माया का स्वरूप
2. माया के विभिन्न रूप
3. माया के दुष्परिणाम
4. माया पर विजय कैसे ?

अध्याय -- 9 लोभ संज्ञा

373-404

1. लोभ का स्वरूप एवं लक्षण
2. लोभ के विभिन्न रूप
3. लोभ के दुष्परिणाम
4. लोभ पर विजय कैसे ?

अध्याय – 10 लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा

405–420

1. लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा का स्वरूप
2. लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा में समानता और भेद
3. ओघ संज्ञा की उपादेयता और लोक संज्ञा की हेयता का प्रश्न
4. लोक संज्ञा पर विजय कैसे ?
5. ओघ संज्ञा पर विजय कैसे ?

अध्याय – 11 सुख संज्ञा और दुःख संज्ञा

421–447

1. सुख और दुःख का अर्थ तथा उनकी सापेक्षता
2. सुख व्यवहार के प्रेरक के रूप में और दुःख व्यवहार के निवर्त्तक के रूप में
3. सुखवाद की अवधारणा और उसकी समीक्षा
4. सुख और आनंद का अन्तर

अध्याय – 12 धर्म संज्ञा

448–485

1. धर्म की परिभाषाएँ
2. धर्म का सम्यक् स्वरूप
3. धर्म की जीवन में उपादेयता
4. धर्म मोक्ष का साधन

अध्याय – 13

486–531

(अ) मोह संज्ञा

1. मोह संज्ञा का स्वरूप
2. मोह के प्रकार
3. मोह मोक्ष में बाधक
4. मोह पर विजय कैसे ?

(ब) शोक संज्ञा

1. शोक संज्ञा का स्वरूप
2. शोक आर्त्तध्यान का ही एक रूप है।
3. शोक के दुष्परिणाम
4. शोक पर विजय कैसे ?

(स) विचिकित्सा (जुगुप्सा) संज्ञा

1. विचिकित्सा (जुगुप्सा) का स्वरूप
2. जुगुप्सा आवश्यक भी और अनावश्यक भी
3. विचिकित्सा के प्रकार
4. विचिकित्सा पर विजय कैसे ?

अध्याय –14

532–535

जैन धर्म की संज्ञा की अवधारणा की बौद्ध धर्म की चैतसिकों की अवधारणा से तुलना।

अध्याय – 15

536–543

जैनदर्शन की संज्ञा की अवधारणा और मनोवैज्ञानिक मैकड्यूगल की मूलवृत्ति की अवधारणा का तुलनात्मक विवेचन।

अध्याय – 16

544–563

1. संज्ञा और विवेक
2. संज्ञा और संज्ञी में अन्तर
3. संज्ञा विवेकशीलता के रूप में
4. उपसंहार

सन्दर्भ ग्रंथ सूची –

1–8

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 1

1. विषय प्रवेश
2. संज्ञा की परिभाषा और स्वरूप
3. संज्ञा के विभिन्न प्रकार चार, दस एवं सोलह
4. संज्ञा इच्छा या आकांक्षा के रूप में
5. संज्ञा बौद्धिक विवेक के रूप में
6. संज्ञा व्यवहार के प्रेरक तत्त्व के रूप में
7. अन्य धर्मदर्शनों में संज्ञा की अवधारणा
8. आधुनिक मनोविज्ञान में संज्ञा मूल प्रवृत्तियों के रूप में

अध्याय-1

विषय प्रवेश

संज्ञा का स्वरूप एवं परिभाषाएँ

पाश्चात्य-मनोविज्ञान में प्राणीय-व्यवहार के प्रेरक तत्त्वों को मूल प्रवृत्तियाँ (Instinct) माना गया है। इन्हीं प्राणीय-व्यवहार के प्रेरक तत्त्वों को जैनदर्शन में संज्ञा कहा गया है। जैनदर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान-दोनों में इन व्यवहार के प्रेरक तत्त्वों को जन्मजात माना गया है और इसीलिए इन्हें मूल-प्रवृत्ति कहा गया है। जैनदर्शन में प्राणीय-व्यवहार की प्रेरक या संचालक इन मूलवृत्तियों को ही संज्ञा कहा जाता है और मूल प्रवृत्तियों के समान ही संज्ञा को भी जन्मना माना गया है। कहा गया है कि सभी प्राणियों में आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा (संचयवृत्ति) जन्मना ही पायी जाती है। एक अन्य अपेक्षा से, संसारी-जीव के जीवत्व को, अर्थात् उसकी जीवन जीने की वृत्ति को जिससे जाना या पहचाना जाता है, उसे संज्ञा कहते हैं, अतः जो व्यवहार का प्रेरक-तत्त्व है, वह संज्ञा है। संज्ञा शारीरिक-आवश्यकताओं एवं मनोभावों की वह मानसिक-सचेतना है, जो अभिलाषा या आकांक्षा के रूप में अभिव्यक्त होती है और हमारे व्यवहार की प्रेरक बनती है। संज्ञाओं से बाधित होकर ही जीव इस लोक में कर्म करता है और कर्म के परिणाम स्वरूप जीव सांसारिक-सुख या दुःख को प्राप्त होता है और संज्ञाओं की उपस्थिति के कारण ही तनावग्रस्त भी बनता है। क्षुद्र प्राणी से लेकर विकसित मनुष्य तक सभी संसारी-जीवों में आहार, भय, मैथुन व परिग्रह-रूप जो चार प्रकार की वृत्तियाँ पायी जाती हैं, उन्हें ही संज्ञा कहते हैं।

जैनदर्शन में संज्ञा एक पारिभाषिक-शब्द है। 'सम' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु से निष्पन्न 'संज्ञा' शब्द व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि में किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थानादि के नाम का वाचक होता है। अंग्रेजी भाषा में जिसे Noun कहा जाता है, उसे ही

संस्कृत और हिन्दी में संज्ञा कहते हैं। इसकी यह 'संज्ञा' है, अर्थात् इस वस्तु या व्यक्ति का यह 'नाम' है।

तत्त्वार्थसूत्र¹ में संज्ञा शब्द का प्रयोग मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द के रूप में हुआ है। आठवीं शती के जैन-नैयायिक अकलंक ने संज्ञा शब्द का प्रयोग प्रत्यभिज्ञान-प्रमाण के लिए किया है, किन्तु आगम में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि के रूप में जिन संज्ञाओं की चर्चा है, वस्तुतः वे अभिलाषा-रूप हैं। व्यक्ति की अभिलाषा को व्यक्त करने के लिए संज्ञा शब्द का प्रयोग हुआ है। वेदनीय तथा मोहनीय-कर्म के उदय से एवं ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय-कर्म के क्षयोपशम से आहारादि की प्राप्ति की जो अभिलाषा, रुचि या मनोवृत्ति है, वही संज्ञा है। पंचसंग्रह में कहा गया है -जिससे संक्लेषित होकर जीव इस लोक में और जिनके विषय का सेवन करके इहलोक और परलोक में दारुण दुःख को प्राप्त होता है उनको संज्ञा कहते हैं।² गोम्मटसार के अनुसार नोइन्द्रियावरण-कर्म के क्षयोपशम से होने वाले ज्ञान को संज्ञा कहते हैं।³ ज्ञानमुनि ने संज्ञा शब्द के दो अर्थ बतलाए हैं - 1. संज्ञान (अभिलाषा, रुचि, वृत्ति या प्रवृत्ति), अर्थात् आयोग (झुकाव, रुझान) ग्रहण करने की इच्छा संज्ञा है।⁴ जीव जिसके निमित्त से भली-भांति जाना पहचाना जाता है, उसे संज्ञा कहते हैं।⁵ व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में कह सकते हैं कि 'संज्ञान संज्ञा आभोग इत्यर्थः यदिवा संज्ञायते अनया अयं जीवः इति संज्ञा'। जिससे जीव का सम्यक् रूपेण ज्ञान होता है, जीव को जाना या पहचाना जाता है, उसे संज्ञा कहते हैं। पूर्व में जहाँ संज्ञा शब्द अभिलाषा या वासना का प्रतीक माना गया, वहीं यहाँ संज्ञा शब्द ज्ञानार्थक माना गया है। वस्तुतः, जैन-आगमों में संज्ञी शब्द का प्रयोग होता है, यहाँ

¹ मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽऽभि - निबोध इत्यनर्थान्तरम् - तत्त्वार्थसूत्र (1.13)

² पंचसंग्रह प्राकृत - 1/51 तथा पंचसंग्रह संस्कृत 1/344

³ गोम्मटसार जीवकाण्ड - /मू./660 णो इंदियआवरणखओवसमं तज्जवोहणं सण्णा ।

⁴ सर्वार्थ-सिद्धि. 1/13

⁵ प्रज्ञापना सूत्र 8/725 का विवेचन।

संज्ञा शब्द ज्ञानार्थक होता है और जहाँ आहारादि संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता है, वहाँ उसे वासनात्मक—अभिलाषा के अर्थ में माना जाता है।

जैनागमों में संज्ञा शब्द को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है —

1. नाम या पहचान के अर्थ में {Noun}
2. ज्ञानवृत्ति या विवेक के अर्थ में {Knowledge & Reason}
3. इच्छा के अर्थ में {Desire}

सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में 'संज्ञा' का अर्थ नाम अर्थात् पहचान है। 'संज्ञा नामेत्युच्यते'—व्यक्ति, वस्तु, स्थान एवं भाव को जो नाम दिया जाता है, अर्थात् जिस नाम से उन्हें पहचाना जाता है। व्याकरण—शास्त्र की अपेक्षा से नाम ही संज्ञा कहलाते हैं। यद्यपि संज्ञा (नाम) के कारण ही व्यक्ति, वस्तु एवं घटना की अपनी पहचान होती है और उसी पहचान (संज्ञा) के कारण ही वह जाना जाता है, किन्तु प्रस्तुत शोधकार्य के प्रसंग में संज्ञा शब्द इस अर्थ में गृहीत नहीं है।

यदि संज्ञा की व्युत्पत्ति सम् + ज्ञान से मानें तो वह विचार—विमर्श की प्रवृत्ति के रूप में सिद्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख करते हुए, उसमें संज्ञा को मतिज्ञान का पर्यायवाची माना गया है। मनुष्य में ज्ञानावरणीय—कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान एवं विवेक की शक्ति प्रकट होती है, जैनदर्शन में उसे भी संज्ञा कहा गया है। इसी आधार पर, हित की प्राप्ति और अहित का त्याग करने की क्षमता जिस जीव में होती है, उसे संज्ञी कहा जाता है। गोम्मटसार में नोइन्द्रियावरण—कर्म अर्थात् मनोशक्ति के आवरण करने वाले कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए विवेक—सामर्थ्य या विमर्श की क्षमता को भी संज्ञा कहा गया है।⁶ विमर्श—शक्तिरूपी मन के अभाव में अन्य इन्द्रियों के ज्ञान से युक्त जीव को भी असंज्ञी कहा जाता है। तत्त्वार्थसूत्र की राजवार्तिक नामक टीका में कहा गया है कि

⁶ जो इंदिय आवरण रूवोवसमं तज्जवोहणं सण्णा — गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा—660

“ननु च संज्ञिनः इत्यनेनैव गतार्थत्वात्समनस्का इति विशेषणमनर्थकम्।” – इस सूत्र में, ‘संज्ञिनः’ इतना पद देने से ही काम चल जाता है, अतः ‘समनस्काः’ यह विशेषण देना निष्फल है, क्योंकि हित की प्राप्ति और अहित के त्याग की परीक्षा करने में मन का व्यापार होता है, यही संज्ञा है⁷, यह कहना उचित नहीं है, संज्ञा शब्द के अर्थ में व्यभिचार पाया जाता है। संज्ञा का एक अर्थ ‘नाम’ (Noun) भी है। यदि नाम वाले जीव संज्ञी माने जाएं, तो सभी जीवों को संज्ञी होने का प्रसंग प्राप्त हो जाएगा। संज्ञा का अर्थ यदि ज्ञान मान लिया जाता है तो भी सभी प्राणी ज्ञान-स्वभावी होने से सबको संज्ञी मानने का प्रसंग प्राप्त होता है। यदि आहारादि विषयों की अभिलाषा को संज्ञी कहा जाता है, तो भी पहले के समान दोष प्राप्त होता है। चूँकि यह दोष प्राप्त न हो, अतः सूत्र में ‘समनस्का’ यह पद रखा है⁸, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में संज्ञा का यह अर्थ भी सीमित है। व्यापक अर्थ में संज्ञा संसारी-जीवों के व्यवहार की प्रेरक दैहिक या चैतसिक आन्तरिक-वृत्ति है।

जैनागमों में संज्ञा का एक अर्थ इच्छा या आकांक्षा (Desire) भी लिया गया है, फिर भी इच्छा, आकांक्षा तथा संज्ञा में अंतर है। संज्ञा प्रसुप्त या अवचेतन में रही हुई इच्छा है। आहार आदि विषयों की अव्यक्त इच्छा को संज्ञा कहा गया है। यह प्रसुप्त चेतना वाले एकेन्द्रिय आदि जीवों में भी पाई जाती है। जैनदर्शन में जीव-वृत्ति (Want), क्षुधा (Apetite), अभिलाषा (Desire), वासना (Sex), कामना (Wish), आशा (Expectation), लोभ (Greed), तृष्णा (Patience), आसक्ति (Attachment) और संकल्प (Will) – ये सभी संज्ञा के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं⁹, जिनका सामान्य अर्थ शरीर, इन्द्रियों और मन की अपने विषयों की चाह से है। प्रत्येक जीवतत्त्व, चाहे वह एकेन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय, उसमें आहार आदि संज्ञाएँ अव्यक्त या व्यक्त रूप में अवश्य पाई जाती हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पशुजगत् तथा प्राणी में जीववृत्ति के साथ-साथ क्षुधा का भी योग रहता है, लेकिन मानवीय-स्तर पर तो संज्ञा के अनेक

⁷ “हिताहित प्राप्तिपरिहारयोगुणदोष विचारणात्मिका संज्ञा” – राजवार्तिक सू.24, पृ. 136

⁸ राजवार्तिक – 2/24/7/136/77

⁹ जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (भाग-1), डॉ. सागरमल जैन, पृ.460

रूप उपलब्ध होते हैं। इस स्तर पर अव्यक्त आकांक्षाएं चेतना के स्तर पर आकर व्यक्त हो जाती है।

वस्तुतः, जीववृत्ति से लेकर संकल्प तक के सारे स्तरों में इच्छा के मूल तत्त्व की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। चाहे वह आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की संज्ञा ही क्यों न हो, अंतर है तो केवल चेतना में उनके स्पष्ट बोध का।

अभिधानराजेन्द्रकोश में भी संज्ञा को जैन-आगमों के आधार पर अनेक प्रकार से प्रकाशित किया गया है। प्रथमतया, उसमें संज्ञा शब्द को दो प्रकार से परिभाषित किया गया है। प्रथम, 'संज्ञानं संज्ञा' कहकर उसे ज्ञानार्थ में परिभाषित किया गया है। इस प्रसंग में संज्ञा को ऊहापोह या विमर्शात्मक भी माना गया है। दूसरी ओर, उसे अर्थग्राहक-चेतना मानकर अभिलाषा, आकांक्षा, इच्छा आदि के रूप में परिभाषित किया गया है। वस्तुतः, यदि हम देखें, तो जैन आगमों में 'संज्ञा' शब्द इन्हीं दो अर्थों में ही प्रचलित रहा है — 1. अव्यक्त इच्छा और 2. विवेक-क्षमता।

आचारांगसूत्र¹⁰ में कहा गया है —

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्ख्वायं — इहमेगेसिणो सण्णा भवई।

यहाँ भगवान् ने यह बताया है कि संसार में कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्हें संज्ञा अर्थात् विवेक-शक्ति नहीं होती, यहाँ भगवान् ने संज्ञा (सण्णा) शब्द विवेक और ज्ञान के रूप में प्रयोग किया है, क्योंकि इसी क्रम में आगे बताया है कि व्यक्ति यह नहीं जानता है कि —

मैं कौन हूँ ?

पूर्वादि किस दिशा से आया हूँ ?

यहाँ से मरकर कहाँ जाऊंगा ? आदि।

यहाँ संज्ञा शब्द वस्तुतः ज्ञान या विवेक-शक्ति का ही सूचक है।

¹⁰ आचारांगसूत्र -1/1/1/1

यहाँ 'इहमेगेसिं णो सण्णा भवति' का अर्थ इच्छा या अभिलाषा नहीं, क्योंकि जैन-परम्परा यह मानती है कि प्रत्येक संसारी-जीव में आहार आदि की अभिलाषा पाई जाती है। अभिधानराजेन्द्रकोश में भाव संज्ञा के दो रूप बताए गए हैं -

1. अनुभावन संज्ञा।
2. ज्ञानस्वरूप संज्ञा।

मनोविज्ञान में जिसे self consciousness या self awareness कहते हैं, उसे ही जैन-परम्परा में संज्ञा के रूप में प्रयुक्त किया गया है, लेकिन संज्ञा के इस अनुभवात्मक या ज्ञानात्मक-अर्थ के अलावा प्राणीय-व्यवहार के प्रेरक के रूप में उसका अभिलाषा, इच्छा, आकांक्षा आदि के रूप में भी अर्थ देखा जाता है। जहाँ संज्ञा के सोलह भेद किए गए हैं, वहाँ आहारादि की चार संज्ञाएँ, कषायादि चार संज्ञाएँ, सुख, दुःख, मोह और विचिकित्सा रूप चार संज्ञाएँ तथा लोक, शोक-रूप दो संज्ञाएँ, -ये चौदह संज्ञाएँ अभिलाषा, आकांक्षा या अपेक्षारूप हैं। जबकि ओघ और धर्म -ये दो संज्ञाएँ ऐसी हैं, जो विवेकार्थक या ज्ञानार्थक हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन-परम्परा में संज्ञा शब्द इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। कहीं उसे ज्ञानार्थक माना है और कहीं उसे इच्छा, अभिलाषा, आकांक्षा-रूप माना है। जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया, जब संज्ञा शब्द संज्ञी अर्थात् जीव की विशेषता के रूप में प्रयुक्त होता है, तो वह सामान्यतया ज्ञानार्थक या विवेकशीलता का वाचक होता है, किन्तु जब हम संज्ञा शब्द का प्रयोग आहार, भय आदि संज्ञा के रूप में करते हैं, तो वह वासना, आकांक्षा या अभिलाषा का वाचक होता है। कुछ आचार्यों ने इसे ही आभोग¹¹ भी कहा है, जो भोगाकांक्षा-रूप है।

सभी प्राणियों के व्यवहार के प्रेरक-तत्त्व में कहीं-कहीं आकांक्षा पायी जाती है एवं आकांक्षा के उद्भव का मूल कारण संज्ञा है। वर्तमान युग में सामान्य-मनोविज्ञान

¹¹ 'आभोगे, संज्ञायतेऽनयेति वा संज्ञा।' (अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग-7, पृ. 300)

शिक्षा—मनोविज्ञान, बाल—मनोविज्ञान, काम—मनोविज्ञान आदि में प्राणियों की इन मूलवृत्तियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। जैनदर्शन की ये संज्ञाएं वस्तुतः आधुनिक मनोविज्ञान की मूल—वृत्तियों से बहुत कुछ समानता रखती हैं, जो प्राणी की आन्तरिक—मनोवृत्ति और बाह्य—प्रवृत्ति दोनों को सूचित करती हैं। जिससे प्राणी की जीवन—शैली का भी भलीभांति अध्ययन हो सकता है। इन संज्ञाओं के अध्ययन द्वारा मनुष्य या किसी भी प्राणी की प्रवृत्तियों के प्रेरक—तत्त्व का पता लगाकर, उसके जीवन में सुधार या परिवर्तन लाया जा सकता है। इसी दृष्टि से संज्ञाओं के अध्ययन का जीवन में बहुत महत्त्व है। स्वयं की वृत्तियों को टटोलकर और आवश्यकतानुसार उसमें संशोधन—परिवर्द्धन करके हम आत्म—चिकित्सा अर्थात् आत्म—शोधन कर सकते हैं। अतीत काल से आज तक प्रत्येक प्राणी प्रतिकूल परिवेश का त्याग कर अनुकूल परिवेश के साथ समायोजन करता है और इस प्रकार अनुकूल परिवेश में जीना चाहता है, किन्तु यहाँ प्रश्न है —

1. वह ऐसा क्यों करता है ?
2. किस प्रकार करता है ?
3. कब तक करता है ?

उपर्युक्त सभी प्रश्न हमें एक बार यह सोचने को विवश करते हैं कि इनके पीछे कौन—सा तत्त्व है। वस्तुतः, उनके मूल में जो तत्त्व है, वही 'संज्ञा' है, और पाश्चात्य—मनोविज्ञान उसे ही मूल—प्रवृत्ति कहता है। मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, इसलिए चिन्तन और मनन करना उसका स्वभाव है। चिन्तन—मनन की योग्यता से ही आचरण में विवेकशीलता प्रकट होती है। विवेकपूर्ण आचरण में ही मानव—जीवन की महत्ता है। यों तो आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि सामान्य प्रवृत्तियाँ मनुष्य और पशु सब में होती हैं, किन्तु अपनी विवेक—शक्ति के कारण ही मनुष्य उचित या अनुचित का भेद कर सकता है।¹² ज्ञान न्यूनाधिक रूप में एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में होता है, फिर भी संज्ञी—प्राणियों में विवेक—शक्ति स्पष्ट

¹² 'आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिः नराणाम् ।

ज्ञानो हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेनहीना नर पशुभिः समाना ॥ — धर्म का मर्म, पृ. 38

रूप से परिलक्षित होती है। इस प्रकार, आहार आदि की मूल-प्रवृत्तियों के साथ मनुष्य में विवेकशीलता है। यही कारण है कि जैनदर्शन संज्ञा में विवेक और वासना-दोनों को स्वीकार करता है।

प्राणी-जगत् में आसक्ति या आकांक्षा का मूल कारण परिग्रह-संज्ञा है। परिग्रह-संज्ञा के कारण ही जीव सुख की प्राप्ति का और दुःख की निवृत्ति का प्रयत्न करते हैं। सुख की प्राप्ति की चाह ही प्राणी-व्यवहार की प्रेरक है। चींटी रहने के लिए मिट्टी का टीला बनाती है, तो चूहे, साँप, छछूंदर आदि बिल बनाते हैं, जंगली पशु गुफाओं और कंदराओं में अपने रहने के लिए जगह खोजते हैं और मनुष्य अपने लिए मकान एवं बंगलों का निर्माण करते हैं। ऐसा क्यों ? क्योंकि प्राणीमात्र की यह इच्छा होती है कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सुखपूर्वक रहे। वे घर इसलिए भी बनाते हैं कि शीत, उष्ण एवं वर्षाकाल में वे सुरक्षित रह सकें, या फिर कोई बलवान प्राणी उन पर आक्रमण करे तो वे अपने को सुरक्षित रख सकें। इस भय के कारण भी वे अपने लिए अनुकूल जगह की खोज करते हैं। आहार आदि चार संज्ञाएँ व्यक्त या दृश्य हैं, परन्तु उनका मूल तो व्यक्ति की चेतना में होता है। जिसे अचेतन या अचेतन मन कहा जाता है। वही व्यक्ति की जीवन-शैली को सतत दिशा देता रहता है। क्रोधादि कषायों एवं नोकषायों से सम्बन्धित जो मानसिक-संज्ञाएँ हैं, वे ही कर्मों के बंध का मूल कारण हैं। प्राणी विषय-कषायों में पड़कर भवभ्रमण को बढ़ाता है एवं लक्ष्य से भटक जाता है। यहाँ तक कि जब जीव काम, वासना, क्रोध, लोभ आदि संज्ञाओं के वशीभूत हो जाता है, तो वह पशुतुल्य व्यवहार करता है। उसे हित-अहित का भान ही नहीं रहता। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि प्राणीय-व्यवहार की प्रेरक होने से संज्ञाओं का हमारे जीवन में बहुत अधिक महत्त्व है। संज्ञा चाहे विवेकात्मक हो या वासनात्मक, उनका हमारे व्यवहार पर बहुत अधिक प्रभाव होता है, क्योंकि वे प्राणीय-व्यवहार की प्रेरक हैं।

संज्ञाओं के विभिन्न प्रकार :- चार, दस एवं सोलह

जहाँ तक जैन-आगमों का प्रश्न है, उनमें संज्ञाओं की संख्या के सम्बन्ध में एकरूपता नहीं है। संज्ञा शब्द के विभिन्न अर्थों को लेकर उनका वर्गीकरण भी भिन्न-भिन्न रूप में हुआ है। संज्ञा का एक अर्थ आभोग है, वह भोगाकांक्षा-रूप है। यह संज्ञा का वासनात्मक-पक्ष है। जिसका अनुभव किया जाए, वह ज्ञानरूप संज्ञा है। इस आधार पर जैनकर्म-सिद्धान्त के अनुसार संज्ञा दो प्रकार की हैं -

1. कर्मों के क्षयोपशमजन्य और 2. कर्मों के उदयजन्य

पुनः, क्षयोपशमजन्य संज्ञाओं के भी अनेक भेद हैं। ज्ञानावरणीय-कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली मतिज्ञान के भेद-रूपी संज्ञा क्षयोपशमजन्य-संज्ञा है, उसे ज्ञान-संज्ञा भी कहते हैं। इसके तीन प्रकार हैं¹³ -

1. दीर्घकालोपदेशिकी-संज्ञा
2. हेतुवादोपदेशिकी-संज्ञा
3. दृष्टिवादोपदेशिकी-संज्ञा

दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा¹⁴ -

अतीत, अनागत एवं वर्तमान की सम्भावनाओं या किसी कर्म के प्रेरकों एवं परिणामों का ज्ञान दीर्घकालोपदेशिकी-संज्ञा है। जैसे- मैं यह करता हूँ, मैंने यह किया, मैं यह करूँगा इत्यादि। व्यवहार या कर्म के अतीत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति दीर्घकालोपदेश-संज्ञी है। जैनदर्शन के अनुसार, यह संज्ञा मन-पर्याप्ति से युक्त गर्भज तिर्यच, गर्भज मनुष्यों, देवों और नारकों के ही होती है,

¹³ 1) नन्दीसूत्र - 61

2) सन्नाऊ तिन्नि पढमेऽत्थ दीहकालोपएसिया नाम
तह हेउवायदिट्टिवाउवएसा तदियराओ - प्रवचनसरोद्धार, गाथा 118, संज्ञाद्वार 144

3) दण्डक प्रकरण, गाथा 32

¹⁴ एयं करेमि एयं कयं मए इममहं करिस्सामि
सो दीहकालसन्नी जो इय तिव्कालसन्नधरो - प्रवचनसरोद्धार, गा. 119, संज्ञाद्वार 144

क्योंकि त्रैकालिक—चिन्तन उन्हीं को होता है। इस संज्ञा वाले प्राणी का बोध एवं व्यवहार स्पष्ट होता है।

हेतुवादोपदेशिकी—संज्ञा¹⁵ —

जिस संज्ञा में कारण को देखकर किसी कार्य का ज्ञान हो जाता है, या जिस संज्ञा द्वारा प्राणी अपने देह की रक्षा हेतु इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट में निवृत्ति करता है, वह हेतुवादोपदेशिकी—संज्ञा है, जैसे — गर्मी हो तो छाया में जाना, सर्दी हो, तो धूप में जाना, भूख लगने पर आहारादि के लिए प्रवृत्ति करना आदि।

यह संज्ञा प्रायः वर्तमानकालीन एवं व्यवहार की प्रवृत्ति या निवृत्ति—विषयक है। द्वीन्द्रिय आदि जीवों को अतीत—अनागत की चेतना होती है, फिर भी उनका वर्तमान व्यवहार के अतीत एवं अनागत—काल का चिन्तन अतिअल्प होता है, अतः वे असंज्ञी हैं। इसी प्रकार, व्यवहार में प्रवृत्ति—निवृत्ति से रहित एकेन्द्रिय जीव भी असंज्ञी ही है। यद्यपि पृथ्वी आदि में भी आहारादि दस संज्ञाओं की विद्यमानता प्रज्ञापनासूत्र में बताई गई है, पर वे संज्ञी नहीं कहलाते हैं, कारण, उनमें ये संज्ञाएं अति अव्यक्त रूप से हैं। जैसे अल्पधन होने से कोई धनवान् नहीं कहलाता, या आकार—मात्र से कोई रूपवान् नहीं कहलाता, वैसे ही आहारादि संज्ञा होने से कोई संज्ञी नहीं कहलाता। वह विमर्शात्मक—चिन्तन से ही संज्ञी कहलाता है, क्योंकि संज्ञीत्व विवेकशीलता का सूचक है, जबकि आहारादि में प्रवृत्ति होना यह संज्ञा का वासनात्मक पक्ष है।

दृष्टिवादोपदेशिकी—संज्ञा¹⁶ —

जिसमें सम्यक्त्व—विषयक प्ररूपणा हो, अथवा आत्म के हित—अहित को दृष्टिगत रखते हुए सम्यक् निर्णय करने की क्षमता हो, वह दृष्टिवादोपदेशिकी—संज्ञा कहलाती है। इस संज्ञा की अपेक्षा से ही क्षायोपशमिक—ज्ञान या विवेक से युक्त सम्यग्दृष्टि जीव संज्ञी कहे जाते हैं। मिथ्यादृष्टि सम्यक्ज्ञान से रहित होते हैं, फिर भी व्यवहार की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के बाह्य—व्यवहार में कोई

¹⁵ प्रवचनसारोद्धार, गा. 920, संज्ञाद्वार 144

¹⁶ वही, गा. 921

विशेष अन्तर नहीं होता, क्योंकि वासना से चालित व्यवहार अविरतसम्यग्दृष्टि में भी होता है। मिथ्यादृष्टि भी सम्यग्दृष्टि की तरह घट को घट ही कहता है। इस कारण, दोनों संज्ञी कहे जाते हैं, तथापि तीर्थंकर परमात्मा द्वारा प्रारूपित वस्तु-स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा न होने से मिथ्यादृष्टि का यह व्यावहारिक-सत्यज्ञान भी अज्ञानरूप ही माना जाता है, क्योंकि वस्तुतः, अतीत वस्तु का स्मरण और अनागत की चिन्ता करना संज्ञा है। केवलज्ञानी के ज्ञान में त्रैकालिक सभी वस्तुएं सदाकाल प्रतिभासित होने से उन्हें स्मरण, चिन्तन करने की आवश्यकता ही नहीं होती है। अतः संज्ञा के इस अर्थ की अपेक्षा से क्षायोपशमिक-ज्ञानी ही संज्ञी है।

उदयजन्य-संज्ञा -

कर्मों के उदय के कारण जो जीव आहारादि संज्ञाओं में लिप्त रहता है, वह कर्मोदयजन्य-संज्ञा कहलाती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय आदि कर्मों के उदय, क्षय अथवा क्षयोपशम से प्रकट होने वाली वृत्तियाँ एवं उनकी अन्तश्चेतना ही संज्ञा कहलाती है।

जैनागमों में कर्मोदयजन्य/अनुभव-संज्ञा का वर्गीकरण अनेक प्रकार से मिलता है, जिनमें चार वर्गीकरण प्रमुख हैं -

1. चार प्रकार की संज्ञा, 2. छह प्रकार की संज्ञा
3. दस प्रकार की संज्ञा, 4. सोलह प्रकार की संज्ञा

स्थानांग, समवायांग, भगवती, आवश्यक, आवश्यक-निर्युक्ति, धवला, गोम्मटसार जीवकाण्ड, पंचसंग्रह (प्राकृत एवं संस्कृत), नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, तत्त्वार्थसार आदि ग्रन्थों में संज्ञा के चार भेद बताए हैं -

- 1- चार प्रकार की संज्ञा - 1. आहारसंज्ञा, 2. भयसंज्ञा, 3. मैथुनसंज्ञा और 4. परिग्रहसंज्ञा¹⁷

¹⁷ (अ) धवला - 2/1.1/413/2 - सण्णा चउब्बिहा आहार-भय-मेहुणपरिग्गहसण्णा चेदि।

(ब) समवायांग - 4/4

(स) आहार भय परिग्गह मेहुण रुवाओ हुंति चत्तारि

2— छह प्रकार की संज्ञा — 1. आहारसंज्ञा, 2. भयसंज्ञा, 3. मैथुनसंज्ञा, 4. परिग्रह—संज्ञा, 5. लोकसंज्ञा, 6. ओघसंज्ञा। यह चर्चा मुनि मनितसागरजी ने अपने ग्रन्थ में की है।

3— दस प्रकार की संज्ञा — 1. आहारसंज्ञा, 2. भयसंज्ञा, 3. मैथुनसंज्ञा, 4. परिग्रहसंज्ञा, 5. लोकसंज्ञा, 6. ओघसंज्ञा, 7. क्रोधसंज्ञा, 8. मानसंज्ञा, 9. मायासंज्ञा, 10. लोभसंज्ञा।¹⁸

4— सोलह प्रकार की संज्ञा — 1. आहारसंज्ञा, 2. भयसंज्ञा, 3. मैथुनसंज्ञा, 4. परिग्रहसंज्ञा, 5. लोकसंज्ञा, 6. ओघसंज्ञा, 7. क्रोधसंज्ञा, 8. मानसंज्ञा, 9. मायासंज्ञा, 10. लोभसंज्ञा, 11. मोहसंज्ञा, 12. सुखसंज्ञा, 13. दुःखसंज्ञा, 14. विचिकित्सा, 15. शोकसंज्ञा, 16. धर्मसंज्ञा।¹⁹

उपर्युक्त वर्गीकरण के अलावा धवला में एक क्षीणसंज्ञा²⁰ भी कही गई है। आहारादि चारों संज्ञाओं के अभाव को क्षीणसंज्ञा कहते हैं। यहाँ संज्ञा उनके अभाव या अनावश्यकता की अन्तश्चेतना है।

आचारांगनिर्युक्ति में मूलतः संज्ञा के द्रव्य और भाव—रूप दो भेद किए गए हैं।²¹ सचित्, अचित् और मिश्र के भेद से द्रव्यसंज्ञा के तीन प्रकार हैं। ज्ञान और अनुभव के भेद से भावसंज्ञा के दो प्रकार हैं। ज्ञानसंज्ञा के मति, श्रुत आदि पांच भेद हैं। अनुभवसंज्ञा के सोलह भेद बतलाए हैं।

यहाँ, द्रव्यसंज्ञा में योग के कारण कर्मवर्गणा के पुद्गल, जो व्यक्ति—विशेष से बंध जाते हैं, वे सचित् और मिश्र दोनों हो सकते हैं। उनके परिणामस्वरूप जो भावना जाग्रत होती है, वह द्रव्यसंज्ञा है। जो कर्म से नहीं बंधते, वे अचित् हैं।

सत्ताणं सन्नाओं आसंसारं समग्गणं ॥ — प्रवचनसारोद्धार, 923, संज्ञाद्वार 144

¹⁸ 1) स्थानांगसूत्र, 10/105

2) प्रज्ञापना पद, 8

3) प्रवचन सारोद्धार, गाथा 924, संज्ञाद्वार 144

¹⁹ अभिधान राजेन्द्र खण्ड—7, पृ. 301, आचारांगनिर्युक्ति—39

²⁰ “क्षीण सण्णा वि अस्थि” — (धवला पृ. 419/1)

²¹ आचारांगनिर्युक्ति, गाथा—38, 39 (राजेन्द्रअभिधान कोश भाग—7, पृ. 301)

संज्ञा

ज्ञानरूप

क्षयोपशमजन्य (ज्ञान-संज्ञा)

उदयजन्य (अनुभव-संज्ञा)

हेतुवादोपदेशिकी-संज्ञा दृष्टिवादोपदेशिकी-संज्ञा दीर्घकालोपदेशिकी-संज्ञा

4 प्रकार की संज्ञा

6 प्रकार की संज्ञा

10 प्रकार की संज्ञा

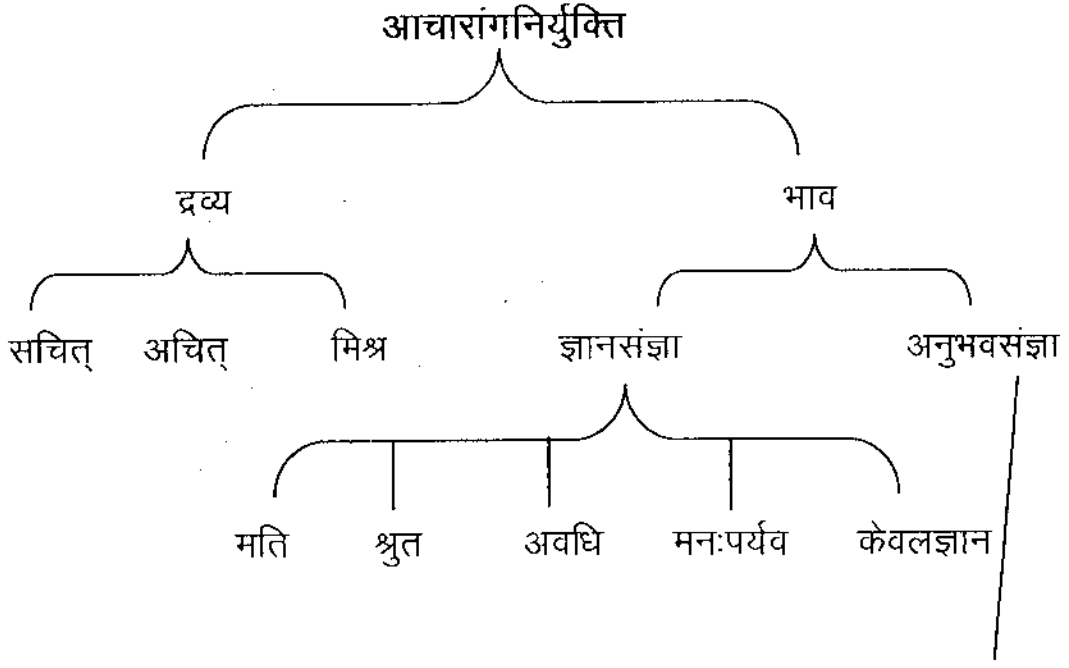
16 प्रकार की संज्ञा

1. आहारसंज्ञा
2. भयसंज्ञा
3. मैथुनसंज्ञा
4. परिग्रहसंज्ञा

1. आहारसंज्ञा
2. भयसंज्ञा
3. मैथुनसंज्ञा
4. परिग्रहसंज्ञा
5. ओघसंज्ञा
6. लोकसंज्ञा

1. आहारसंज्ञा
2. भयसंज्ञा
3. मैथुनसंज्ञा
4. परिग्रहसंज्ञा
5. ओघसंज्ञा
6. लोकसंज्ञा
7. क्रोधसंज्ञा
8. मानसंज्ञा
9. मायासंज्ञा
10. लोभसंज्ञा

1. आहारसंज्ञा
2. भयसंज्ञा
3. मैथुनसंज्ञा
4. परिग्रहसंज्ञा
5. ओघसंज्ञा
6. लोकसंज्ञा
7. क्रोधसंज्ञा
8. मानसंज्ञा
9. मायासंज्ञा
10. लोभसंज्ञा
11. मोहसंज्ञा
12. धर्मसंज्ञा
13. सुखसंज्ञा
14. दुःखसंज्ञा
15. जुगुप्सासंज्ञा
16. शोकसंज्ञा



1. आहारसंज्ञा
2. भयसंज्ञा
3. मैथुनसंज्ञा
4. परिग्रहसंज्ञा
5. ओघसंज्ञा
6. लोकसंज्ञा
7. क्रोधसंज्ञा
8. मानसंज्ञा
9. मायासंज्ञा
10. लोभसंज्ञा
11. मोहसंज्ञा
12. धर्मसंज्ञा
13. सुखसंज्ञा
14. दुःखसंज्ञा
15. जुगुप्सासंज्ञा
16. शोकसंज्ञा

1. आहार-संज्ञा – (Food Seeking instinct) –

जीव में उत्पन्न आहार की अभिलाषा को आहारसंज्ञा कहते हैं। जैनदर्शन के अनुसार, अन्तरंग में असातावेदनीय-कर्म या क्षुधावेदनीय-कर्म के उदय से तथा बहिरंग में आहार को देखने से, उस ओर उपयोग जाने से और पेट खाली होने से जीव को जो आहार करने की इच्छा होती है, उसे आहारसंज्ञा कहते हैं।²² दिगम्बर-परम्परा के अनुसार, यह संज्ञा पहले से छठवें गुणस्थान तक रहती है, जबकि श्वेताम्बर-परम्परा में प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक इसकी सत्ता मानी गई है।

2. भय-संज्ञा – (Instinct of fear)–

शक्ति की हीनता से, भयमोहनीय-कर्म (नोकषायमोहनीय) के उदय से, भय की बात सुनने आदि से और भय के विषय में सोच-विचाररूप उपयोग से भय-संज्ञा उत्पन्न होती है।²³ सात प्रकार के भयों के भाव को भयसंज्ञा कहते हैं। ये सात भय हैं – 1. इहलोक-भय, 2. परलोक-भय, 3. आजीविका-भय, 4. अकस्मात्-भय, 5. अपयश-भय, 6. मरण-भय, 7. आदान-भय। यह संज्ञा आठवें गुणस्थानक तक होती है। मनुष्यों में भयसंज्ञा सबसे कम तथा नारकियों में सबसे अधिक होती है, क्योंकि उनमें मृत्युपर्यन्त लगातार भय बना रहता है।²⁴

3. मैथुन-संज्ञा – (Instinct of sex or sex drive) –

अन्तरंग में वेदमोहनीय (नोकषाय) के उदय से तथा बहिरंग में कामोत्तेजक कथा सुनने से, गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करने से, मैथुन की ओर उपयोग जाने से तथा कुशील मनुष्यों की संगति करने से जो मैथुन की इच्छा होती है, उसे

²² आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाए
सादिदरूदीरणाए हवदि हु आहार सण्णा हु। – गोम्मटसार जीवकाण्ड-134

²³ चउहि ठाणेहिं भयसण्णा समुप्पज्जति, तं जहा हीणसत्ताए।
भयवेणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मतीए? तदट्ठोओगेणं।। – स्थानांगसूत्र – 4/580।।

²⁴ प्रज्ञापनासूत्र ' 8/725 का विवेचन।

मैथुनसंज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा नौवें गुणस्थान के पूर्वार्द्ध तक होती है।²⁵ नारकियों में सबसे कम मैथुनसंज्ञा होती है। मनुष्यों में यह संज्ञा सबसे अधिक होती है, क्योंकि उनमें इसका सद्भाव बहुत लम्बे समय तक बना रहता है।²⁶

4. परिग्रह—संज्ञा — (Instinct of appropriation) —

परिग्रह का त्याग न होने से, लोभ कषाय—मोहनीय का उदय होने से, परिग्रह को देखने से उत्पन्न होने वाली बुद्धि से तथा परिग्रह के विषय में विचार करते रहने से परिग्रहसंज्ञा होती है।²⁷ यह संज्ञा दसवें गुणस्थान तक होती है। तिर्यचों में परिग्रहसंज्ञा सबसे कम तथा देवों में सबसे अधिक पायी जाती है, क्योंकि स्वर्ण और रत्नों में उनकी आसक्ति बनी रहती है।²⁸

5. ओघ—संज्ञा — (Instinct of Ogha) —

पूर्वजन्मों के संस्कार आदि से जीवों में जो भाव प्रकट होते हैं, उसे ओघ संज्ञा कहते हैं, जैसे— बालक की जन्म से ही स्तनपान करने की जो प्रवृत्ति होती है, वह सिखाई नहीं जाती, वह पूर्व संस्कारों के परिणामस्वरूप स्वतः प्रकट होती है। बिना उपयोग के कार्य करने की प्रवृत्ति को ओघ संज्ञा कहते हैं, जैसे बैठे—बैठे पांव हिलाना, होंठ चबाना, निष्प्रयोजन वृक्ष पर चढ़ जाना, कंकर फेंकना, गुनगुनाना इत्यादि। मतिज्ञानावरणीय—कर्म के क्षयोपशम के फलस्वरूप संसार के रुचिकर पदार्थों को अथवा लोक—प्रचलित शब्दों के अर्थ को जानने की अभिलाषा को ओघ संज्ञा कहते हैं। भूकम्प आदि आपदाओं के आने के पूर्व ही ओघसंज्ञा से अनेक पशु—पक्षी सुरक्षित स्थानों को चले जाते हैं।

²⁵ तत्त्वार्थसार — 3/36 का भाषार्थ, पृ. 46

²⁶ प्रज्ञापनासूत्र — 8/5/9

²⁷ चउहि ठाणेहि परिग्रहसण्णा समुप्पज्जति, तं जहा अविमुत्तियाए लोभवेयाणि ज्जस्स कम्मस्स उदएणं मतीए तददट्ठोवअओगेणं ।। — ठाणं—4/582

²⁸ प्रज्ञापनासूत्र — 8/8, 9

6. लोक-संज्ञा – (Instinct of Universe) –

हेय होने पर भी लौकिक-रूढ़ि, अंधविश्वास आदि का अनुसरण करने की बलवती वृत्ति लोकसंज्ञा कहलाती है। मतिज्ञानावरणीय-कर्म के क्षयोपशम से संसार के रुचिकर और सुन्दर पदार्थों को या लोक-प्रचलित शब्दों के अर्थों को विशेष रूप से जानने की तीव्र अभिलाषा लोकसंज्ञा है। आचारांगनिर्युक्ति-टीका में लोकसंज्ञा का कारण मोहनीयकर्म का उदय और ज्ञानावरणीय-कर्म का क्षयोपशम बताया गया है।

7. क्रोध-संज्ञा – (Instinct of Anger) –

जीव की जीव एवं अजीव के प्रति आवेशरूप मनःस्थिति को क्रोधसंज्ञा कहते हैं। क्रोध मोहनीय-कर्म के उदय से प्राणी के मुख और शरीर में विकृति होना, नेत्र लाल होना तथा ओंठ फड़कना आदि क्रोधवृत्ति के अनुरूप चेष्टा करना क्रोधसंज्ञा है।

योगशास्त्र²⁹ में आचार्य हेमचन्द्रसूरि जी ने क्रोधसंज्ञा के स्वरूप को वर्णित किया है। क्रोध शरीर और मन को संताप देता है, क्रोध बैर का कारण है, क्रोध दुर्गति की पगडण्डी एवं मोक्ष-सुख में अर्गला के समान है। गीता में श्रीकृष्ण ने काम, क्रोध तथा लोभ को आत्मा के मूल स्वभाव का नाश करने वाला नरक का द्वार बताया है।³⁰

8. मान-संज्ञा – (Instinct of Pride) –

मान मोहनीय-कर्म के उदय से अहंकार, दर्प, गर्व आदि के रूप में जीव की परिणति को मानसंज्ञा कहते हैं।³¹ मान एक ऐसा मनोविकार है, जो स्वयं को उच्च एवं दूसरों को निम्न समझने से उत्पन्न होता है। सूत्रकृतांग³² में कहा गया है –“अभिमानी अहं में चूर होकर दूसरों को परछाई के समान तुच्छ मानता है।” अतः

²⁹ योगशास्त्र – /प्रकाश 4/गाथा 9

³⁰ गीता – अ. 16/श्लो. 21

³¹ मायावेदनीये नाशुभसंक्लेशादनृत संभाषणा दिक्क्रिया मायासंज्ञा। – अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग-7, पृ.सं. 304

³² अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं – सू.कृ./अ 13/गाथा 8

जीवात्मा में (स्व आत्मा) जीव (परिजन), अथवा अजीव (धन-सम्पत्ति) आदि के कारण अहंकार पूर्ण मनःस्थिति को मानसंज्ञा कहते हैं।

9. माया-संज्ञा – (Instinct of Deceit) –

जीव की कपट या ढोंगपूर्ण मनःस्थिति को मायासंज्ञा कहते हैं। धर्माभूत (अनगार) में मायासंज्ञा से युक्त व्यक्ति का स्वरूप बताया गया है। जो मन में होता है, वह कहता नहीं है; जो कहता है, वह करता नहीं है— वह मायावी होता है।³³ माया मोहनीय-कर्म के उदय से अशुभ-अध्यवसायपूर्वक मिथ्याभाषण आदि-रूप कुटिल वाक्-व्यापार की प्रवृत्ति को मायासंज्ञा कहते हैं।

10. लोभ-संज्ञा – (Instinct of Greed) –

लोभ मोहनीय-कर्म के उदय से सचित् अचित् पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा लोभसंज्ञा है। स्थानांगसूत्र में लोभ को आमिषावर्त कहा गया है।³⁴ जिस प्रकार मांस के लिए गिद्ध आदि पक्षी चक्कर काटते हैं, उसी प्रकार लोभी मनुष्य इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए उद्यमशील रहता है। प्रशमरति में लोभ को सब विनाशों का आधार, सब व्यसनों का राजमार्ग बताया है।³⁵

11. मोह-संज्ञा – (Instinct of Delusion) –

मोहनीय-कर्म के उदय से होने वाली मिथ्यादर्शनरूप विपरीत-वृत्ति मोह-संज्ञा कहलाती है, अथवा जीव की व्यक्ति, वस्तु आदि के प्रति मूर्च्छा, आसक्ति-रूप मनःस्थिति को मोह-संज्ञा कहते हैं।

12. धर्म-संज्ञा – (Instinct of Religious) –

मोहनीय-कर्म के क्षयोपशम से क्षमा आदि धर्मों के सेवनरूप वृत्ति धर्मसंज्ञा है। जीवात्मा की स्वाभाविक करुणा, मैत्री आदि की मनःस्थिति को धर्मसंज्ञा कहते हैं।

³³ ये वाचा स्वमपि स्वान्तं – (धर्मा/अ.6/गा.19)

³⁴ आमिसावतसमाणे लोभे – (ठाणं/स्थान 4/उ. 4/सूत्र 653)

³⁵ सर्व विनाशाश्रयिण – (प्र.र. गाथा 29)

13. सुख-संज्ञा – (Instinct of Pleasure) –

सातावेदनीय-कर्म के उदय से होने वाले सुखरूप अनुभव को सुखसंज्ञा कहते हैं। जीव की अनुकूलता में सुखानुभूति रूप मनःस्थिति को सुखसंज्ञा कहते हैं।

14. दुःख-संज्ञा – (Instinct of Pain) –

असातावेदनीय-कर्म के उदय से जो दुःखरूप अनुभव होता है, उसे दुःखसंज्ञा कहते हैं। जीव की प्रतिकूलता में दुःखानुभूति-रूप मनःस्थिति को दुःखसंज्ञा कहते हैं।

15. विचिकित्सा-संज्ञा – (Instinct of Suspence/disgust) –

ज्ञानावरणीय मोहनीय-कर्म के उदय से होने वाली चित्तविलुप्तिरूप स्थिति विचिकित्सा-संज्ञा है। जीव का प्रकृति, पुरुष, पदार्थ आदि के प्रति घृणा या अरुचि का भाव विचिकित्सा (जुगुप्सा) संज्ञा है।

16. शोक-संज्ञा – (Instinct of Sorrow) –

मोहनीय-कर्म के उदय से होने वाली विप्रलाप और वैमनस्य-रूप स्थिति अथवा इष्ट के वियोग में, अनिष्ट वस्तु के संयोग में खेद या चिन्ता की स्थिति को शोकसंज्ञा कहते हैं।

कौनसी संज्ञा का उदय किस कर्म के उदय अथवा क्षयोपशम से होता है³⁶ –

आहारसंज्ञा – अशातावेदनीय-कर्म के उदय से।

भयसंज्ञा – भयमोहनीय या नोकषायमोहनीय-कर्म के उदय से।

मैथुनसंज्ञा – वेदमोहनीय-कर्म के उदय से।

परिग्रहसंज्ञा – लोभमोहनीय-कर्म के उदय से।

ओघसंज्ञा – मतिज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से।

³⁶ दण्डक-प्रकरण (मुनि मनितसागरजी, पृ.सं. 94)

लोकसंज्ञा – मतिज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से।

क्रोधसंज्ञा – क्रोधकषाय-मोहनीयकर्म के उदय से।

मानसंज्ञा – मानकषाय-मोहनीयकर्म के उदय से।

मायासंज्ञा – मायाकषाय-मोहनीयकर्म के उदय से।

लोभसंज्ञा – लोभकषाय-मोहनीयकर्म के उदय से।

मोहसंज्ञा – मोहनीयकर्म के उदय से।

धर्मसंज्ञा – मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से।

सुखसंज्ञा – रति नामक नोकषाय-मोहनीयकर्म के उदय से।

दुःखसंज्ञा – अरति नामक नोकषाय-मोहनीयकर्म के उदय से।

विचिकित्सा/जुगुप्सा-संज्ञा – जुगुप्सा नोकषाय-मोहनीयकर्म के उदय से।

शोकसंज्ञा – शोक नामक नोकषाय-मोहनीयकर्म के उदय से।

उपर्युक्त संज्ञाएँ स्थावर-एकेन्द्रिय (पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु और वनस्पति) जीवों से लेकर वैमानिक देवों तक के सभी जीवों में हीनाधिक-रूप से प्राप्त होती हैं³⁷, अतः चार संज्ञाओं में ही धर्म को छोड़कर शेष सभी संज्ञाएं समाहित हो जाती हैं, इसलिए आगमों में आहार, भय, मैथुन और परिग्रह –इन चारों का ही विशेष विवेचन शास्त्रकारों ने किया है। यह स्पष्ट है कि संसारी सभी जीवों में समस्त संज्ञाएँ पायी जाती हैं। धर्मसंज्ञा चारों गतियों में सम्भव तो होती है, किन्तु सभी में नहीं पाई जाती है, तथापि उनमें विशेष अन्तर होता है –

1. देवों में परिग्रहसंज्ञा एवं लोभसंज्ञा की प्रधानता होती है।
2. मनुष्यों में मैथुनसंज्ञा एवं मानसंज्ञा की प्रधानता होती है।
3. तिर्यचों में आहारसंज्ञा एवं परिग्रहसंज्ञा की प्रधानता होती है।
4. नारकी में भयसंज्ञा तथा क्रोधसंज्ञा की प्रधानता होती है।

³⁷ सव्वेसिं चउ दह वा, सन्ना सव्वे (दण्डक-प्रकरण, गा. 12)

चार गतियों में संज्ञा -

1. मनुष्य-गति में चारों संज्ञाएँ पायी जाती हैं, क्योंकि संज्ञी-मनुष्यों में दृष्टिवादोपदेशिकी एवं दीर्घकालिकी-संज्ञा पायी जाती है एवं असंज्ञी-मनुष्यों में हेतुवादोपदेशिकी-संज्ञा भी पायी जाती है।³⁸
2. तिर्यच-गति में दीर्घकालिकी तथा हेतुवादोपदेशिकी-संज्ञा पायी जाती है।
3. देव तथा नरक-गति में दीर्घकालिकी-संज्ञा पायी जाती है।

जैनदर्शन में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय -इन पाँच कायों में दीर्घकालोपदेशिकी आदि संज्ञा नहीं पायी जाती है, किन्तु उनमें आहारादि चारों संज्ञाएँ होती हैं।

सकषायी जीवों में सभी संज्ञाएँ पायी जाती हैं। किन्तु पूर्ण वीतराग-अवस्था प्राप्त होने पर संज्ञाएँ नहीं रहती हैं। देवताओं में सबसे कम आहारसंज्ञा, सबसे अधिक परिग्रहसंज्ञा होती है, तिर्यचों में सबसे कम परिग्रहसंज्ञा और सबसे अधिक आहारसंज्ञा पायी जाती है। नारकियों में सबसे कम मैथुनसंज्ञा तथा सबसे अधिक भयसंज्ञा होती है, क्योंकि वे निरन्तर भयग्रस्त रहते हैं।³⁹

संज्ञाओं की उत्पत्ति के विभिन्न कारण दृष्टिगोचर होते हैं। संज्ञाएँ वेदनीय अथवा मोहनीय-कर्म के उदय से उत्पन्न होती हैं तथा आहार आदि का सतत चिन्तन करते रहने से भी उत्पन्न होती हैं। सत्त्वहीनता से भयसंज्ञा, गरिष्ठ रसयुक्त तामसिक भोजन ग्रहण करने से मैथुनसंज्ञा और आसक्ति और ममत्वबुद्धि रखने से परिग्रहसंज्ञा की उत्पत्ति का कारण बनता है।

उपर्युक्त संज्ञाओं का समीचीन रूप से अध्ययन कर मनुष्यों के व्यवहार, मनोवृत्ति, आचार आदि का पता लगाया जा सकता है।

³⁸ मणुआण दीहकालिय, दिड्ठिवाओवएसिआ केबि (दण्डक-प्रकरण, गा. 33)

³⁹ प्रज्ञापनासूत्र - 8/8/9 (सण्णापद)

संज्ञा इच्छा या आकांक्षा के रूप में --

जहाँ-जहाँ जीवन है, चेतना है, वहाँ-वहाँ इच्छा एवं आकांक्षा है। चैतसिक जीवन का मूल स्वभाव यह है कि वह बाह्य एवं आन्तरिक-उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से उत्पन्न विषम परिस्थितियों में भी सामंजस्य बनाए रखने की कोशिश करता है। मनुष्य ही नहीं, तिर्यचों में भी छोटे से छोटे जीव भी जीवन की सुरक्षा के लिए स्थान, भोजन आदि आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था में लगे रहते हैं। उसका कारण यह है कि उनके मन में भी जीवन जीने की इच्छा या आकांक्षा रहती है। जीवन जीने के लिए परिस्थितियों से अनुकूल बनाए रखना आवश्यक है। फ्रायड लिखते हैं -- 'चैतसिक जीवन और सम्भवतया स्नायविक जीवन की प्रमुख प्रवृत्ति है- आन्तरिक-उद्दीपकों के तनाव को समाप्त करना एवं साम्यावस्था को बनाए रखने के लिए सदैव प्रयासशील रहना।'⁴⁰ ऐसा वह क्यों करता है ? इस प्रश्न के समाधान में हम यह कह सकते हैं कि प्राणीय-व्यवहार के प्रेरक-तत्त्व मूल प्रवृत्तियों (Instinct) को माना गया है। इन्हीं प्राणीय-व्यवहार के प्रेरक-तत्त्वों को जैनदर्शन में संज्ञा कहा गया है। संज्ञाएँ जन्मजात मानी गई हैं, इस कारण जीव की प्रवृत्ति ही ऐसी होती है कि वह प्रतिकूल से अनुकूल परिस्थितियों में अपने को ले जाता है। यों तो आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि सामान्य प्रवृत्तियाँ मनुष्य पशु सबमें होती हैं, किन्तु मनुष्य अपनी विवेक-शक्ति के कारण ही उचित या अनुचित का भेद कर सकता है। पशुओं में मात्र वासनात्मक संज्ञाएँ होती हैं, जबकि मनुष्यों में विवेक या संज्ञानात्मक संज्ञा भी होती है।

जैनागमों में संज्ञा का एक अर्थ इच्छा या आकांक्षा (Desire) लिया गया है तो दूसरा अर्थ विवेकशीलता भी माना गया है।⁴¹ फिर भी, इच्छा, आकांक्षा तथा संज्ञा में सूक्ष्म अंतर भी है। संज्ञा प्रसुप्त या अवचेतन में रही हुई इच्छा है। ज्ञान-मीमांसा की

⁴⁰ Beyond the pleasure principle - S. Freud उद्धृत (आध्यात्मयोग और चित्त-विकलन, पृ.सं. 246)

⁴¹ आगमप्रसिद्धा वाच्छा संज्ञा अभिलाष इति (गो.जी./जी.प्र.2/21/10)

अपेक्षा इच्छा, अर्थात् -- 'ज्ञानजन्यत्वे सति कृतिजनकत्वमिच्छाया लक्षणम्'।⁴² ज्ञानजन्य वृत्ति के अनुरूप कार्य करने के लिए प्रवृत्त होना इच्छा है, अथवा दूसरे अर्थ में, इच्छा कामः⁴³— इच्छा को काम (कामना) कहा गया है। वासना, कामना या इच्छा से ही समग्र व्यवहार का उद्भव होता है। यह वासना, कामना या इच्छा से प्रसूत समस्त व्यवहार ही नैतिक एवं धार्मिक—मूल्यांकन का विषय है। सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में आहारादि विषयों की अभिलाषा को संज्ञा कहा गया है।⁴⁴ यहाँ संज्ञा इच्छा के संदर्भ में है, जिससे विवश होकर जीव इस लोक में दारुण दुःख को प्राप्त करते हैं और जिनका सेवन करने से जीव दोनों ही भवों में दुःख को प्राप्त करते हैं।⁴⁵

जैनदर्शन में इच्छा, क्षुधा, अभिलाषा, वासना, कामना, आशा, लोभ, तृष्णा, आसक्ति और संकल्प (Will) —ये सभी संज्ञा के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिनका सामान्य अर्थ शरीर, इन्द्रियों और मन की अपनी विषयों की चाह या कामना, इच्छा से है। प्रत्येक जीवतत्त्व, चाहे वह एकेन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय, उसमें आहार आदि संज्ञाएँ अव्यक्त या व्यक्त रूप से अवश्य पाई जाती हैं। एकेन्द्रिय—जीवों से लेकर पशुजगत् तक के सभी प्राणियों में जीववृत्ति के साथ—साथ क्षुधा का भी योग रहता है, लेकिन मानवीय स्तर पर तो संज्ञा के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। इस स्तर पर अव्यक्त आकांक्षाएं चेतना के स्तर पर आकर व्यक्त हो जाती हैं। वस्तुतः, जीववृत्ति से लेकर संकल्प तक के सारे स्तरों में इच्छा या आकांक्षा के मूलतत्त्व की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, चाहे वह आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की संज्ञा ही क्यों न हो, अंतर है, तो केवल चेतना में उसके स्पष्ट बोध का।

⁴² तर्कसंग्रह, अवशिष्ट परिच्छेदः, अन्नम भट्ट

⁴³ तर्कसंग्रह, शब्द परिच्छेदः, अन्नम भट्ट

⁴⁴ स.सि. / 2/24/182/1

⁴⁵ इह जाहि बाहिया वि य जीवा पावति दारुणं दुक्ख/सेवता वि य उभए ।।51।।

आकांक्षा के रूप में —

सामान्यतया, इच्छा, आकांक्षा, अभिलाषा आदि पर्यायवाची ही माने जाते हैं, फिर भी इच्छा और आकांक्षा में सूक्ष्म दृष्टि से एक अन्तर माना जा सकता है। सामान्यतः इच्छा का सम्बन्ध किसी वस्तु या विषय से होता है, अतः इच्छा का सम्बन्ध परद्रव्य से है। वह व्यक्ति को पर से जोड़ती है। जैनदर्शन की दृष्टि से कहें, तो परद्रव्यों की चाह ही इच्छा है। इच्छा का सम्बन्ध हमेशा 'स्व' से भिन्न परद्रव्य से होता है। यह, दूसरे की चाह है, अंग्रेजी में हम इसे Will कहते हैं, हिन्दी में इसे चाह भी कहा जा सकता है। आकांक्षा किसी कमी की अनुभूति है और उसके माध्यम से हम उस कमी की पूर्ति चाहते हैं। आकांक्षा का सम्बन्ध किसी वस्तु की चाह न होकर वस्तु की कमी की अनुभूति है। अंग्रेजी भाषा में Will तथा Want में जो अंतर है, वही अंतर इच्छा और आकांक्षा में माना जा सकता है। आकांक्षा Want है, इच्छा Will है। सूक्ष्म दृष्टि से कहें, तो आकांक्षा इच्छा की जनक है। व्यक्ति किसी कमी की अनुभूति करता है, तब वह आकांक्षा कहलाती है और जब उस कमी की पूर्ति की चाह उत्पन्न होती है, तो वह इच्छा का रूप ले लेती है। भूख का लगना आकांक्षा है और खाने के सम्बन्ध में निर्णय करना इच्छा है। इस प्रकार सूक्ष्म रूप से कहें, तो आकांक्षा हेतु (कारण) है और इच्छा कार्य (Function) है।

संज्ञा व्यवहार के प्रेरक-तत्त्व के रूप में —

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से यदि हम विचार करें, तो संज्ञा को व्यवहार के प्रेरक-तत्त्व के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है, क्योंकि हम संज्ञा के विभिन्न प्रकार के वर्गीकरण, जैसे चतुर्विध वर्गीकरण⁴⁶, दशविध वर्गीकरण⁴⁷, षोडशविध वर्गीकरण⁴⁸ में से किसी भी वर्गीकरण की दृष्टि से विचार करें, तो यह

⁴⁶ समवायांग - 4/4

⁴⁷ प्रज्ञापना, पद - 8

⁴⁸ अभिधानराजेन्द्र, खण्ड-7, पृ. 301

स्पष्ट है कि संज्ञा प्राणी-व्यवहार का प्रेरक तत्त्व है। चाहे आहारसंज्ञा हो या भयसंज्ञा अथवा परिग्रहसंज्ञा हो या मैथुनसंज्ञा हो, यह सभी किसी न किसी रूप में हमारे व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि आहार, भय, मैथुन और परिग्रह कहीं-न-कहीं हमारे व्यवहार के प्रेरक हैं। संज्ञा का जो दसविध वर्गीकरण है, उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ—ये भी प्राणी-व्यवहार के प्रेरक हैं और व्यवहार के रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं। चूंकि ये सब प्राणीय-अभिव्यक्ति को ही व्यक्त करते हैं, इसलिए इन चारों कषायों को भी हम व्यवहार के प्रेरक के रूप में भी मान सकते हैं। संज्ञाओं का जो षोडशविध वर्गीकरण है, उसमें सुख, दुःख, शोक—ये भी प्राणी-व्यवहार से ही संबंधित प्रतीत होते हैं, क्योंकि इन अवस्थाओं में भी प्राणी किसी न किसी प्रकार का व्यवहार या अभिव्यक्ति अवश्य करता है। मोह भी एक प्रकार की अज्ञान-दशा है और दूसरी दृष्टि से यह ममत्व-वृत्ति या मेरेपन का गलत बोध है। क्योंकि जैनदर्शन की दृष्टि से कोई भी वस्तु मेरी नहीं हो सकती है, लेकिन यह भी सत्य है कि व्यक्ति इस अज्ञान या मोह के कारण अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ करता है। पत्नी, बेटा, परिजन, स्वजन आदि के प्रति जो व्यवहार होता है, वह मोहजन्य ही है। इस प्रकार से, मोह को भी हम व्यवहार का प्रेरक मान सकते हैं। जहाँ तक विधिकित्सा का प्रश्न है, वह तो एक प्रकार से आलोचनात्मक-वृत्ति या व्यवहार की ही परिचायक है, अतः उसे भी व्यवहार के प्रेरक के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है।

इन संज्ञाओं को आधुनिक मनोविज्ञान मूलप्रवृत्तियों और संवेगों के रूप में मानता है और ये दोनों मनोविज्ञान की दृष्टि से व्यवहार के प्रेरक हैं। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य-मनोवैज्ञानिक इस विषय में एकमत हैं कि व्यवहार का प्रेरक-तत्त्व वासना या काम है और वे मूलभूत व्यवहार के प्रेरक-तत्त्व हैं।

संज्ञाओं के इस षोडशविध वर्गीकरण में, अथवा दशविध वर्गीकरण में, धर्मसंज्ञा और ओघसंज्ञा का भी विवेचन किया गया है। धर्म शब्द को अनेक रूपों में व्याख्यायित किया गया है। एक ओर, उसे स्वभाव माना गया है तथा दूसरी ओर वह

आचरण का प्रतीक भी है। धर्म जीवन में जीने की वस्तु है और इस अर्थ में व्यवहार से पृथक् नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि धार्मिकजन और अधार्मिकजन में भिन्नता होती है, अतः धर्म किसी-न-किसी रूप में व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है, इसीलिए कहा गया है कि एक ही धर्म को प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण करता है।⁴⁹

लोकसंज्ञा का अर्थ यह है कि सामान्यजन के या लौकिक-व्यवहार से प्रेरित होकर कार्य करना। जैन-आगम में मुनि को बार-बार यह निर्देश दिया गया है कि वह लोकसंज्ञा से प्रेरित न हो। इसका एक अर्थ यह भी है कि व्यक्ति लोक-व्यवहार से प्रेरित होता है। मनुष्य ही नहीं, अनेकों विकसित प्राणियों के व्यवहार में नकल की प्रवृत्ति पाई जाती है, जो इसी बात की सूचक है कि वे प्राणी दूसरों के व्यवहार से प्रभावित होकर इस प्रकार का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार, ओघसंज्ञा भी एक प्रकार से सामान्य व्यवहार के अनुसरण को सूचित करती है। यह सत्य है कि जन-सामान्य के व्यवहार के पीछे कोई-न-कोई संज्ञा निहित होती है। ओघसंज्ञा, लोकसंज्ञा से बहुत भिन्न नहीं है। सामान्यता का तत्त्व सभी प्राणियों में पाया जाता है।

जैसे आहार सभी प्राणियों की मूलभूत आवश्यकता है और व्यवहार को प्रभावित करता है वैसे ही प्राणी की सामान्य प्रवृत्ति ही ओघ संज्ञा है और वह कहीं न कहीं हमारे प्राणीय-व्यवहार को अभिव्यक्त करती है।

इस प्रकार, संज्ञाओं के किसी भी प्रकार के वर्गीकरण को स्वीकार करें, तो यह निश्चित है कि वे हमारे प्राणीय-व्यवहार को प्रभावित करती हैं। जैन आचार्यों ने संज्ञाओं के जो-जो भी रूप प्रतिपादित किए हैं, वे सभी हमारे व्यवहार के प्रेरक हैं। संज्ञा एक प्रकार की आन्तरिक-अनुभूति है जो बाह्य-जगत् में प्राणीय-व्यवहार को अभिव्यक्त करती है। जिस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान में मूल प्रवृत्ति और संवेग को व्यवहार का प्रेरक-तत्त्व माना गया है, उसी प्रकार जैनदर्शन के अनुसार संज्ञाएँ हमारे व्यवहार की प्रेरक हैं, इसमें किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं है।

⁴⁹ अणुसासणं पुढो पाणी; - सूत्रकृतांगसूत्र -1/15/11

संज्ञा बौद्धिक-विवेक के रूप में —

जैनदर्शन में जीवों के प्रकारों के संदर्भ में हमें संज्ञी और असंज्ञी ऐसा वर्गीकरण उपलब्ध होता है। मनुष्य को संज्ञी-पंचेन्द्रिय कहा जाता है। संज्ञी से यहाँ तात्पर्य यह है कि जिसमें हेय, गेय और उपादेय की विवेक करने की शक्ति रही है। दूसरे शब्दों में, संज्ञी का अर्थ है— विवेकशील। सामान्य रूप से मनुष्य की परिभाषा हम इस रूप में करते हैं कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है (Man is a rational animal), अतः विवेक की शक्ति को ही संज्ञा के रूप में स्वीकार किया गया है।

स्वाभाविक नियम तो पशु-जाति में भी होते हैं। उनके आचार और व्यवहार उन्हीं नियमों के अनुसार बनाए जाते हैं। वे आहार की मात्रा, रक्षा के उपाय आदि का निश्चय इन स्वाभाविक नियमों के सहारे करते हैं, लेकिन मनुष्य की विशिष्टता इसी में है कि वह स्वचिन्तन के आधार पर हिताहित का ध्यान रख ऐसी मर्यादाएँ निश्चित करे, जिससे वह अपने परम साध्य को प्राप्त कर सके।

काण्ट ने कहा है —“अन्य पदार्थ नियम के अधीन चलते हैं, मनुष्य नियम के प्रत्यय के अधीन भी चल सकता है। अन्य शब्दों में, उसके लिए आदर्श बनाना और उन पर चलना संभव है।”⁵⁰

प्राणीय-जीवन में दो तत्त्व हैं — वासना और विवेक और ये हमारे व्यवहार को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार संज्ञा बौद्धिक विवेक ही है।

जैन-आचार्यों ने संज्ञाओं में जो धर्मसंज्ञा का उल्लेख किया है, वह बौद्धिकविवेक ही है। विवेकपूर्वक आचरण करना ही धर्म है। धर्म का मूल विनय है और धर्म सद्गति का मूल है।⁵¹ इस प्रकार, संज्ञा की अवधारणा के मूल में वासना और विवेक-दोनों की ही सत्ता है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि संज्ञाएं जहाँ प्राणी के वासनात्मक-पक्ष को या उसकी दैनिक-आवश्यकता को सूचित करती हैं, वही धर्मसंज्ञा उसके बौद्धिक-विवेक को सूचित करती है। यह सत्य है कि प्राणीय-

⁵⁰ पश्चिमी दर्शन, पृ. 164

⁵¹ धम्मस्स मूलं विणयं वर्दन्ति, धम्मो य मूलं खलु सोग्गईए। — बृहत्कल्पभाष्य, 4441

व्यवहार में वासना और विवेक –दोनों ही तथ्य रहते हैं, किन्तु जैन-आचार्यों का यह निर्देश रहा है कि जीवन के वासनात्मक-पक्ष पर विवेक का नियंत्रण हो और दैनिक-आवश्यकता की पूर्ति विवेकपूर्ण ढंग से की जाए, इसीलिए जैनधर्म में व्यवहार और आचरण की अनेक मर्यादाएं निश्चित की गई हैं।

यह सत्य है कि क्षुधा की पूर्ति के लिए आहार करना ही होगा, पर कब, कितना और कैसा आहार करना होगा, यह विवेक ही बताएगा। मानवीय-व्यवहार में वासना और विवेक का संतुलन आवश्यक है। वासना प्रेरक है और विवेक निर्यामक।

अन्य धर्म-दर्शनों में संज्ञा की अवधारणा –

वासना और विवेक –दोनों ही प्राणी व्यवहार के प्रेरक-तत्त्व हैं। भारतीय-धर्मदर्शन में भी वासना, कामना, इच्छा, आकांक्षा, आशा, लोभ, तृष्णा और आसक्ति को व्यवहार के प्रेरक-तत्त्व के रूप में माना गया है। भारतीय-दर्शन में इन सभी का सामान्य अर्थ मन और इन्द्रियों के माध्यम से विषयों की चाह है। जैसा हमने पूर्व में उल्लेख किया है कि भारतीय-दर्शन और धर्म जीवन के दो पहलू मानता है, एक-वासनात्मक और दूसरा-विवेकात्मक, यद्यपि ये दोनों ही व्यवहार के प्रेरक-रूप हैं।

जैनदर्शन में संज्ञा का व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। उसमें वासना और विवेक –दोनों ही समाए हुए हैं, जबकि पाश्चात्य-मनोविज्ञान नीतिशास्त्र और पाश्चात्य-नीतिशास्त्र वासना को ही व्यवहार के प्रेरक के रूप में स्वीकार करता है, यद्यपि आधुनिक मान्यतावादी-दर्शन यह अवश्य स्वीकार करता है कि मनुष्य में वासना के अतिरिक्त विवेकशीलता, आत्मसजगता और संयम की शक्ति भी है और मनुष्य का सदाचरण वासनात्मक-पक्ष के ऊपर इन तीनों के नियंत्रण पर निर्भर करता है।

जैन-दृष्टिकोण -

भारतीय-आचारशास्त्र में जैनधर्म और दर्शन व्यवहार के प्रेरक-तत्त्व के रूप में राग और द्वेष को प्रमुखता देता है। उत्तराध्ययनसूत्र⁵² में राग और द्वेष को कर्म-बीज कहा गया है। उसमें राग ही प्रमुख है। राग तृष्णा, आसक्ति, कामना, ममत्ववृत्ति आदि का पर्यायवाची ही है उनकी मान्यता है कि रागभाव और आसक्ति के कारण कर्म-संस्कार व्यक्ति के व्यवहार के प्रेरक तत्त्व है। उनकी यह मान्यता है कि संज्ञाओं के विविध रूप इसी रागात्मकता से उत्पन्न होते हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है - 'काम में जो आसक्ति है, वह कर्म के प्रेरक-तथ्य हैं।'⁵³ सम्पूर्ण जगत् में जो कायिक, वाचिक और मानसिक-कर्म हैं वे ही काम-भोगों की अभिलाषा होने से दुःखरूप है।⁵⁴ जैनदर्शन के अनुसार, यह कामवासना या रागभाव, जो कि पूर्व कर्म-संस्कारों के कारण उत्पन्न होता है, प्राणी के व्यवहार का प्रेरक-सूत्र है। पूर्व कर्म संस्कारों से रागादि के संकल्प होते हैं और उनसे ही कर्म की परम्परा बढ़ती है।

बौद्ध-दृष्टिकोण -

बौद्धधर्म-दर्शन में कर्म के प्रेरक-तत्त्व के रूप में कामना, तृष्णा, इच्छा को ही मूल-तत्त्व माना गया है। भगवान् बुद्ध ने धम्मपद में कहा है - 'तृष्णा से मुक्त होकर प्राणी बंधन में पड़े हुए खरगोश की भांति संसार-परिभ्रमण करता रहता है।'⁵⁵ उन्होंने आगे कहा है - 'काम से ही समस्त भय और शोक उत्पन्न होते हैं।'⁵⁶ अंगुत्तरनिकाय में भगवान् बुद्ध ने कहा है - छंदराग (आसक्तियुक्त इच्छा) सभी कर्मों

⁵² उत्तराध्ययनसूत्र - 32/7

⁵³ आचारांगसूत्र, 1/3/2

⁵⁴ उत्तराध्ययनसूत्र - 32/19

⁵⁵ धम्मपद, 343

⁵⁶ वही - 215

की उत्पत्ति का हेतु है।⁵⁷ भगवान् बुद्ध लोभ (राग) द्वेष और मोह को अशुभ तत्त्वों का प्रेरक मानते हैं। वही वे अलोभ अद्वेष और अमोह को शुभ कर्म का हेतु कहते हैं।⁵⁸ बौद्धधर्मदर्शन की यह भी मान्यता है कि कामना संकल्पजन्य है और संकल्प कामनाजन्य है।

गीता का दृष्टिकोण -

हिन्दू धर्मदर्शन में गीता एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। गीता में यह प्रश्न पूछा गया है कि किससे प्रेरित होकर यह मनुष्य पाप-कार्य करता है ? उसके उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा था - "हे अर्जुन! रजोगुण से उत्पन्न होने वाले काम और क्रोध ही पाप-आचरण के प्रेरक-तत्त्व हैं।⁵⁹ वस्तुतः, काम और क्रोध में भी क्रोध तो काम से ही उत्पन्न होता है।⁶⁰ इस प्रकार, काम ही एकमात्र प्रेरक-तत्त्व है जो मनुष्य को पापाचरण में नियोजित करता है। आचार्य शंकर कहते हैं कि प्राणी काम से प्रेरित होकर ही पाप करता है।⁶¹ प्रवृत्तजनों की यही मान्यता है कि तृष्णा के कारण ही मैं यह सब कार्य करता हूँ। जैनदर्शन में काम को परिग्रह-संज्ञा के रूप में, या मैथुनसंज्ञा के रूप में और क्रोध को संज्ञा के रूप में माना गया है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि भारतीय आचार-दर्शन में व्यवहार के प्रेरक-तत्त्वों के रूप में अधिक मतभेद नजर नहीं आते हैं। बौद्ध-धर्म में जैनधर्म-दर्शन के समान चैतसिक धर्मों को दो भागों में बांटा गया है। कुशल चैतसिक-धर्म और अकुशल चैतसिक-धर्म। साथ ही उसमें चैतसिक-धर्म को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया गया है। सर्वप्रथम उसमें सात चैतसिक-धर्म बताये गये हैं। उनमें संज्ञा को भी चैतसिक-धर्म कहा गया है। इसी प्रकार, उसमें कुशल और

⁵⁷ अंगुत्तरनिकाय - 3/109

⁵⁸ वही - 3/107

⁵⁹ गीता - 3/36

⁶⁰ वही - 2/62

⁶¹ गीता - (शां. 3/37)

अकुशल –दो धर्मों को बताते हुए अकुशल चैतसिक-धर्मों के चौदह विभाग किये गये हैं। ये मूल प्रवृत्तियाँ निम्न हैं –

1. पलायनवृत्ति (भय), 2. घृणा, 3. जिज्ञासा, 4. आक्रामकता (क्रोध), 5. आत्म-गौरव की भावना (मान), 6. आत्महीनता, 7. मातृत्व की संप्रेरणा, 8. समूह-भावना, 9. संग्रहवृत्ति, 10. रचनात्मकता, 11. भोजनान्वेषण, 12. काम, 13. शरणागति और 14. हास्य (आमोद)

इनमें जैनधर्म में वर्णित अनेक संज्ञाएं समाहित हो जाती है। कुशल चैतसिक-धर्मों के पच्चीस विभाग हैं। वे जैनधर्म के अनुसार धर्मसंज्ञा के अन्तर्गत ही हैं। जैनधर्म-दर्शन में सोलह संज्ञाएं बताई गई हैं। उनमें अधिकांश संज्ञाओं का उल्लेख हमें शान्तयोग, न्याय, वैशेषिक, वैदान्त आदि दर्शन में भी मिलता है।

आधुनिक मनोविज्ञान में संज्ञा (मूल-प्रवृत्तियाँ)

पूर्वी और पश्चिमी-विचारक इस विषय में एकमत हैं कि व्यवहार का मूलभूत प्रेरक-तत्त्व वासना या कामना है, फिर भी व्यवहार के प्रेरक-तत्त्वों को संज्ञा कहा गया है। वस्तुतः, मनोविज्ञान में मतभेद पाया जाता है। फ्रायड जहाँ काम को ही प्रेरक-तत्त्व मानते हैं, वहाँ आधुनिक मनोविज्ञान ने मूलभूत प्रेरकों की संख्या सौ से भी अधिक मानी है, अतः व्यवहार में मूलभूत और मूलप्रवृत्तियाँ कितनी हैं, यह निर्धारित करना अति कठिन है।

पाश्चात्य-मनोवैज्ञानिक मेकड्यूगल ने इन व्यवहार के प्रेरक-तत्त्वों को मूलप्रवृत्तियाँ (Instinct) कहा है। यद्यपि ये मूल प्रवृत्तियाँ कितनी हैं, इस सम्बन्ध में मेकड्यूगल के भी विचार बदलते रहे। प्रारंभ में उन्होंने सात मूल प्रवृत्तियाँ मानीं, किन्तु बाद में वे चौदह मूल प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं।

भारतीय-चिन्तन में व्यवहार के मूलभूत प्रेरक की संख्या के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं रहा है। जैन-दार्शनिकों ने इन व्यवहार के प्रेरक-तत्त्वों को जिन्हें वे संज्ञा के

नाम से अभिहित करते हैं, उनमें भी कोई एकरूपता नहीं पाई जाती है। हमारे शोध में हमने देखा कि जैनधर्म-दर्शन में संज्ञाओं का यह वर्गीकरण चतुर्विध वर्गीकरण, दशविध वर्गीकरण और षोडशविध वर्गीकरण पाया जाता है।

प्रथम जो चतुर्विध वर्गीकरण है, उसमें मुख्य रूप से जैविक (Biological) पक्ष को प्राथमिकता दी गई। दशविध वर्गीकरण और षोडशविध वर्गीकरण में जैविक-पक्ष के साथ-साथ सामाजिक-पक्ष, मानसिक-पक्ष और आध्यात्मिक-पक्ष को भी स्थान मिला है। सामाजिक-पक्ष के रूप में ओघ और लोकसंज्ञा का रूप मिलता है, जबकि आध्यात्मिक-पक्ष के रूप में धर्मसंज्ञा को ही स्थान मिलता है।

बौद्धधर्म-दर्शन में इन व्यवहार के मूलभूत प्रेरक-तत्त्वों के रूप में गंभीरता से विचार हुआ है और इन्हें चैतसिक-धर्म⁶² के रूप में विभाजित किया गया है। उसके कुशल, अकुशल और अव्यक्त -इन तीन रूपों के अलावा इनमें से प्रत्येक के भी अनेक प्रकार बताए गए हैं। लोभ, द्वेष और मोह -ये तीन अकुशल चित्त के प्रेरक हैं। जब वह अलोभ, अद्वेष और अमोह से प्रवृत्त होता है, तो कुशल चित्त कहा जाता है। अव्यक्त चित्त दो प्रकार का होता है - 1. विपाक-सहेतुक चित्त और, 2. क्रिया-सहेतुक चित्त। इन तीन सहेतुक चित्तों के बावन चैतसिक-धर्म (चित्त-अवस्थाएँ) माने गए हैं, जिनमें तेरह अन्य समान, चौदह अकुशल और पच्चीस कुशल होते हैं। जो चैतसिक कुशल, अकुशल और अव्यक्त सभी चित्तों में समान रूप से रहते हैं, वे अन्य समान कहे जाते हैं। तीन, छह, सात और आठ चैतसिक-धर्मों⁶³ का भी उल्लेख है।

जैनों की संज्ञा, बौद्धों के चैतसिक-धर्म, आधुनिक मनोविज्ञान की मूलप्रवृत्तियाँ और संवेग की अवधारणाओं में बहुत कुछ समानताएं हैं। जहाँ जैनदर्शन राग और द्वेष की चर्चा करता है, वहाँ बौद्धदर्शन भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा का उल्लेख करता है। फ्रायड ने इन्हें जीवनवृत्ति (Eros) और मृत्युवृत्ति (Thanatos) कहा है। एक

⁶² अभिधम्मत्थसंगहो - चैतिसिक संग्रह विभाग, पृ. 10-11

⁶³ जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1, डॉ. सागरमल जैन, पृ.464

अन्य मनोवैज्ञानिक कर्टलेविन ने इन्हें आकर्षण-शक्ति (Positive Valence) और विकर्षण-शक्ति (Negative Valence) के रूप में बताया है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि विभिन्न धर्मदर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान में दोनों के व्यवहार के प्रेरक-तत्त्वों की चर्चा की है, जिसे जैनधर्म-दर्शन संज्ञा के नाम से अभिप्रेरित करते हैं।

-----000-----

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 2 आहार संज्ञा

1. आहार संज्ञा का स्वरूप एवं लक्षण
2. आहार संज्ञा के उद्भव के कारण
3. आहार के विभिन्न प्रकार
4. विभिन्न जीवयोनियों में आहार का स्वरूप
5. खाद्य-अखाद्य विवेक
6. अनंतकाय एवं भक्ष्य-अभक्ष्य
7. जैन दर्शन में भक्ष्य-अभक्ष्य विवेक और उसकी प्रासंगिकता

अध्याय—2

आहार—संज्ञा

आहार—संज्ञा का स्वरूप एवं लक्षण

भारतीय—मनीषियों ने यह माना है कि साधना के लिए शरीर आवश्यक है, बिना शरीर के साधना संभव नहीं होती, इसलिए कहा गया है — शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।¹ अर्थात् शरीर धर्म का साधन है। किन्तु यह शरीर आहार आश्रित है, आहार के बिना शरीर चल नहीं सकता। जैनदर्शन में छह पर्याप्तियों² का भी उल्लेख मिलता है। पर्याप्ति, अर्थात् आहार शरीर आदि वर्गणा के परमाणुओं को शरीर, इन्द्रिय आदि—रूप में परिणमन की शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं³, या आहार, शरीरादि की निष्पत्ति को पर्याप्ति कहते हैं। उन छह पर्याप्तियों में प्रथम आहार—पर्याप्ति है। आहार—पर्याप्ति के कारण ही शरीर का निर्माण प्रारंभ होता है। शरीर के बाद इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा एवं मन—पर्याप्तियों का निर्माण होता है। अतः, हम यह कह सकते हैं कि आहार ही मनुष्य के अस्तित्व का प्रथम सोपान है। इस कारण से, जैनदर्शन में सभी संज्ञाओं में आहार—संज्ञा को सर्वप्रथम माना गया है। इन पर्याप्तियों के पूर्ण होने पर भी संज्ञा तो बनी ही रहती है।

क्षुधावेदनीय—कर्म के उदय से आहार के पुद्गलों को ग्रहण करने की अभिलाषा आहार—संज्ञा है।⁴

अन्तरंग में असातावेदनीय—कर्म की उदीरणा से तथा बहिरंग में आहार को देखने से, आहार करने में उपयोग लगाने से एवं पेट खाली होने से जीव को जो

¹ कुमारसम्भव महाकाव्य (महाकवि कालिदास) — लेख आरोग्य अंक, पृ. 347 (75 वें वर्ष के कल्याणक विशेषांक)

² आहार य सरीरे तह इन्द्रिय आणपाण भासाए
होति मणो वि य कमसो पज्जतीयो जिणमादा — मूलाचार, गाथा 1048

³ धवला, 1/1/140

⁴ उत्तराध्ययनसूत्र, चरण विधि (मधुकरमुनि), अध्याय 31/पृ.सं. 555

आहार की इच्छा होती है उसे आहार संज्ञा कहते हैं।⁵ इसी प्रकार, स्थानांगसूत्र⁶ में आहार-संज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण बताए गए हैं -

1. पेट के खाली होने से 2. क्षुधावेदनीय-कर्म के उदय से, 3. आहार सम्बन्धी चर्चा को सुनने से 4. आहार सम्बन्धी चिन्तन करने से।

आचारांगनिर्युक्ति की टीका (गाथा-26) में तैजसशरीर-नामकर्म, असाता-वेदनीय-कर्म और क्षुधावेदनीय-कर्म के उदय को आहार संज्ञा का कारण बताया है।⁷ इसकी तीव्रता देवताओं में सबसे कम और तिर्यचों में सबसे अधिक पायी जाती है।⁸ दूसरे शब्दों में, क्षुधावेदनीय-कर्म के उदय से ग्रासादिरूप आहार के लिए तथाविध पुद्गलों को ग्रहणाभिलाषारूप क्रिया को आहार-संज्ञा कहते हैं।⁹

सभी प्राणी आहार-संज्ञा के आश्रित हैं। प्राणी चाहे किसी जाति, योनि अथवा वर्ग का हो, चाहे वह स्थलचर हो, जलचर हो या नभचर ही क्यों न हो, आहार के रूप में अवश्य ही कुछ ग्रहण करता है। समस्त संसार आहार पर आधारित है। चाहे जैनदर्शन में अनाहारक दशा की कल्पना की गई हो, किन्तु वह मूर्त जगत में सम्भव नहीं है। जीव के पूर्व शरीर के त्याग एवं नवीन शरीर के ग्रहण, केवली-समुद्घात और चौदहवें गुणस्थान, जो अतिक्षणिक हैं, में ही वह दशा संभव है।

हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सूर्योदय होते ही पक्षी घोंसला छोड़कर दाना चुगने निकल जाते हैं, किसान आहार-निमित्त अन्न का उत्पादन करने के लिए हल एवं बैलों को लेकर खेत की ओर प्रस्थान कर जाते हैं, यहाँ तक कि घर-गृहस्थी को त्यागकर साधना के पथ पर प्रवृत्त सन्त-महन्त भी आहार की अपेक्षा रखते हैं। जल में रहने वाले जलचर भी आहार की खोज में प्रयत्नशील देखे जाते हैं।

⁵ आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओम कोटाए सादिदरूदीरणाए हवदि हु आहार सण्णा हु।। (गोम्मटसार जीवकाण्ड-134)

⁶ स्थानांगसूत्र 4/579

⁷ आचारांगनिर्युक्ति टीका , गाथा--26

⁸ प्रज्ञापनासूत्र, 8/725

⁹ वही, 8/725

प्राचीन समय में युगलिक मनुष्य भी कल्पद्रुम¹⁰ से आहार प्राप्त किया करते थे, बाद में भगवान् ऋषभदेवजी ने कृषि की शिक्षा दी जिसके परिणामस्वरूप मानव-जाति को आहार की उपलब्धि एक सुव्यवस्थित ढंग से होने लगी। इसलिए आहार वायु और जल के बाद जीवन के लिए सर्वाधिक आवश्यक वस्तु है। आहार के द्वारा केवल मनुष्य की उदरपूर्ति, स्वास्थ्य-प्राप्ति अथवा स्वाद की पूर्ति ही नहीं होती है, व्यक्ति के मानसिक व चारित्रिक-विकास पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। आहार का हमारे आचार-विचार एवं व्यवहार से गहरा संबंध है। प्राचीन कहावत है –“जैसा खाये अन्न, वैसा होय मन” यह कहावत आज भी उतनी ही सत्य है। आहार-शुद्धि के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए मनीषियों ने कहा है –

आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिर्लब्धे सर्व ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥¹¹

अर्थात् आहार शुद्ध होने पर अन्तःकरण शुद्ध बनता है। अन्तःकरण के शुद्ध होने पर हमारी बुद्धि निर्मल बनती है। निर्मल बुद्धि के उत्पन्न होने पर अज्ञान और भ्रम दूर हो जाते हैं और अन्ततः सभी बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि भोजन का शुद्ध होना, सात्त्विक होना आध्यात्मिक-दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। दशवैकालिकसूत्र¹² में इस शरीर धारक का उद्देश्य मोक्ष की और परमसत्य की प्राप्ति करना है, अतः साधक को इसी उद्देश्य से आहार ग्रहण करना चाहिए।

महान् नीतिकार चाणक्य ने कहा है – मनुष्य का आहार ही उसके विचारों का और चरित्र का निर्माता है। जो व्यक्ति जैसा आहार करेगा, उसका निर्माण भी वैसा ही होगा।

¹⁰ गामण्यरादि सव्वं ण होदि ते होति सव्वकप्पतरु।

णियणियमण संकप्पियवत्थूणिं देति जुगलाणं ।। तिलोयपण्णाति अधिकार 4, गाथा 341

¹¹ छान्दोग्योपनिषद् – अ 7 खण्ड 26/2

¹² मोक्ख साहुण हेउस्स साहु देहस्य धारणा, दशवैकालिकसूत्र (5/1/93)

दीपो भक्ष्येद् ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते ।
यादृशं भुज्यते चान्नं, जायते तादृशी प्रजाः ॥

अर्थात् दीपक अंधेरे को खाता है, इसलिए काजल पैदा करता है, क्योंकि जो जैसा भोजन करता है, वैसी ही प्रजा को उत्पन्न करता है, यह सृष्टि का नियम है।

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि हमारे जीवन का, चारित्र का एवं व्यक्तित्व का सही निर्माण करने में आहार-शुद्धि की बहुत बड़ी भूमिका रहती है।

दुनिया के ऋषि-महर्षियों और ज्ञानियों ने सात्विक एवं शुद्ध आहार के बल पर ही अपनी साधनाओं को चरमोत्कर्ष तक पहुंचाया है। श्रावक पुणिया की कथा का उदाहरण भी आहार-शुद्धि के लिए सर्वप्रसिद्ध है। एक बार पुणिया श्रावक ने अपनी धर्मपत्नी से कहा - "आज मेरा मन सामायिक में विचलित हो गया, इसका क्या कारण हो सकता है ?" चिन्तन कर पत्नी बोली - "कल रसोई बनाने के लिए पड़ोसी से बगैर पूछे गोबर का एक कण्डा (उपला) लाई थी, चूंकि वह अनीति का था, अतः उससे जो आहार पकाया, वह शुद्ध कैसे हो सकता है ? इसलिए आपका मन सामायिक में विचलित हुआ।

इससे स्पष्ट होता है कि अशुद्ध आहार व्यक्ति के मनोभावों को भी अशुद्ध करता है।

आहार की आवश्यकता क्यों ?

शरीर के निर्माण के लिए।

शरीर के संरक्षण के लिए।

आहारः प्राणिनः सद्यो बलकृद्देहधारकः ।

आयुस्तेजः समुत्साहस्मृत्योजोऽग्निविवर्द्धनः ॥ सुश्रुत ॥

हमारा शरीर हर समय कुछ न कुछ कार्य करता है। जिस समय हम सोते हैं, उस समय भी शरीर के आंतरिक-अवयव अपना काम करते रहते हैं। काम करने से शरीर क्षीण होता है, प्रतिक्षण शरीर के कोश टूटते रहते हैं। एक कदम चलने से, एक शब्द बोलने से और तनिक भी सोचने-विचारने या चिन्ता करने से, यही नहीं, प्रत्युत, श्वास लेने तक से भी शरीर में कुछ न कुछ ह्रास अवश्य होता है।

यह भी देखा गया है कि कई दिनों तक उपवास करने से शरीर क्षीण और दुर्बल हो जाता है, क्योंकि उन दिनों में वह कवलाहार का त्याग करता है। आहार न मिलने के कारण, अकाल के समय सैकड़ों मनुष्य सूखकर काँटा हो जाते हैं। आहार न पचा सकने के कारण रोगी मनुष्य पोषण के अभाव में दिन-प्रतिदिन कमजोर होता जाता है, उसका वजन घटने लगता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि आहार करते रहने पर परिश्रमी मनुष्य का भी शरीर क्षीण नहीं होता और आहार न करने, अथवा आहार न पचने पर बिना परिश्रम किए भी शारीरिक भार घट जाता है, अतएव स्पष्ट है कि हमारे शरीर में जो ह्रास होता है, उसकी पूर्ति करनेवाला आहार ग्रहण तथा गृहीत आहार का पाचन ही है। आहार से ही शरीर के टूटे हुए कोशों के स्थान पर नये कोश बनते हैं और उनकी मरम्मत होती रहती है। शरीर-विशेषज्ञों ने अनुमान लगाया है कि इस परिवर्तन से प्रायः सात वर्ष में हमारा पूरा शरीर बिल्कुल बदल जाता है।

आहार शारीरिक-ह्रास की पूर्ति करने के अतिरिक्त प्राणी की एक विशेष आयु तक शारीरिक-वृद्धि भी करता है। नवजात शिशु के भार, लम्बाई इत्यादि का युवा पुरुष के भार और उसकी लम्बाई इत्यादि से तुलना करने पर यह बात स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है। बालक के शरीर में आहार से ह्रास कम और नए-नए कोश अधिक बनते हैं, इसलिए दिन-प्रतिदिन वह बढ़ता जाता है, परंतु युवा एवं प्रौढ़ पुरुषों में अधिक श्रम करने के कारण ह्रास अधिक होता है, आहार से उनकी पूर्ति मात्र ही होती है। अधिक आहार वह पचा नहीं सकता, जो ह्रास की पूर्ति करने के

अतिरिक्त-शारीरिक वृद्धि भी हो सके। प्रौढ़ पुरुषों की पाचन शक्ति क्षीण होने के कारण उनका शरीर दिन-प्रतिदिन क्षीण होने लगता है।

शरीर में ताप भी भोजन से उत्पन्न होता है। जब तक हम जीते हैं, हमारा शरीर सदैव गरम रहता है और हर समय थोड़ी-बहुत गर्मी शरीर से बाहर भी निकलती रहती है। चाहे हम शीत-प्रधान देश में रहें या उष्णता प्रधान देश में, चाहे ग्रीष्म-ऋतु हो अथवा शीत-ऋतु, परन्तु हमारे शारीरिक-ताप में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। हमारे शरीर में सदैव ही एक प्रकार की दहन-क्रिया होती रहती है। आहार इस दहन-क्रिया में ईंधन का कार्य करता है, जिससे गर्मी उत्पन्न होकर हमारा शरीर उष्ण रहता है, इस प्रकार, आंतरिक दहन-क्रिया से जो ताप उत्पन्न होता है, उसका ही दूसरा रूप शक्ति है, जो हमें कार्य करने में समर्थ बनाती है।

इस प्रकार शरीर में जाकर आहार चार कार्य करता है -

1. शारीरिक-ह्रास की पूर्ति,
2. शारीरिक-ताप की वृद्धि,
3. शरीर की वृद्धि
4. शक्ति या बल की उत्पत्ति

आहार ये चार कार्य करता है और इन्हीं कार्यों के लिए आहार की आवश्यकता होती है।

2. शरीर-संरक्षण के लिए -

शरीर-संरक्षण के लिए आहार अति आवश्यक है। शरीर में होने वाले परिवर्तन, ताकत, शक्ति, पुष्टता एवं बल का द्योतक आहार है। आहार के कारण ही मनुष्य का शरीर सब परिस्थितियों में स्वयं का संरक्षण कर सकता है। जो व्यक्ति स्वस्थ है, संयमित है, इसका मूल कारण एक यह भी है कि वह आहार के प्रति सजग है। यही कारण है कि शरीर के संरक्षण के लिए आहार को विद्वानों ने विभिन्न दृष्टियों से विवेचित किया है -

1. वैज्ञानिक-दृष्टि से
2. धार्मिक अथवा नैतिक-दृष्टि से
3. दार्शनिक-दृष्टि से
4. देश और काल की दृष्टि से

1. वैज्ञानिक-दृष्टि -

वैज्ञानिक-दृष्टि स्वास्थ्य की दृष्टि है। वैज्ञानिक जब आहार-सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत करते हैं, तो उनका उद्देश्य मात्र इतना ही होता है कि कौन-सी वस्तु कितनी मात्रा में शक्ति प्रदान करती है। इस बात को ध्यान रखते हुए वैज्ञानिकों ने आहार की पौष्टिकता का ही विचार किया है। शरीर-पोषण के लिए मांसाहारी अंडे का सेवन करते हैं, तो शाकाहारी दूध का। वे मात्र यह मानते हैं कि जिन वस्तुओं से खाने वाले को शारीरिक-बल मिलता है, वे सभी खाद्य हैं। यहाँ यह विचार नहीं किया जाता कि अमुक वस्तु खाने से धर्म, अथवा अमुक वस्तु खाने से अधर्म या पाप होता है। यह विचार वैज्ञानिक-चिन्तन से बाहर की वस्तु है।

2. धार्मिक अथवा नैतिक-दृष्टि -

धर्म एवं नीति के क्षेत्र में मात्र यह नहीं देखा जाता है कि कौन-सा भोजन हमें कितनी जीवनी-शक्ति प्रदान करता है, बल्कि यह विचार किया जाता है कि कौन-सा खाद्य-पदार्थ हमारे मनोभाव को सात्विक या तामस बनाता है। जो वस्तुएँ हमारे जीवन में सात्विक भावनाओं को जाग्रत करती हैं, या जो दुर्वासनाओं एवं अनैतिक-इच्छाओं को जगाने में सहायक नहीं बनतीं, वे तो ग्राह्य समझी जाती हैं और जिनसे हमारी कुप्रवृत्तियाँ जाग उठती हैं, वे वस्तुएँ त्याज्य या अग्राह्य मानी जाती हैं। धार्मिक-दृष्टि से वे पदार्थ ही ग्राह्य माने जाते हैं, जिनसे हमें शारीरिक-बल तो मिलता ही है, साथ ही सद्भावनाएँ भी दृढ़ होती हैं। मांस, मछली, अंडा, मदिरा आदि को ग्रहण करने से चाहे हमें शारीरिक-शक्ति मिलती है, लेकिन ये वस्तुएँ हमारी वासना को जाग्रत कर देती हैं, जिसके परिणामस्वरूप हम अनैतिक-कार्यों की ओर आकृष्ट होते हैं, अतएव इन वस्तुओं को धार्मिक अथवा नैतिक-दृष्टि से बिलकुल ही त्याज्य समझा गया है। इसी प्रकार, जिन पदार्थों को ग्रहण करने से जीव-हिंसा अधिक होती है, उन्हें भी धार्मिक-दृष्टि से अग्राह्य माना गया है। जैन-विचारकों ने इसी बात पर अधिक बल दिया है।

3. दार्शनिक-दृष्टि -

शरीर-संरक्षण के लिए आहार की उपादेयता का वर्णन करते हुए सांख्य-दार्शनिक कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष के संयोग से जगत् का विकास हुआ है। प्रकृति के तीन गुण माने गए हैं - सत्त्व, रज तथा तम। प्रत्येक वस्तु में ये तीन गुण मौलिक रूप से पाए जाते हैं, परन्तु प्रत्येक वस्तु में किसी गुण की अधिकता, तो किसी गुण की न्यूनता भी होती है। तथा उसी के आधार पर उस वस्तु की कोटि निर्धारित होती है। इसी आधार पर भोज्य-पदार्थ को भी तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है- सात्विक, राजसी एवं तामसी। सामान्यतया; अन्न, फल आदि का सात्विक भोजन ग्रहण करने से मनुष्य की सात्विक-प्रवृत्ति बढ़ती है; घी, मिष्ठान्न, पकवान आदि अति पौष्टिक भोजन ग्रहण करने से मनुष्य में राजसी-प्रवृत्ति बलवती होती है एवं मांस, मदिरा, बासी पदार्थ आदि तामसी-वस्तुओं को खाने से तामसी-प्रवृत्ति जाग्रत होती है। स्पष्ट है कि शरीर में भी प्रकृति के तीनों गुण उपस्थित हैं और उनका संरक्षण विभिन्न प्रकार के आहार से ही संभव है, किन्तु मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सात्विक-आहार करे और तामसी-आहार का त्याग करे। राजसी-आहार परिस्थिति के आधार पर थोड़ा ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु अधिक नहीं।

4. देश और काल -

शरीर-संरक्षण के लिए देश एवं काल के अनुसार ही व्यक्ति का आहार निश्चित होता है, ऐसा न होने से आदमी के लिए जीवित रहना कठिन और कभी-कभी तो असंभव भी हो सकता है। यदि कोई उत्तरी अथवा दक्षिणी-ध्रुव के आसपास रहता है और वहाँ पर वह गरम पदार्थों का सेवन न करे तो वह जिन्दा कैसे रह सकता है ? दूसरे, वहाँ के भोज्य-पदार्थों में वही वस्तुएँ होंगी, जो वहाँ सुलभ हैं। यदि अकाल पड़ा हुआ है और अकालग्रस्त क्षेत्र का व्यक्ति कहे कि वह केवल अमुक वस्तु ही ग्रहण करेगा, अथवा जो कुछ भी वह खाएगा, अपने धर्म और नीति की सीमाओं के अन्दर रहकर खाएगा, ऐसी परिस्थिति में या तो उसे अपनी जान देनी पड़ेगी या फिर धार्मिक एवं नैतिक-सीमाओं का अतिक्रमण करना पड़ेगा।

महाभारत के शान्तिपर्व में, विश्वामित्र जैसे तपस्वी को अकाल के समय चाण्डाल के घर से कुत्ते की टांग चुराकर उसका मांस खाना पड़ा था। यहाँ तक कि चाण्डाल ने उन्हें चोरी करते पकड़ लिया और उनकी वेशभूषा को देखते हुए समझाया कि आपके लिए मांस का भक्षण करना दोषप्रद है, आपके धर्म के विपरीत है, परन्तु विश्वामित्र ने यह उत्तर दिया –

‘येन येन विशेषेण कर्मणा ये केचचित्।

यावज्जीवेत् साधमानः समर्थो धर्ममाचरेत्॥

(महाशान्तिपर्व, अ. 146)

यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम आदमी अपने जीवन की रक्षा करे, भले ही इसके लिए उसे कोई भी साधन क्यों न अपनाना पड़े। कारण, जीवित रहकर ही कोई व्यक्ति किसी धर्म का पालन कर सकता है। इस प्रकार, यह मान्यता बनती है कि आहार—विचार देश और काल के अनुसार होना चाहिए।

इस प्रकार आहार—संज्ञा शरीर—संरक्षण एवं शरीर—निर्माण के लिए आवश्यक है। शुद्ध आहार ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है, इसलिए आहार जितना सात्विक एवं शुद्ध होगा, व्यक्ति का शरीर भी उतना ही स्वस्थ एवं पुष्ट होगा।

आहार—संज्ञा के उदभव के कारण

जीव की सबसे प्रथम अपेक्षा है — जिजीविषा, अर्थात् जीवन जीने की प्रबल इच्छा, जो जीवन के अंत तक रहती है। इसी से वह जीने के प्रथम साधन आहार की ओर दौड़ता है। अनादिकाल से चली आ रही इस प्रवृत्ति को ही आहार—संज्ञा कहते हैं। आहार शब्द (आ + ह + धञ्) 'आ' उपसर्ग सहित 'हञ्' हरणे धातु से बना है, जिसका अर्थ है —लाना, निकट लाना, हरण करना या ग्रहण करना, अतः अन्तरंग में क्षुधावेदनीय—कर्म के उदय या उदीरणा से तथा बहिरंग में आहार को देखने से, या चित्तवृत्ति उस ओर जाने से, अथवा पेट खाली होने से जीव को जो आहार ग्रहण करने की इच्छा होती है, उसे ही आहार—संज्ञा कहते हैं।¹³ आहार—संज्ञा से तात्पर्य प्राणियों के भीतर निरंतर भोजन ग्रहण करने की या आहार लेने की मांग बनी रहने से है। आहार—संज्ञा बाहरी पोषक तत्त्वों को स्वयं के भीतर डाल लेने की वृत्ति है। यह वृत्ति हर प्राणी में होती है और समय—समय पर प्रकट होती है, शेष समय में सुप्तप्राय रहती है।

स्थानांगसूत्र¹⁴ में आहार—संज्ञा की उत्पत्ति के निम्न चार कारण बताए हैं —

1. जठाराग्नि द्वारा पूर्व गृहीत आहार का पाचन होने पर, अर्थात् पेट के खाली हो जाने से।
2. क्षुधावेदनीय—कर्म के उदय से।
3. आहार—सम्बन्धी चर्चा के श्रवणानन्तर उत्पन्न मति से।
4. आहार के विषय में चिंतन करते रहने से।

¹³ आहारदंसणेण य तस्तुवजोगेण ओमकोट्टाए।

सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहार सण्णा हु।। (गोम्मटसार, जीवकाण्ड 134)

¹⁴ चउहि ठाणेहि आहार सण्णा समुप्पज्जइ, तं जहा —

(1) ओमकोट्टयाए,

(2) छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएवं,

(3) मईए

(4) तदट्ठोवओगेणं।

(स्थानांगसूत्र, अ. 4/4/356)

1. जठराग्नि प्रदीप्त होने से –

आहार प्राणीमात्र को शक्ति एवं स्फूर्ति प्रदान करता है। जैनदर्शन के अनुसार, आहार-संज्ञा गर्भ में से ही सभी जीवों में पाई जाती है। जीव जब शारीरिक एवं मानसिक-परिश्रम करता है, जैसे – चलना, फिरना, बोलना, घूमना या अन्य कार्य करना, तो शारीरिक-शक्ति का हास होता है। उस हास की पूर्ति आहार के माध्यम से होती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब सुबह उठते हैं, तो पेट खाली होने के कारण जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है और जोरदार भूख लगती है। शरीर आहार की मांग करता है, उस समय आहार-संज्ञा प्रदीप्त हो जाती है और हम आहार ग्रहण करने का प्रयास करते हैं। जब तक कुछ आहार शरीर को प्राप्त नहीं होता, तब तक वह क्षुधा बनी रहती है, अतः आहार-संज्ञा की उत्पत्ति का प्रथम कारण पेट का खाली होना और जठराग्नि का प्रदीप्त होना है। संसार में छोटे-से-छोटे प्राणी से लगाकर विशालकाय हाथी तक, सभी को जब यह अनुभव होता है कि अपना पेट खाली हो चुका है, तो वह आहार की खोज में निकल जाता है और आहार-प्राप्ति के लिए हरसंभव प्रयत्न करता है। संक्षेप में, आहार को ग्रहण करने की इच्छा ही आहार-संज्ञा है।

2. क्षुधावेदनीय-कर्म –

जिस कर्म के उदय से जीव शाता-अशाता अथवा सुख-दुःख का वेदन अनुभव करता है, उसे वेदनीय-कर्म कहते हैं।¹⁵ वेदनीय-कर्म का ही आवान्तर प्रकार है, -क्षुधावेदनीय-क्षुधा अर्थात् भूख तथा वेदनीय, अर्थात् भोजन की इच्छा। जब जीव को भूख लगती है, तो उसे आहार के प्रति तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। जब इस प्रकार की स्थिति बनती है, तो व्यक्ति आहार करने का प्रयास करता है। आहार जब तक नहीं मिलता, क्षुधावेदनीय-कर्म का उदय बना रहता है। क्षुधावेदनीय-कर्म के कारण आहार की आसक्ति निरन्तर बनी रहती है, चाहे फिर एकेन्द्रिय जीव हो या पंचेन्द्रिय जीव।

¹⁵ वेयणीयं पि य दुविहं सायमसायं च आहियं
सायस्स उ बहू भेया एमेव असायस्स वि। -- उत्तराध्ययनसूत्र 33/7

राजा सम्प्रति, जो पूर्व भव में भिखारी था, तीन दिन तक घर-घर भोजन की मांग करता रहा, लेकिन कोई उसे आहार नहीं दे रहा था, क्षुधावेदनीय-कर्म का तीव्र उदय था। उस समय मार्ग में दो जैन श्रमण साधु भिक्षार्थ गवेषणा करते हुए दिखाई देए, श्रावक ने भावपूर्वक साधु महाराज को लड्डू बहराये, जिसे उस भिखारी ने देख लिया और साधु भगवंत से लड्डू की मांग करने लगा। जैनाचार के पालक मुनि ने कहा - "हमारे गुरु महाराज के पास चलो, जैसी वह आज्ञा देंगे, वैसा हम करेगे। साधुओं ने उपाश्रय में विराजित गुरु महाराज को भिखारी का पूरा दृष्टान्त सुनाया, जिसे सुनकर गुरु महाराज को बड़ा दुःख हुआ। गुरु महाराज ने कहा - "तुम्हें लड्डू ही खाना है, तो तुमको हमारे जैसा वेष धारण करना होगा, अर्थात् जैनधर्म में दीक्षित होना पड़ेगा।" क्षुधावेदनीय-कर्म से ग्रस्त भिखारी ने कहा - "भूख मिटाने के लिए मैं दीक्षा भी ले लूंगा।" दीक्षा के बाद सारे लड्डू नए मुनि के सामने रख दिए गए। लड्डू सामने आते ही मुनि ने खाना प्रारम्भ कर दिया, तथा भरपेट लड्डू खा लिए, परन्तु अर्द्धरात्रि में उसे तीव्र पेट दर्द हुआ और उसने समभाव में देह का त्याग किया। कालान्तर में वही सम्प्रति राजा बना। यह है क्षुधावेदनीय का खेल।

3. आहार-संबंधी चर्चा को सुनकर -

जब आहार-संबंधी चर्चा करते हैं तो जन्मजन्मान्तर से बैठे आहार के संस्कार जाग्रत हो जाते हैं, जैसे इमली का नाम लेते ही मुंह में पानी स्वतः ही आने लगता है, रसगुल्ला, जलेबी, कचौरी, समोसा, चाट, चटपटे नमकीन आदि की बातें जब सुनकर उन्हें खाने की इच्छा जाग्रत हो जाती है और वह तब तक बनी रहती है, जब तक कि उस वस्तु को ग्रहण न कर लिया जाए। भक्तकथा (आहार-सम्बन्धी चर्चा) करने में सभी को बहुत रस आता है। सुबह से शाम तक, क्या बनाएं और क्या खाएं? इस चर्चा में ही बहुत सी महिलाओं का समय यू ही व्यतीत हो जाता है। वर्तमान युग में चौपाटी, रेस्टोरेन्ट, होटल आदि में बनने वाले किसी व्यंजन की विशेषता और उसके कारण वहाँ होने वाली भीड़ की चर्चा सुनकर ही व्यक्ति वहाँ पहुँच जाता है, क्योंकि चर्चा के माध्यम से उसे यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक

होटल पर बहुत स्वादिष्ट या जायकेदार वस्तुएँ मिलती हैं। आहार-संज्ञा के उद्दीपन के कारण ही वहाँ लोगों की भीड़ उमड़ने लगती है।

4. आहार का चिन्तन करने से –

आहार का निरन्तर चिन्तन करते रहने से भी आहार-संज्ञा की उत्पत्ति होती है। किसी व्यक्ति ने किसी शादी, पार्टी या समारोह में पेट भर स्वादिष्ट भोजन किया उसे जब तक उस भोजन की स्मृति रहती है, तब तक उसे वैसा ही भोजन करने की तीव्र इच्छा बनी रहती है।

इस प्रकार, स्थानांगसूत्र में आहार-संज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण तो प्रमुख हैं ही, साथ ही आहार-संज्ञा की उत्पत्ति के निम्न कारण भी होते हैं –

1. जब किसी खाद्यपदार्थ की मीठी और भीनी गंध आती है तो उस खाद्य पदार्थ को खाने की लालसा जाग्रत हो जाती है।

2. किसी विशेष खाद्यपदार्थ को कोई व्यक्ति खाता है, तो उसे देखकर मुंह में पानी आ जाता है और उसे खाने की इच्छा जाग्रत हो जाती है।

3. चलचित्र आदि में भोजन-संबंधी दृश्यों को देखकर जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है।

4. ठंड, गर्मी और वर्षा के मौसम में भी कुछ गरम या ठंडा पीने या खाने की इच्छा भी आहार-संज्ञा के कारण ही उत्पन्न होती है।

इस प्रकार, आहार-संज्ञा के उद्भव के देश, काल, परिस्थितियों के अनुसार अन्य कारण भी हो सकते हैं।

आहार के विभिन्न प्रकार —

आत्मा और शरीर का समन्वय ही जीवन है। जिस प्रकार धर्म—साधना का आधार शरीर है, वैसे ही शरीर का आधार आहार है। शरीर जब सुरक्षित, स्वस्थ व क्रियाशील रहता है, तभी धर्म की आराधना भली प्रकार से की जा सकती है।¹⁶ जैसे खेती के लिए हल एवं बैल की जरूरत होती है, रथ को चलाने के लिए घोड़ों की जरूरत होती है और कार को चलाने के लिए पेट्रोल की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार शरीररूपी गाड़ी को चलाने के लिए आहाररूपी ईंधन अति आवश्यक है।

आहार की उपयोगिता बताते हुए आयुर्वेद—ग्रन्थों में अन्न को ही 'प्राण' कहा गया है। 'अन्नं वै प्राणाः'। उपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है —“अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्” अर्थात् अन्न ही ब्रह्म है, अन्न ही परमात्मा है।

जैनदर्शन के अनुसार, विग्रहगति के अतिरिक्त संसारस्थ सभी जीव आहार—योग्य पुद्गलों को ग्रहण करते रहते हैं।¹⁷ आहार से ही औदारिक, वैक्रिय आदि तीन शरीर, पर्याप्तियाँ, इन्द्रिय आदि का निर्माण—कार्य सम्पन्न होता है। विग्रह—गति के अतिरिक्त केवलीसमुद्घात, शैलेशी—अवस्था और सिद्धावस्था में जीवन आहार ग्रहण नहीं करता। इस सन्दर्भ में दिगम्बर—परम्परा का कहना है कि केवली (वीतराग) कवलाहार नहीं करता है, किन्तु उसका भी रोमाहार—ओजाहार आदि तो चलता रहता है। जीव जब तक जीता है, संसार में परिभ्रमण करता है, आहार ग्रहण किए बिना नहीं रह सकता। प्रत्येक संसारी—जीव को क्षुधावेदनीय—कर्म का उदय होने से भूख लगती है, भोजन की इच्छा भी जाग्रत हो जाती है।

श्वेताम्बर—मान्यता के अनुसार, सर्वशक्तिमान् केवली तीर्थंकर परमात्मा भी भोजन ग्रहण करते हैं। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर—परम्परा की मान्यताओं में दो प्रमुख भेद हैं — प्रमाणनयतत्त्वालोक¹⁸ में प्रत्यक्ष प्रमाण के दूसरे परिच्छेद में

¹⁶ संयम—सुखदाता : प्रवचनमाला, आ. देवेन्द्र मुनि, पृ. 86

¹⁷ एकद्वौ त्रीन्वाऽनाहारक, — तत्त्वार्थसूत्र, 2/30

¹⁸ प्रमाणनयतत्त्वालोक — 2/27

कहा गया है – “न च कवलाहारत्वेन तस्यासर्वज्ञत्वम् कवलाऽऽहार सर्वज्ञ यो विरोधात् दिगम्बराः केवली कवलाऽऽहारवान् न भवति छद्मस्थेभ्यो विजातीयत्वात्”

दिगम्बर-शास्त्र मानते हैं – केवली आहार नहीं करते और स्त्री को मोक्ष नहीं मिलता,¹⁹ जबकि श्वेताम्बर-शास्त्र कहते हैं – केवलियों के भी औदारिक-शरीर होता है और क्षुधावेदनीय-कर्म भी शेष है, इस कारण उनको भी आहार की जरूरत रहती है।

इस प्रकार, केवली के आहार के संबंध में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्पराएं एकमत नहीं हैं। ठीक उसी प्रकार, आहार के प्रकार के संबंध में भी वे परम्पराएं एकमत नहीं हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में आहार के तीन प्रकारों का वर्णन मिलता है, वहीं दिगम्बर-परम्परा में आहार के छह प्रकारों का उल्लेख है। धवलटीका²⁰ में सर्वप्रथम छह आहारों की कल्पना की गई है –

नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेप्याहार, ओजाहार, और मनः आहार

इससे पूर्व श्वेताम्बर मान्य आगमों में –सूत्रकृतांगसूत्र, निर्युक्ति, प्रवचन-सारोद्धार, बृहत् संग्रहणी आदि में तीन प्रकार के आहार का ही उल्लेख मिलता है। उनमें कहा गया है, आहार तीन प्रकार के हैं –

ओजाहार, लोमाहार, प्रक्षेपाहार (कवलाहार)।²¹

श्वेताम्बर-ग्रन्थों में कर्माहार, नोकर्माहार और मनः आहार का उल्लेख नहीं है, साथ ही लोमाहार को भी लेप्याहार कहा गया है।

¹⁹ भुंक्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बराः।

²⁰ अत्र कवललेपोऽममनः कर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्यः
अन्ययाहार कालविरहाम्या सह विरोधात्। – षट्खण्डागम, 1/1/176 की धवलटीका

²¹ सरिरेणोयाहारो तयाय फासेण रोमआहारी
पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो।। –प्रवचनसारोद्धार, आहार उच्छवास, गा.1180, द्वार-204

छह प्रकार के आहार निम्न हैं -

1. नोकर्माहार²² - वायुमण्डल में प्रतिक्षण स्वतः प्राप्त पुद्गल-वर्गणाओं और पुद्गल-पिण्डों का ग्रहण नोकर्माहार है। शरीर की रचना के लिए जिन कर्मवर्गणाओं के पुद्गलों का ग्रहण किया जाता है वे, नोकर्माहार हैं। केवली भगवान् नोकर्माहार करते हैं।
2. कर्माहार - कर्मवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करना कर्माहार है। जीव के भाव और परिणामों द्वारा प्रतिक्षण कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करना कर्माहार कहलाता है।
3. कवलाहार/प्रक्षेपाहार - मुख के माध्यम से आहार ग्रहण करना, पानी आदि पेय पदार्थ पीना तथा इंजेक्शन आदि के द्वारा जो आहार लिया जाता है, या ग्रहण किया जाता है, वह प्रक्षिप्त आहार कहलाता है। तपश्चर्या आदि में केवल प्रक्षिप्त आहार का ही त्याग किया जाता है।
4. लेप्य या रोमाहार - त्वचा या रोम-छिद्रों द्वारा प्रतिसमय प्रत्येक पल लिया जाने वाला आहार लोमाहार है। जैसे - वृक्षों द्वारा जल ग्रहण करना। इसी प्रकार; क्रीम, घी, तेल आदि की मालिश से शरीर को जो शक्ति मिलती है वह भी लोमाहार के अंतर्गत आती है।
5. ओजाहार :- बाह्य-परिवेश से ऊर्जा या शक्ति को प्राप्त करना ओजाहार कहलाता है, जैसे- पक्षी अपने अण्डों को सेंकते हैं, सूर्य के प्रकाश से पौधे अपना भोजन बनाते हैं, अथवा तिर्यच एवं मनुष्य भी सूर्य की रोशनी से विटामिन 'डी' प्राप्त करते हैं। उष्मा से शक्ति प्राप्त करना, अथवा सम्पूर्ण शरीर द्वारा आहार के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना ओजाहार कहा जाता है। माता के गर्भ में शिशु जो आहार लेता है, वह भी ओजाहार है।
6. मनः आहार - आहार की इच्छा होने पर मानसिक-रूप से तोष (संतोष) को प्राप्त करना मनः आहार कहलाता है। स्वप्न आदि में आहार करने या बहुत सारी मिठाइयाँ

²² बोधपाहुड मूल टीका गा. 34

एवं खाने की सामग्री देखकर मन भर जाता है, फिर खाने की इच्छा नहीं होती है। इस प्रकार की मन से तृप्ति का अनुभव होना मनः आहार कहलाता है। अनुत्तर—विमानवासी देवों की भोजन की इच्छा मात्र विचार से तृप्त हो जाती है।

सामान्यतया, तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने को आहार कहते हैं। ओज, लोम और कवल—इनमें से किसी भी प्रकार के आहार को करने वाले जीव को आहारक कहते हैं। उक्त तीन प्रकार के आहारों (ओज, लोम और कवल) में से किसी भी प्रकार के आहार को ग्रहण न करने वाले जीव अनाहारक कहलाते हैं।²³

सभी अपर्याप्तक—जीव ओजाहार करते हैं, जबकि पर्याप्तक—जीव लोमाहार या प्रक्षेपाहार ग्रहण करते हैं।²⁴ देव, नारक और एकेन्द्रिय जीवों में प्रक्षेपाहार (कवलाहार) नहीं होता है, शेष द्वीन्द्रिय से लेकर सयोगी—केवली तक प्रक्षेपाहार करते हैं, किन्तु दिगम्बर—मान्यतानुसार केवली प्रक्षेपाहार नहीं करते, केवली को छोड़कर शेष जीव विग्रहगति में एक या दो समय तक अनाहारक रहते हैं, किन्तु केवली—समुद्घात करते समय जीव तीन समय तक अनाहारक होते हैं। शैलेशी—अवस्था को प्राप्त केवली अर्द्ध अन्तर्मुहुर्त तक अनाहारक होते हैं। सिद्ध जीव सादि—अनन्तकाल तक अनाहारक होते हैं।

एकेन्द्रिय—जीव को मुंह का अभाव होने से कवलाहार नहीं होता और देवता और नारकी—जीव वैक्रिय—शरीरधारी होने से स्वभावतः कवलाहारी नहीं होते हैं।

देवता अपर्याप्त—अवस्था में ओजाहारी और पर्याप्त—अवस्था में मनःआहारी होते हैं। विचार एवं चिन्तन मात्र से सभी इन्द्रियों को आह्लादजनक मनोज्ञ—पुद्गलों को आत्मसात् करते हैं। नारकी अपर्याप्त—अवस्था में ओजाहारी और पर्याप्त—अवस्था में लोमाहारी होते हैं, किन्तु वे देवों की तरह मनाहारी नहीं होते। मन—आहारी का अर्थ

²³ ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारमाहारयतीत्याहारकः। इतर अनाहारकः।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ. 142

²⁴ ओयाहारा जीवा सव्वे अपजत्तगा मुणेयवा।

पज्जत्तगा य लोमे पक्खे हुंति भइयव्वा। —प्रवचन सारोद्धार, गा. 1181

है—तथाविध शक्ति द्वारा अपने शरीर को पुष्ट करने वाले पुद्गलों को मन से ग्रहण कर आत्मतृप्ति एवं आत्म-संतोष प्राप्त करना। नरक के जीवों में अशुभ-कर्म के उदय से ऐसी शक्ति नहीं होती है, परंतु प्रज्ञापनासूत्र²⁵ में नरक के जीवों के आहार भी निम्न दो प्रकार से बताए हैं—

(1) आभोग-निवर्तित (2) अनाभोग-निवर्तित

1. आभोग-निवर्तित — जो इच्छापूर्वक खाया जाए। यह आहार पर्याप्तावस्था में ही होता है, क्योंकि 'मैं अमुक पदार्थ खाऊँ' — ऐसी इच्छा पर्याप्तावस्था में ही हो सकती है।

2. अनाभोग-निवर्तित — जो खाने की विशिष्ट इच्छा के बिना ही खाया जाए, जैसे— वर्षा ऋतु में शीतपुद्गलों का अनायास शरीर में प्रवेश होना। यह आहार अपर्याप्ता देवों में होता है, कारण, उस समय मनपर्याप्ति न होने से आहार की विशिष्ट इच्छा नहीं होती है।

जैन-ग्रन्थों में आहार के विभिन्न प्रकारों के अन्तर्गत नरक के जीवों का आहार उष्णता एवं शीतलता के आधार पर चार प्रकार का प्रतिपादित किया गया है—

1. अंगारोपम, 2. मुर्मुरोपम 3. शीतल और 4. हिमशीतल।

तिर्यच जीवों के आहार को कंकोपम, विलोपम, पाणमांसोपम एवं पुगसांसोपम के भेद से चार प्रकार का निरूपित किया गया है। मनुष्यों का आहार अशन, पान, खादिम और स्वादिम के भेद से चार प्रकार का है। यही चार प्रकार का आहार मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ के आधार पर आठ प्रकार का हो जाता है।²⁶ देवों के आहार को

²⁵ गोयमा! णेरइयाणं आहारे दुविहे पण्णते, तं जहा —

(1) आभोगणिव्वत्ति ए य (2) अणाभोगणिव्वत्ति ए य

1. तत्थ णं जे से अणाभोगणिव्वत्ति ए, से णं अणुसमयमविरहि ए आहारट्ठे समुप्पज्जइ

2- तत्थ णं जे से आभोगणिव्वत्ति ए से णं असंखेज्जसमइए संतोमुहुत्ति ए आहारट्ठे समुप्पज्जइ।

प्रज्ञापनासूत्र, प. 28, उ. 1, सूत्र-1795

²⁶ अट्ठविहे आहारो पण्णते, तं जहा — स्थानांगसूत्र 4/4/340

1-4 — मणुण्णे असणे जाव साइमे

1-4 — अमणुण्णे असणे जाव साइमे — स्थानांगसूत्र 8/सूत्र 623

र्णादि के आधार पर चार प्रकार का बतलाया है— वर्णवान्, गंधवान्, रसवान् और स्पर्शवान्।²⁷

क्षुधावेदनीय—कर्म के उदय से आहार के पुद्गलों को ग्रहण करने की अभिलाषा आहार—संज्ञा है। प्रत्येक जीव आहार को ग्रहण करता है, किन्तु आहार को ग्रहण करने की तीव्रता एवं मंदता सभी जीवों में अलग—अलग प्रकार से पाई जाती है। इसी तीव्रता एवं मंदता को ध्यान में रखते हुए आहार संज्ञा के चार विकल्प (भंग) कहे गये हैं —

1. आहार करते भी हैं और आहार—संज्ञा भी है — सामान्य संसारी—प्राणी
 2. आहार करते हैं, परन्तु आहार—संज्ञा नहीं है — सयोगी—केवली
 3. आहार नहीं करते हैं, परन्तु आहार—संज्ञा है — विग्रहगति के जीव
 4. आहार भी नहीं करते हैं और आहार—संज्ञा भी नहीं है — मुक्त जीव
- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से आहार—संज्ञा की विवेचना इस प्रकार है
 1. द्रव्य से — नारक, तिर्यच एवं देवगति के सभी जीवों तथा आहार—संज्ञा का परित्याग करने वाले साधक मनुष्य के अतिरिक्त सभी मनुष्यों में द्रव्य से आहार—संज्ञा है।
 2. क्षेत्र से — तीनों लोकों में आहार—संज्ञा पायी जाती है।
 3. काल से — सभी जीवों की अपेक्षा से आहार—संज्ञा अनादि अनंत है।

²⁷ चउगईण आहार रूवं —

- (1) नेरइयाण चउव्विहे आहारे पण्णते, तं जहा
 1. इंगालोवमे
 2. मुम्मुरोवमे
 3. सीतले
 4. हिमसीतले
- (2) तिरिक्खजोणियाणं चउव्विहे आहारे पण्णते, तं जहा —
 1. कंकोवमे
 2. विलोवमे
 3. पाणमंसोवये
 4. पुत्तमंसोवमे
- (3) मणुस्साणं चउव्विहे आहारे पण्णते, तं जहा —
 1. असणे
 2. पाणे
 3. खाइमे
 4. साइमे
- (4) देवाणं चउव्विहे आहारे पण्णते, तं जहा —
 1. वण्णमंते
 2. गंधमंते
 3. रसमंते
 4. फासमंते

4. भाव से – मोहनीय सहवेदनीय–कर्म के उदय से आहार–संज्ञा उत्पन्न होती है।
- तीव्र, मध्य एवं मंदता के अनुसार आहार–संज्ञा को तीन प्रकार से विभाजित कर सकते हैं –
 1. तीव्र – तन्दुल मत्स्य
 2. मध्यम – मनुष्य देव
 3. मंद – साधक जीव
 - तीव्र आहार–संज्ञा वाला जीव –
 1. द्रव्य से – वह भक्ष्य–अभक्ष्य का विचार नहीं करता है, मात्र आहार–संज्ञा की पूर्ति के लिए खाता चला जाता है।
 2. क्षेत्र से – उसे क्षेत्र का भी भान नहीं रहता, मंदिर और अन्य पवित्र स्थानों पर भी खा लेता है।
 3. काल से – आहार–संज्ञा अति तीव्र होने के कारण वह रात और दिन के समय का ध्यान नहीं रखता है।
 4. भाव से – अज्ञान–भाव एवं तीव्र क्षुधावेदनीय–कर्म के उदय से यह संज्ञा उत्पन्न होती है।

-----000-----

विभिन्न जीव-योनियों में आहार का स्वरूप —

जिससे धर्म की साधना हो सकती हो, उस शरीर की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करना चाहिए। आगम-शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि —“रत्नत्रयरूपी धर्म का आद्य साधन शरीर है, इसलिए भोजन, पान, शयन आदि के द्वारा शरीर की रक्षा करना चाहिए।²⁸ प्रत्येक प्राणी अपने शरीर का संरक्षण करने के लिए योग्य पुद्गल अर्थात् आहार को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। चौरासी लाख जीव-योनियों में सभी जीवों के आहार में विभिन्नताएं पाई जाती हैं। कोई घास खाता है, तो कोई मांस, कोई जल ग्रहण करता है, तो कोई मल, कोई दाना चुगता है, तो कोई अन्न, इसलिए विभिन्न जीवयोनियों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से आहार में भी भिन्नता पाई जाती है। समस्त सांसारिक जीवों को भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से दो भागों में विभक्त किया गया है —

1. वैक्रिय-शरीर
2. औदारिक-शरीर।

नरक और देव, जो नियमतः वैक्रियशरीरधारी हैं, वे वैक्रियशरीर के परिपोषण योग्य जिन पुद्गलों का आहार करते हैं, वे पुद्गल अचित होते हैं। इसलिए आगमों में कहा गया है कि नारकीय, भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक— ये सभी एकान्ततः अचित्ताहारी हैं। इनके अतिरिक्त एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के तिर्यच और मनुष्य, जो औदारिक-शरीरधारी हैं, वे औदारिक-शरीर के परिपोषण-योग्य पुद्गलों का आहार करते हैं। वे तीनों ही प्रकार के आहार, अर्थात् सचिताहार, अचिताहार और मिश्राहार करते हैं।

नरक के जीवों का आहार —

नरक के जीवों का आहार दो प्रकार का है —

1. आभोग-निवर्तित
2. अनाभोग-निवर्तित

²⁸ अनगारधर्मामृत अधिकार — 7/9

इच्छापूर्वक किया हुआ आहार आभोग-निवर्तित एवं अनिच्छापूर्वक किया हुआ आहार अनाभोग-निवर्तित कहलाता है।

अनाभोग-निवर्तित आहार की प्रवृत्ति प्रतिसमय नरक के जीवों में उत्पन्न होती रहती है, किन्तु जो आभोग-निवर्तित (उपयोगपूर्वक किया हुआ) आहार है, उस आहार की अभिलाषा असंख्यात समय के अन्तर्मुहूर्त में उत्पन्न होती है। अनाभोग-निवर्तित आहार भवपर्यन्त प्रतिसमय निरन्तर होता रहता है। यह आहार ओजाहार आदि के रूप में होता है। आभोग-निवर्तित आहार की इच्छा असंख्यात समय-परिमाण अन्तर्मुहूर्त में उत्पन्न होती है। मैं आहार करूँ ? इस प्रकार की अभिलाषा एक अन्तर्मुहूर्त के अंदर पैदा हो जाती है। यही कारण है कि नारकों की आहार की इच्छा अन्तर्मुहूर्त की कही गई है। वे नारक जीव अनन्त-प्रदेशी पुद्गलों का आहार करते हैं। सामान्यतः, नारक जीव वर्ण की अपेक्षा से काले और नीले वर्ण वाले, रस की अपेक्षा से तिक्त और कटु रस वाले, गन्ध की अपेक्षा से दुर्गन्ध वाले, तथा स्पर्श की अपेक्षा से कर्कश, गुरु, शीत और रूक्ष स्पर्श वाले अशुभ द्रव्यों का आहार करते हैं। यह स्पष्ट है कि मिथ्यादृष्टि नारक जीव ही उक्त कृष्णवर्ण आदि द्रव्यों का आहार करते हैं, किन्तु जो नारक आगामी भव में तीर्थंकर आदि होने वाले हैं, वे ऐसे द्रव्यों का आहार नहीं करते हैं।

भवनपति आदि देवों का आहार ²⁹ :-

असुरकुमार आदि भवनपति देवों का आहार - ये वर्ण की अपेक्षा से पीत और श्वेत, गन्ध की अपेक्षा से सुरभि गन्ध वाला, रस की अपेक्षा से अम्ल और मधुर, स्पर्श की अपेक्षा से मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण पुद्गलों का आहार करते हैं। स्तनितकुमार देवों तक के सभी देवों का आहार असुरकुमारों के समान ही जानना चाहिए। विशेष यह है कि असुरकुमार आदि देवों को बीच-बीच में एक-एक दिन छोड़कर आहार की अभिलाषा होती है। असुरकुमार त्रसनाड़ी में ही होते हैं, अतएव वे छहों दिशाओं से पुद्गलों का आहार करते हैं।

²⁹ प्रज्ञापनासूत्र 28, आहारपद, पृ. 102

एकेन्द्रिय जीव में आहार ³⁰—

पृथ्वीकाय, अपकाय, तेऊकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय —ये सभी एकेन्द्रिय जीव के अन्तर्गत आते हैं। इन्हें मात्र स्पर्शेन्द्रिय होती है। अतः ये कवलाहार नहीं करते, मात्र रोमाहार करते हैं।

पृथ्वीकाय प्रतिसमय निरन्तर आहार करते हैं। निर्व्याघात की अपेक्षा से ये छहों दिशाओं से और व्याघात की अपेक्षा से तीन, चार या पाँच दिशाओं से आहार लेते हैं। पृथ्वीकायिक द्वारा आहार के रूप में शुभ अनुभव या अशुभ अनुभव—रूप पुद्गल ग्रहण करते हैं। पृथ्वीकायिक जीवों द्वारा आहार के रूप में गृहीत पुद्गल स्पर्शेन्द्रिय के रूप में परिणत होते हैं। इसका आशय यह है कि नारकों के समान एकान्त—अशुभरूप में तथा देवों के समान एकान्त—शुभरूप में उनका परिणमन नहीं होता, किन्तु बार—बार इष्ट और कभी अनीष्ट के रूप में उनका परिणमन होता रहता है, यही नारकों से पृथ्वीकायिक जीवों की विशेषता है।

विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में आहार —

द्वीन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों का आहार दो प्रकार का कहा गया है—लोमाहार और प्रक्षेपाहार (कवलाहार)। द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रिय जीव लोमाहार के रूप में जिन पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, उन सबका पूर्ण रूप से आहार करते हैं, क्योंकि उस आहार का स्वभाव ही वैसा होता है। जिन पुद्गलों को वे प्रक्षेपाहार के रूप में ग्रहण करते हैं, उनके असंख्यातवें भाग का ही आहार कर पाते हैं। उनमें से सहस्रभाग उनके द्वारा बिना स्पर्श किए, आस्वादन किए यों ही विध्वंस को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि उनमें से कोई पुद्गल अतिस्थूल (बड़ा) होने के कारण और कोई अतिसूक्ष्म होने के कारण उनका आस्वाद नहीं ले पाते हैं।

³⁰ प्रज्ञापना, प. 28/1, सूत्र—1807

वही, 4. 28/1, सूत्र —1919—1823

पंचेन्द्रिय, तिर्यच, मनुष्य, ज्योतिष्क देव, वाणव्यन्तर देवों में आहार —

पंचेन्द्रिय तिर्यच जीवों का आहार त्रीन्द्रिय जीवों के समान ही होता है, विशेष यह है कि आहार करने के पश्चात् भी उन्हें जघन्य अन्तर्मुहूर्त से और उत्कृष्ट से दो दिन छोड़कर आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है। मनुष्यों की आहार सम्बन्धी व्यक्तव्यता भी इसी प्रकार ही है, विशेष यह है कि उनकी आभोगनिवर्तित आहार अभिलाषा जघन्य अन्तर्मुहूर्त में होती है और उत्कृष्ट तीन दिन व्यतीत होने पर उत्पन्न होती है। ज्योतिष्क देवों में यह आहार की अभिलाषा जघन्य और उत्कृष्ट से एक दिन छोड़कर होती है। वैमानिक देवों की व्यक्तव्यता ज्योतिष्क देवों के समान समझना चाहिए, किन्तु विशेष रूप से आभोगनिवर्तित आहार की इच्छा जघन्य से एक दिन छोड़कर और उत्कृष्टतः तैंतीस हजार वर्षों में होती है।

—————000—————

खाद्य अखाद्य—विवेक —

आहार सभी प्राणियों एवं मनुष्य के जीवन के अस्तित्व के लिए आवश्यक है, किन्तु मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है, इसलिए उसे सोचना होगा कि वह क्या खाए और क्या नहीं खाए ? जिस प्रकार आहार के कम मिलने पर शरीर शीघ्र ही दुर्बल, क्षीण और कृश होने लगता है, उसी प्रकार आवश्यकता से अधिक, अभक्ष्य एवं जंकफूड खाने से शरीर अनेक रोगों से ग्रसित भी हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके शारीरिक—संगठन, दैनिक—श्रम और कार्यभिन्नता के अनुसार आहार की भी भिन्न—भिन्न परिमाण में आवश्यकता होती है। हमारा भोजन स्वाद के लिए न होकर स्वास्थ्य के लिए होना चाहिए। महात्मा गांधी कहते थे —‘यदि हम आवश्यकता से अधिक खाते हैं, तो वह चोरी का खाते हैं।’

आयुर्वेद—शास्त्र में क्षुधा को एक स्वाभाविक रोग माना गया है। आहार इस रोग की औषधि है, परन्तु लोगों ने उसे औषध न मानकर रसनेन्द्रिय की तृप्ति का साधन बना रखा है। भूख लगे चाहे न लगे, लोग दिन भर कुछ न कुछ खाते ही रहते हैं। संसार में दो प्रकार के मनुष्य हैं, एक तो वे, जो जीने के लिए खाते हैं और दूसरे वे, जो खाने के लिए जीते हैं। दूसरे प्रकार के मनुष्यों को सदैव खाने की ही चिन्ता रहती है। पेट भर जाता है, पर उनकी इच्छा नहीं भरती है। दिन भर नाना प्रकार के पदार्थ खाने में ही उनका समय व्यतीत होता है। इस प्रकार के लोगों का जीवन भाररूप बन जाता है और खाद्य—अविवेक के कारण वे कई—नई—नई बीमारियों को आमंत्रित करते हैं।

भोजन की मात्रा सीमित रखें —

स्वस्थ रहने की अभिलाषा सभी जीवों को रहती है। जो रोगों से बचना चाहता है, उसे आहार की मात्रा का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। जब तक एक बार का ग्रहण किया हुआ भोजन पच न जाए, तब तक पुनः नहीं खाना चाहिए। कोई पदार्थ इसलिए नहीं खाना चाहिए कि वह बहुत स्वादिष्ट है, या उसके खाने के लिए

मन करता है, बल्कि इस सम्बन्ध में उदर से परामर्श लेना आवश्यक है। जिस समय उदर खाने की अनुमति न दे, उस समय अमृत को भी विष के समान समझकर त्याग देना चाहिए। भावप्रकाश नामक वैद्यकग्रंथ में कहा गया है —“आमाशय के दो भाग भोजन से और एक भाग पानी से भरना चाहिए तथा चौथा भाग वायु-संचरण के लिए खाली छोड़ देना चाहिए।”³¹

जिस प्रकार भूख से अधिक खाना हानि कारक है, उसी प्रकार बहुत कम खाना भी ठीक नहीं है। आवश्यकता से कम भोजन करने पर दुर्बलता, ग्लानि, अनिद्रा-रोग और वायु के रोग उत्पन्न होते हैं। भोजन की मात्रा के लिए कोई तौल नियत करना उचित नहीं है, आहार की मात्रा का निर्धारण भूख के आधार पर या दैहिक आवश्यकता के आधार पर करना ही ठीक है, अतः जितना भोजन सुख से पच सके, उतना ही खाना चाहिए। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि मुनि को मात्राज्ञ होना चाहिए,³² अर्थात् उसे भोजन की मात्रा का ज्ञान होना चाहिए।

आहार का स्वाद एवं शरीर संरक्षण —

जीवन-यात्रा के लिए आहार आवश्यक है। यदि मानव आहार को ग्रहण न करे, तो वह अधिक समय तक जीवन जी नहीं सकता है। अहिंसा की साधना के लिए, सत्य, क्षमा आदि व्रतों के पालन हेतु मानव का जीवित रहना आवश्यक है और जीवित रहने के लिए आहार आवश्यक है, परन्तु आहार कैसा, कब, कितना और किसलिए करना चाहिए, यह विवेक रखना भी आवश्यक है। मुख्यतः, आहार के संबंध में तीन प्रकार की मान्यताएं देखी गई हैं --

1. आहार के लिए जीवन।
2. जीवन जीने के लिए या स्वास्थ्य के लिए आहार।
3. धर्म-साधना के लिए आहार।

³¹ कृक्षेभार्गद्वयं भोजोस्तृतीये वारि पूरयेत्।
वायो संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्।। — भावप्रकाश

³² लद्धे आहारे अणगारे मायं जाणेज्जा, से जहेयं भगवया पवेइयं — आचारांगसूत्र 1/5/113

सामान्य मानवों का मन्तव्य है कि आहार बहुत ही स्वादिष्ट होना चाहिए। वे अच्छे-से-अच्छे मिष्ठान, मिर्च-मसाले, अचार-मुरब्बे युक्त स्वादिष्ट आहार को ग्रहण करने में आनन्द की अनुभूति करते हैं, अतः उनका जीवन आहार के लिए ही है।

दूसरे प्रकार के व्यक्तियों का यह चिन्तन है कि आहार में स्वाद नहीं स्वास्थ्य प्रमुख होना चाहिए, जो आहार शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाए। वह आहार चाहे उबला हुआ, कच्चा, मिर्च-मसाले से रहित, कैसा भी क्यों न हो। मात्र स्वास्थ्य के लिए ही आहार करना चाहिए।

तीसरे प्रकार के आत्मार्थी साधकों का मन्तव्य है कि आहार के लिए जीवन नहीं, किन्तु जीवन के लिए आहार है, इसलिए आहार हितकारी, मितकारी और पथ्यकारी हो, स्वास्थ्य और धर्म दोनों ही दृष्टि से लाभकारी हो। पाश्चात्य-संस्कृति भी इस बात का समर्थन करती है - 'Sound mind lives in a sound body'. स्वस्थ्य शरीर में ही स्वस्थ्य मन का निवास होता है।

गीता में आहार के तीन प्रकार बताए हैं³³ -

1. तामसिक-आहार, 2. राजसिक-आहार 3. सात्विक-आहार

राजसिक-आहार हमारे चित्त की वृत्तियों को उग्र बनानेवाला होता है। तामसिक-आहार का अधिक प्रयोग व्यक्ति को सुस्त व निरुत्साही बनाता है, पर सात्विक-आहार हमारे चिन्तन को, उदार सहनशील, विकसित और प्रमुदित बनाता है।

अधिक चटपटे और मिर्च-मसालेदार आहार करनेवाला व्यक्ति अधिकतर क्रोधी स्वभाव वाला हो जाता है। ऐसे आहार से उसकी मनोवृत्ति कषाययुक्त हो जाती है, अतः अधिक चटपटे तामसिक-आहार का त्याग करना चाहिए।

अधिक चिकनाईयुक्त गरिष्ठ आहार करने से शरीर का मोटापा बढ़ने लगता है। अधिक मोटापा अपने-आप में सभी बीमारियों का घर कहा गया है। अतः शरीर

³³ आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः। - गीता 16/7

को चुस्त रखने के लिए जितनी मात्रा में शरीर खाने को पचा सके, उतना ही आहार करना चाहिए। आहार की गरिष्ठता नहीं, आहार की संतुलितता उत्तम स्वास्थ्य के लिए कारणभूत होती है। सात्विक-आहार से स्वास्थ्य के संरक्षण के साथ-साथ मन की शान्ति, चित्त की प्रसन्नता एवं सहनशीलता बनी रहती है। श्रीमद् भगवद्गीता में कहा गया है – 'योग उसी व्यक्ति को दुःखमुक्त करता है, जिसका आहार-विहार, सोना-जागना आदि कार्य नियमित होते हैं।'

भगवान् महावीर ने बार-बार हमारे विवेक को जगाया है –“जवणट्ठाए भुंजिज्जा” “जीवन-यात्रा को सुखपूर्वक चलाने के लिए आहार करो।” “मोक्ख साहण हेउरस्स साहुदेहस्य धारणा।”³⁴ 'शरीर धारण का पवित्र उद्देश्य है- मोक्ष-साधना।' यदि आहार में विवेक न रखा गया, तो वह मोक्ष का साधन देह रोग, पीड़ा और क्लेश का घर बनने लगेगा, अतः आहार को ग्रहण करने के पूर्व आहार-विवेक अति आवश्यक है। “ऐसा हित-मित भोजन करना चाहिए, जो जीवन-यात्रा एवं संयम-यात्रा के लिए उपयोगी हो सके और जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो और न धर्म की भ्रंसना।”³⁵

जो मनुष्य हितभोजी, मितभोजी एवं अल्पभोजी हैं, उनको वैद्यों की चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती। वे अपने-आप ही अपने चिकित्सक होते हैं।³⁶ जो काल, क्षेत्र, मात्रा, आत्मा का हित, द्रव्य की गुरुता-लघुता एवं अपने बल का विचार कर भोजन करते हैं उन्हें दवा की जरूरत नहीं रहती।³⁷ कुछ वस्तुएं निश्चित समय में खाना अमृततुल्य हैं, जैसे-ज्येष्ठ और आषाढ़ मास में नमक, श्रावण-भाद्रपद मास में

³⁴ दशवैकालिकसूत्र – 5/92 गाथा

³⁵ तहा भोत्तत्वं जहा से जाय मात्ता य भवति
नय य भवति विभगों, न भंसणा य धम्मस्स। (प्रश्नव्याकरणसूत्र 214)

³⁶ हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिच्छति, अप्पाणं ते तिमिच्छगा।। (ओघनिर्युक्ति-578, आचार्य भद्रबाहु स्वामी)

³⁷ कालं, क्षेत्रं, मात्रां, स्वात्मयं द्रव्यं-गुरुलाघव स्वबलम
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं, भुङ्क्ते किं भेष जैस्तस्य।। – (प्रशमरति 137 आ. उमास्वाति)

शुद्ध जल, आश्विन-कार्तिक में गाय का दूध, मार्गशीर्ष-पौष में आँवले का रस, माघ-फाल्गुन में घी और चैत्र-वैशाख में गुड़ अमृत के समान है।³⁸

श्रीखंड या गोरस (कच्चा दूध, दही, छाछ) के साथ खमण ढोकला, मूंग मोगर की दाल, भुजिया, कढ़ी, दाल वगैरह नहीं खाना चाहिए। संबोधप्रकरण में कहा गया है - सर्व देश तथा सर्वकाल में सर्व द्विदलयुक्त कच्चे गोरस में पंचेन्द्रिय तथा निगोद के जीव उत्पन्न होते हैं, अर्थात् उनमें फरमन्टेशन (सड़न) उत्पन्न होती है।

आइस्क्रीम, चाकलेट, बिस्किट, शीतलपेय(कोल्डड्रिंक्स) जैसे कोकाकोला आदि, जंकफूड, शराब ये सभी मानसिक, शारीरिक और धार्मिक-दृष्टि से अखाद्य हैं। उपर्युक्त सभी वस्तुओं में हड्डियों का चूर्ण चर्बी आदि मिलाया जाता है। इनमें प्रयुक्त ऐसेन्स जो कई रासायनिक-प्रक्रियाओं से निर्मित होते हैं, जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं, अतः विवेकपूर्वक इन खाद्य-पदार्थों का त्याग करना चाहिए।

व्यसन, अर्थात् बुरी आदत, जो इस भव और पर भव में दुःख देने वाली है, जिसमें पान, गुटखा, सुपारी, पान-मसाला, तम्बाकू आदि खादिम पदार्थ हैं, वे भी शरीर को नुकसान पहुंचाते हैं। ये कैंसर, टी.बी., दमा और कई असाध्य रोगों को निमंत्रित करते हैं, इसलिए इनका त्याग करना चाहिए। सिगरेट, बीड़ी, हुक्का आदि के मादक धुएं से इनका सेवन करने वाले स्वयं तो रोगी होते ही हैं, साथ ही परिवार और पर्यावरण को भी प्रदूषित करते हैं, इसलिए विवेकपूर्वक इन सभी चीजों का त्याग करना चाहिए।

अनंतकाय एवं भक्ष्याभक्ष्य -

मोक्षमार्ग में अंतरंग परिणाम प्रधान होते हैं, अर्थात् मोक्षमार्ग की साधना मन के भावों पर आश्रित होती है। जिस प्रकार के हमारे भाव होंगे, वैसी ही हमारी प्रवृत्ति एवं गति होगी। भावों की उच्चता एवं निम्नता का एक कारण हमारे द्वारा किया गया

³⁸ वर्षासु लवणममृतं। शरदि जलं गोपयश्च'।

हेमन्त शिशिरे चामलकरसं। घृतं वसन्ते गुडं श्चान्ते।

- कल्पसूत्र, हिन्दी अनुवाद श्री आनन्दसागर सूरीश्वर जी म.सा. पृ. 170

आहार है, जो शरीर के पोषण के साथ-साथ मन के भावों को भी प्रभावित करने का कार्य करता है। सात्विकआहार जिस प्रकार साधना के लिए सहायक है, वैस ही तामसिक एवं अभक्ष्य आहार मन के भावों में विकृति पैदा करते हैं, वे साधना के मार्ग में बाधक हैं। आहार में भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक नहीं रखने के परिणामस्वरूप ही शरीर रोगों से ग्रसित होने लगता है और मनोविकृतियों का जन्म होता है, इसीलिए जैनदर्शन के अनुसार, अभक्ष्य आहार भी मांसाहार की तरह ही अग्राह्य है, अतः उसका भी त्याग करना चाहिए।

हमें आहार-संज्ञा में यह भी विवेक रखना चाहिए कि किस वस्तु के बाद क्या खाया जाए, अन्यथा भक्ष्य आहार भी खाद्य-वस्तुओं के क्रम की अनियमितता के कारण अभक्ष्य हो जाएगा। आयुर्वेद के मुख्य ग्रन्थ चरकसंहिता में लिखा है—प्राणियों के लिए अन्न ही प्राण होता है, किन्तु अविधिपूर्वक उसका सेवन किया जाए तो वही प्राणों को नष्ट करने वाला विष बन जाता है। विधि, मात्रा एवं युक्तिपूर्वक उचित मात्रा में खाया गया अन्न रसायन का काम करता है।³⁹

अभक्ष्य, अर्थात् जो खाने योग्य न हो। जिसमें फरमन्टेशन (Fermentation) की संभावना हो, जिसमें जीवोत्पत्ति तीव्र गति से होती हो, वे पदार्थ अभक्ष्य कहलाते हैं। वस्तुतः, हम देखते हैं कि कन्द-मूल अनन्तकाय वनस्पति हैं जिनमें एक शरीर में अनन्त जीवों का जीवन-चक्र एक साथ चलता है। जब उनको पकाते हैं, खाते हैं, या सुखाते हैं, तो उन सभी जीवों का मरण हो जाता है। यदि उबले आलू को सुबह से शाम तक रखते हैं तो उसमें भी फरमन्टेशन शीघ्रता से होने लगता है। जहाँ फरमन्टेशन होता है, वहाँ जीवोत्पत्ति निश्चित रूप से होती है।

इसी प्रकार, कोई भी कंद या मूल अभक्ष्य है, क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार वह जीवों का पिण्ड है और एक साथ अनन्त जीवों का नाश धार्मिक-दृष्टि से उचित नहीं, पर नैतिकतास्वरूप हम यह भी कह सकते हैं कि कंद या मूल पौधों का आधार

³⁹ प्राणाः प्राणमृतामन्नं तदयुक्ता हिनस्त्यशन्।

विषं प्राणहरं तच्च युक्ति युक्तं रसायनम्॥ - चरक संहिता 24/60

और आहार दोनों हैं। जब कोई भी कंद या मूल जमीन से निकालते हैं तो वह पौधा संपूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है। इनको खाने से उस पौधे का ही नहीं, बल्कि उसकी प्रजाति के भी समाप्त होने का भय रहता है।

यह ठीक वैसा ही है, जैसे एक स्त्री की हत्या में जितना दोष होता है उसकी अपेक्षा एक गर्भवती स्त्री की हत्या में अनेक गुना दोष होता है, क्योंकि उसके गर्भ में स्थित बालक से जो वंश-परम्परा चलती, वह पूरी तरह से नष्ट हो जाती है, अर्थात् उसके वंश को ही समाप्त कर दिया जाता है। फल को तोड़ने से भी अधिक पाप कोपल (नई पत्तियाँ) को तोड़ने में है, क्योंकि ऐसा करने से उस पौधे की बढ़ोतरी (Progress) ही रुक जाती है। जड़ या मूल (Root) को खत्म करना, संपूर्ण रूप से नष्ट करना है। वस्तुतः, जहाँ फरमन्टेशन होता है, वहाँ जीवों की उत्पत्ति और मरण का क्रम चलता है, यह ध्यान रखना है कि —

जीवोत्पत्ति जहाँ है, वहाँ सभी वस्तुएं अभक्ष्य हैं। किसी भी भक्ष्य वस्तु में जब फरमन्टेशन प्रारंभ हो जाता है, तब वह अभक्ष्य हो जाती है।

जिन चीजों के खाने से तमोगुण की वृद्धि होती है, हिंसा, रोग, मूर्च्छा, मृत्यु आदि होने की संभावना होती है, वे पदार्थ खाने योग्य न होने से अभक्ष्य कहे जाते हैं। जैनदर्शन में वर्तमान परम्परा में प्रचलित बाईस प्रकार के अभक्ष्य पदार्थों की सर्वप्रथम चर्चा हमें नेमीचन्द्रसूरिकृत (बारहवीं शती) प्रवचनसारोद्धार⁴⁰ में प्राप्त होती है। स्वोपज्ञटीका में इसका कुछ विस्तृत वर्णन भी प्रतिपादित हुआ है। इसके साथ ही, श्रावक के अतिचारसूत्र⁴¹ में बाईस प्रकार के अभक्ष्यों का भी उल्लेख है, जिनका त्याग श्रावक एवं साधक को करना चाहिए। ये बाईस अभक्ष्य निम्न हैं —

⁴⁰ पंचबरि चउविगई हिम विस करगे य सव्व मट्टी य
रयणी-भोयणगं चिय बहुवीय अणंत संघाणं ॥

छोलवडा वायंगण अमुणिअनामाणि फुल्ल-फलयाणि
तुच्छफलं चविय रसं वज्जह वज्जाणि बावीसं ॥ — प्रवचनसारोद्धार, गा. 4/245/46

⁴¹ पाक्षिक अतिचार सातवें भोगोपभोग व्रत में।

(1) वट (बड़) वृक्ष के फल, (2) पारसपीपल और पीपल के फल, (3) पिलखण (4) कटुंबर (5) गूलर आदि पांच उदंबर फल, (6) मधु (शहद) (7) मदिरा (8) मांस (9) मक्खन (10) हिम (बर्फ) (11) विष (जहर) (12) ओला (13) सब प्रकार की मिट्टी (14) रात्रिभोजन (15) बहुबीज फल (16) अनंतकाय (17) संधान (अचार) (18) दही, छाछ मिश्रित द्विदल (19) बैंगन (20) अज्ञात फल (21) तुच्छ फल और (22) चलित रस।

भक्ष्य का ग्रहण एवं अभक्ष्य का त्याग क्यों ?

भक्षण करने योग्य पदार्थों को ग्रहण करना चाहिए और भक्षण नहीं करने योग्य अखाद्य-पदार्थों का त्याग करना चाहिए। गाय से प्राप्त दुग्ध शुद्ध है, अतः भक्ष्य है और उसका मांस अशुद्ध है, अतः अभक्ष्य है। ऐसी ही वस्तु-स्वभाव की विचित्रता है, जैसे मणिधर सर्प की मणि ग्रहण करने योग्य है और उसका विष मारक होने से विपत्ति के लिए होता है, अतः वह ग्रहण करने योग्य नहीं है। मांस और दूध के उत्पादक कारण समान होने पर भी मांस हेय है, जबकि विधिपूर्वक एवं अहिंसक-वृत्ति से गृहीत दूध पेय है।

विशेषतः, वेगेन-परम्परा में पाश्चात्य देश के लोग दूध को भी पशुजन्य होने के कारण अभक्ष्य मानते हैं और दूध के स्थान पर सोयाबीन के पाउडर से बने दूध का उपयोग करते हैं। जो गाय के दूध से बने दही, छाछ, मक्खन, घी किसी को भी ग्रहण नहीं करते, वे वेगेन कहलाते हैं।

मद्य, मांस, मधु आदि अभक्ष्य हैं, क्योंकि इन पदार्थों से शरीर में तामसिक प्रवृत्ति एवं मादकता बढ़ जाती है।⁴² दूसरे ये हिंसाजन्य हैं। प्राणी इन्हें ग्रहण करने के पश्चात् अपना विवेक खो देते हैं और अमानवीय कृत्य भी कर बैठते हैं, क्योंकि इन पदार्थों के सेवन से उनकी विवेक-क्षमता क्षीण हो जाती है। जितने भी पेय

⁴² मधु, मद्य नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः

वल्भयन्ते न व्रतितं तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥ - पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, श्लोक-71

पदार्थ हैं वे मादकता प्रदान करने वाले हैं, विवेक-बुद्धि को नष्ट करने वाले हैं, या वेवेक-बुद्धि पर परदा डाल देने वाले हैं।⁴³ वे सभी मद्य के अन्तर्गत आते हैं। मादक पदार्थों का सेवन नशे की अवस्था का प्रमुख कारण है, जिसमें सेवन करने वाला अपना होश खो देता है। इसलिए भांग, गांजा, चरस, अफीम, सिगरेट, बीड़ी, तम्बाकू तथा ताड़ी, व्हिस्की, ब्रांडी, शैम्पेन, जिन, रम, पोर्ट, बीयर आदि देशी और विदेशी शराब— ये सभी मादक पदार्थ हैं, जो अभक्ष्य हैं, साथ ही मद्य इसलिए भी अभक्ष्य है क्योंकि वह वस्तुओं को सड़ाकर बनाई जाती है।

मदिरा बनाने के लिए सड़ाने की प्रक्रिया हिंसाजनक है। शर्करायुक्त पदार्थ जैसे— अंगूर, महुआ, जौ, गेहूं, मक्का, गुड़ आदि वस्तुओं को सड़ाया जाता है, जिसमें अनन्त एकेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। तत्पश्चात्, उस सड़े हुए पदार्थ से शराब बनाई जाती है, जो अभक्ष्य ही होती है। स्कन्दपुराणकार ने मद्यपान को सभी पापों से महान् पाप माना है। उन्होंने कहा है — 'एक ओर तराजू के पलड़े में वेदों को रख दो, दूसरी ओर ब्रह्मचर्य, तो दोनों बराबर होंगे। एक ओर संसार के सारे पापों को रख दो तथा दूसरी ओर मदिरापान, तो दोनों बराबर होंगे।'⁴⁴ इसी प्रकार, कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी ने लिखा है — 'आग की नन्ही सी चिनगारी विशालकाय घास के ढेर को नष्ट कर देती है, वैसे ही मदिरापान से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, क्षमा आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।'⁴⁵ कुरान शरीफ में कहा गया है — "ए ईमानवाले लोगों शराब, जुआ आदि नापाक हैं। ये शैतान के हथियार हैं, इनसे दूर रहोगे, तो ही तुम्हें जन्नत मिलेगी।"

⁴³ बुद्धि लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते। (वसुनन्दी श्रावकाचार -85)

⁴⁴ एकतश्चतुरोवेदा, ब्रह्मचर्यं तथैकतः
एकतः सर्वपापानि मद्यपानं तथैकतः (स्कन्द पुराण)

⁴⁵ विवेकः संयमो ज्ञानं, सत्यं शौचं दया क्षमा
मद्यात्तु प्रलीयते सर्वं, तृण्या वहिनकणादिव।। (योगशास्त्र -3/16)

इसी प्रकार, सभी धर्म-प्रवर्तक दार्शनिक और चिन्तकों ने मदिरापान की निन्दा की है और उसे पाप का मूल माना है, इसलिए मदिरा को अभक्ष्य जानकर उसका त्याग करना चाहिए।

मधु (शहद) मधुमक्खियों की जूठन, उगलन या वमन है। मधुमक्खियों के छत्तों में अनेक सम्मुच्छर्न अण्डे रहते हैं। वे सब कोमल शरीर वाले होते हैं जो शहद निकालते समय मर जाते हैं और उनके शरीर का रस निकल जाता है, तब शहद भी मांस के समान अभक्ष्य हो जाता है। शहद में निरंतर सूक्ष्म निगोद या जीव जिनका शरीर भी रसरूप होता है, ऐसे जीव निरंतर उत्पन्न होते रहते हैं, जो स्पर्श करने मात्र से मरण को प्राप्त हो जाते हैं। औषधि के साथ, अथवा औषधि के रूप में, शहद का प्रयोग करने पर भी जीवों की विराधनारूप हिंसा अवश्य होती है। शहद खाने पर रसनाइन्द्रिय की लालसा एवं कामुकता बढ़ जाती है। इस प्रकार, भाव-विकृति के कारण भी शहद अभक्ष्य है, इसलिए अहिंसा-धर्म के धारक को मधु का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए।⁴⁶

बासी रोटी, पूड़ी, ब्रेड, पापड़, मालपुआ, खीर, दाल, भात आदि खाद्य-पदार्थों में जब सफेद फफूंद आ जाती है, तब उनमें एकेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति हो जाने से वे अभक्ष्य हो जाती हैं। मक्खन, जो 48 मिनट पूर्व निकाला गया है, उसमें भी असंख्यात जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। अतः ऐसे पदार्थ सेवन करने योग्य नहीं है। मक्खन को छाछ में से निकालकर, तुरंत तपाकर घी बना लेना चाहिए, नहीं तो वह मक्खन मांस खाने के समान माना गया है, क्योंकि उसमें जीवोत्पत्ति (फरमन्टेन्शन) होता है।

किसी भी पदार्थ का अचार चाहे आम का हो, अथवा नींबू का, अथवा अन्य किसी भी प्रकार का, जो नमक, मिर्च, जीरा, धनिया, राई, अजवाइन, सरसों आदि

⁴⁶ भक्षणे भवति हिंसा नित्यमुद्भवति यज्जीवराशिः
स्पर्शनेऽपि मृयन्ते सूक्ष्मनिगोदरसजदेहिनः ।।29।।

अगदेऽपि न सेवितव्यः हिंसाभवति सेवन काले
भावेविकृतारवल् प्रदातासुखमाभाति कदा । 30 ।। — (उपासकाध्ययन, भाग-4, गाथा-29, 30)

डालकर तैयार किया है, 24 घण्टे के बाद उसमें भी अनेक जीवोत्पत्ति हो जाती है, तब उसमें विशेष स्वाद आने लगता है, अचार या मुरब्बा जितना पुराना होता जाता है, उतना ही रुचिकर लगने लगता है, चूंकि विभिन्न प्रकार की असंख्यात जीवराशि उसमें उत्पन्न होती रहती हैं और उसी में मरण को प्राप्त होती रहती हैं, अतः अहिंसक साधक को इनका सेवन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार से, कांजी-बड़ा आदि भी असंख्यात जीवराशियों का पिंड होने से अभक्ष्य है। वस्तुतः, वे सभी वस्तुएं जिनमें फफूंद (खमीर) या फरमन्टेशन स्वभावतः उत्पन्न होती हैं, अभक्ष्य हैं।⁴⁷

बड़, पीपल, उंबर, गूलर और अंजीर —ये पांच उदम्बर फल कहे गये हैं, इन फलों के भीतर त्रसकायिक असंख्यात जीव निवास करते हैं। इन फलों को तोड़ने पर ये जीव सैन्यदल के समान अन्दर से निकलकर बाहर आते दिखाई देते हैं, वे प्राणी विकलेन्द्रिय होते हैं। इन फलों को सुखाकर खाने पर, अथवा गीले ही पक्व या अर्द्धपक्व, कैसे भी खाने पर वे जीव मरण को तो प्राप्त होते ही हैं, परन्तु इससे द्रव्यहिंसा का दोष भी लगता है। इन फलों को तोड़कर देखने पर इन्हें कोई भी नहीं खा सकता है, क्योंकि असंख्यात जीव राशि उनमें से निकलने लगती है और उनमें प्रतिसमय जीव उत्पन्न होते और मरण को प्राप्त होते रहते हैं। उन मृतक जीवों का कलेवर भी उन्हीं में रहता है। अतः, इन पांच प्रकार के फलों को भी मांसभक्षण सदृश अभक्ष्य जानकर इनका त्याग करना चाहिए।⁴⁸

बहुबीज, बैंगन, अज्ञात फल, तुच्छ फल एवं अनन्तकाय भी अभक्ष्य हैं। जिसमें बीज अधिक हों, जैसे —खसखस, अंजीर आदि, इनमें प्रतिबीज एक जीव होने से इनको खाना अधिक जीवहिंसा का कारण है। बैंगन बहुबीज, निद्राकारक व कामोद्दीपक होने से अभक्ष्य है। जिन पुष्प-फलों को कोई न जानता हो, उन्हें भी

⁴⁷ रोहिकौदनापुपं पुष्पित नवनीतं च ।

संघानकंचकाचिका मधुमिद्वैव दोषानि ॥ (उपासकाध्ययन, अध्याय-4, गा. 31)

⁴⁸ निग्रोध पिप्पल फल्गु उदम्बर पाकर फलानि च भक्षणे ।

प्रभवति नित्य हिंसा जीवानां कर्मकोषं च ॥ 32 ॥

फलानां गर्भे खलु जातं मृतं नित्य त्रसजीवाः ।

आलोक्यते कलेवर मास्वादनेऽपि भवति हिंसा ॥ 33 ॥ — (उपासकाध्ययन, अध्याय-4, गा-32, 33)

कदापि नहीं खाना चाहिए, क्योंकि वे मृत्यु का कारण भी हो सकते हैं। जिन फल, पुष्प व पत्तों में खाना थोड़ा और फेंकना अधिक हो वे तुच्छ फल कहलाते हैं, जैसे—सीताफल, बिल्व आदि फल, अरणि, महुआ, शिगु आदि के पुष्प, वर्षाकाल की छोटे-छोटे कंथुर आदि से युक्त भाजी आदि भी अभक्ष्य हैं। ये सभी अभक्ष्य अनन्तकाय एवं अनन्त जीवों के पिण्ड होने से अभक्ष्य हैं। इनके अतिरिक्त कंदमूल भी अभक्ष्य हैं, क्योंकि उनमें एक ही शरीर में अनेक जीव रहते हैं। वे सभी साधारण वनस्पति कहलाते हैं।⁴⁹ आलू, रतालू, अरबी, शकरकंद, अदरख इत्यादि बत्तीस प्रकार के अनन्तकायों में प्रत्येक के सुई की नोंक के बराबर खण्ड में भी अनन्त जीव-राशि होती है। इनका शरीर एक प्रतीत होता है, परंतु उसमें असंख्यात और अनन्त जीव होते हैं, वह जीवों का स्टोर हाउस है। “इनको खाने वालों के द्वारा व्रत, उपवास, यम, नियम, शील, संयम, देवशास्त्र एवं गुरु की की गई भक्ति और तीर्थयात्रा, सब ही निष्फल हो जाते हैं।”⁵⁰

द्विदल, अर्थात् जिनकी दो दाल होती है और जिन्हें पेलने पर तेल निकलता है, वे खाद्य-पदार्थ द्विदल हैं। द्विदल से बनी वस्तुएं जैसे— दहीबड़े, गट्टे, छाछ आदि में पकोड़े के संग रायता आदि से इन्हें दही और छाछ के साथ खाना अभक्ष्य है। इनमें अतिशीघ्र खमीर उठने से जीवोत्पत्ति हो जाती है, अतः ये अग्राह्य हैं।

चलित रस, जिसका स्वाद बदल गया हो, उसे चलित रस कहते हैं, वह अभक्ष्य है, क्योंकि यह सड़ने या जीवोत्पत्ति होने का लक्षण है। यह अनुभवजन्य है कि प्रत्येक नई वस्तु पुरानी होती है। समय बीतने के साथ वह सड़ने, गलने और खराब होने लगती है, अतः वे सभी वस्तुएं भी अभक्ष्य हो जाती हैं। हर वस्तु की अविकृत अवस्था में रहने की एक समय मर्यादा होती है। समय बीतने पर वे भी अभक्ष्य हो जाती हैं। शास्त्रों में कहा गया है —जिस वस्तु का वर्ण, गंध, रस और स्पर्श बदल जाता है, तो चलितरस समझकर उसे अभक्ष्य मानना चाहिए। कितने ही

⁴⁹ जीवविचार प्रकरण, गा 8

⁵⁰ तीर्थोपवास संयम तपदानव्रतानि च
सेवते कन्दमूलानि ये वृक्षा पंचगुरु भान्ति — (उपासकाध्ययन, 14/43)

पदार्थ एक रात बीतने पर अभक्ष्य बन जाते हैं। कई पदार्थों का स्वाद 15-20 दिन में परिवर्तित होने लगता है और कुछ पदार्थ 4-8 महीने तक भी खराब नहीं होते। ऐसी सभी खाद्य-सामग्रियों की समय-मर्यादा जानकर, उनको अभक्ष्य मानकर, उनका त्याग कर देना चाहिए।

एक रात बीतने पर अभक्ष्य बनने वाले पदार्थ -

जिन पदार्थों में नमी का अंश रह जाता है, वे सभी पदार्थ एक रात बीतने पर 'बासी' कहलाते हैं। नमी या जलीय अंश पदार्थ को थोड़े समय में ही सड़ा देता है। फर्नीचर घर में है, वह तब तक सलामत रहेगा जब तक वह गीला न हो, उसी तरह खाद्य-पदार्थों में जल या नमी का अंश पदार्थ को खराब करने लगता है और उनमें जीवोत्पत्ति होने लगती है।

रात बीतने पर बासी पदार्थ⁵¹

रोटी	भजिया	दूधपाक	गुलाबजामुन	सेका हुआ पापड़
ब्रेड	बड़ा	खीर	कच्चा मावा	पानी वाली चटनी
पराठा	ढोकला	मलाई	जलेबी	शरबत का एसेन्स
पूरणपोली	हांडवा	बासुंदी	रसमलाई	आदि
सब्जी	इडली-डोसा	श्रीखंड	बंगाली मिठाई	
आदि	कचोरी-समोसा	हलवा	आदि	

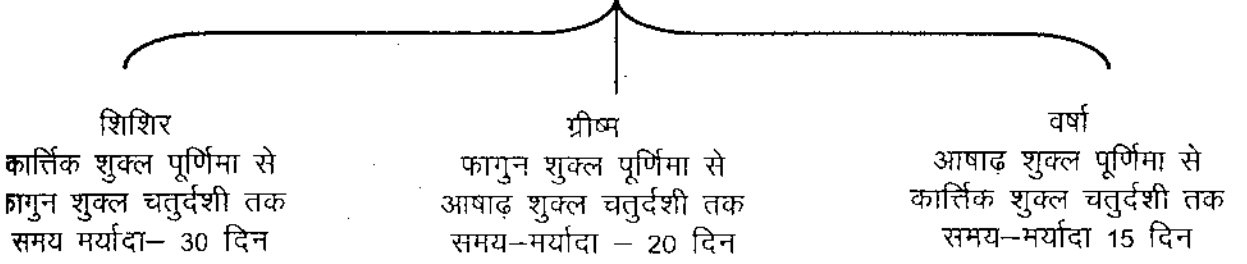
कुछ दिनों बाद अभक्ष्य बनने वाले पदार्थ -

जैनदर्शन में सूखे पदार्थों के अभक्ष्य होने की एक समय-मर्यादा मानी गई है। जिन पदार्थों को सेंककर या तलकर बनाते हैं और जिन पदार्थों को गाढ़ी चाशनी बनाकर तैयार करते हैं, वे पदार्थ अपनी पाक-पद्धति के कारण दीर्घ समय तक

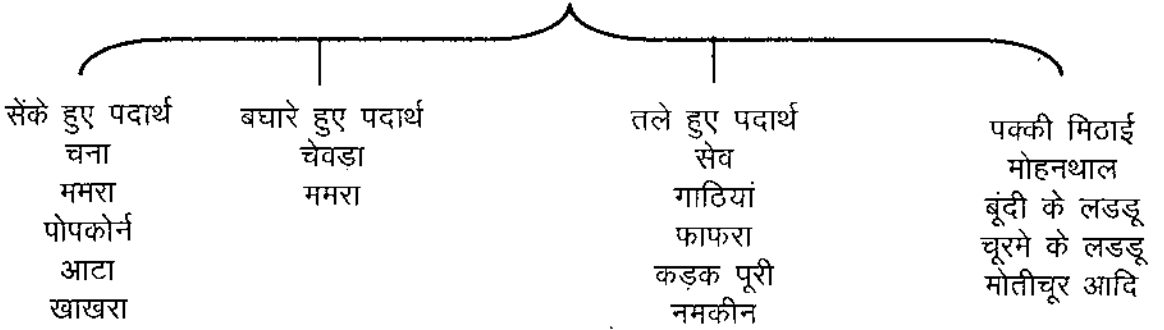
⁵¹ रिसर्च ऑफ डाइनिंग टेबल - (आचार्य हेमरत्नसूरिजी, पृ. 38)

सड़न से सुरक्षित रहते हैं, ऐसे पदार्थों में समय-मर्यादा मौसम के अनुसार होती रहती है।

समय-मर्यादा, मौसम के अनुसार—⁵²



पदार्थ



उपर्युक्त पदार्थों की समय-मर्यादा मौसम के अनुसार सर्दी में 30 दिन, गर्मी में 20 दिन और वर्षा में 15 दिन की बताई गई है। इस काल के बाद वे अभक्ष्य हो जाते हैं, अतः उस स्थिति में उनका त्याग करना चाहिए।

बहुत महीनों बाद अभक्ष्य बनने वाले पदार्थ —

कई खाद्य-पदार्थों का प्राकृतिक स्वरूप ही ऐसा होता है कि वे चार-आठ महीने तक खराब नहीं होते हैं। कई पदार्थों की तैयार करने की पद्धति इतनी अच्छी होती है कि वे खाद्य-पदार्थ लम्बे समय तक चल सकते हैं, उदाहरण— पापड़,

⁵² रिसर्च ऑफ डाइनिंग टेबल – (आचार्य हेमरत्नसूरिजी, पृ. 38)

बड़ी, खीचिया, अचार आदि। उपर्युक्त खाद्य-पदार्थ समयावधि के पूर्व ही किसी कारणवश खराब होते दिखाई दें तो अभक्ष्य मानकर उनका त्याग कर देना चाहिए।

जैनदर्शन में जो अभक्ष्य की चर्चा की गई है, उसके पीछे केवल जीव-हिंसा का ही कारण नहीं है, अपितु शारीरिक-आरोग्यता, मानसिक-निरोगता और भावनाओं की शुद्धता का बने रहना इत्यादि कारण भी निहित हैं। जैसे कि बहुबीज वाली वनस्पतियों को अभक्ष्य मानने के पीछे कारण है कि बीज कठोर होता है, अतः सुपाच्य नहीं होता, इसी प्रकार अमर्यादित काल का भोजन भी कभी-कभी विषाक्त हो जाता है। बरसात में दही को अभक्ष्य की श्रेणी में माना गया है, इसके पीछे शरीर की अस्वस्थता का कारण ही प्रमुख है।

बेमौसम की फल-सब्जियाँ, कई दिनों से कोल्डस्टोरेज में रखे गए फल-सब्जियाँ आदि अभक्ष्य हो जाते हैं। इस प्रकार के अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करने पर शारीरिक, मानसिक एवं धार्मिक-दृष्टि से व्यक्ति का पतन होता है।

इसके अतिरिक्त; बर्फ, आइस्क्रीम, तंदूरी रोटी, नान, बाजारू टंडे पेय, फास्टफूड, चाऊमीग, मैगी, पिज्जा, सॉस, चटनी, बेकरी-उत्पाद, कृत्रिम रूप से पकाए गए फल, आलू, प्याज, लहसुन, साबुदाना, कटहल, बैंगन, फ्रीज में रखे खाद्य-पदार्थ अभक्ष्य की कोटि में आते हैं। फरमन्टेशन से तैयार किया गया भोजन डोसा, इडली, खमन-ढोकला, मिठाईयाँ तथा ऑक्सिटोसिन इंजेक्शन लगाकर निकाला गया दूध अभक्ष्य हो जाता है। कई पत्र-पत्रिकाओं में अंकुरित अनाज को पौष्टिक बताकर सेवन करने का प्रचार हो रहा है, पर अंकुरित अनाज भी मांसाहार की श्रेणी में होने से इसका त्याग करना चाहिए।⁵³

इसके अतिरिक्त, डॉ. नेमीचंदजी जैन की दृष्टि में आधुनिक युग में निम्न पदार्थ भी अभक्ष्य की कोटि में आते हैं, क्योंकि इन पदार्थों का निर्माण एवं सेवन स्वास्थ्य, सभ्यता, संस्कृति और धर्म के लिए हानिकारक है, नीचे निर्दिष्ट किए जा

⁵³ श्रमणभारती समाचार-पत्र, - घोर हिंसा से बचाने हेतु ---- (16 अगस्त 2010)

रहे इन पदार्थों का प्रचलन वर्तमान में बढ़ता जा रहा है, इनके नाम इस प्रकार

५५४ -

- | | | |
|---------------|----------------------|-----------------------|
| 1. आइस्क्रीम | 8. कार्टिजोन | 15. मारिस्टकेवल्स |
| 2. इन्सुलिन | 9. सिरेमिक्स क्राकरी | 16. एंटीकेकिंग एजेन्ट |
| 3. एड्रीनेलिन | 10. गिलसरीन | 17. एस्पिक |
| 4. एंजाइम | 11. चीज़ | 18. केरब गोंद |
| 5. एमीलेस | 12. जिलेटीन | 19. कैल्शियम क्लोराईड |
| 6. एंबरग्रीस | 13. टूथपेस्ट | 20. कैल्शियम फॉस्फेट |
| 7. मस्क | 14. फ्रूटेला | 21. कोलेस्टेरिन |
| | | 22. टेस्टोस्टेरोन |

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन-परम्परा में भक्ष्याभक्ष्य के संदर्भ में गहराई से विचार किया गया है। वस्तुतः, क्या खाएँ, कब खाएँ और कितना खाएँ इसका विवेक आवश्यक है। चिकित्सकों का ऐसा मानना है कि अधिकांश बीमारियों का जन्म आहार का विवेक नहीं रखने से ही होता है। गीता में कहा गया है -अति आहार करने वाला योग-साधना नहीं कर पाता है, किन्तु केवल मात्रा का प्रश्न ही महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसके बारे में भक्ष्याभक्ष्य का विचार भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। आहार-सम्बन्धी भक्ष्याभक्ष्य के विस्तृत विवेचन का सार इतना ही है कि जिस आहार में जीवों की उत्पत्ति हो गई हो, या तत्काल होने की संभावना हो, वैसे आहार का त्याग करना चाहिए। आहार-संज्ञा के विवेचन में आहार के सम्बन्ध में मात्रा और भक्ष्याभक्ष्य का विचार आवश्यक है। यह विवेकपूर्वक निर्णय लेना होगा कि कौन-सी वस्तु स्वाद के लिए भले ही अच्छी हो, पर स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं है, और उसका त्याग करना चाहिए।

* क्या न खाएँ, क्या न पहिने, क्या काम में न लें - डॉ. नेमीचंद जैन

बाईस अभक्ष्य एवं रात्रि-भोजन भी अनेक जीवों की हिंसा का निमित्त होने से एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुपयुक्त होने के कारण अभक्ष्य कहा गया है।

रात्रिभोजन –

रात्रि, अर्थात् सूर्यास्त से लगाकर दूसरे दिन के सूर्योदय तक का समय। इस अवधि में किया हुआ भोजन रात्रि-भोजन के नाम से जाना जाता है। आहार कैसा हो, इसके साथ ही यह तथ्य भी बहुत महत्त्व रखता है कि आहार किस समय किया जाए। क्योंकि असमय में किया गया महान् कार्य भी निरर्थक हो जाता है। जिस प्रकार बारिश होने के बाद खेत को जोतना, सूर्योदय होने के पश्चात् दीप जलाना और रोगी के मरण के बाद वैद्य का पहुंचना आदि व्यर्थ हैं, उसी प्रकार सूर्यास्त के बाद भोजन करना मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक –तीनों दृष्टियों से उचित नहीं है। सूर्यास्त के बाद किया गया भोजन शरीर के लिए अहितकर बन सकता है, क्योंकि भोजन पचाने में भी श्रम की आवश्यकता होती है। दिन जागरण अर्थात् श्रम करने के लिए है, तो रात निद्रा अर्थात् आराम करने के लिए है। दूसरे शब्दों में, दिन श्रम है, तो रात्रि विश्राम है।

सूर्यास्त के बाद भोजन ग्रहण करने से शरीर को अधिक श्रम करना पड़ता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश पाकर वृक्ष अपना भोजन बनाते हैं, कमल सूर्योदय होने पर खिलता है और सूर्य के अस्त होने पर सिकुड़ जाता है, उसी प्रकार जब तक सूर्य का प्रकाश रहता है, तब तक उसकी गर्म किरणों के प्रभाव से हमारा पाचन-तन्त्र ठीक से काम करता है और सूर्य के अस्त होते ही उसकी गतिविधि मन्द पड़ जाती है, इसके साथ ही, रात्रि-भोजन से जीव-हिंसा और अनेक रोगों की संभावना बढ़ जाती है, अतः रात्रि-भोजन का त्याग करना चाहिए।

भोजन कब करें —

यह चिन्तन का विषय है कि भोजन कब करें ? वैद्यक-शास्त्रों में कहा गया है कि जब जठराग्नि प्रबल हो और खूब अच्छी भूख लगे, तब ही भोजन करना चाहिए। भूख का संबंध हमारी आदतों पर निर्भर करता है। जैसी हम आदत डालते हैं, उस समय हमें भूख लगने लगती है, अतः हमें भोजन करने की ऐसी आदत डालना चाहिए, जब आमाशय, पेन्क्रियाज अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय हों। प्रातःकाल सूर्योदय के लगभग एक-दो घंटे पश्चात् आमाशय एवं आमाशय के सहयोगी पूरक अंग, अर्थात् पेन्क्रियाज आदि प्रकृति से अधिक प्राण-ऊर्जा मिलने से अधिक सक्रिय होते हैं, अतः मुख्य भोजन का सबसे श्रेष्ठ समय इसके बाद ही होना चाहिए। इस प्रकार, सूर्यास्त के बाद आमाशय एवं पेन्क्रियाज प्रकृति में प्राण-ऊर्जा का प्रवाह कम होने से निष्क्रिय हो जाते हैं, उस समय किए गए आहार का पाचन सरलता से नहीं होता है, अतः उस समय भोजन नहीं करना चाहिए।

जैनदर्शन में रात्रिभोजन-निषेध की मान्यता है।⁵⁵ रात्रि में भोजन करने से अनेक सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा होती है, क्योंकि मनुष्य उन छोटे-छोटे प्राणियों को देख नहीं पाता। इसके अलावा, छोटे-छोटे कुछ जीव ऐसे भी होते हैं, जो रोशनी देखकर स्वतः दीपक आदि की लौ की ओर आकर्षित होते हैं तथा जलकर भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार, रात्रि में भोजन करना हिंसा को बढ़ावा देना है।⁵⁶ दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि साधु सूर्यास्त के बाद तथा सूर्योदय के पहले अशनादि चारों प्रकार के आहारों को मन से भी त्याग दे यानी इनके उपभोग की इच्छा मन से भी न करे।⁵⁷ उत्तराध्ययनसूत्र⁵⁸ में श्रमण-जीवन के कठोर आचार का निरूपण करते हुए स्पष्ट बताया गया है कि प्राणातिपात, विरति आदि पाँच

⁵⁵ से वारिया इत्थि सरायभत्तं - सूत्रकृतांगसूत्र (मधुकरमुनि) 116/379

⁵⁶ दशवैकालिकसूत्र - 6/23-26

⁵⁷ अत्थंगयमि आइच्चे पुरत्थ य अणुग्गए।

आहारमाइयं सव्वं मणसा वि न पत्थए।। - वही 8/28

⁵⁸ उत्तराध्ययनसूत्र, अ. 19/31

सर्वविरतियों के साथ ही रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए। इस व्रत का पालन भी महाव्रतों की तरह ही दृढ़ता से किया जाता है। रात्रिभोजन—त्याग को दशवैकालिक की अगस्त्यसिंह चूर्णि⁵⁹ में मूलगुणों की रक्षा का हेतु बताया गया है, इसलिए रात्रिभोजन—विरमण को मूलगुणों के साथ ही प्रतिपादित किया गया है। विशेषावश्यकभाष्य में लिखा है कि रात्रिभोजन नहीं करने से अहिंसा—महाव्रत का संरक्षण होता है।⁶⁰

जैन—परम्परा में तो रात्रिभोजन—वर्जन का स्पष्ट आदेश है। प्राचीन एवं अर्वाचीन जैन—ग्रन्थों के साथ ही वैदिक—परम्परा के ग्रंथों में भी रात्रिभोजन का निषेध किया गया है।

रात्रिभोजन—त्याग अहिंसा की कसौटी है। इस कारण रात्रिभोजन—निषेध की बात किसी न किसी रूप में विभिन्न धर्म ग्रन्थों में मिलती है। महाभारत⁶¹ में स्पष्ट उल्लेख है —

मद्यमांसाशनं रात्रिभोजनं कन्दभक्षणं
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जतस्तपः ॥

अर्थात्, रात्रिभोजन, मद्यपान, मांसाहार एवं कन्दभक्षण में जो हिंसा होती है, इसके कारण जप, तप और तीर्थयात्रा आदि सब व्यर्थ हो जाते हैं। उसको नरक का प्रथम द्वार बताया गया है।⁶² मार्कण्डेय ऋषि ने रात्रिभोजन को मांसाहार के समान कहा है। सूर्यास्त के बाद अन्न, मांस और जल रक्त जैसा हो जाता है।⁶³ जो सूर्यास्त से पूर्व भोजन कर लेता है वह महान् पुण्य का उपार्जन करता है। एक बार

⁵⁹ किं रात्रीभोजनं मूलगुणः उत्तरगुण ? उत्तरगुण एवायं।

तद्यपि सच्चमूलगुणरक्खा हेतुत्ति मूलगुण सम्भूतं पटिज्जति ॥ — अगस्त्यचूर्णि, पृ. 65

⁶⁰ विशेषावश्यकभाष्य (गा. 1247 वृत्ति)

⁶¹ महाभारत (ऋशीश्वर भारत)

⁶² चत्वारो नरकद्वारा, प्रथमं रात्रिभोजनम्
परस्त्रीगमनं चैव सन्धानान्तकायिके ॥ — रात्रिभोजन महापाप, पृ. 25

⁶³ अस्तंगते दिवानाथे, आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेय महार्षिणा। — मार्कण्डपुराण

भोजन करने वाला अग्निहोत्र जितना फल प्राप्त करता है और जो सूर्यास्त से पहले भोजन करता है, वह तीर्थयात्रा के फल को प्राप्त करता है। यदि किसी के घर में स्वजन की मृत्यु हो जाए तो कितने ही दिनों तक उसका सूतक रहता है, फिर सूर्य अस्त हो जाने पर भोजन कैसे किया जा सकता है।⁶⁴

रात्रिभोजन से परलोक में विविध प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। जो रात्रि में भोजन करता है, वह अगले जन्म में उल्लू, कौआ, बिल्ली, गिद्ध, शंबर, सूअर, सर्प, बिच्छू, गोह आदि की निकृष्ट योनि में जन्म ग्रहण करता है, अतः समझदार और विवेकी जनों को रात्रिभोजन का त्याग अवश्य करना चाहिए।⁶⁵ जो भव्य आत्मा हमेशा के लिए रात्रिभोजन का त्याग करता है, उस त्यागी को आधी उम्र के उपवास का फल प्राप्त होता है।⁶⁶ रात्रि में जो दोष लगते हैं, वे दोष (दिन के समय) अंधेरे में भोजन करने से भी लगते हैं। क्योंकि अन्धकार में सूक्ष्म जीव दिखाई नहीं देते हैं इसलिए रात को बनाया गया भोजन दिन में ग्रहण किया जाए, तो भी वह रात्रिभोजन तुल्य ही माना गया है।

पं. आशाधरजी ने 'सागारधर्माभूत'⁶⁷ में रात्रिभोजन—त्याग के विषय में लिखा है। अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए एवं मूलगुणों को निर्मल करने के लिए धीर व्रती को मन, वचन और काया से जीवनपर्यन्त के लिए रात्रि में चारों प्रकार के भोजन का त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, मूलाचार, भगवतीआराधना में रात्रिभोजन का निषेध किया गया है। आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र,

⁶⁴ मृते स्वजन मात्रेऽपि, सूतकं जायते किल
अस्ते गते दिवानाथे, भोजनं क्रियते कथम् ? (मार्कण्डपुराण)

⁶⁵ (क) उलूककाकमार्जार, गृद्ध संबरशुकराः
अहिवृश्चिक गोघाश्च जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥ - योगशास्त्र, 3/67

(ख) उमास्वातिश्रावकाचार, 329

(ग) श्रावकाचारसारोद्धार 118, उद्धृत— श्रावकाचार संग्रह भाग-3

⁶⁶ करोति विरतिं धन्यो, यः सदा निशि भोजनात्
सोडद्धं पुरुषायुव्रकस्य, स्यादवश्यमुपोषितः ॥ - योगशास्त्र 3/69

⁶⁷ अहिंसाव्रत रक्षार्थं मूलव्रत विशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा व्यजेत्। - सागारधर्माभूत से उद्धृत, 4/24

देवसेन, चामुण्डराय, वीरनन्दी आदि सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्यों ने रात्रिभोजन-त्याग को महाव्रती की रक्षा के लिए आवश्यक मानते हुए उसे छठवां अणुव्रत माना है। चाहे पूज्यपाद⁶⁸, अकलंक⁶⁹, विद्यानन्द⁷⁰, श्रुतसागर⁷¹ आदि तत्त्वार्थसूत्र के कुछ व्याख्याकार रात्रिभोजन-विरमण-व्रत को छठवां व्रत या अणुव्रत न मानें, तथापि सभी ने रात्रिभोजन के दोषों का निरूपण किया है और इस बात पर बल दिया है कि रात्रिभोजन श्रमण के लिए एवं साधक-श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है। बौद्ध-धर्म में भिक्षुओं के लिए विकाल भोजन (दिन के 12 बजे के पश्चात् से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व तक का समय विकाल माना गया है।) एवं रात्रिभोजन को त्याज्य बताया गया है।⁷² इस प्रकार, सभी धर्मशास्त्रों में रात्रिभोजन को हिंसात्मक मानकर उसका निषेध किया गया है।

वैज्ञानिक-दृष्टि से रात्रिभोजन-निषेध -

जहाँ तक धार्मिक-मान्यता का प्रश्न है, उसमें रात्रिभोजन का हिंसादि कारणों से निषेध किया गया है, परंतु रात्रिभोजन योगशास्त्र, आयुर्वेद और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी हानिकारक है। चिकित्सा-शास्त्रियों का अभिमत है कि कम से कम सोने के तीन घण्टे पूर्व भोजन कर लेना चाहिए। जो लोग रात्रि में भोजन करते हैं और भोजन के तुरन्त बाद सो जाते हैं, उनके शरीर में जल, प्राणवायु और सूर्य के प्रकाश के अभाव के कारण आहार सुचारु रूप से पचता नहीं है, जिससे अनेक रोगों का जन्म होने लगता है।

⁶⁸ सर्वार्थसिद्धि, - 7/1 टीका, पृ. 343-44

⁶⁹ तत्त्वार्थराजवार्तिक, - 7/1 टीका, भाग-2, पृ. 534

⁷⁰ तत्त्वार्थवार्तिक - 7/1 टीका, पृ. 5-458

⁷¹ तत्त्वार्थवृत्ति - 7/1

⁷² मज्झिमनिकाय कीटागिरि - सुत्त (70)

सूर्य के प्रकाश में केवल प्रकाश ही नहीं होता, अपितु कीटाणुनाशक तथा जीवनदायिनी-शक्ति भी होती है। सूर्य के प्रकाश से हमारे पाचन-तंत्र का गहरा संबंध है। सूर्य की रोशनी से शरीर में रोग-प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है। भारतीय आयुर्वेद का अभिमत है कि शरीर में दो प्रमुख कमल होते हैं, हृदयकमल और नाभिकमल।⁷³ जिस प्रकार कमल सूर्योदय के साथ खिलता है और सूर्यास्त के साथ बंद हो जाता है, उसी प्रकार जब तक सूर्य का प्रकाश रहता है, तब तक उसमें रहने वाली सूर्य-किरणों के प्रभाव से हमारा पाचनतंत्र भी ठीक काम करता है। सूर्य के अस्त होते ही उसकी गतिविधि मंद पड़ जाती है। सूर्यास्त होने के बाद भोजन करने से स्वास्थ्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है, इसलिए रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए।

जिस प्रकार चूल्हे पर रखी हुई वस्तु को जब अग्नि की गर्मी मिलती है, तभी वह पकती है, उसी प्रकार हमारे आमाशय में जो भोजन हम डालते हैं वह भी पेट की उष्णता (जठराग्नि) के कारण और सूर्य की रोशनी के कारण ही पचता है।

हमें यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि सूर्य के प्रकाश में जो विशेषता है, वह विद्युत के प्रकाश में नहीं है, चाहे वह कितना ही तीव्र और चमचमाता क्यों न हो। सूर्य की रोशनी में ही पौधे अपना भोजन बनाते हैं, जौहरी द्वारा हीरों का परीक्षण भी सूर्य की रोशनी में होता है, उसी प्रकार सूर्य के रहते भोजन करते हैं, तो वह स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होता है।

जिस प्रकार प्राणवायु ऑक्सीजन (O₂) श्रम की थकान मिटाने के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार प्राणवायु पाचन के लिए भी आवश्यक है। रात्रि में कार्बनडायाऑक्साइड (CO₂) की मात्रा अधिक बढ़ जाती है, जिससे रात्रि में भोजन का पाचन करने में अधिक श्रम करना पड़ता है, इसलिए रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए।

⁷³ हन्नाभिपद्मसंकोच चण्डरोचिरपायतः ।

अतो नक्तं न भोक्तव्यं सूक्ष्मजीवादिनादपि ।। - योगशास्त्र, 3/60

इसके अतिरिक्त अब तो वैज्ञानिक-खोज से यह निश्चित हो गया है कि सूर्य के प्रकाश में Infra-Red तथा Ultra-Violet दो प्रकार की किरणें होती हैं, इनमें से एक प्रकार की किरण वातावरण में उपस्थित सूक्ष्म जीवाणुओं का विनाश करती है, यह लाभ रात्रि के समय नहीं मिल पाता है, अतः वैज्ञानिक-दृष्टि से भी रात्रिभोजन उचित नहीं है।⁷⁴

जो रात्रि में भोजन करते हैं, उन्हें जैसी चाहिए, वैसी गहरी निद्रा नहीं आती, वे या तो रात्रि में इधर-उधर करवटें बदलते रहते हैं, या स्वप्न संसार में गोते लगाते हैं। निद्रा की इस अस्त-व्यस्तता का मूल कारण पेट में पड़ा हुआ आहार है, क्योंकि भोजन पचाने के लिए शरीर को अधिक श्रम करना पड़ता है। शरीर की सारी ऊर्जा भोजन को पचाने में ही लगती है, इस कारण गहरी नींद नहीं आती है। उठते समय उसके चेहरे पर भी तरोताजगी नहीं होती है। बहुत से जन रात्रि में ज़ायफ़्रुट आदि खाते हैं, परन्तु सूखे पदार्थों का आहार भी पाचन के लिए वैसा ही हानिकारक है, जैसा अन्य पदार्थों का आहार। रात्रि में देर से आहार करने पर उसके पाचन हेतु बार-बार पानी पीना होता है। बार-बार पानी पीने पर मूत्र-विसर्जन हेतु बार-बार उठना होता है, इससे भी गहरी और पूर्ण निद्रा नहीं हो पाती है, अतः दिन भर अन्यमनस्कता बनी रहती है। अतएव रात्रिभोजन त्याज्य है।

रात्रिभोजन धार्मिक, आध्यात्मिक और स्वास्थ्य -सभी दृष्टियों से हानिप्रद है। अतीत-काल से लेकर वर्तमान युग के वैज्ञानिक भी रात्रिभोजन को उचित नहीं मानते। भले ही परिस्थितिवश उन्हें करना पड़ता है। आधुनिक सभ्यता में लोग 'डिनर' के नाम पर रात्रिभोजन को महत्त्व देते हैं, शादी, पार्टी और बड़े-बड़े कार्यक्रम में रात्रिभोज रखते हैं, पर यह आध्यात्म और शारीरिक दोनों दृष्टियों से अनुचित है। जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में ही नहीं, चरक और सुश्रुत जैसे आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी रात्रिभोजन से होने वाली हानियों का उल्लेख है, अतः जैनदर्शन का कहना है कि साधक को रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए।

⁷⁴ जैन आचार : सिद्धांत और स्वरूप, पृ. 872-73

जैनदर्शन का भक्ष्य—अभक्ष्य विवेक और उसकी प्रासंगिकता —

जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए आहार आवश्यक है। जैनदर्शन में प्रत्येक प्राणी में चार संज्ञाओं की सत्ता मानी गई है — आहार, भय, मैथुन और परिग्रह। इनमें भय, मैथुन और परिग्रह —इन तीन संज्ञाओं को तो मनःस्थिति पर अंकुश लगाकर उपशान्त कर सकते हैं, परन्तु आहार संज्ञा की पूर्ति तो जीव के जीवन—निर्वाह के लिए अति आवश्यक है, अतः आहार की पूर्णतया उपेक्षा संभव नहीं है। फिर भी, मनुष्य को विवेकशील प्राणी कहा गया है (Man is a rational animal)। पाश्चात्य—दार्शनिक अरस्तु ने मनुष्य को एक विवेकशील या विचारशील प्राणी बताया है। मनुष्य चिन्तन और विवेक के द्वारा यह जान सकता है कि कौनसी वस्तु खाने लायक है और कौनसी नहीं ? यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो वह पशुतुल्य समझा⁷⁵ जाता है। खाद्य—वस्तुएं तो संसार में हजारों हैं, पर कौनसी वस्तुएं हमारे जीवन के लिए या हमारे स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त हैं, या खाद्य हैं, इसका निर्णय तो हम अपने विवेक के द्वारा ही कर सकते हैं। जो आहार हमारे विचारों को, शरीर को, स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचाता है, वह चाहे स्वादिष्ट भी हो, फिर भी वह हमारा खाद्य नहीं हो सकता। विवेकपूर्वक हमें उसका त्याग करना चाहिए। शुद्ध, सात्विक और शाकाहारी भोजन ही मनुष्य का खाद्य है। उसे उसका उपयोग कर अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की शुद्धि करना चाहिए।

आहार मनुष्य—जीवन के अस्तित्व के लिए आवश्यक है, किन्तु मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है, इसलिए उसे यह सोचना होगा कि वह क्या खाए और क्या नहीं खाए ? पशु—जगत् एवं वनस्पति—जगत् का आहार उसकी अपनी शारीरिक—संरचना के आधार पर प्राकृतिक रूप से ही निर्धारित होता है, अतः उनके लिए यह विचार आवश्यक नहीं है कि वे क्या खाएं और क्या न खाएं ? यह प्रश्न केवल मनुष्य के संदर्भ में ही खड़ा होता है कि वह क्या, कब और कितना खाए ? मनुष्य के संदर्भ में

⁷⁵ आहार निद्रा भय मैथुनन्ध, समान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्
ज्ञानो हि तेषामधिको विशेषो, ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥ — धर्म का मर्म, पृ. 38

शाकाहार और मांसाहार के बीच निर्णय करने से पहले हमें यह देख लेना होगा कि प्रकृति ने मनुष्य की शारीरिक-संरचना किस प्रकार की बनाई है। उसके आधार पर ही हमें यह निर्णय करना होगा कि उसका आहार क्या हो सकता है ? यदि हम शाकाहारी और मांसाहारी प्राणियों की शारीरिक-संरचना की दृष्टि से विचार करें तो मानव के दाँतों और आँतों की शारीरिक-संरचना उसे एक शाकाहारी प्राणी ही सिद्ध करती है। मांसाहारी प्राणियों के दाँत नुकीले होते हैं, ताकि वे अपने खाद्य को फाड़ सकें, जबकि शाकाहारी प्राणियों के दाँतों की बनावट ऐसी होती है कि वे अपने खाद्य को चबा सकें। मांसाहारी प्राणियों के पंजे एवं नख भी ऐसे होते हैं जिससे वे अपने शिकार को फाड़ सकें। जबकि शाकाहारी प्राणियों के पंजे और नख मात्र पकड़ने के योग्य होते हैं, फाड़ने के योग्य नहीं होते। मानव की आँतों की बनावट और उसमें अम्ल आदि की उत्पत्ति भी शाकाहारी पशुओं के समान ही होती है। प्राकृतिक रूप से तो यही सिद्ध होता है कि मनुष्य की दैहिक-संरचना शाकाहारी है। एक मनुष्य शाकाहार पर अपना पूरा जीवन निकाल सकता है, किन्तु आज तक कोई भी मनुष्य पूर्णतः मांसाहारी-जीवन नहीं जिया है। जो राष्ट्र और समाज मांसाहारी हैं, वहाँ भी उनके आहार का साठ प्रतिशत भाग तो शाकाहार ही होता है। अतः मनुष्य के लिए शाकाहार प्राकृतिक आहार है और मांसाहार प्रकृति-विरुद्ध आहार है।⁷⁶

वस्तुतः, शाकाहार एक सम्यक् जीवनशैली है। जीवन जीने की एक सहयोगपूर्ण और सहअस्तित्वप्रधान पद्धति है। यह ऐसी जीवनशैली है, जो प्रकृति के संतुलन को बनाए रखते हुए मनुष्य को एक अच्छा मानव बनाने के लिए प्रयासरत है।

‘शाक’ शब्द संस्कृत की ‘शक्’ धातु से बना है, जिसका अर्थ है —योग्य होना, समर्थ होना, सहज होना। शक् धातु ‘शक्नोति’ आदि रूपों से भी चलती है, अतः उसका एक अर्थ बल, शक्ति, पराक्रम, योग्य होना भी है। इस प्रकार, ‘शाकाहार’ का

⁷⁶ अहिंसा की प्रासंगिकता — डॉ. सागरमल जैन, पृ. 61

वाच्यार्थ हुआ — 'ऐसा आहार, जो मनुष्य की योग्यताओं का विकास करे और उसे बलशाली तथा पराक्रमी बनाए।' सामान्यतः, शाकाहार में ये दो शब्द सम्मिलित हैं — शाक और आहार। शाक से आशय साग—पात, तरकारी—फल आदि है और आहार का अभिप्राय रोटी, चावल आदि से है। जिस प्रकार दीर्घ जीवन के लिए शुद्ध जल, शुद्ध वायु आवश्यक है, उसी प्रकार उसके लिए भोजन भी आवश्यक है।

वस्तुतः, जहाँ जैनदर्शन में बाईस अभक्ष्य और रात्रिभोजन, मद्य—मांस आदि को त्याज्य बताया है, क्योंकि "मांसाहार का सीधा संबंध क्रूरवृत्ति के साथ जुड़ा हुआ है। मांसाहार और क्रूरता सहगामी हैं। करुणा को समाप्त किए बिना हम मांसाहार के हिमायती नहीं बन सकते। करुणा मानव जीवन का एक ऐसा आवश्यक तत्त्व है, जिसके अभाव में मनुष्य एक दरिदा या एक हिंसक—पशु से भी बदतर बन जाता है। मांसाहार के परिणामस्वरूप मनुष्य के जीवन में बर्बरता का विकास होता है। फलतः, संवेदनशीलता और करुणा समाप्त हो जाती है। यदि मानव में संवेदनशीलता और करुणा के तत्त्व को जीवित रखना है, तो हमें मांसाहार का त्याग करना होगा।"⁷⁷ संज्ञाएँ मनुष्य की मूलवृत्तियाँ हैं और मांसाहार उन्हें उकसाने का कार्य करता है, अतः शाकाहार और मांसाहार के बीच चुनाव करने से पूर्व मनुष्य को यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वह मानव—जाति में सुख, शान्ति, समृद्धि, संवेदनशीलता, समता आदि सद्गुणों को जीवित रखना चाहता है, या फिर हिंसा, तनाव, युद्ध, क्रूरता आदि को अपनी विरासत के रूप में छोड़ना चाहता है। "जो मानव उत्तम शाकाहारी पदार्थों को छोड़कर घृणित मांसाहार का सेवन करता है, वह सचमुच राक्षस की तरह ही है।"⁷⁸ जो मानव जीवों का वध करके उनके मांस के द्वारा पितरों को तृप्त करता है, वह मूर्ख सुरभित चंदन को जलाकर उसकी राख से अपने शरीर पर लेप करने का काम करता है।⁷⁹ जो मानव सब प्राणियों पर दया करता है और मांसभक्षण कभी

⁷⁷ अहिंसा की प्रासंगिकता, डॉ. सागरमल जैन, पृ.—64

⁷⁸ इमे वै मानवाः लोके नृशंसा मांसं गृद्धिनः।

विसृज्य विधिमान् भक्ष्यान् महारक्षो गण इव।। — युधिष्ठिर—भीम संवाद, महाभारत, अनुशासन पर्व

⁷⁹ यस्तु प्राणिवधः कृत्वा पितृन्यासेन तर्पयेत्।

सोऽविद्धाग्चंदनं दग्ध्वा कुर्यादिगार लेपनम्।। — वृद्ध पाराशरस्मृति

नहीं करता है, वह न तो किसी प्राणी से डरता है और न उन्हें डराता है। वह दीर्घायु, निरोगी और सुखी जीवन व्यतीत करता है।⁸⁰ जिह्वा के क्षणिक स्वाद के लिए, या अपने पेट की पूर्ति के लिए निरपराध, मूक और अबोध प्राणियों की हत्या करना घोर पाप है, ऐसी हिंसक-वृत्ति के मनुष्यों को स्वप्न में भी सुख, शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो रस में, स्वाद में, आसक्त होता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है, जैसे - मांस के लोभ में फंसी मछली मच्छीमार के कांटों में फंसकर अपने प्राण गंवा देती है।⁸¹

आचार्य मनु ने कहा है कि जीवों की हिंसा के बिना मांस उपलब्ध नहीं होता और जीवों का वध कभी स्वर्ग प्रदान नहीं करता, अतः मांस-भक्षण का त्याग अवश्यमेव करना चाहिए।⁸²

हिंसा से पापकर्म का अनुबंध होता है, इसलिए हिंसक-व्यक्ति को स्वर्ग तो कदापि नहीं मिल सकता। उसे या तो इसी जन्म में उसका फल प्राप्त होता है, अथवा अगले जन्म में नरक और तिर्यचगति के भयंकर कष्ट एवं वेदनाएं सहन करना पड़ती हैं। स्थानागसूत्र में भी मांसाहार करने वाले जीव को नरकगामी बताया है।⁸³

संत कबीरदासजी ने भी मांसाहार को अनुचित माना है और मांस का भक्षण करने वाले प्राणियों को नरकगामी कहा है।⁸⁴

⁸⁰ अघृष्य सर्वभूतानाम्, युष्यान्नीरूपजः सुखी।

भवत्य भक्ष्यन्मांस, दयावान् प्राणिनामीह। - महाभारत, अनुशासन पर्व

⁸¹ उत्तराध्ययनसूत्र - अध्ययन 32/62

⁸² समुत्पत्ति च मांसस्य, बन्धबन्धो च देहिनाम्

प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्व मांसस्य भक्षणात्।। - मनुस्मृति 5/49

न कृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्।

न व प्राणिवधः स्वर्गस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्।। - मनुस्मृति, 5/48

⁸³ चउहि ठोणेहि जीवा नेरइयाउयत्ताए कम्मं पकयेति, तं जहा

महारंभताए, महापरिग्गहयाए पंचिदियवहेणं, कुणिमाहारेणं ।। स्थानागसूत्र - 4/4/628

⁸⁴ मांस, मछरिया खात है, सुरापान से हेत

वे नर नरकहि जाएंगे, मात-पिता समेत।। कबीर।।

विश्व शाकाहार परिषद् के अध्यक्ष पद पर आरूढ़ डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने कहा था –“युद्ध का मूल मांसाहार में है।” जिस व्यक्ति में प्राणियों के प्रति दया का अभाव है, वह मनुष्य के प्रति भी दयाहीन होता है। मांस मनुष्य का भोजन नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों में राक्षसों व दैत्यों आदि को मांसाहारी बताया गया है, इससे यह ज्ञात होता है कि मांसभोजी की अंतरवृत्तियाँ राक्षसी हो जाती हैं। क्रूरता, लोलुपता, कठोरता और प्रतिक्षण उग्रता –ये सब मांसाहार के दुष्परिणाम हैं।

मांसाहार के प्रभाव से मनुष्य के मन में उत्तेजना, आक्रोश, तनाव, असंतोष और जीवन से पलायन की वृत्ति पनपती है। यह स्पष्ट देखने में आता है कि आजादी के बाद भारत में जिस अनुपात में मांसाहार बढ़ा है उसी अनुपात में देश में भ्रष्टाचार, अपहरण, व्यभिचार, बलात्कार, डकैती, हत्याएँ, तस्करी आदि की घटनाएँ भी बढ़ी हैं। इससे जनजीवन आतंकित और अशांतिमय हो गया है। आजकल समाज में जो क्रूर-से-क्रूर हिंसा और अपराध हो रहे हैं; उनके मूल में मद्य और मांस का सेवन ही मुख्य कारण है। पुलिस का यह रिकार्ड है कि जिन प्रदेशों व राष्ट्रों में अपराध अधिक होते हैं, अपराधियों के गिरोहों के जो अड्डे हैं, वहाँ पर मांसाहार और मद्यपान भी खुलकर चलता है। मांसाहारी ही संसार में सबसे अधिक खतरनाक अपराध करते हैं। हत्याओं, डकैतियों और बलात्कारों में मांसाहारी प्राणियों का सबसे ज्यादा हाथ रहता है, इसलिए यह बात प्रसिद्ध है –“कत्लखाने हिंसा, बर्बरता और क्रूरता के अड्डे हैं।” संसार में 85 प्रतिशत हथियार निर्यात करने वाले देशों में अमेरिका, जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और चीन –ये छः राष्ट्र हैं और इन देशों में आज भी मांसाहार का सर्वाधिक प्रचलन है।

मांसाहार से बढ़ती बीमारियाँ –

मांसाहार मनुष्य को न केवल मानसिक-दृष्टि से हीन, पतित और आवेशग्रस्त बनाता है, किन्तु शारीरिक-दृष्टि से भी रोगों का घर बनाता है। मांसाहारी व्यक्ति की रोग प्रतिरोधी-शक्ति समाप्त हो जाती है और वह तरह-तरह के भयंकर रोगों से

ग्रस्त भी हो जाता है। अमेरिका के नोबल पुरस्कार विजेता डॉ. माइकल ब्राउन और डॉ. जोसेफ गोल्डस्टीन ने अनेक प्रयोगों एवं परीक्षणों के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि मांसाहार करने वालों में हृदयरोग, चर्गरोग, पथरी आदि बीमारियों की सर्वाधिक संभावना रहती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.) के बुलेटिन संख्या-637 के अनुसार मनुष्य के शरीर में लगभग 160 बीमारियाँ मांस भक्षण से प्रविष्ट होती है।

शाकाहारी व्यक्ति बीमार होने पर शीघ्र स्वस्थ हो जाते हैं, किन्तु मांसाहारी में रोग प्रतिरोधी-शक्ति कम होने से वे शीघ्र स्वस्थ नहीं हो पाते हैं। इस संदर्भ में कुछ प्रसिद्ध डॉक्टरों के कथन उल्लेखित हैं -

“शाकाहार से शक्ति उत्पन्न होती है, मांसाहार से केवल उत्तेजना उत्पन्न होती है। परिश्रम के अवसर पर मांसाहारी जल्दी थक जाता है। अफीम, कोकीन, शराब की भांति मांस भी नशीली चीज है।” - डॉक्टर हेग, ‘डाइट एण्ड फूड’ पुस्तक से।

“शाकाहार का भक्षण करने वाले प्राणियों को टाइफाइड बहुत कम होता है।”
- डॉ. शिरमेट (अमेरिका)

“जहाँ मांसाहार जितनी कम मात्रा में होगा, वहाँ कैंसर जैसी भयानक बीमारियाँ कभी नहीं होंगी।” - डॉ. रसेल, ‘सार्वभौम भोजन’ पुस्तक से।

“जिन बच्चों को बचपन से मांस खिलाया जाता है, वे बड़े होने पर सुस्त, आलसी, भोंदू और दुर्बल होते हैं, अतः बच्चों के लिए दूध, सब्जी और अन्न ही सर्वोत्तम व पौष्टिक आहार है।” - डॉ. क्लाडर्सन

शाकाहार-सम्पोषक डॉ. नेमीचंद जैन ने इस प्रकार के अनेक संदर्भ और उदाहरण दिए हैं कि मांसाहारियों में अनेक प्रकार के घातक रोग होते हैं। जहाँ, जिस देश में जितना अधिक मांसाहार का सेवन किया जाता है, वहाँ रोगों का उतना ही भयानक आक्रमण होता है। मांसाहार शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक आदि कारणों से ग्रहण करना ठीक नहीं है। एक प्राणी दूसरे प्राणी को मारे और फिर उस प्राणी को खाता है, यह बात निश्चित ही बड़ी अजीब लगती है। भला,

प्राणी, प्राणी को कैसे खा सकता है ? जार्ज बर्नाड शॉ मांस नहीं खाते थे। वे कहते थे —“मैं पेट को कब्रिस्तान नहीं बनाना चाहता।” पशुओं को खाने वाले केवल मांस को ही नहीं खाते, मांस के साथ पशु के संस्कार भी खा लेते हैं।⁸⁵ इस कारण, उनकी भावना भी क्रूर और उत्तेजनायुक्त हो जाती है। आहार जीवन का साध्य नहीं है, मात्र साधन है। उसकी उपेक्षा तो नहीं की जा सकती है। शरीर-शास्त्र की दृष्टि से आहार शरीर पर ही प्रभाव नहीं डालता, उसका प्रभाव मन पर भी होता है। मन पवित्र रहे, शान्त रहे, इसके लिए आहार का विवेक होना बहुत जरूरी है।

जैन-संस्कृति के अनुसार आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से पूर्व जब तक कृषि का विकास नहीं हुआ था और यौगलिक सभ्यता थी, उस युग का मानव कल्पवृक्षों से सहज प्राप्त फल आदि खाकर सात्विक जीवन जीता था। भगवान् ऋषभदेव ने मनुष्य-जाति की बढ़ती हुई जनसंख्या को अपने भोजन आदि की आवश्यकता-पूर्ति के लिए खेती करना सिखाया। खेती के लिए उपयोगी पशुपालन, गोपालन आदि की शिक्षा दी और इस प्रकार मानव-सभ्यता में खेती एवं पशुपालन आदि का विकास हुआ। पहले मनुष्य केवल फल व वनस्पति से ही भूख मिटाता था। कृषि एवं गोपालन आदि का विकास होने पर उनके भोजन में तीन प्रकार के पदार्थ सम्मिलित हो गए। —1. वनों में सहज निष्पन्न फल, 2. कृषि द्वारा उत्पन्न किया हुआ अन्न, धान्य, शाक आदि तथा 3. पशुओं से प्राप्त दूध आदि। प्राचीन काल में मानव का भोजन यही स्वाभाविक भोजन था, जिसे हम आज शाकाहार के नाम से जानते हैं।

समग्र भारतीय-संस्कृति का यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य मूलतः शाकाहारी प्राणी है। उसके दाँत, आँतें, जीभ, जिगर आदि की रचना शाकाहार के सर्वथा अनुकूल है और मांसाहारी प्राणियों से बिल्कुल भिन्न है, साथ ही उसकी मानसिक व बौद्धिक-रचना भी शाकाहार-प्रकृति की है। वैज्ञानिकों ने भी अनेक प्रकार के अनुसंधान करके, पुरातात्विक खोजों व मानव जीवन विज्ञान के आधार पर यही

⁸⁵ आहार और आध्यात्म, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 43

निष्कर्ष निकाला है कि प्राचीनतम समय में मनुष्य का भोजन केवल शाकाहार ही था।

डॉ. सागरमलजी जैन लिखते हैं कि आज से लगभग तीन अरब पचास करोड़ वर्ष पूर्व पृथ्वी ग्रह पर जीवन की शुरुआत हुई। जीवधारियों का पूर्वज डायनासौर भीमकाय महाबली जीव जो आज से लगभग दस करोड़ वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर विद्यमान था, वह पूर्णतः तृणभोजी (शाकाहारी) था। जॉन हॉपकिन्स यूनिवर्सिटी के प्रसिद्ध नृतत्व-विज्ञानी डॉ. आलन वावर ने प्राचीनतम जीवाश्मों की खोज करके उनके आकार, रचना आदि के आधार पर यह सिद्ध किया है कि मनुष्य के दाँतों और आँतों की रचना तथा अन्य शरीरगत ढाँचा फलाहार के आधार पर टिका था और ईसा से बारह लाख वर्ष पहले मानव निस्संदेह शाकाहारी था। मिस्र, सुमेरिया, चीन, भारत तथा रोम एवं ग्रीस में बसी मानव-जातियाँ भी शाकाहारी थीं।⁶⁶

शाकाहार शब्द का शाब्दिक-अर्थ करें तो शा- शान्ति का, का- कान्ति का, हा- हार्द (स्नेह) का और र- रक्षा का परिचायक है। अर्थात् शाकाहार हमें शांति, कान्ति, स्नेह एवं रसों से परिपूर्ण कर हमारी मानवता की रक्षा करता है। कहा है— लम्बी आयु, निरोगी काया, शाकाहार की है ऐसी माया। शाकाहार से ही मनुष्य पूर्ण एवं लम्बी आयु सरलता से पा सकता है। जापान में किए गए अध्ययनों से ज्ञात होता है कि शाकाहारी न केवल स्वस्थ एवं निरोग रहते हैं, अपितु दीर्घजीवी भी होते हैं और उनकी बुद्धि भी अपेक्षाकृत कुशाल होती है। बाइबिल में लिखा है—तुम यदि शाकाहार करोगे, तो तुम्हें जीवन-ऊर्जा प्राप्त होगी, किन्तु यदि तुम मांसाहार करते हो, तो वह मृत आहार तुम्हें भी मृत बना देगा।

सम्पूर्ण सृष्टि में एक भी ऐसा व्यक्ति मिलना कठिन है, जो मात्र मांसाहार पर जीवन यापन करता हो, जबकि ऐसे करोड़ों व्यक्ति हैं, जो जीवनपर्यंत सिर्फ शाकाहार पर स्वाभाविक रूप से जीवन यापन करते हैं, अर्थात् शाकाहार अपने में संपूर्ण संतुलित आहार है।

* अहिंसा की प्रासंगिकता, डॉ. सागरमल जैन,

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन में भक्ष्य-अभक्ष्य की विवेचना का मूल उद्देश्य सात्त्विक और संयमित जीवन से है। व्यक्ति जीवन भर भोजन करता है, किन्तु उसे भोजन के सम्यक् स्वरूप के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी होती है। केवल उदरपूर्ति के लिए जैसा-तैसा, जब चाहे तब, भक्ष्य-अभक्ष्य, दिन-रात का ध्यान रखे बिना खाने वाला व्यक्ति पेट को भारी बनाता है, बीमारियों से दुःखी होता है और असमय ही वृद्ध हो जाता है। भोजन के सम्बन्ध में जैनदर्शन में, भारतीय-दर्शन में, अन्य दर्शन में एवं ऋषि-मुनियों, वैद्यों, चिकित्सकों आदि ने बहुत सारी जानकारियाँ दी हैं और हमारी संस्कृति में भी सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही परम्पराएँ भी भोजन के संबंध में वैज्ञानिक और स्वास्थ्य संबंधी आधार लिए हुए हैं। खेद इस बात का है कि पश्चिम की नकल में हम अपने विवेक का उपयोग नहीं करते हुए अन्य बातों की तरह आहार के संबंध में भी केवल अन्धानुकरण करते रहते हैं। “आहार के नियमों का अज्ञान, अति आहार और गरिष्ठ आहार —ये तीनों ही सूत्र जीवन के शत्रु हैं। जीवन के सौंदर्य को बनाए रखने के लिए, जीवन-शक्ति को बढ़ाने के लिए हितकर और परिमित आहार का सेवन करना चाहिए।”⁸⁷

विश्वविख्यात डॉ. मेडफेडन ने बताया है —“भोजन के अभाव से संसार में जितने लोग भूख से पीड़ित होकर मरते हैं, उससे कहीं अधिक मानव अनावश्यक अतिमात्रा में भोजन करने के कारण रोगग्रस्त होकर मरण को प्राप्त होते हैं।”

दीर्घजीवन को प्राप्त करने का महत्त्वपूर्ण सूत्र —

हल्का, सात्त्विक, सुपाच्य और शाकाहारी भोजन है। हमें भोजन कब और कितनी मात्रा में करना चाहिए ? इसका विवेक मानव ने पूर्ण रूप से खो दिया है, इस कारण सात्त्विक-भोजन भी अभक्ष्य बन जाता है। इसकी विवेचना हमने रात्रिभोजन के संबंध में की थी। आज विवेक-शून्य कहे जाने वाले पशु भी भोजन की मात्रा के विषय में विवेक रखते हैं, जैसे — गाय, चिड़ियाँ अन्य पशु पेट भर जाने

⁸⁷ पहला सुख : निरोगी काया — चन्दलमल “चांद”

के बाद भोजन ग्रहण नहीं करते। कुत्ते का पेट भरा हुआ है, मगर कहीं से दूसरी रोटी मिल भी गई, तो वह जमीन खोदकर उसे गाड़ देगा पर उसका भक्षण नहीं करेगा, उसी प्रकार सिंह भी पेट की पूर्ति हो जाने पर उसके सामने शिकार है, फिर भी उसे भक्षण करने की इच्छा नहीं करता है, लेकिन रसलोलुपी मानव जिह्वा के स्वाद के वशीभूत होकर खाता ही जाता है।

स्पष्टतः, मनुष्य का स्वयं का अविवेक ही उसके स्वयं के जीवन के लिए खतरा बन रहा है। वर्तमान युग में होटलों और बुफे-पार्टियों का प्रचलन बढ़ रहा है तथा घरों में भी पश्चिमी-सभ्यता का बोलबाला होने से भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक संभवतः कम रखा जा रहा है, परन्तु फिर भी हम अपने जीवन में यदि आहार विवेक और भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक पूर्ण रूप से रखें तो निःसंदेह अपनी जीवनशैली को, शारीरिक-स्वस्थता को, आध्यात्मिक-चिन्तन को बहुत ऊँचाइयों तक पहुंचा सकते हैं, इसलिए प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है --“ऐसा हित-मित भोजन करना चाहिए, जो जीवनयात्रा एवं संयमयात्रा के लिए उपयोगी हो सके और जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो और न धर्म की भ्रंसना।”⁸⁸

वस्तुतः, आहार भोग का कारण है, तो योग का भी। क्योंकि बिना स्वस्थ शरीर के अणाहारी-पद प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसलिए आहार का सहारा लिया जाता है। जिस प्रकार शिखर पर पहुँचने के लिए पगथियों का सहारा लेते हैं और नदी पार करने के लिए नाव का सहारा लिया जाता है, लेकिन अन्ततोगत्वा यह भी सत्य है कि पगथियों और नाव का आश्रय छोड़ने पर ही शिखर एवं किनारे पर पहुँचा जा सकता है, ठीक उसी प्रकार निराहारी-पद को प्राप्त करने के लिए आहार संज्ञा का त्याग आवश्यक है और वह त्याग हम तप के माध्यम से कर सकते हैं। इच्छाओं का विरोध करना ही तप है। निशीथचूर्णिका में कहा गया है --“तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो।” जिससे पाप कर्म तप्त हो जाएं वह तप है।

⁸⁸ तहाँ भोत्तत्वं जहाँ से जाया माता य भवति,

न य भवति विभ्रमो, न भ्रंसणा य धम्मस्य ॥ - प्रश्नव्याकरणसूत्र 2/4

आत्मा का स्वभाव अणाहारी है। आहार ग्रहण करना तो शरीर का कार्य है। अणाहारी पद को प्राप्त करने का अभ्यास एवं आहार—संज्ञा को कम करना ही तप कहलाता है। जैनाचार्यों ने तप के बारह प्रकारों में — अनशन, उणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग आदि छह तप ब्राह्म तप कहलाते हैं। निराहारी—पद की प्राप्ति के लिए यह आदर्श स्वरूप है।⁸⁹ इसलिए दशाश्रुतस्कन्ध में कहा है —“जो साधक अल्पाहारी है, इन्द्रियों का विजेता है, सभी प्राणियों के प्रति रक्षा की भावना रखता है, उसके दर्शन के लिए देव भी आतुर रहते हैं।”

अतः, निराहारी—पद को प्राप्त करना एक उच्च साधना है। इसके लिए अवश्यमेव आहार—संज्ञा को त्यागना होगा। यदि आहार—संज्ञा आंशिक शान्ति है तो निराहारी—पद पूर्ण शाश्वत शक्ति की अभिव्यक्ति है। आहार जीवन का आदि है, तो अणाहार अन्त ।

⁸⁹अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसेति ताइणों । — दशाश्रुतस्कंध — 5/4

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 3 भय संज्ञा

1. भय का स्वरूप और लक्षण
2. भय के कारण और भय के दुष्परिणाम
3. भय के प्रकार
4. सप्तविध भय की अवधारणा और उसका विश्लेषण
5. आधुनिक मनोविज्ञान में भय की अवधारणा और उसकी जैन दर्शन में तुलना
6. भय मुक्ति और अभय की साधना
7. वैश्विक शास्त्रों की दौड़ का कारण भय
8. अभय और विश्वशांति

अध्याय—3

भय—संज्ञा

भय—संज्ञा का स्वरूप एवं लक्षण

स्थानांगसूत्र¹ में एक प्रसंग आता है कि एकदा प्रभु महावीर ने अपने शिष्य-शिष्याओं से प्रश्न किया —“किं भया पाणा समणाउसो” अर्थात् हे आयुष्यमान श्रमणों ! प्राणियों को किससे भय है ? उत्तर देते हुए प्रभु महावीर स्वयं कहते हैं कि —“दुःखं भया” प्राणियों को दुःख से भय है। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से डरता है² —यह सामान्य मनोविज्ञान है। निगोद से लेकर मनुष्य एवं देवता तक, हर प्राणी में ‘भय—संज्ञा’ विद्यमान है। जैव-वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिकों सभी ने यह तथ्य एकमत से स्वीकार किया है कि प्राणी भय से सुरक्षा चाहता है। भय से बचाव के लिए ही सारी व्यवस्थाएँ जुटाता है। भय के कारण ही वह अस्त्र-शस्त्रों का वैज्ञानिक विकास कर पाता है। जब बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है तो वह छोटी मछली भी अपनी सुरक्षा का भाव रखती है। इस प्रकार, स्वयं की सुरक्षा के लिए प्रत्येक जीव कुछ-न-कुछ प्रयास करता है और यह प्रयास ही उस जीव का भविष्य बनता है और उसके भावी संसार का निर्माण करता है। प्रत्येक जीव के भाव भिन्न-भिन्न होते हुए भी उनके मूल में एक ही तथ्य है कि वे भय से छुटकारा चाहते हैं और अभय की अवस्था को प्राप्त होना चाहते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में महर्षि गर्दभाली कहते हैं —“अभय को चाहते हो तो अभयदाता बनो।³

¹ स्थानांगसूत्र - 3/2

² सब्बे पाणा पिआउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला। -आचारांगसूत्र -1/2/3

³ अभओ पत्थिवा ! तुब्भं अभयदाया भवाहि य
अणिच्चे जीवतोगमि किं हिंसाए पसज्जसि ? - उत्तराध्ययनसूत्र 18/11

स्थानांगसूत्र में ही आगे प्रभु स्वयं कहते हैं कि —“दुःखे केण कडे ? यह दुःख किसने जनाया ? समाधान करते हुए प्रभु कहते हैं —‘सयं कडे माएवं’। स्वयं ने ही प्रमाद के कारण इस दुःख का निर्माण किया है, अर्थात् भय के जन्मदाता हम स्वयं हैं और उसका कारण है —हमारा प्रमाद। ‘अन्नाणा जायते भयं’।⁴ आदमी को अज्ञान के कारण ही दुःख होता है, क्योंकि अज्ञान ही असुरक्षा का भाव है।

सामान्य मनोविज्ञान में भय को एक प्रकार का संवेग कहा गया है।⁵ “संवेग से तात्पर्य एक ऐसी आत्मनिष्ठ अवस्था से होता है, जिसमें कुछ शारीरिक—उत्तेजना पैदा होती है, फिर जिसमें कुछ खास—खास प्रकार के व्यवहार होते हैं।”⁶ भय एक ऐसी संवेगात्मक—स्थिति है जिसमें किसी ऐसी खतरनाक वस्तु या घटना के प्रति व्यक्ति को प्रतिक्रिया (Reaction) करना होती है, जिससे वह आसानी से छुटकारा नहीं पा सकता है। भय—संवेग (संज्ञा) शैशवावस्था से ही होता देखा गया है। प्रायः, छोटे बच्चे तीव्र आवाज, अंधेरे कमरे, पशु, एकान्त परिस्थिति आदि से डर जाते हैं। बड़े बच्चों में भी भय इन सभी परिस्थितियों के अलावा काल्पनिक बातों तथा कहानियों के काल्पनिक पात्रों से भी होता है। बच्चे भय—संवेग (संज्ञा) की अभिव्यक्ति अपने—आपको फर्नीचर आदि के पीछे छिपाकर, या फिर जोरों से चिल्लाकर, या रोकर करते हैं और बड़े बच्चे गुमसुम रहना, गलत आदतों को अपना लेना, आदि अनेक प्रकार से भय की अभिव्यक्ति करते हैं।

आहार, भय, मैथुन व परिग्रह आदि संज्ञाओं में आहार के बाद प्रमुख संज्ञा भय है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं से पूछकर देखे कि उसे किसी—न—किसी बात का डर है या नहीं ? भय अनेक प्रकार के हैं, जैसे — मृत्यु का भय, बीमारी का भय, वियोग का भय, गरीबी का भय, समाज का भय आदि, साथ ही कोई रूठ न जाए, नाराज न हो जाए, नौकरी से निकाल न दे, अपमान न कर दे आदि का भी भय होता है। इस

⁴ स्थानांगसूत्र, 3/2

⁵ आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, पृ. सं. 423

⁶ By emotion we mean a subjective feeling state involving psychological arousal. accompanied by characteristic behaviors' — Baron, Byrned (Kantowitz) Psychology — 1980 (P. 293)

प्रकार, हजारों प्रकार के भय सूक्ष्म रूप से हमारी चेतना में रहते हैं। ज्ञानी को भी यह भय रहता है कि कोई उसे अज्ञानी न समझे, उसका अपमान न कर दे। उच्च पदस्थ व्यक्तियों को अपनी प्रतिष्ठा व पद से गिरने का भय रहता है, साथ ही उन्हें यह भी भय रहता है कि कोई उनकी गलती न देख ले, या किसी को उनकी कमजोरियों का पता न चले। प्रायः, ज्यादातर व्यक्ति पूर्व प्रदत्त संस्कारों, मान्यताओं के वशीभूत होकर पाप करने से भी डरते हैं।

अधिकांश भय कल्पनाजनित होता है, जैसे – मार्ग में खड़ी गाय पांच-सात लोगों को अपनी ओर आते देख भयभीत हो जाती है, कारण गाय को यह सन्देह होता है कि कहीं वे मुझ पर आक्रमण करने तो नहीं आ रहे हैं। कई व्यक्ति तरुण-वय सदैव बनी रहे, इसके लिए शक्तिवर्द्धक औषधियों, टॉनिक आदि का प्रयोग करता है। यह भी वे भय के कारण ही करते हैं। वृद्धावस्था छुपाने के भय से व्यक्ति बालों को काला करता है, शरीर की झुर्रियों के निवारण के लिए पाउडर, कास्मेटिक्स आदि का प्रयोग करता है, गरीबी के भय से धन कमाने के लिए हिंसक-कार्य करता है। वह अपनी इच्छा, अभिलाषा की पूर्ति नहीं होने पर दुःखी होता है। यही दुःख प्राणियों में भय उत्पन्न करता है और प्रत्येक जीव निरन्तर यह प्रयास करता है कि वह भय को त्याग अभय को कैसे प्राप्त करे ?

भय-संज्ञा का स्वरूप –

भय-संज्ञा – जिसके उदय से उद्वेग उत्पन्न होता है वह भय है।⁷ भीतिर्भयम् भीति को भय कहते हैं।⁸ अंतरंग में भय-नोकषाय का उदय होने से तथा बहिरंग में अत्यन्त भयंकर वस्तु देखने से और उस ओर ध्यान जाने से शक्तिहीन प्राणी को जो भय उत्पन्न होता है, उसे ही भय-संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा आठवें गुणस्थान तक

⁷ यदुदयादुद्वेगस्तद्भयम्। –स.सि. 8/9/386/1

⁸ भीतिर्भयम् – धवला -19/1/2

होती है।⁹ शक्ति की हीनता का अनुभव, भयवेदनीय—कर्म का उदय, भय की बात सुनना और भय के विषय में चिन्तन करना — ये भयसंज्ञा के कारण हैं।¹⁰ अत्यन्त भयंकर पदार्थ को देखने से, अथवा पहले देखे हुए भयंकर पदार्थ के स्मरण आदि से, शक्ति के हीन होने पर और भयकर्म के उदय या उदीरणा होने पर भयसंज्ञा होती है।¹¹ आचारांगनिर्युक्ति—टीका में मोहनीयकर्म के उदय को भयसंज्ञा का कारण बताया है।¹² भयसंज्ञा के उदय से भयभीत प्राणी के नेत्र तथा मुख में विकारोत्पत्ति, शरीर में रोमांच, कम्पन, घबराहट आदि मनोवृत्तिरूप क्रियाएं होती हैं।¹³ मनुष्य में भयसंज्ञा सबसे कम होती है तथा नारकियों में सबसे अधिक होती है, क्योंकि उनमें लगातार मृत्यु का भय बना रहता है।¹⁴

प्रायः, प्रत्येक प्राणी को किसी—न—किसी के भय से संत्रस्त देखा जाता है। चाहे वे मनुष्य हों या देव, तिर्यच हों या नारकी के जीव, अल्प या अधिक भय तो सभी में होता है। यह भय होता क्या है ? इसके लक्षण क्या हैं ?

भय मनुष्य के एक विचार से ज्यादा कुछ नहीं है। यह दिमाग में उठने वाली एक तरंग है। यह कोई वस्तु नहीं, अपितु मनःस्थिति है, जो प्राणी द्वारा ही निर्मित होती है। भय वास्तव में एक अंधेरी राह है, जहां केवल नकारात्मक—भाव ही पैदा होते हैं, पलते हैं और पनपते हैं, जैसे — अगर इस राह पर कदम बढ़ा लिया, तो पुनः लौटना और पार होना — दोनों ही मुश्किल हैं। व्यक्ति एक भय से ही दूसरे भय को जन्म देता है। प्रारम्भ में भय छोटे रूप में होता है। फिर यह बड़ा मानसिक—रोग भी बन जाता है। भय अतीत की यादों से, या भविष्य की आकांक्षाओं

⁹ तत्त्वार्थसार, 2/36 का भावार्थ, वीरसेवा मंदिर ट्रस्ट, वासणसी, पृ.46

¹⁰ चउहिं ठाणेहिं आहारसण्णा समुप्पज्जपि, तं जहा ओमकोट्टताए छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मतीए, तदट्ठोवओगेणं ।। — ठाणं 4/579

¹¹ गो. जी. 134

¹² आचारांगनिर्युक्ति टीका, गाथा—36

¹³ पण्णवणा — 8/725

¹⁴ वही, 8/5/9

से पैदा होता है। कहा जाता है कि एक भयभीत व्यक्ति कभी मोक्ष नहीं पा सकता, क्योंकि जो भय को जीत लेता है, वही मोक्षगामी हो सकता है।

यह प्रत्यक्ष सुनने में आता है कि मृत्यु का भय सबसे बड़ा है। मौत से भय लगता है, किन्तु यह चिन्तन का विषय है कि भला मौत से भय क्यों लगता है ? क्या वास्तव में हमारा कभी मौत से साक्षात्कार हुआ है ? दूसरे को मृत्यु से मरता हुआ देखकर हमें अपनी मृत्यु की कल्पना से भय लगता है। केवल बार-बार सुनकर हमने मान्यता के रूप में यह स्वीकार कर लिया है कि हमें भी मरना है। यह कल्पना व्यक्ति को मृत्यु से भयभीत बनाती है। जैन-दार्शनिकों ने अपनी मान्यता के फलस्वरूप यह बताया है कि हमें मृत्यु से भय इसलिए लगता है क्योंकि यह हमारे पूर्वजन्मों का संस्कार है। जिस-जिसको हमने अपना प्रिय माना था, वे हमें छोड़कर चले गए या हमें उन सबको छोड़कर जाना पड़ेगा। यह अनुभव हमारे लिए दुःखद होता है, अतः उसकी स्मृति हमें मृत्यु से भयभीत बनाती है।

मृत्यु से भय का दूसरा कारण यह भी है कि मृत्यु बड़ी अनिश्चित है, उसके आने का समय किसी को ज्ञात नहीं है। कुछ स्थितियों में मृत्यु अज्ञात है, इसलिए भी वह भयोत्पादक है, क्योंकि जीवन में जो भी अज्ञात होता है, वह सब व्यक्ति को भयभीत बना देता है। रेलगाड़ी की पटरियों की तरह जीवन सीधा-सपाट नहीं होता। वह तो सदा अनिश्चित ही है, किन्तु इस तथ्य को स्वीकार न कर पाने के कारण मानव-मन सदा भयग्रस्त बना रहता है।

प्राणी जितना अधिक भयभीत होगा, वह उतना ही हिंसक होगा। साँप, बिच्छू या जहरीले जानवर ने एक बार किसी को काट लिया और उसकी मृत्यु हो गई। बस, यह बात उसके मन में बैठ गई, तो वह जब-जब साँप, बिच्छू आदि हिंसक प्राणियों को देखेगा, उन्हें मारने का प्रयास करेगा। इस प्रकार, भयग्रस्त प्राणी हिंसात्मक-प्रवृत्तिवाला हो जाता है।

बच्चों के कोमल हृदय में भय का संचार स्वयं उनके माता-पिता ही करते हैं। कई माताएं बच्चों में अकारण ही ऐसे ही भय के संस्कार भर देती हैं और बच्चों को

डराती रहती हैं कि कुएं के पास जाओगे, तो उसमें गिर जाओगे, पेड़ पर चढ़ोगे, तो गिरने से चोट लग जाएगी, अंधेरों में भूत पकड़कर ले जाएगा, अकेले घर से बाहर गए तो पुलिस पकड़ ले जाएगी आदि। ऐसी अनेक भयग्रस्त बातों से बच्चों के मानस-पटल पर भय की छबि अंकित हो जाती है और जब इस प्रकार के प्रसंग सामने आते हैं, तो वह बच्चा भयभीत हो जाता है। इस प्रकार के भय के संस्कार बालक को कायर (डरपोक) बना देते हैं।

समाज का भय व्यक्ति को भययुक्त बनाता है। कितने-कितने आडम्बर, आरंभ-समारंभ शादी-पार्टी आदि में इस भय से किये जाते हैं कि लोग क्या कहेंगे? लोक एवं समाज के भय के कारण हैसियत न होते हुए भी अपना नाम ऊँचा रखने के लिए, न चाहते हुए भी, व्यक्तियों द्वारा बहुत सारे आरंभ-समारंभ (कार्य) किये जाते हैं। दूसरी ओर, लोग आपकी प्रशंसा करें, आपका नाम लें, इस भय के कारण वे भय से युक्त बने रहते हैं।

भय के कारण और भय के दुष्परिणाम -

संज्ञाओं के संदर्भ में जो तीन प्रकार के वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं, उन सभी में आहारसंज्ञा के बाद भयसंज्ञा का उल्लेख मिलता है। जैनदर्शन की सामान्यतया यह मान्यता है कि सभी संसारी-जीवों में भयसंज्ञा पाई जाती है, चाहे वे एकेन्द्रिय हों या पंचेन्द्रिय। सामान्यतया, हम बेन्द्रिय प्राणी से लेकर पंचेन्द्रिय मनुष्य तक -सभी में स्पष्ट रूप से भय की उपस्थिति देख सकते हैं, किन्तु जैन-दार्शनिकों की यह मान्यता है कि एकेन्द्रिय जीवों में भी भयसंज्ञा होती है। इसकी विशेष चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ एक उदाहरण से इसे स्पष्ट कर देते हैं। भारत में छुईमुई जाति का पौधा पाया जाता है, यदि उस पौधे के पास से कोई निकलता है, तो उसकी पत्तियाँ सिकुड़ जाती है। यह इस बात का सूचक है कि वह पौधा अन्य की उपस्थिति में भय का अनुभव करता है। दक्षिण अफ्रीका में अनेक ऐसे पौधे पाए गए हैं जिनमें भय और आक्रामकता के संवेग देखे जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अर्हत और सिद्धों

को छोड़कर शेष सभी संसारी-जीवों में भयसंज्ञा का अनुभव किया जाता है। भय संज्ञा की पुष्टि इस बात से भी होती है कि भय प्राणी के व्यवहार को प्रभावित करता है। हमने पूर्व में संज्ञा की परिभाषा करते हुए बताया था कि संज्ञाएं व्यवहार की संप्रेरक हैं। भय भी व्यवहार का संप्रेरक या उद्दीपक है, किन्तु भय क्यों उत्पन्न होता है और भय की स्थिति में प्राणी क्या प्रतिक्रिया करता है — इन दोनों बातों को जान लेना आवश्यक है। आगे, हम भय के कारणों और दुष्परिणामों की चर्चा करेंगे।

भय के कारण —

मोहनीय-कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला आवेग भय है। संज्ञाओं या व्यवहार के प्रेरक उद्दीपकों में भय का भी प्रमुख स्थान है। स्थानांगसूत्र¹⁵ के अनुसार भय की उत्पत्ति के चार निम्न कारण हैं —

1. सत्त्वहीनता, अर्थात् किसी प्रकार अवसाद से।
2. भयमोहनीय-कर्म के उदय से।
3. भयोत्पादक वचनों को सुनकर।
4. भय संबंधी घटनाओं के चिन्तन से।

1. सत्त्वहीनता, अर्थात् किसी प्रकार अवसाद से —

इस प्रसंग में सत्त्वहीनता से तात्पर्य है — बल, साहस, हिम्मत, शक्ति आदि की हीनता का विचार, अर्थात् जब व्यक्ति में बल, शक्ति, साहस का अभाव होता है। प्राणी के सामने अपने-से अधिक बलवान् प्राणी की उपस्थिति भय को उत्पन्न करती है। क्योंकि तब वह अपने अस्तित्व के रक्षण के लिए भयग्रस्त बन जाता है, जैसे — सिंह को अपने सामने उपस्थित पाकर सभी डरते हैं, उसकी दहाड़-मात्र से जंगल में सन्नाटा छा जाता है, सभी प्राणी भय के कारण अपने-आपको छिपा लेते हैं, चूंकि सिंह के सामने अन्य वन्य-प्राणी अपने-आपको शक्तिहीन समझते हैं, इस कारण वे भयग्रस्त होते हैं। ठीक उसी प्रकार, चूहा बिल्ली से, बिल्ली कुत्ते से, श्वान गाय से,

¹⁵ स्थानांगसूत्र — 4/580

गाय शेर से, शेर शिकारी से, शिकारी पुलिस से, पुलिस बड़े अधिकारी से, बड़े अधिकारी मंत्री से, मंत्री प्रधानमंत्री से और प्रधानमंत्री जनता से – इस प्रकार भय का यह चक्र चलता ही रहता है। आज भी लोग निर्धनता से, इज्जत के चले जाने से डरते हैं और जीवन भर सुरक्षा के उपाय करते चले जाते हैं, किन्तु सुरक्षा के ये साधन स्वयं असुरक्षित बनाते हैं तथा व्यक्ति भयग्रस्त बने रहते हैं। मनुष्य ने अपने को भय से बचाने के लिए शस्त्रों का आविष्कार किया और एक से बढ़कर एक भयानक अस्त्र-शस्त्र बनाए, किन्तु फिर भी वह असुरक्षित ही पाया गया।

इस तथ्य को भगवान महावीर ने पहले ही अपने ज्ञान से देख लिया था। आचारांगसूत्र में वे कहते हैं – “अत्थि सत्यं परेण परं नत्थि असत्यं परेण परं”¹⁶ अर्थात् अहिंसा या अभय से बड़ा कोई शस्त्र नहीं है, अतः भय से मुक्ति का एक ही मार्ग है अभय का विकास।

2. भयमोहनीय-कर्म¹⁷ –

कर्मग्रन्थ में मोहनीयकर्म के दो भेद किये गये हैं – 1. दर्शनमोहनीय 2. चारित्रमोहनीय। पुनः, दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद – 1. सम्यक्त्वमोहनीय, 2. मिश्रमोहनीय, 3. मिथ्यात्वमोहनीय। चारित्र मोहनीय के भी दो भेद हैं – कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। जो कषाय को उत्पन्न करने में निमित्त-रूप होते हैं अथवा कषायों का परिणय होता है, वे नोकषाय कहलाते हैं। नोकषाय मोहनीय कर्म के नौ भेद हैं – 1. हास्य, 2. रति, 3. अरति, 4. शोक, 5. भय, 6. जुगुप्सा, 7. पुरुष वेद, 8. स्त्रीवेद, 9. नपुंसकवेद।

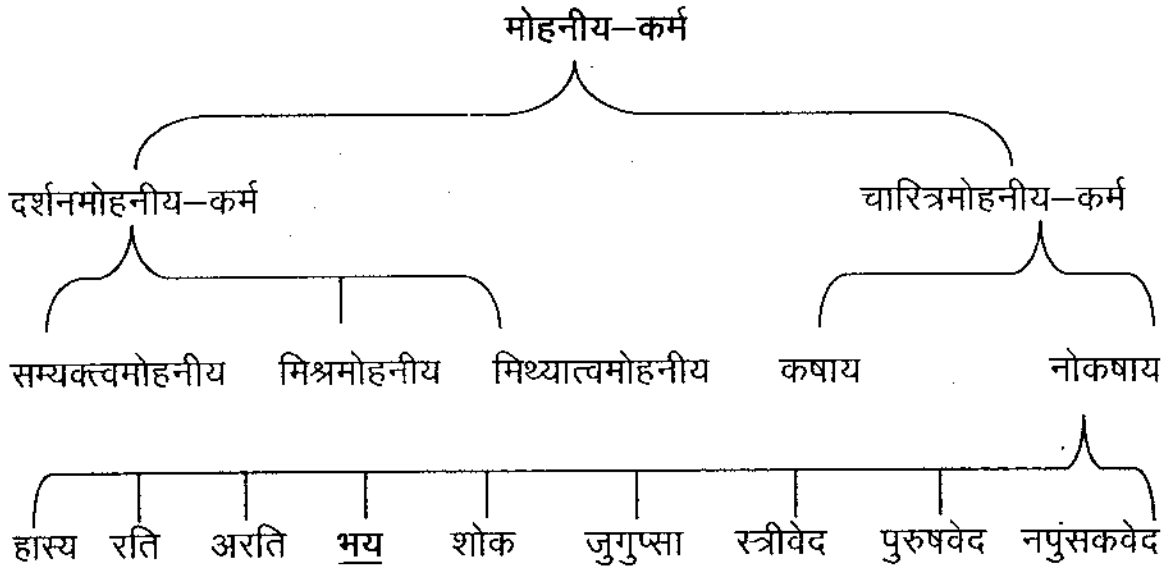
इसमें भय-नोकषाय को ही भयमोहनीय-कर्म कहा गया है। जिस कर्म के उदय से जीव निमित्तों को प्राप्त करके, अथवा प्राप्त किए बिना भयभीत होता है, उसे भयमोहनीय-कर्म कहते हैं। जब भयमोहनीय-कर्म का उदय होता है, तो प्राणी

¹⁶ आचारांगसूत्र, – 1/3/4

¹⁷ जस्सुदया होइ जीए, हास रइ अरइ सोग भय कुच्छा।

सनिमित्तमन्नहा वा, तं. इह हासाइ मोहणीयं। – प्रथम कर्मग्रंथ, गाथा 21

भयभीत बनता है। भयमोहनीय-कर्म के उदय से शरीर में रोमांच, कंपन, घबराहट आदि क्रियाएँ होती हैं,¹⁸ जो भय की उत्पत्ति की सूचक हैं। आचारांगनिर्युक्ति की टीका में मोहनीयकर्म के उदय को भयसंज्ञा का कारण बताया है।¹⁹



3. भयोत्पादक वचनों को सुनकर –

श्रवणेन्द्रिय द्वारा भयोत्पादक वचनों को जब सुनते हैं, तो मन एवं शरीर में भय का आवेग जाग्रत होता है। व्यक्ति भयभीत हो जाता है, उसके शरीर से पसीना निकलने लगता है। इस प्रकार की स्थिति भी भय की सूचक है। रात के अंधेरे में जब तेज हवा के झोंकों से शा S S शा S S की तीव्र ध्वनि होती है, जोरों से बिजली कड़कने की आवाज होती है, बादलों की तेज गड़गड़ाहट होती है, तब मन में भय का संचार होता है। रात्रि में रोने की आवाज या किसी के कदमों की आहट, मन को भय से विचलित कर देती है, भयग्रस्त बना देती है। इस स्थिति में व्यक्ति इतना डर जाता है कि कोई उसमें आवाज भी लगाए या छुए, तो उसके मुख से चीख तक निकल जाती है। डरावने चलचित्र, या सीरियल और Horror

¹⁸ तत्त्वार्थसार - 2/26

¹⁹ आचारांगनिर्युक्ति टीका, गाथा 26

Show आदि देखने पर भी व्यक्ति भययुक्त बन जाता है, उसकी चेतना में भय बैठ जाता है।

4. भय सम्बन्धी घटनाओं के चिन्तन से –

भय संबंधी घटनाओं का चिन्तन करना भी भयोत्पत्ति का चौथा प्रमुख कारण है। प्राचीन समय की घटित घटनाओं का चिन्तन करने से, उन घटनाओं को कहने से, डरावने स्वप्न देखने या सुनने से, उन्हें पुनः याद करने से, जहाँ भय की घटना घटित हो जाती है, पुनः उस स्थान पर जाने से, डरावने नॉवेल पढ़ने से, या ऐसे नाटक देखने से एवं उनके सम्बन्ध में चर्चा और चिन्तन करने से भय उत्पन्न होता है।

जैन आगम-ग्रन्थ स्थानांगसूत्र में उपर्युक्त चार कारण भयसंज्ञा की उत्पत्ति के माने गए हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में भी इनका समर्थन देखा जाता है।

साधारण भाषा में कहें तो 'भय आने वाले खतरे के प्रति एक भावनात्मक-सोच है, यह 'चिन्ता' से कहीं-न-कहीं जुड़ा रहता है। भय की अधिकता या न्यूनता हमारे जीवन की कई घटनाओं को निर्धारित करती है। बहुत ज्यादा खतरा होगा, तो भय भी बहुत ज्यादा होगा, किन्तु कई बार खतरा कम भी हो, या वह वास्तविक भी न हो, तो भी भय हो सकता है, किन्तु जैनदर्शन कहता है कि मन में विश्वास या श्रद्धा का भाव हो, तो भय कम हो सकता है। ऐसे कार्य करने को प्राचीन समय में साहस कहा जाता था, जिसे आज की भाषा में 'रिस्क लेना' कहते हैं। भय से डरना नहीं चाहिए। भयभीत मनुष्य के पास भय शीघ्र आता है²⁰ और स्वयं डरा हुआ व्यक्ति दूसरों को भी डरा देता है।²¹

दरअसल, भय की कम या अधिक मात्रा मनुष्य के व्यवहार (Behavior) को प्रभावित करती है। एक ओर बहुत ज्यादा भय खतरे को वास्तविक बना देता है तो दूसरी ओर, जरा-सा भय सकारात्मक होकर हमें सफलता दिला सकता है। ऐसी

²⁰ ण भाइयत्वं, भीतं खु भया अइति लहुयं। – प्रश्नव्याकरणसूत्र 2/2

²¹ भीतो अन्नं पि हु भेसेज्जा – वही 2/2

स्थिति में, वह भय भय न होकर मात्र साहस के रूप में जीवन में सफलता पाने की प्रेरणा देता है। जैनदर्शन में उसे यतना या सजगता (अप्रमादि) कहा गया है।

उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं कि ऑस्ट्रेलिया की टीम क्रिकेट बहुत अच्छा खेलती है, वह विश्वकप विजेता है। यदि भारतीय-टीम में यह भय व्याप्त हो गया कि 'हम हार जाएंगे' तो फिर वह भयाक्रान्त होने के कारण मैदान पर लड़खड़ा जाएगी और यदि बिना भय के प्रारंभ से ही सजगता के साथ खेले, तो जीत भी जाएगी। मैं नहीं हारूँ, —ऐसा भय जरूरी भी है, नहीं तो खेलने में लापरवाही होगी। इसे ही आगम में 'जियभयाणं' कहा गया है।

भूतकाल का कोई अनुभय भय को पैदा करता है। भय के कई रूप हैं ²²—

1. मौत का भय,
2. शरीर में रोग का भय,
3. पत्नी के दुराचार का भय,
4. पुत्री के शील की रक्षा का भय,
5. सन्तान द्वारा फिजूलखर्ची का भय,
6. अपकीर्ति का भय,
7. दुश्मन का भय,
8. सरकार का भय, टेक्स का भय,
9. रूपयों के लेने-देने में भय,
10. विश्वासघात का भय,
11. विरोधी-पक्ष का भय,
12. बहिष्कार का भय,
13. असफलता का भय,
14. गरीबी या दरिद्रता का भय,
15. साथ छूट जाने का भय,

²² भावनास्रोत, — 2 पृ. 171

16. अधिकार छिन जाने का भय,
17. स्वास्थ्य बिगड़ जाने का भय,
18. अधीनस्थों से हार जाने का भय, आदि।

यह बात स्पष्ट है कि भय ही हमारी जीवनशैली को प्रभावित करता है। हमारे हर कार्य में भय छुपा रहता है, जैसे²³ —

1. जीने में मरने का भय।
2. आशा में निराशा का भय।
3. प्रयत्न करने में असफलता का भय।
4. किसी को प्रेम करने पर बदले में प्रेम न पाने का भय
5. अपनी भावना और अपने विचार अपने लोगों से कहने पर उनके चुरा लिए जाने का भय।
6. लोगों से मिलने पर रिश्ते जुड़ जाने का भय।
7. ज्यादा हंसने से बेवकूफ समझे जाने का भय।
8. ज्यादा रोने पर जज्बाती समझे जाने का भय, आदि।

यद्यपि भयसंज्ञा (भय की संचेतना) सभी में होती है, फिर भी जिंदगी में जो व्यक्ति खतरा नहीं उठाते सम्भवतः वे जिंदगी में दुःख-दर्द से बच भी जाएं, किन्तु वे जीवन में बदलाव लाने, आगे बढ़ने या सम्यक् जीवन जीने की कला को सीख नहीं पाते हैं। अंततः, भयभीत बना रहना, जीवन में खतरे का सामना न करना ही जीवन की विकास-यात्रा का सबसे बड़ा खतरा बन जाता है।

भय के कारण को स्पष्ट करते हुए दार्शनिक जे. कृष्णमूर्ति ने कहा है —
 “सोच ही मूल कारण है भय का। भूतकाल की कोई दुःखद घटना भय पैदा कर देती है कि वह दोबारा घटित न हो जाए। भूतकाल में यदि सुख भोगा है, तो आदमी को भय लगने लगता है कि भविष्य में कहीं वह सुख को खो तो न देगा।

²³ भोगे रोगमयं सुखे क्षयभयं वित्तेऽग्नि भूभृद्भयम्।

दास्ये स्वामिभयं गुणे खलभयं वंशे कुयोषिद्भयम्॥

माने ग्लानिभयं जये रिपुभयं, काये कृतांताद् भयम्।

सर्व नाम भयं भवेऽत्र भविनां वैराग्यमेवाऽभयम्॥ — उपदेशमाला, गाथा 20 के विवेचन में।

सोच कोशिश पैदा करती रहती है, और यह चिन्ता-कल्पना ही Worry, Tention आदि का रूप ले लेती है।²⁴

पशु या अन्य जीव भय की स्थिति में पहले पलायन की कोशिश करेगा, अन्यथा आक्रमण कर देगा। किन्तु भय की स्थिति में मानव दूसरे लोगों की इच्छानुसार चलेगा और स्वयं की प्राथमिकता त्याग देगा। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार किसी व्यक्ति के डर को हम इन लक्षणों से पहचान सकते हैं –

चेहरे के हावभाव (Facial Expression),
 आँखें खुली रह जाना,
 भौंहे तन जाना,
 आँठ खुले रह जाना,
 कुछ बोलने में असमर्थ होना।

सामान्यतः, शारीरिक-परिवर्तनों को ही भय माना जाता है, जबकि उसके पीछे मानसिक और आध्यात्मिक-कारण भी हैं। भय के शारीरिक-लक्षण निम्न हैं –

1. पसीना आ जाना।
2. पलकें झपकाना या शरीर में रोमांच होना।
3. माँसपेशियाँ तन जाना।
4. चोट लगने के डर से अनायास ही अपना चेहरा या सिर ढंक लेना।
5. अचानक भय की स्थिति में आदमी का उछल पडना है या उसके मुँह से चीख निकल जाना। जैसे- छिपकली अचानक हमारे शरीर पर गिरती है, तो डर के कारण चीख निकल जाती है और हृदय की धड़कनें तीव्र हो जाती हैं।

जैनदर्शन के अनुसार, भयसंज्ञा केवल मनुष्यों में ही नहीं, वरन् जगत् के प्रत्येक प्राणी में व्याप्त है। कल तक यह बात केवल शारीरिक-आचार से ही मानी जाती थी, लेकिन आज आधुनिक विज्ञान इस तथ्य को अपने यंत्रों से भी सिद्ध करते हैं। वैज्ञानिकों ने अब ऐसे सूक्ष्म यंत्र भी विकसित कर लिए हैं जो हमारे भीतरी भावों

²⁴ चरममंगल (हिन्दी मासिक पत्रिका), फरवरी 2008, पृ. 22

में होने वाले परिवर्तनों के कंपनों को ग्रहण कर सकें। यदि किसी व्यक्ति के सामने अचानक कोई दुष्ट आदमी छुरा लेकर खड़ा हो जाए, तो उस व्यक्ति के रोम-रोम में भय का संचार हो जाएगा। उसके शरीर की विद्युत-तरंगें एक खास ढंग से कंपित होने लगेंगी। वह कंपन उसके पास स्थित विद्युत-यंत्रों में स्पष्ट दिखाई देगा। यदि व्यक्ति उस समय विश्वास से भरा हुआ होगा, तो उसके शरीर में कुछ अन्य तरह के कंपन होंगे। व्यक्ति आश्चर्यजनक स्थितियों से, अथवा भयानक स्थितियों से भरा हुआ है, तो उसकी प्राण-विद्युत के प्रवाह में भी एक अलग प्रकार का कंपन होता है। ये सारे कंपन न केवल मनुष्यों में, वरन् पशुओं एवं वृक्षों में भी भिन्न-भिन्न भाव-दशाओं में भिन्न-भिन्न तरह से पाये जाते हैं, —ऐसा जैव-वैज्ञानिकों और मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षण द्वारा सिद्ध किया है।

उनका कहना है कि एक गमले में रखे पौधे के पास यदि कोई आदमी छुरा लेकर उस पौधे को काटने के भाव से जाता है, तो वह पौधा ठीक उसी तरह कंपित होता है, जिस तरह मनुष्य भयग्रस्त होने पर कंपित होता है। इस प्रयोग के विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि जब भयसंज्ञा के कारण उपस्थित होते हैं, तो प्राणी शारीरिक और मानसिक-रूप से विचलित और कंपित हो जाता है। भयग्रस्त प्राणी हिंसात्मक-प्रवृत्तियों में लीन हो जाने से वह अपने अस्तित्व को भी भूल जाता है।

स्थानांगसूत्र के अनुसार, भय-उत्पत्ति के चार प्रमुख कारणों का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है, लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान एवं व्यवहार की दृष्टि से भय-उत्पत्ति के निम्न कारण भी हो सकते हैं —

1. पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण।
2. अज्ञान के कारण।
3. मिथ्या ज्ञान के कारण।
4. अहंकार के कारण।

1. पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण भय —

आज मनोवैज्ञानिक शारीरिक-संवेदना को ही भय का कारण मान रहे हैं, किन्तु अध्यात्मवादी-दृष्टि के अनुसार भय आज की ही देन नहीं है। हमारा अस्तित्व आज से अथवा इस जन्म के साथ ही प्रारम्भ नहीं होता है। हमारे वर्तमान अस्तित्व के पीछे अनन्त-अनन्त जन्मों की एक श्रृंखला है। अनादिकाल से हर जन्म के संस्कार हम अपनी चेतना में समेटे हुए हैं। यद्यपि वे संस्कार सुप्त-गुप्त हैं, किन्तु हम उनके प्रभावों से अप्रभावित कभी भी नहीं रह सकते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार, निगोद से ऐकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय अवस्था को प्राप्त करने का मुख्य कारण भय ही है, क्योंकि जब-जब शत्रुओं ने हमें डराया या हनन किया, तब-तब हमारे जीव ने उनसे बचने के लिए शक्ति प्राप्त करने का संकल्प किया और अकाम-निर्जरा होते-होते हमें वे सारी शक्तियाँ भी प्राप्त होती गईं। हम द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय से बढ़ते-बढ़ते पंचेन्द्रिय योनि को उपलब्ध हुए। प्रत्येक समय जीव को यह अहसास हुआ कि वह निर्बल है और प्रबल शत्रु को परास्त करने के लक्ष्य से शक्ति को प्राप्त करने का विकल्प ही हमारे विकास का कारण बना और यह पूर्वजन्म के संस्कार के कारण ही हुआ।

2. अज्ञान के कारण भय —

जब तक अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक भय बना ही रहता है। किसी वस्तु का अज्ञान जीव को भयभीत करता है। प्राचीन काल में लोग मेघ-गर्जन, बिजली चमकना, अति वर्षा, सूखा आदि प्राकृतिक आपदाओं एवं अवस्थाओं से भी डरते थे, क्योंकि उन्हें इन आपदाओं का सामना करने ज्ञान नहीं था। वे इन्हें भगवान का प्रकोप समझकर इनसे डरते रहते थे, पर जब ज्ञान होने लगा तो उनका भय भी कम होने लगा। जब पहली बार रेलगाड़ी चलाई गई, तो कोई व्यक्ति उसमें बैठने को तैयार नहीं हुआ, क्योंकि लोग अज्ञान के कारण यह समझ रहे थे कि क्या बिना ऊँट, बैल, घोड़े के यह रेलगाड़ी कोयले से बनी भाप से चल पाएगी और यदि नहीं चली या गिर गई, तो हमारा क्या होगा ? पर जब ज्ञान

हुआ, तो वे सहज ही यात्रा करने लगे। कहते हैं— 'अज्ञानात् जायते भय' अर्थात् भय अज्ञान की संतति है।

3. मिथ्या ज्ञान के कारण भय —

मिथ्यात्व गलत धारणा या भ्रमित जानकारी को कहते हैं। आदमी अपनी ही कल्पित धारणाओं को दूसरों पर आरोपित करके भयभीत बना रहता है। उदाहरणस्वरूप थोड़ी-सी रोशनी के कारण दिखाई दे रही रस्सी को सांप समझ लेना मिथ्याज्ञान है। जब किसी के बारे में सही जानकारी नहीं होती है, तो अज्ञात व्यक्ति आवाज अथवा वस्तु से भी भय बना रहता है।

4. अहंकार के कारण भय —

अहंकार भय का प्रमुख कारण है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जब तक अहंकार है, तब तक भय बना रहता है। यह अहंकार आत्म-ज्ञान के अभाव के कारण ही है। 'मैं भी कुछ हूँ'—यह अहंकार भय को उत्पन्न करता है। मेरा नाम कोई बदनाम न कर दे, मेरी प्रतिष्ठा मिट्टी में न मिल जाए, आदि सब 'भय' अहंकार की देन हैं और अहंकार आत्म अज्ञान का परिणाम है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त सामाजिक-मर्यादाओं का उल्लंघन करने पर तथा नैतिक आचार-संहिता के विपरीत आचरण करने पर, या मर्यादा का अतिक्रमण करने पर भी भय की उत्पत्ति होती है।

भय के दुष्परिणाम —

भय के निम्नलिखित दुष्परिणाम माने जा सकते हैं —

1. भय की स्थिति में व्यक्ति स्वयं तनावग्रस्त होता है। तनावग्रस्त होने के साथ-साथ वह कभी-कभी आक्रामक भी हो सकता है, जैसे — कोई व्यक्ति सांप या विषैले प्राणी को देखकर पहले भयभीत होता है, फिर मारने का

विचार करता है, इसलिए कहा है –‘भयभीत व्यक्ति किसी का सहायक नहीं हो सकता।’²⁵

2. भय का दूसरा दुष्परिणाम यह है कि जिसके प्रति भय होता है, उसके प्रति विश्वास का भाव समाप्त हो जाता है।
3. भय के परिणामस्वरूप न केवल व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक-पक्ष प्रभावित होता है, अपितु उसका दैहिक-पक्ष भी प्रभावित होता है। वह अपने शरीर से विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करता है, जैसे – चिल्लाना, रोना, भागना आदि।
4. मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भय-संवेग पलायनवादिता से जुड़ा हुआ है। व्यक्ति जिससे और जहाँ से भयभीत होता है, वहाँ से भाग जाना चाहता है।
5. भयभीत व्यक्ति अपने सुरक्षा के प्रयत्न करता है और उसके लिए वह विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का संचय भी करता है। आज विश्व में जो अस्त्र-शस्त्रों की अंधी दौड़ चल रही है, उसके पीछे मूलभूत कारण भय ही है।
6. भयभीत व्यक्ति जिससे भी भय रखता है, उसके प्रत्येक व्यवहार को शंका की दृष्टि से देखता है। वह यह सोचता है कि वे लोग मेरे लिए षडयंत्र रच रहे हैं।
7. भय व्यक्ति के स्वास्थ्य को भी प्रभावित करता है। भयभीत व्यक्ति चाहे अपने स्वास्थ्य के प्रति कितना भी सजग रहे, वह निरन्तर शक्तिहीन होता जाता है। उसके अपने दैहिक-पोषण के सारे प्रयत्न निरर्थक हो जाते हैं। इस संदर्भ में एक कथा प्रचलित है –किसी राजा ने किसी व्यक्ति को यह निर्देश दिया कि मैं तुम्हें यह बकरा देता हूँ, इसके सम्यक् पोषण का प्रयत्न हो, पर ध्यान रहे कि वह मोटा न हो। उस व्यक्ति ने इस हेतु उपाय सोचा, वह उसे

²⁵ भीतो अवितिज्जओ मणुस्सो। – प्रश्नव्याकरणसूत्र 2/2

अच्छा भोजन देता पर उसने उस बकरे के पिंजरे के सामने शेर का पिंजरा रखवा दिया। इससे वह बकरा (जीव) सदा भयभीत बना रहा और सम्यक् प्रकार से खाते हुए भी वह शक्तिहीन ही बना रहा।

8. प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा है – “भयभीत व्यक्ति तप और संयम की साधना छोड़ बैठता है, भयभीत व्यक्ति किसी भी गुरुतर दायित्व को नहीं निभा सकता है।²⁶
9. भय के संवेग में हमारी विभिन्न ग्रंथियों से जिन-जिन रसों को स्राव होता है, वह हमारे शरीर को प्रभावित करता है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि भय से न केवल मानसिक व शारीरिक-स्तर प्रभावित होता है, अपितु भय सामाजिक-स्तर पर भी प्रभावित करता है। भय के कारण पारस्परिक-विश्वास समाप्त हो जाता है और व्यक्ति हिंसक व आक्रामक बन जाता है, अतः भयमुक्त जीवन में ही सामाजिक-संबंधों की मधुरता रह सकती है।

जैनदर्शन में सप्तविध भय की अवधारणा तथा उसका विश्लेषण –

संसार के प्रत्येक प्राणी में ‘भयसंज्ञा’ कम या अधिक मात्रा में अवश्य पाई जाती है। किसी-न-किसी रूप से सभी प्राणी भयग्रस्त बने रहते हैं। जैन-ग्रन्थों में कहा गया है कि स्वर्ग के देव भी अपने च्यवन (मृत्यु) काल को जानकर भयभीत हो जाते हैं। मनुष्य अकेला रहने से कतराता है, अतः निरंतर ‘पर’ में उलझा रहता है। ‘पर’ की कांक्षा (इच्छा) जीव को भूत एवं भविष्य में उलझाए रखती है। वह स्वयं में जी ही नहीं पाता है और उसकी यह ‘पर’ की कांक्षा कभी समाप्त नहीं होती है।

भूत की जानकारियों एवं अनुभव आदमी में भविष्य के प्रति भी भय उत्पन्न करता है। भयाकुल व्यक्ति ही भूतों का शिकार होता है,²⁷ जैसे –आदमी गरीबी से

²⁶ भीतो तव संजमं पि हु मुएज्जा।

भीतो य भरं न नित्थरेज्जा।। – प्रश्नव्याकरणसूत्र 2/2

²⁷ भीतो भूतेहिं छिप्पइ। – प्रश्नव्याकरणसूत्र 2/2

बचने के लिए सम्पत्ति एकत्रित करता है। भविष्य की असुरक्षा का भय व्यक्ति की संचय या परिग्रह-वृत्ति को बढ़ावा देता है। कल बीमार न हो जाऊँ, कल मर न जाऊँ, इसलिए आदमी आज ही सुरक्षा के साधनों को ढूँढता है और उनका संचय करता है। वह इन सुरक्षात्मक-उपायों से कल्पित आश्वासन खड़े करता है, जबकि अज्ञानवश यह नहीं जान पाता कि बाह्य-तत्त्व इस जीव को कहीं भी शरणभूत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि हर भौतिक साधन अनित्य एवं असुरक्षित है।

इन भूत एवं भविष्यकालीन भयों का वर्गीकरण करते हुए पूर्वाचार्यों ने सप्तविध भय प्रतिपादित किए हैं। प्राचीन जैनग्रंथ 'मूलाचार'²⁸ में भय के सात प्रकार²⁹ बताये हैं। जो निम्न हैं -

1. इहलोक-भय, 2. परलोक-भय, 3. आदान-भय, 4. अकस्मात्-भय,
5. आजीविका-भय, 6. अपयश-भय, और 7. मरणभय।

1. इहलोक-भय -

इहलोक, अर्थात् यह लोक (Present World)। जहाँ हम रह रहे हैं, वहाँ अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए भयभीत होना, अपनी ही जाति के प्राणियों से डरना इहलोक-भय है। राजा, शत्रु, चोर आदि अन्य मनुष्यों से होने वाला भय इहलोक-भय कहलाता है।

इहलोक-भय से आक्रान्त मनुष्य क्रोध करता है। यह क्रोध भी विषम एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में स्वयं को बचाने का, स्वयं को स्थापित करने का तरीका

²⁸ इहपरलोयत्ताएं अणुत्तिमरणं च वेयणाकस्सि भया - मूलाचार, गा. 53

²⁹ (1) समयसार/आत्मख्याति, गाथा-228

(2) पंचाध्यायी/उत्तरार्द्ध श्लोक - 504-505

(3) दर्शनपाहुड-2, पं. जयचन्द्र

(4) राजवार्त्तिक, हिन्दी अध्याय - 6/24/517

(5) इह परलोयाऽऽयाणा-मकम्ह आजीव मरण मसिलोए।

सत्त भयड्डाणाइं इमाइं सिद्धंतभणियाइं ।। - प्रवचनसारोद्धार, द्वार 234, गा. 1320

(6) सत्त य भयटाणाइं पाक्षिकसूत्र, गा. 33

(7) सात महाभय टालतो सप्तम जिनवर देव -योगीराज आनंदधनजी, श्री सुपार्श्वनाथ स्तवन, गा. 2

नात्र है। जितनी भी सामाजिक-हिंसाएँ हैं, वे सब इहलोक के भय के कारण ही हैं। एक संस्था का दूसरी संस्था के साथ कलह, एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के साथ बैर, इहलोक-भय के उदाहरण हैं। प्रत्येक राष्ट्र अपने यहाँ सुरक्षा-विभाग (Defence Department) रखता है। मानव स्वयं भयभीत है, इसलिए युद्ध करता है और उस युद्ध को सुरक्षा का नाम देता है। यदि हर राष्ट्र अपनी सुरक्षा ही करता है, तो फिर आक्रमण कौन करता है ? हर देश की राष्ट्रीय-आय का बहुतांश फौज एवं सुरक्षा-विभाग पर व्यय होता है। मनोवैज्ञानिक सत्य यह है कि भयभीत व्यक्ति ही आक्रमण करता है, भयरहित व्यक्ति ही हिसारहित होता है। यह 'इहलोक-भय' आदमी से विभिन्न सुरक्षात्मक-उपायों की खोज करवाता है और विविध तकनीकी एवं यांत्रिकी-विकास का जन्मदाता होता है। इसके कारण ही, युद्ध में प्रयुक्त हो सकें, ऐसे उपकरणों के अनुसंधान में प्रत्येक राष्ट्र प्रयत्नशील रहता है। एटम बम, टाइम बम, मिसाइलें एवं अन्य अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार इहलोक-भय का ही परिणाम है।

2. परलोक भय —

मनुष्य को पशु-पक्षी, देव आदि की तरफ से लगने वाला भय परलोक-भय है। यहाँ परलोक से तात्पर्य विजातीय जीवों से होने वाले भय से है।

इस भय से ग्रस्त हो मनुष्य पाखण्ड करता है। अंध-विश्वास, बलि-कर्म, आडम्बर, मिथ्या पूजापाठ आदि इसी भय की देन हैं। प्राचीन युग में मनुष्य प्राकृतिक-आपदाओं [वर्षा, बाढ़, बिजली गिरना, हिमपात आदि] में भी दैवीय-शक्ति की कल्पना किया करता था और आज भी यह संस्कार कई जातियों में हैं। प्राचीनकाल से ही प्राकृतिक-विपदाओं से स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए विविध क्रियाकाण्ड कर देवों को प्रसन्न करने के प्रयत्न किए जाते रहे हैं। पितर-पूजा, श्राद्ध आदि कर आदमी इस भय से मुक्त होने की कल्पना किया करता है। इस प्रकार, 'परलोक-भय' का प्रभाव हमारे साहित्य, धर्मग्रन्थ एवं उनकी व्याख्याओं पर

भी पड़ा है। आज विज्ञान के विकास ने मनुष्य को काफी हद तक इस परलोक-भय की कल्पना से मुक्त किया है।

3. आदान-भय —

आदान-भय, अर्थात् चोरी हो जाने या सब कुछ चले जाने का भय। स्वयं की धन, सम्पत्ति, सामान आदि की चोरी हो जाने या नष्ट हो जाने का भय आदान-भय है।

यह डर हर संग्रहशील व्यक्ति में रहता है। बच्चे भी स्वयं की वस्तु की बहुत सुरक्षा करते हैं। उनके कपड़े-खिलौने आदि कोई अन्य न ले ले, इस प्रकार का भय बाल्यकाल से ही प्रारंभ हो जाता है। 'मृत्यु सब कुछ छीन लेगी'—यह जानते हुए भी आदमी मृत्युपर्यंत इस आदान-भय से भयभीत ही बना रहता है और माया का सेवन करता है, स्वयं की सम्पत्ति को छुपाने का प्रयास करता है। चोरी ना हो जाए, कुछ चला न जाए, इस हेतु सतत जागरूक रहता है।

4. अकस्मात्-भय —

अकस्मात् अर्थात् अचानक कुछ घटित हो जाने का भय, जिसके संबंध में पूर्व से जानकारी नहीं होती है, जैसे— अचानक विद्युत्पात, आँधी, बाढ़, आग, अपघात या दुर्घटना आदि का भय अकस्मात्-भय है। इस भय से ग्रसित मनुष्य के परिग्रह एवं लोभ का विस्तार होता है। अचानक आने वाली आपदाओं का निपटारा करने के लिए आदमी पूर्व-नियोजन करता है। रिश्तों-नातों एवं संबंधों का विस्तार, बीमा कम्पनियाँ, बैंक-सुविधा आदि कई साधनों की व्यवस्था करना अकस्मात्-भय की ही देन है।

5. आजीविका-भय —

जीवन-यापन के साधन-रूप रोटी, कपड़ा और मकान के नहीं मिलने का भय आजीविका-भय है।

मनुष्य जीवन जीने के लिए साधनों को एकत्रित करता है। हर साधन, जैसे— रोटी, कपड़ा, मकान की कीमत चुकाना पड़ती है। मनुष्य उस कीमत को उपार्जित

करने के लिए श्रम करता है, कड़ी मेहनत करता है, खून-पसीना एक करता है, तब कहीं जाकर वह जीवन जीने के लिए धन एकत्रित कर पाता है। प्रतिस्पर्धा के इस युग में आजीविका का भय हर साधारण मनुष्य को रहता है। प्रत्येक मनुष्य सुख-सुविधा के लिए अधिकाधिक कमाना चाहता है। साधन सीमित हैं और इच्छाएँ असीम हैं, अतः इच्छाओं की पूर्ति के लिए और जीवन-यापन के लिए धन के संचय करने का जो भय बना रहता है, वह आजीविका-भय है।

6. अपयश-भय —

जगत्, समाज, परिवार आदि में अपयश होने या निन्दित होने के भय को अपयश-भय कहते हैं। आजीविका के प्रश्न का समाधान होते ही आदमी यश-प्रतिष्ठा के लिए जीना शुरू कर देता है। प्रत्येक आदमी स्वयं को प्रतिष्ठित देखना चाहता है और इस प्रतिष्ठा और आदर-सत्कार में कहीं कोई कमी न आए, यह चाह ही उसे इस भय से ग्रस्त करती है। आदमी सदा अपयश से डरता है। वह सदा यह चाहता है कि उसकी साख बनी रहे, उसकी मान-प्रतिष्ठा बनी रहे, उसका यश खंडित न हो। वह अपने यश को बनाए रखने के लिए झूठे मानदण्डों को भी अपनाता है, कष्ट भी सहता है और अनेक कठिनाइयों का सामना करता है। इस भय से प्रताड़ित व्यक्ति कभी-कभी बहुत अनर्थकारी कार्य भी कर बैठता है।

7. मरण-भय —

आदमी बीमारी से नहीं मरता, आदमी मरता है —मृत्यु के भय से। किसी को कह दिया जाए कि उसके शरीर में कैंसर का रोग है, यह सुनकर ही वह हताश को मरण के ओर अग्रसर होने लगेगा। आदमी मृत्यु के डर से ही मरता है, मृत्यु से नहीं। यही भय मरण-भय के नाम से जाना जाता है।

एक वृद्ध भोले आदमी ने रात को सोते समय दाँतों को एक कटोरे में रख दिया। एक बच्चा वहाँ आया और दाँतों को खिलौना समझकर ले गया। वह आदमी सुबह उठा, और उसने अपने पास में रखे दाँतों को ढूँढा, लेकिन वे नहीं मिले।

उसके मन में कल्पना जागी –‘हो सकता है रात को नींद में मैं दाँतों को निगल गया होऊँगा।’ तत्काल उसके पेट में असह्य पीड़ा होने लगी। वह पीड़ा से छटपटाने लगा। घर वाले आए, डॉक्टर को बुलाया गया। डॉक्टर ने कहा –“ऑपरेशन होगा।” कल्पना ही कल्पना में सारी स्थिति बिगड़ गई। पेट में असह्य पीड़ा हो रही थी, वह यथार्थ तो थी, परन्तु थी कल्पनाजनित। कुछ देर बाद वही बच्चा हाथ में दाँतों की जोड़ी लिए आ पहुँचा। दाँतों को देखते ही उस आदमी का दर्द गायब हो गया और वह स्वस्थ हो गया। घरवाले देखते ही रह गए।

ऐसा हमारे जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि रोग मारता नहीं, रोग का भय मारता है।

-----000-----

आधुनिक मनोविज्ञान में भय की अवधारणा –

आधुनिक मनोविज्ञान में वाटसन [Watson,1920] के अनुसार भय संवेग के विकास में अनुबंध {Conditioning} का विशेष हाथ होता है। अलबर्ट (Albert) नामक एक बच्चे पर उनका इस प्रयोजन में किया गया प्रयोग उल्लेखनीय है। बच्चे अपने डर के संवेग की अभिव्यक्ति अपने-आपको फर्नीचर आदि के पीछे छिपाकर या फिर जोर से चिल्लाकर करते हैं। परन्तु बड़े हो जाने पर भय की अभिव्यक्ति चेहरे के हाव-भाव (Facial expression) के द्वारा करते हैं।³⁰

‘भय व्यक्ति में विद्यमान प्रारम्भिक और आधारभूत मूल प्रवृत्ति है, जिसे व्यक्ति एक क्रमबद्ध शारीरिक-क्रिया द्वारा व्यक्त करता है, जो व्यक्ति के व्यवहार पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है।’ – विल्सन

भय एक सशक्त भाव है, जोकि खतरे का आभास कराता है, इसमें व्यक्ति छिपने और बचने का प्रयत्न करता है, साथ ही भय एक मनोव्यथा भी है, जो विभिन्न प्रकार के रोगों को जन्म देती है, जिसके कारण जीवन नारकीय हो जाता है। मनोवैज्ञानिक होरेस फलेचा ने भय की तुलना एक ऐसी जहरीली गैस से की है, जो जीवन के लिए अत्यन्त हानिकारक है। --"A number of situations are known to elicit an identifiable pattern of behavior called fear."³¹

मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक –दोनों ही दृष्टिकोणों से देखें तो ज्ञात होता है कि भय सभी प्रकार के मानसिक-विचलनों का प्रमुख कारण है। वॉटसन (Watson), शेयरमेन (Sherman), ब्रीजस (Bridges) आदि मनोवैज्ञानिकों ने सर्वप्रथम डर (Fear) को अन्तरिक्ष से गिरते समय महसूस किया था। वे गिरे, तो असंतुलन के कारण सर्वप्रथम डर लगा, और जब संभल गए, तो डर चला गया।

³⁰ आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान – अरुणकुमार सिंह, आशीषकुमार सिंह, पृ. 424

³¹ Basic Psychology – P. 100

जरसिल और Co-worker ने अपने प्रयोग के आधार पर कहा है कि भय इन वार प्रकार से हो सकता है³² – 1. जानवरों की प्रतिक्रियाओं से, 2. आवाज से, 3. आने वाली आपत्ति की सूचना से और, 4. आश्चर्यजनक वस्तु को देखकर।

उन्होंने प्रयोग के माध्यम से यह सिद्ध किया है कि छोटी उम्र के बच्चे, जो नासमझ हैं, उन्हें तेज आवाज और अनजान व्यक्ति या वस्तु से अधिक डर लगता है, जबकि बड़ी उम्र के बच्चों को भयानक जानवरों और आने वाली आपत्ति से अधिक भय लगता है। मनोविज्ञान के अनुसार Pain, Anxiety, worry & Phobias यह सब भय के ही विविध प्रकार कहे जा सकते हैं, परन्तु तीव्रता के क्रम के अनुसार इनमें अंतर दिखाई देता है।

दर्द और भय (Pain & Fear) में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दर्द इस बात का सूचक है कि दैहिक-संरचना को खतरा है। वह यह बताता है कि शरीर में कोई खतरनाक घटना घटित होने वाली है, जैसे – किसी व्यक्ति की अंगुली जलती है, तो वह हाथ खींच लेता है या अपनी अंगुली को वहाँ से अलग कर लेता है। इस प्रकार, दर्द की अनुभूति व्यक्ति को सुरक्षात्मक-व्यवहार करने के लिए प्रेरित करती है और यह सुरक्षात्मक-व्यवहार भय के कारण ही होता है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, डर (Fear) तथा दुश्चिन्ता (Anxiety) दोनों एक दूसरे से काफी संबंधित संवेग (Related emotion) हैं। डर एक ऐसी संवेगात्मक-स्थिति है, जिसमें किसी ऐसी खतरनाक (dangerous) वस्तु या घटना के प्रति व्यक्ति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, जिससे वह आसानी से छुटकारा नहीं पा सकता। दुश्चिन्ता (Anxiety) चिरकालिक डर का ही दूसरा नाम है। दुश्चिन्ता में मानसिक-स्थिति अस्पष्ट होती है, लेकिन यह संचयी होती है और प्रत्येक क्षण यह एक खास स्थिति तक बढ़ती ही जाती है।

यदि हम वयस्क व्यक्ति के भय और चिंता का अध्ययन करें, तो सर्वप्रथम व्यक्ति उन भयकारक परिस्थितियों को सीखता है, जो वस्तुतः दुःख उत्पन्न करती

³² Jersild and his Co-workers (1933). In their study four type of stimuli were used to elicit fear. There were (a) animals, (b) noises, (c) threats and (d) strange things – Basic Psychology P. 101

हैं। जैसे – एक बच्चा अग्नि से हाथ जल जाने के बाद दर्द की अनुभूति से यह निश्चित कर लेता है कि आग के संपर्क से दर्द होता है, अतः वह आग से भयभीत होता रहता है। इस प्रकार; भय, दर्द और चिन्ता –ये तीनों एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। जो-जो दुःखद् अनुभूतियाँ हैं वे सब भय को जन्म देती हैं। चिन्ता, भय और दुःख –ये तीनों शब्द एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, किन्तु इन तीनों में एक क्रम भी है। दुःखद् अनुभूतियाँ भय को उत्पन्न करती हैं और भय से चिन्ता का जन्म होता है। जैसे-जैसे दुःखद् अनुभूतियाँ हमें अनुभूत होती हैं, वैसे-वैसे हम उनसे भयभीत होने लगते हैं और भविष्य में इन भयानक स्थितियों का सामना न करना पड़े, इसलिए चिन्तित रहते हैं।

भय व्यक्ति को भयभीत करता है और चिन्ता मानसिक-तौर पर निरन्तर भय को बनाए रखती है। एक सिपाही पहली बार मशीनगन चलाता है और उसे चलाते समय उसके हाथ-पैर कम्पित होने लगते हैं, तो यह व्यवहार भय को प्रदर्शित करता है। वही सिपाही स्वप्न में जब मशीनगन चलाता है तो निद्रा में ही भय से पसीना-पसीना हो जाता है। इस प्रकार का भय का संवेग चिन्ता ही कहलाता है।

यह चिन्ता वह दुःखद् स्थिति है, जो व्यक्ति के चित्त में बैठ जाती है। इस प्रकार, दुःखद् अनुभूति से भय, भय से चिन्ता और चिन्ता से भय की निरन्तरता बन जाती है। इसे ही अंग्रेजी में फोबिया (Phobias) कहते हैं। दुर्भीति (Phobias) एक बहुत ही सामान्य चिन्ता विकृति है, जिसमें व्यक्ति किसी ऐसी विशिष्ट वस्तु (object) या परिस्थिति (situation) से सतत एवं असंतुलित मात्रा में डरता है, जो वास्तव में व्यक्ति के लिए कोई खतरा या न के बराबर खतरा उत्पन्न करता है।

उदाहरणार्थ- एक व्यक्ति कभी नाव में बैठा। संयोग से वह नाव उलट गई और वह डूबने लगा। यद्यपि उसे डूबते हुए बचा लिया गया, किन्तु उसके मन में पानी, नदी और नाव के प्रति भय के स्थायी भाव का संचार हो गया। भय का यह स्थायी भाव ही फोबिया (Phobia) कहा जाता है। यह स्थायी भय कभी दैहिक-कारणजन्य भी होता है और कभी मानसिक-कारणजन्य भी। किसी पागल

कुत्ते के काटने पर हम कुत्ते से डरने लगते हैं। यह दैहिक-स्तर पर होने वाला फोबिया है, लेकिन नदी में डूबते हुए बचा लिये गये व्यक्ति के मन में जो भय बना है, वह मानसिक-स्तर का 'फोबिया' है। सैलिगमेन एवं रोजेनहान (Seligman & Rosenhan, 1998) ने दुर्भीति को इस प्रकार परिभाषित किया है – "दुर्भीति एवं सतत डर प्रतिक्रिया है, जो खतरे के वास्तविकता के अनुपात से परे होता है।"³³ मनोवैज्ञानिकों ने बहुत से प्रकार के भय के स्थायी भावों (फोबिया) का वर्णन किया है, जो विशेष स्थितियों में उत्पन्न होते हैं। जिनमें से कुछ निम्नवत हैं –

Acro Phobia ³⁴	High place	ऊँचाई को देखने से,
Agora Phobia	Open place	खुले स्थान को देखने से,
Algo phobia	Pain	दर्द के कारण,
Astra phobia	Storms, thunder and lighting	तूफान, बिजली आदि के कारण,
Claustro phobia	closed places	बंद स्थान को देखकर,
Hemato phobia	blood	खून को देखकर,
Mysophobia	Contamination or germs	भ्रष्टता और कीड़ों के कारण,
Monophobia	being alone	अकेले रहने के कारण,
Nyctophobia	Darkness	अंधेरे के कारण,
Ocholophobia	Crowds	भीड़भाड़ के कारण,
Pathophobia	Desease	बीमारियों के कारण,
Pyrophobia	Fire	आग के कारण,
Syphilophobia	Syphilis	उपदंश रोग के कारण,
Zoophobia	Animal or some perticular animal	जानवर और विशेष प्रकार के जानवर को देखने पर,

³³ A phobia is persistent fear reaction that is strongly out of proportion on the reality of the danger – Seligman & Rosenhan : Abnormality 1998, P. 125

³⁴ Abnormal Psychology and Modern life – (James C. Coleman P.N. 128)

इस प्रकार के स्थायी भाव (फोबिया) भय को उत्पन्न करते हैं। फोबिया ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ है— भय। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार फोबिया हमेशा से इन्सानों के साथ रहा है। शक्तिशाली मशीनगनों, खतरनाक ऊँचाइयों, शार्क के जबड़ों, गिद्ध के पंखों, शिकारी कुत्तों के दाँतों, किसी मृत व्यक्ति की आवाज से पैदा होने वाला भय, खून की एक बूँद को भी देखने से उत्पन्न भय, यह अवास्तविक डर (भय) विज्ञान की भाषा में फोबिया कहलाता है। टेलीफोन से लेकर कम्प्यूटर, कार तक के फोबिया खोजे जा चुके हैं। फोबियालिस्ट डॉट कॉम पर एक हजार से ज्यादा फोबिया मौजूद हैं, जिनमें साधारण से लेकर विशिष्ट फोबिया शामिल हैं।³⁵

फोबिया की कई वजहें होती हैं, कई बच्चे माता—पिता की चेतावनी से फोबियाग्रस्त हो जाते हैं, या फिर कुछ अपने माता—पिता को किसी वस्तु से डरते हुए देखकर डरने लगते हैं। कुछ बच्चों में फोबिया तब विकसित होता है, जब डर की प्रतिक्रिया की अतिशयोक्ति हो जाती है।

डर दिमाग की उपज है, लेकिन इसका असर मन और शरीर —दोनों को प्रभावित करता है। कभी—कभी यह संवेदना इतनी प्रभावशाली होती है कि व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाती है और अस्तित्व के लिए ही खतरा बन जाती है। मन में कहीं यह एहसास मजबूत होने लगता है कि यह डर आपके साथ ही खत्म होगा। परन्तु भारतीय—मनोवैज्ञानिक और डॉ. हॉवर्ड लाइबगोल्ड ने यह स्वीकार किया है कि डर का इलाज संभव है। उन्होंने दस हजार लोगों को भयानक डरों से मुक्ति दिलवाई है। चाहे वह लोगों के बीच बोलने का डर हो, या ऊँचाई का डर, एलिवेटर का डर हो, या तितलियों का डर, सांप का डर या डॉक्टर के पास जाने का डर। डॉ. फीयर लोगों को अपने डर का सामना करने और उससे निजात दिलवाने के लिए वर्कशाप आयोजित करते हैं। वे कहते हैं कि सभी फोबिया सामान्य चिंताओं और डर की झूठी अतिरंजना हैं। डर सार्वभौमिक है और स्वीकारोक्ति में ही इसका इलाज छिपा है। जब आप खुद को डर की थोड़ी खुराक देते हैं और आपको कुछ नहीं होता, तो

³⁵ अहा! जिंदगी, मई-2010, पृष्ठ-18

आप इस बात में यकीन करने लगते हैं कि आखिरकार यह आपको नहीं मार सकता। यह विश्वास आते ही डर (फोबिया) धीरे-धीरे चला जाएगा। इस प्रकार हम फोबिया से बच सकते हैं।

जैन-मनोविज्ञान में शंका (Doubt), आकांक्षा (Desires), विचिकित्सा (Formulities) —ये सब भय के ही रूप माने जाते हैं।

शंका (Doubt)—

जहाँ भय होगा, वहाँ शंका (Doubt) अवश्य होगी। जो डरता है, वह सदा संवेदनशील बना रहता है। शंका सदैव फल के प्रति संदेहरूप होती है। प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों के फल के प्रति शंकाग्रस्त रहता है कि कल क्या होगा ? बहुत संघर्ष, मेहनत एवं पराक्रम द्वारा धन, वैभव और उच्च स्थिति को प्राप्त किया है। हम डरते हैं कि कल यह सब चला जाए, तो क्या करेंगे ? इस प्रकार की शंका सदा बनी रहती है कि मेरी सुरक्षा को कोई खतरा तो नहीं है ? मेरा जीवन सुरक्षित रहे— इसी भयग्रस्त वृत्ति के कारण संसार में निरंतर हिंसा, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा बनी रहती है। आपसी रिश्तेदारों में पारस्परिक-सम्बन्धों में तब-तब संदेह पैदा होता है, जब-जब आदमी को अपने निहित स्वार्थों में कोई बाधा प्रतीत होती है। जब भी किसी के प्रति संदेह हमारे मन में पैदा होता है, तो उसके पीछे स्वयं के हितों की रक्षा की भावना ही मुख्यतः काम करती है। यह शंका एक असम्यक् सोच का परिणाम है। 18 वीं शताब्दी के अवधूत योगीराज श्री आनंदघनजी कृत श्री संभवनाथ स्तवनावली में कहा है — भय चंचलता हो जे परिणामनी रे.....। विचारों की चंचलता को भय कहते हैं। परिणाम कहो, अध्यवसाय कहो, मनोभाव कहो अथवा विचार कहो, एक ही है। जब ये चंचल बनते हैं, तो भय के भूत नाचने लगते हैं। भय का प्रारंभ शंका से होता है और मन चंचल बन जाता है।

आकांक्षा (Desires) —

आकांक्षा, अर्थात् चाह, कामना, सुविधाओं या स्वहित की पूर्ति की चाह। ये सारे आवेग भय के कारण भी होते हैं। अगर कोई भय न हो, तो व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी भी नहीं होगा। सारी आकांक्षाएँ आदमी की भय-वृत्ति का प्रतिबिम्ब हैं। हमें मरने का भय है, इसीलिए जीने की आकांक्षा है, असुविधा का भय है, तो सुविधा की आकांक्षा है। असुरक्षा का भय है, तो सुरक्षा की आकांक्षा है। अपयश का भय है, तो यश की आकांक्षा है। असफलता का डर है, तो सफलता की कामना है। वस्तुतः, हर प्रकार की चाह, तृष्णा, कामना 'भय' का ही परिणाम है। जिसे अभय उपलब्ध है, वह सर्व कामनाओं से रहित है।

जिसे जितनी ज्यादा प्राप्ति की लालसा है, उसे उतना ही ज्यादा भय है। यही कारण है कि एक गरीब से एक अमीर ज्यादा भयभीत है। एक साधारण आदमी बिना बॉडीगार्ड (Body Guard) के रहता है, किन्तु राजा या नेता नहीं, क्योंकि उसकी कामनाओं का संसार ज्यादा है, प्राप्ति की लालसा ज्यादा है। यह आकांक्षा जीवन-पर्यन्त योजनाओं का निर्माण कराती रहती है और ये तरह-तरह की योजनाएँ आदमी को निरंतर अशांत, बैचेन और तनावग्रस्त बनाए रखती हैं। कांक्षा भय से उत्पन्न होती है और कांक्षा-पूर्ति के साधनों का संचय सुरक्षा की मांग करता है तथा सुरक्षा की कामना पुनः भय उत्पन्न करती है।

विचिकित्सा —

विचिकित्सा शब्द का अर्थ होता है— आलोचक-दृष्टि। जहाँ भय है, वहाँ कपट है, माया अर्थात् प्रदर्शन है, दिखावा है, कथनी-करनी में भिन्नता है। जो आदमी बार-बार साहसी होने का प्रयास करता है, वास्तव में वह आदमी बहुत डरा हुआ है। एक डरपोक अपने-आपको बहादुर बताने का प्रयास करता है, निडर नहीं। यह एक मनोवैज्ञानिक-सत्य है कि आदमी जैसा होता है, स्वयं को उससे उल्टा प्रदर्शित करता है। एक ईमानदार व्यक्ति के मन में जरा भी यह ख्याल नहीं आता है

कि मैं जाऊँ और लोगों को कहूँ कि मैं ईमानदार, शरीफ आदमी हूँ। किन्तु एक बेईमान आदमी दिन में पचासों बार यह कहता रहता है कि मैं ईमानदार आदमी हूँ, जुबान का पक्का हूँ। झूठा आदमी बात-बात में भगवान की कसम खाता रहेगा। यह सारा व्यवहार, आदमी के दोगलापन को उजागर करता है, जो उसके भीतर के भय का ही परिणाम है। एक अभय को उपलब्ध आदमी न तो प्रदर्शन करेगा, न ही झूठी प्रतिष्ठा पाने की लालसा रखेगा। प्रतिष्ठा की कामना से किया गया हर व्यवहार स्वयं में निहित शंका, आकांक्षा व विचिकित्सा का होना प्रमाणित करता है। विचिकित्सा झूठी प्रतिष्ठा की कामना है एवं इसकी परिणति माया है, कपट है।

पर के प्रति आकर्षण -

पर के प्रति आकर्षण, अर्थात् अपने से अन्य के प्रति आकर्षण। दूसरों के प्रति आकर्षण यह बतलाता है कि हम स्वयं से डरे हुए हैं, क्योंकि जो स्वसत्ता की गरिमा से वंचित है, वही दूसरों को निहारता है, दूसरे को पाना चाहता है। कहते हैं, पराई थाली में घी ज्यादा उसी को दिखाई देता है, जिसे स्वयं की थाली की गहराई का ज्ञान न हो। अगर आदमी में प्रतिष्ठा की कामना न रहे, तो उसमें किसी भी प्रकार के नाम का, पद का, अधिकार का, आकर्षण ही नहीं रहेगा। यहाँ तक कि सुंदर-सुंदर परिधानों का आकर्षण भी यह सूचित करता है कि हम सब अपनी कुरूपता से भयभीत हैं और अपने वास्तविक सौन्दर्य से अपरिचित हैं, अतः अन्य के प्रति आकर्षण और दिखावा भी भय के कारण ही होता है। अत्यन्त गहराई से देखें, तो अपने नाम, मकान, दुकान, पैसा, सम्पत्ति, धन आदि के प्रदर्शन के पीछे भी भय की ही भूमिका है। हम स्वयं की परिपूर्णता को नहीं जानते, अतः पर पदार्थों से अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए प्रदर्शन करते हैं। यह डर है कि मेरा होना कैसे व्यक्त हो, लोग कैसे जाने ? कैसे मानें ? कि मैं भी कुछ हूँ। बस यही भय व्यक्ति के हृदय में होता है और पर पदार्थों में अपने अस्तित्व को खो देता है।

इस प्रकार, भारतीय-मनोविज्ञान ने भय को विभिन्न रूपों में बताया है।

आधुनिक मनोविज्ञान में भय की अवधारणा और उसकी जैनदर्शन से तुलना

जैनदर्शन में जो संज्ञा की अवधारणा है, वह वस्तुतः प्राणी-व्यवहार के प्रेरक तत्त्व के रूप में है। आधुनिक मनोविज्ञान में व्यवहार के प्रेरक के रूप में मूलप्रवृत्ति (Instinct) और संवेग (Emotion) माने गए हैं। जिस प्रकार जैनदर्शन में आहारसंज्ञा के बाद भयसंज्ञा का उल्लेख है, उसी प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान में भी भूख की मूल-प्रवृत्ति के पश्चात् भय को स्थान दिया गया है। मैकड्यूगल (McDougall) ने जिन चौदह मूल प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है, उनमें भय का भी उल्लेख मिलता है। ये चौदह मूल प्रवृत्तियाँ निम्न हैं³⁶ – 1. पलायनवृत्ति (भय), 2. घृणा, 3. जिज्ञासा, 4. आक्रामकता (क्रोध), 5. आत्म-गौरव की भावना (मान), 6. आत्महीनता, 7. मातृत्व की संप्रेरणा, 8. समूह-भावना, 9. संग्रहवृत्ति, 10. रचनात्मकता, 11. भोजनान्वेषण, 12. काम, 13. चरणागति और 14. हास्य (आमोद)

आधुनिक मनोविज्ञान यह मानता है कि भय की निवृत्ति के लिए प्राणी पलायन करता है, जबकि जैनदर्शन यह मानता है कि भय से मुक्ति के लिए व्यक्ति को अभय का विकास करना होगा। आधुनिक मनोविज्ञान और विशेष रूप से मैकड्यूगल मूलप्रवृत्ति के रूप में भय को स्वीकार तो करते हैं, किन्तु वे यह मानते हैं कि भय से मुक्ति संभव नहीं, जबकि जैनदर्शन का कहना है कि अभय का विकास कर और ममत्व का त्याग कर व्यक्ति भय से विमुक्त हो सकता है।

जैनदर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह भी है कि आधुनिक मनोविज्ञान भय से मुक्ति के लिए पलायन को स्थान देता है, जबकि जैनदर्शन प्राणी में पलायन-वृत्ति को स्वीकार करके भी यह मानता है कि यह उचित नहीं। भय से डरना नहीं चाहिए, क्योंकि भयभीत मनुष्य के पास भय शीघ्र आता है।³⁷

³⁶ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 462

³⁷ ण भाइयाब्बं, मीतं खु भया अइति लहुयं। – प्रश्नव्याकरणसूत्र 2/2

भय के प्रकारों को लेकर भी जैनदर्शन में गंभीरता से विचार किया गया है। जैनदर्शन में भय के सात प्रकार³⁸ बताए गए हैं — 1. इहलोक-भय, 2. परलोक-भय, 3. आदान-भय, 4. अकस्मात्-भय, 5. आजीविका-भय, 6. अपयश-भय, और 7. मरण-भय, लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान की पुस्तकों में न तो इस प्रकार का वर्गीकरण उपलब्ध होता है और न ही उन प्रकारों पर गहन चिन्तन की प्रस्तुति देखने को मिलती है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक शारीरिक-संवेदना को ही भय का कारण मान रहे हैं, किन्तु जैनदर्शन के अनुसार, भय के संस्कार अनादिकाल से हमारी चेतना में गुप्त रूप से विद्यमान हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार भय-संवेग के कारण व्यक्ति अशान्त और शंकाग्रस्त बन जाता है और उसकी मानसिक-स्थिति पर प्रभाव पड़ता है, पर जैनदर्शन यह मानता है कि भय के कारण व्यक्ति अहिंसक-वृत्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। बिना अहिंसक बने धर्म-साधना और मुक्ति सम्भव नहीं है।

आधुनिक मनोविज्ञान में भय की उत्पत्ति के चार कारण बताए गए हैं और जैनदर्शन में भी चार कारणों का उल्लेख है, पर दोनों के कारणों में भिन्नता है।

आधुनिक मनोविज्ञान ³⁹	जैनदर्शन ⁴⁰
1. जानवरों से (Animals)	1. सत्त्वहीनता के कारण
2. आवाज से (Noises)	2. भयमोहनीय-कर्म के उदय से
3. आने वाली आपत्ति की सूचना से (Threats)	3. भयोत्पादक वचनों को सुनकर
4. आश्चर्यजनक वस्तु को देखकर (Strange Things)	4. भय-संबंधी घटनाओं के चिन्तन से।

³⁸ सम्मादिद्धी जीवा णिस्संका होंति विब्भया तेण।

सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका।। - समयसार, गा. 228

³⁹ Basic Psychology, P.101

⁴⁰ स्थानांगसूत्र - 4/580

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार, भय से बचने के लिए विशेष प्रकार की औषधि आदि का सेवन किया जाता है, लेकिन जैनदर्शन में भय—मुक्ति के लिए प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, स्वाध्याय और ध्यान पर अधिक बल दिया जाता है।

इस प्रकार, जैनदर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान में भय—संवेग को लेकर बताया गया है कि भय दोनों ही दर्शनों में है, पर व्यवहार—रूप से इनमें अन्तर दिखाई देता है, लेकिन मूल में भय की प्रवृत्ति समान ही है।

भय—मुक्ति और अभय की साधना —

भय एक तीव्र संवेग⁴¹ है। जब भय की स्थिति होती है, उस समय आदमी की मुखमुद्रा निराशापूर्ण और अशांत होती है। यहाँ मुद्रा से तात्पर्य चेहरे की आकृति से है। डरे हुए आदमी के पास कोई दूसरा जाकर बैठेगा, उसके मन में भी अचानक बैचेनी पैदा हो जाएगी। यह क्यों हुआ, कैसे हुआ ? उसे पता नहीं चलेगा, पर वह बैचेन बन जाएगा। अभय का भाव जब—जब जागता है, तब—तब अभय की मुद्रा का निर्माण होता है। अभय की मुद्रा का बाहरी लक्षण है — प्रफुल्लता (Happiness)। इसमें चेहरा खिल जाता है, व्यक्ति प्रसन्न, आनन्दमय और निर्भय प्रतीत होता है। उसके चेहरे पर कोई समस्या, कोई तनाव नजर नहीं आता है। जब 'भय' की भाव—धारा होती है तो हमारे शरीर का सिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम (सहयोगी नाड़ी—तन्त्र) सक्रिय हो जाता है, यानी पिंगला नाड़ी सक्रिय हो जाती है और जब अभय की भाव—धारा होती है तो पैरासिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम (परासहयोगी नाड़ी—तन्त्र) सक्रिय हो जाता है, अर्थात् इड़ा नाड़ी का प्रवाह सक्रिय हो जाता है। उस समय कोई उत्तेजना नहीं होती, शांति और सुख का अनुभव होता है, सब कुछ अच्छा लगता है।⁴²

⁴¹ "Emotions are inciters to action" – Geldard : Fundamentals of psychology, 1963, P. 33

⁴² अभय की खोज — युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 72

प्रश्न यह है कि भय से मुक्त होकर अभय की साधना किस प्रकार से करें ? अधिक-से-अधिक अभय की भाव-धारा को कैसे प्रवाहित कर सकें ? अधिक-से-अधिक अभय को कैसे अनुभूत कर सकें ? भय और अभय की साधना में यह स्पष्ट है कि भय हेय (त्याज्य) है और अभय उपादेय (ग्राह्य)। हमें भय की भाव-धारा को त्यागना है और अभय की भाव-धारा को विकसित करना है।

जैन-शास्त्रों में दो शब्द मिलते हैं – भय और उसका विलोम अभय। 'अभय' शब्द तीर्थंकर परमात्मा के लिए शक्रस्तव स्तोत्र में प्रयोग किया गया है। उन्हें अभय दयाणम् – अर्थात् अभय-प्रदाता कहा गया है। मगर चिन्तन का विषय यह है कि भय को संज्ञा कहा गया है, अभय को नहीं। क्योंकि अभय तो आत्म-चेतना है, अप्रमाद की दशा है। जैनदर्शन में आत्मा की अवस्था को दो रूपों में व्यक्त किया गया है – स्वभावगत और विभावगत। अभय स्वभावगत है, अतः उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है – अभय को चाहने वालों दूसरों को अभय प्रदान करो, क्योंकि अभय की भाव-धारा अभय से ही बहेगी।⁴³

स्वभाव आत्मा का अपना निज धर्म है, जबकि विभाव उसकी भ्रान्त-दशा या भ्रमणा है। वैदिक-दर्शन में इसे ही माया शब्द से संबोधित किया गया है। इस भ्रमणा को, विभाव की गहन मनःस्थिति को ही चार संज्ञाओं के रूप में दर्शाया गया है, जो शरीर और इन्द्रियों के रहते ही संभव है, जैसे – आहारसंज्ञा शरीर-धर्म होने से विभावदशा है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव निराहार है। इसी प्रकार, मैथुन और परिग्रह भी शरीर और इन्द्रियों से ही सम्बन्धित हैं। जोकि शरीर की मांग या मनःस्थिति को परिलक्षित करते हैं। उसी प्रकार, भय तब तक ही संभव है, जब तक कि आत्मा के पास शरीर है, जब तक शरीर के प्रति लिप्तता या ममत्व-वृत्ति है, क्योंकि छिनने का, खोने का भय तब ही होता है, जब 'पर' के प्रति ममत्व होता है। जब लिप्तता ही नहीं रहती, तो भय कैसा ? अतः भय एक मनोभाव है, भ्रान्ति है।

⁴³ अभओपत्थिवा ! तुभ्भं अभयदाया भवाहि य।

अणिच्चे जीवलोगम्भि किं हिंसाए पसज्जखि।। – उत्तराध्ययनसूत्र, अ. 18, गा. 11

इसीलिए जैनदर्शन में संज्ञा विभावदशा है, मगर अभय आत्मा का निजधर्म है, स्वभावदशा है, वह संज्ञा (वासना) नहीं है।

प्रभु महावीर ने साधकों को भय से अभय की ओर जाने के लिए अहिंसा महाव्रत की संपदा प्रदान की है। गृहस्थ-साधकों के लिए वे ही अणुव्रत-रूप हैं, तथा अनगार-साधकों के लिए महाव्रत रूप। ये पाँच व्रत क्रमशः इस प्रकार हैं —

प्रथम, प्राणातिपात-विरमणव्रत

द्वितीय, मृषावाद-विरमणव्रत

तृतीय, अदत्तादान-विरमणव्रत

चतुर्थ, मैथुन-विरमणव्रत

पंचम, परिग्रह-विरमणव्रत

ये पाँचों व्रत साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य तो अभय हो जाना है, भयरहित हो जाना है, क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार, सभी प्राणियों के भीतर निरन्तर चली आ रही भय-वृत्ति से मुक्त हुए बिना कोई मुक्त अर्थात् अभय को प्राप्त नहीं हो सकता। मुक्त होने के लिए हमारी एकमात्र कमजोरी, जो जीतने लायक है, वह है — भय। महान् साहित्यकार आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित ललितविस्तरा ग्रंथ में 'नमो जिणाणं जियभयाणं' की व्याख्या में स्पष्ट कहा गया है कि जिन्होंने भय को जीत लिया है, वे ही जिन होते हैं, अन्य कोई नहीं।⁴⁴ अभय की साधना सप्त भयों को जीतने की साधना है। जिन्होंने भय को जीत लिया वे अभय हो गए। अभय को प्राप्त करने के लिए हिंसा, चौर्य, अदत्त, मैथुन, परिग्रह — सभी पर विजय प्राप्त करने के प्रयास करना होगा।

1. प्राणातिपात-विरमण-व्रत —

जीव-हिंसा का विचार भय के कारण ही उत्पन्न होता है। जितनी भी हिंसा है, आक्रामक-वृत्ति है, वह आत्म-सुरक्षा के भय से उत्पन्न हुई प्रतिक्रिया-रूप है। यदि जीव में स्वयं के बचाव की भावना न हो तो वह दूसरे जीवों पर आक्रमण क्यों

⁴⁴ नमो जिनेभ्य जितभयेभ्य — ललितविस्तरा, पृ. 228

करे? क्यों दूसरों को दबाए, डराए, गुलाम बनाए ? हिंसा का महत्त्वपूर्ण कारण जीव की मानसिकता में छुपी हुई भयवृत्ति है। जितने भी हिंसक साधनों का, अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण होता है, वह क्यों होता है ? क्योंकि हम अपनी सुरक्षा चाहते हैं। शरीर-शास्त्री तो कहते हैं कि हमारे शरीर के अंगोपांग भी भय के कारण ही विकसित हुए हैं। जब यह प्राणी एकेन्द्रिय-योनि में था, वहाँ से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय – ये सारी अवस्थाएँ जीव में अपने-आप सुरक्षा की भावना से ही विकसित हुई हैं। सिंह, बाघ, और जंगली जानवरों के नाखून बहुत तीखे एवं बड़े होते हैं, वे आदमी के शरीर को फाड़ डालते हैं। उनसे बचने के लिए आदमी ने सर्वप्रथम भाले बनाए, फिर धनुष-बाण बनाए और फिर धीरे-धीरे सभी हथियार स्वजाति-भय और परजाति-भय से बचने के लिए आविष्कृत होते गए और आज हम परमाणु बम के युग तक पहुंच गए हैं। तभी आचारांगसूत्र में कहा है कि –

अत्थि सत्थं परेणपरं,
नत्थि असत्थं परेणपरं।⁴⁵

अर्थात्, शस्त्र (हिंसा के साधन) एक से बढ़कर एक हो सकते हैं, किन्तु अशस्त्र (अभय) से बढ़कर कुछ नहीं, अतः यदि हम भयरहित हो जाते हैं, तो हिंसा स्वयमेव ही समाप्त हो जाएगी। भय और पर के प्रति ममत्ववृत्ति से जितने-जितने अंश में मुक्ति होगी, उतने-उतने ही हम अभय या मुक्ति की दिशा में अग्रसर होंगे।

2. मृषावाद-विरमण-व्रत –

असत्य की वृत्ति भी भय से ही होती है। उसका निमित्त भी भय ही है। भय से ही व्यक्ति झूठ बोलता है। मृषावादविरमण-व्रत यह बताता है कि साधक असत्य भाषण न करे। व्यक्ति झूठ या असत्य तभी बोलता है, जब वह सत्य कहने से डरता है, जब व्यक्ति सत्य का सामना नहीं कर पाता है, तब ही उसे असत्य का सहारा लेना पड़ता है। झूठ बोलते समय मात्र भय रहता है। आदमी एक मिनट में झूठ बोल देता है, किन्तु झूठ बोलने के बाद कई दिनों तक उसका यह भय नहीं मिटता कि

⁴⁵ आचारांगसूत्र – 1/3/4

दूसरों को कहीं इसका पता न लग जाए। मृषावादी के मन में यह भय हमेशा बना रहता है। एक छोटे बच्चे से पूछा गया, — तुम झूठ क्यों और कब बोलते हो ? जवाब में उसने कहा — 'मम्मी के भय के कारण।' डाँट और मार के भय से डरकर वह झूठ बोलता है। फिर, धीरे-धीरे जिन्दगी के हर उस पहलु पर, जिसके उजागर होने से आदमी डरता है, झूठ बोलकर आत्म-रक्षा करता है, अतः भय ही झूठ का कारण है और अभय सत्य का हेतु है। जो अभय है, वह असत्य में रमण नहीं करता है। भयभीत आदमी सदा अतीत की यादों अथवा भविष्य की कल्पना-रूप यथार्थ में रमण करता रहता है। जो मात्र वर्तमान में जीता है, वही अभय को उपलब्ध है। अगर एक व्यक्ति दृढ़ इच्छा शक्ति के साथ यह प्रत्याख्यान करता है, या प्रतिज्ञा करता है कि वह किसी भी परिस्थिति में तीन करण और तीन योग से झूठ नहीं बोलूंगा। तो यह भी निश्चित मानो की उसका डर भाग जाएगा, क्योंकि सच बोलने से पहले डर लगता है। इस प्रकार मात्र सत्यवादी ही अभय की साधना कर सकते हैं।

3. अदत्तादान-विरमणव्रत —

न दत्त इति अदत्त, अर्थात् जो नहीं दिया गया हो, वह अदत्त होता है।⁴⁶ इन्सान चोरी कब करता है ? या चोरी की भावना पैदा ही तब होती है, जब वह परद्रव्य पर अधिकार कर अपने भविष्य की सुरक्षा चाहता है। व्यक्ति अभाव की कल्पना से डरता है। प्रतिपक्षी की समृद्धि देख ईर्ष्या करता है, उससे भयभीत होता है। यदि वह इन भयों से रहित हो जाए, तो चोरी की आवश्यकता ही क्यों पड़े। माया-कपट का सहारा डरपोक व्यक्ति ही लेता है। अदत्त के विरमण से साधक स्वयं के भीतर अभय-चेतना का विकास करता है। चोरी करते चोर के भीतर कुछ भय पैदा हो जाते हैं, जैसे —पकड़े जाने का भय। चोरी करते ही प्राणधारा सिकुड़ने लगती है, व्यक्ति अपने को दोषी अनुभव करता है, Guilty feel करता है और

⁴⁶ 'अदत्तादानं स्तेयम्' — तत्त्वार्थसूत्र 7/15

भविष्य से डरने लगता है, जबकि अचौर्य की साधना व्यक्ति को हर प्रकार के भय से या छल-प्रपंच से मुक्त करती है।

4. मैथुनविरमण-व्रत -

मैथुन का मतलब है - दो का योग या दो का निकाय। सभी अपने एकाकीपन से डरते हैं, इसीलिए साथी बनाने के लिए लालायित रहते हैं। व्यक्ति साथी को पाकर काल्पनिक आश्वासन प्राप्त करता है, जबकि दूसरा व्यक्ति, चाहे स्त्री हो या पुरुष अपने एकाकीपन से भयभीत होने के कारण ही संबंध बनाता है। सारे रिश्ते-नाते, भीड़ एकत्रित करना - ये सब डर के कारण ही होते हैं। अपने चारों ओर भीड़ को देखकर खुश होना भी एकाकीपन के भय का ही एक रूप है, भयग्रस्त मानसिकता का प्रतीक है। जो अभय है, वही अकेला रह सकता है। जो अभय है, वही ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो सकता है। आचारांग में कहा है - जो साधक कामनाओं को पार गए हैं, वस्तुतः वे ही मुक्त पुरुष हैं।⁴⁷ संसार का सारा अब्रह्मचर्य डर के कारण है, पर-पासंड में रमण ही डर के कारण है, अतः एक डर को जानने और उससे मुक्त होने के लिए ही भगवान् ने मैथुन-व्रत की साधना साधकों को प्रदान की। मैथुन-विरमण के द्वारा साधक धीरे-धीरे अपने यथार्थ एकाकी स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर पाता है और एक बार यदि वह अपने एकाकीपन में रमण कर पाए, तो फिर भय रहा ही कहाँ ? निज आनन्द का अनुभव उसे समस्त भयों से मुक्त कर देता है।

5. परिग्रहविरमण-व्रत -

परिग्रह, अर्थात् संग्रह की वृत्ति। संग्रह की सारी दौड़ भय के कारण है। आदमी सुरक्षा चाहता है और इसलिए सुरक्षा के साधन एकत्रित करता है, संग्रह करता है। यह संग्रहवृत्ति भविष्य की असुरक्षा के भय से ही पैदा होती है। चाहे वह संग्रह जीवों का हो, अथवा अजीवों का, व्यक्तियों का हो अथवा वस्तुओं का हो, भयजन्य ही है। इन्सान संतान उत्पन्न भी इस भावना से आक्रान्त होकर करता है

⁴⁷ विमुक्ता हु ते जणा, जे जणा पारगामिओ } - आचारांग, 1/2/2

कि कल ये बालक बड़ा होकर मेरी सेवा करेगा, मेरे वंश को बनाए रखेगा। मेरा नाम यश बढ़ायेगा। वस्तुओं के संग्रह की सारी प्रतिस्पर्धा अस्मिता की भावना से ही होती है। संग्रह की भावना भय से ही पैदा होती है। व्यक्ति बाहर गया और ध्यान आया कि कमरे को तो ताला ही नहीं लगाया है, या आलमारी खुली रह गयी है तो वह बीच रास्ते से ही लौट आता है। कहीं कोई चोरी न हो जाए, कोई कुछ न ले जाए। यहाँ पर के ममत्व के कारण ही वह भयभीत हो जाता है, क्योंकि उसकी ममत्ववृत्ति संग्रहित पदार्थों में हैं। पर में स्व के आरोपण से आदमी रात और दिन भय से आक्रान्त रहता है। उसे निरन्तर यह भय सताता रहता है कि कहीं मुनीम, पार्टनर, नौकर, कर्मचारी, भाई कोई धोखा न दे दे। मेरी सम्पत्ति को न लेले। यह परिग्रह की वृत्ति उसे अभय बनाने में बाधक बनती हैं, क्योंकि जब तक वह ममत्वबुद्धिजन्य मिथ्या भय का परित्याग नहीं करता है, वह निर्भय नहीं हो सकता है।⁴⁸ अभय की प्राप्ति के लिए पर में स्व का, अर्थात् अपनेपन का त्याग आवश्यक है। इसी से अभय का विकास होगा।

इस प्रकार वह भय, जो मूलतः एक मनोकल्पना और ममत्वजन्य है, को जीत कर व्यक्ति अभय बन सकता है। पाँचों ही महाव्रतों के मूल में भयसंज्ञा से मुक्ति का प्रयास ही है। वस्तुतः, जो अभय को उपलब्ध है, वही नाथ है। जो भयभीत है, वही गुलाम है, दास है। अर्हत एवं सिद्ध परमात्मा स्वयं अभय को उपलब्ध हैं और हमें भी अभय बनने की प्रेरणा दे रहे हैं, इसीलिए सूत्रकृतांग में कहा गया है कि दानों में सर्वश्रेष्ठ दान अभयदान है। (दाणाण सेहुं अभयपयाण) यह अभयदान उनकी आत्मज्ञानमयी वाणी द्वारा हमें प्राप्त होता है। परमात्मा की वाणी ही 'अभयदानी' है। वस्तुतः, पंच महाव्रत के माध्यम से हम अभय को प्राप्त कर सकते हैं, साथ ही —

1. अनुप्रेक्षा
2. प्रेक्षा
3. मंत्रों का जाप
4. चारित्र के विकास और

⁴⁸ "जे ममाइयमइं जहाइ, से जहाइ ममाइयं" — आचारांगसूत्र 1/2/6

5. चेतना की सजगता के द्वारा हम अभय की साधना कर सकते हैं।

इसके लिए तीन साधन अपेक्षित हैं – लक्ष्यनिष्ठा, मार्ग और साधन (उपाय)। अभय का विकास लक्ष्यनिष्ठा, मार्ग और साधन के बिना संभव नहीं। खोज करना होगी मार्ग की और साधन (उपाय) की। उसमें एक उपाय है – अनुप्रेक्षा।

1. अनुप्रेक्षा –

अनुप्रेक्षा द्वारा अभय की भावधारा को विकसित किया जा सकता है। शब्द की प्रणालियां हमारे शरीर के भीतर बनी हुई हैं, जिनके माध्यम से तरंगों हमारे पूरे शरीर में व्याप्त हो जाती हैं और वे हमें प्रभावित करती हैं। यह तरंग का सिद्धान्त है— भय की तरंग उठी और भय के कंपन शुरू हो गए। यदि उस समय अभय की तरंग को उठा सकें तो भय की तरंग वहीं समाप्त हो जाएगी। यह अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त उस प्रतिपक्ष का सिद्धान्त है कि एक तरंग के द्वारा दूसरी तरंग की शक्ति को निरस्त किया जा सकता है। शुभ एवं श्रेयस्कर तरंग को उठाया जा सकता है तथा बुरी तरंग को निरस्त किया जा सकता है या बुरी तरंग को पैदा किया जा सकता है और अच्छी तरंग को निरस्त किया जा सकता है। यह सब हमारे पुरुषार्थ पर, हमारी ग्रहण-शक्ति पर और हमारी दृष्टि पर निर्भर करता है। अनुप्रेक्षा के द्वारा जागरूकता आ जाती है और जब भी मन में भय का विकल्प उठे तो तत्काल शुभ भावों की जाग्रति के द्वारा हम अभय को प्राप्त कर सकते हैं।

2. प्रेक्षा –

अभय का दूसरा साधन है –प्रेक्षा। जैसे-जैसे देखने की शक्ति का विकास होता है, हमारी दृष्टि सत्यग्राही बन जाती है। डर जितना भी लगता है, वह असत्य (कल्पना) के कारण लगता है। असत्य मान्यता, सिद्धांत, धारणा, संकल्प – जो भी असत्य का पक्ष है, वह सारा भय पैदा करने वाला है। जैसे-जैसे दर्शन की शक्ति विकसित होती है और सच्चाई के निकट जाते हैं, कल्पनाओं से दूर हटते हैं, हमारी शक्ति बढ़ती जाती है और भय अपने-आप कम होता जाता है। यथार्थ में भय नहीं

होता। भय, मूर्च्छा और असत्य में होता है। प्रेक्षा के द्वारा हमारी मूर्च्छा का चक्र टूटता है। जब मूर्च्छा का चक्र टूटता है, तो भय अपने-आप समाप्त हो जाता है।

3. मन्त्रों का जाप —

जैन-परम्परा, वैदिक-परम्परा, बौद्ध-परम्परा सब में भय का निवारण करने के लिए प्रभावशाली मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। कुछ लोग सर्प से डरते हैं, कुछ रात्रि में डरावने स्वप्न देखते हैं, तो डर जाते हैं, कुछ लोग सोते-सोते ही डर जाते हैं और कुछ अकारण ही डर जाते हैं। इन अवस्थाओं से बचने के लिए सैकड़ों 'अभय मन्त्रों' का विकास हुआ है और उनका प्रयोग भी बहुत होता है। भक्तामर और कल्याण मंदिर स्तोत्र में सभी प्रकार के भय के निवारण के लिए मंत्र विद्यमान है। यथा -- 'ॐ ह्रीं श्रीं क्रौं क्लीं इवी रः रः हं हः नमः स्वाहा' मंत्र। डॉ. सागरमलजी जैन द्वारा लिखित पुस्तक 'जैनधर्म और तान्त्रिक साधना' में भी भक्तामर स्तोत्र की नवीं गाथा में उल्लेखित सात भय निवारण मन्त्रों का वर्णन प्राप्त होता है।⁴⁹ इस प्रकार 'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं मल्लिनाथाय नमः' मंत्र से चोर आदि भय दूर होता है। 'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं ऋषभदेवाय नमः' मंत्र से सब प्रकार का भय दूर होता है, और 'णमो अभयदयाणं' मंत्र से अभय की शक्ति का विकास होता है।⁵⁰ कई लोग ताबीज और जड़ी-बूटियों के द्वारा भी भय का निवारण करते हैं। अधिक भय लगता है, तो लोग हाथ में ताबीज बांध लेते हैं, जिससे उनका भय समाप्त हो जाता है, या कम हो जाता है। इस प्रकार, हम भय को दूर कर अभय की साधना कर सकते हैं।

4. चरित्र का विकास —

व्यक्ति के काम करने वाली शक्ति ही हमारे चरित्र के विकास की शक्ति है, हमारे चरित्र का बल है और वह बल जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, आदमी में अभय का विकास होता है। जब अभय का बल बढ़ता है, तो अनेक मनोकामनाएँ जाने-अनजाने

⁴⁹ जैनधर्म और तान्त्रिक साधना — पृ. 184

⁵⁰ मंत्र : एक समाधान — आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 226-229

ही पूरी हो जाती हैं। क्योंकि भय मनोकामना की पूर्ति में सबसे बड़ी बाधा है। आशंका और संदेह की वृत्ति भी अभय को प्राप्त नहीं करा सकते, क्योंकि भय से घिरा हुआ व्यक्ति या शंका (संदेह) से घिरा हुआ आदमी सफल नहीं हो सकता। बाबा नागपाल⁵¹ कहते हैं – “मैं तो किसी को भी न तो ताबीज देता हूँ, न गंडा देता हूँ, कुछ भी नहीं। सबको कहता हूँ, आहार शुद्ध करो, व्यवहार शुद्ध करो। इसके बिना कुछ भी नहीं है।” चरित्र का विकास होगा तब अभय की साधना स्वतः ही हो जायेगी। ‘समयसार’⁵² में कहा है – ‘जो किसी प्रकार का अपराध नहीं करता, वह निर्भय होकर जनपद में भ्रमण कर सकता है।’ इसी प्रकार, निरपराध निर्दोषी आत्मा सर्वत्र निर्भय होकर विचरण करती है।

5. चेतना के अनुभव के द्वारा –

चेतना का अनुभव, अर्थात् जाग्रत अवस्था (आत्म-सजगता)। जब यह अवस्था रहती है, तो भय का अनुभव नहीं होता है। जब आदमी चैतन्य के अनुभव में होता है, तब सांप भी काट जाता है, तो भी सांप का जहर नहीं चढ़ता। जहर भी विशेष स्थिति में चढ़ता है। यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जब सांप काट जाता है, तो सभी की कोशिश यही रहती है कि उस व्यक्ति को नींद न आ जाए। उसे जाग्रत रखा जाता है। इस जागरूकता में जहर नहीं चढ़ता। भगवान् महावीर को चण्डकौशिक जैसे सांप ने काटा, पर वे अविचल रहे, उन्हें जहर छू भी नहीं पाया। क्योंकि वे जाग्रत थे, उन्हें चेतना का अनुभव हो चुका था। इसलिए वे निर्भय बन गए थे। चेतना का अनुभव अभय की मुद्रा का अनुभव है। क्योंकि अनेक बार अकारण भय ही व्यक्ति को भयभीत बना देता है। प्रतिक्रमण सूत्र में ब्रह्मचर्य की बाड (रक्षा) के प्रसंग में ‘डोकरी और छाछ’ का दृष्टान्त आता है। किसी वृद्धा स्त्री ने कुछ

⁵¹ अभय की खोज – पृ. 78

⁵² जो ण कुणइ अवराहे, सो णिस्संको दु जणवए भमदि – समयसार 302

दिन पूर्व छाछ पी थी, जब उसे यह बताया गया कि उस छाछ में सांप का जहर था, तो सुनते ही वह (भय के कारण) मृत्यु को प्राप्त हो गई।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि अभय बनने के लिए सदा यह चिन्तन करना चाहिए कि 'मेरा किसी से बैर नहीं है।' जब तक हिंसा, असत्य और संग्रह में आसक्ति है, तब तक मानव भयभीत रहता है। अभय को प्राप्त करने के लिए इनसे आसक्ति मिटाना आवश्यक है। 'जो प्रमादी होता है, उसको सब प्रकार का भय रहता है। जो अप्रमादी होता है, उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता।'⁵³ जब अप्रमाद आता है, तब भय समाप्त हो जाता है। अभय वस्तुतः प्रज्ञा से आता है। जब प्रज्ञा जागती है, तो व्यक्ति वर्तमान में जीना स्वीकार कर लेता है। जो प्राप्त है, उसे स्वीकार कर लेना, घटना को घटना के रूप में स्वीकार कर लेना ही जीवन की वास्तविकता है।

एक बार एक किसान से किसी ने पूछा 'क्या इस बार मूंग बोया है?' किसान ने जवाब दिया —'नहीं, मुझे भय था कि शायद बारिश नहीं होगी।' फिर उस व्यक्ति ने पूछा —'क्या तुमने मक्का बोया?' किसान बोला —'नहीं, मुझे भय है कि कीड़े-मकोड़े न खा जायें।' फिर उस आदमी ने पूछा —'तुमने बोया क्या है?' किसान ने कहा —'कुछ भी नहीं, मैंने कोई खतरा या रिस्क (Risk) उठाई ही नहीं।' यह निष्क्रियता भय का परिणाम है। अभय की अवस्था को प्राप्त करने के लिए थोड़ा पुरुषार्थ और थोड़ा विश्वास जरूरी है। भक्तामर स्तोत्र के अन्तिम भाग में आचार्य मानतुंग ने कहा है —यदि भयमुक्त बनना है, तो प्रभु के चरणों की शरण लो। प्रभु की शरण में रहने पर कोई भय नहीं होगा। अर्हत और सिद्ध परमात्मा अभय को देने वाले हैं। अतः जो अभय की साधना करना चाहता है, उसे राग-द्वेष से रहित, कषायों से रहित और आसक्ति से रहित होकर जीवन में व्याप्त संपूर्ण भ्रमणाएं, जो भय को देने वाली हैं उन्हें पुरुषार्थपूर्वक हटाने का प्रयास करना है।

⁵³ सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं - आचारांगसूत्र 1/3/4

श्रीमद्राजचंद्रजी ने भी कहा है —“निःशंकता से निर्भयता उत्पन्न होती है और उसी से निःसंगता प्राप्त होती है।⁵⁴ सही अर्थों में भय—मुक्ति का यही मार्ग है।

वैश्विक—अस्त्र—शस्त्र की दौड़ का कारण भय —

यद्यपि भयसंज्ञा एक मनोभाव या मनोविकृति है, किन्तु उसके कारण आज सम्पूर्ण विश्व संकटपूर्ण स्थिति से गुजर रहा है। वर्तमान स्थिति को देखें तो भयसंज्ञा एक विकट रूप लिए हुए है। विश्व का प्रत्येक देश जितना प्रयास एवं अर्थ—व्यय मानव—कल्याण के लिए नहीं करता है, उतना वह सुरक्षा के लिए करता है, क्योंकि उसे अन्य शक्तिशाली देशों के आक्रमण का भय सतत बना रहता है। आज राष्ट्रों में पारस्परिक—अविश्वास के कारण अस्त्र—शस्त्रों की अंधी दौड़ ने मानव को भयभीत बना दिया है। वर्तमान युग में वे राष्ट्र मानवीय—कल्याण की बात छोड़कर अपने राष्ट्र की सुरक्षा को प्राथमिकता देते हैं। इन सबका कारण अन्तर में निहित भय ही है। भय के कारण प्रत्येक राष्ट्र अपने—आपको असुरक्षित समझता है और सुरक्षा के साधनों को जुटाने में निरन्तर लगा रहता है। आज मनुष्य शरीर की सुरक्षा, सम्पत्ति की सुरक्षा, पत्नी एवं बच्चों की सुरक्षा, स्वजनों की सुरक्षा, शहर की सुरक्षा और देश की सुरक्षा के लिए चिन्तातुर दिखाई देता है।

यद्यपि सुरक्षा की भावना सभी जीवों में होती है। सुख सभी को अच्छा लगता है और दुःख और तदजन्य असुरक्षा किसी को पसंद नहीं आती है। कहा है—
“तुम्हारी ही तरह विश्व के समस्त प्राणियों को दुःख अशान्तिकारक है और वही महाभय का कारण है,⁵⁵ इसलिए विश्व के सभी प्राणी किसी त्रासदी से बचने हेतु

⁵⁴ श्रीमद्राजचंद्र (मूल गुजराती का हिन्दी अनुवाद), पत्र क्रमांक—254, पृ. 291

⁵⁵ “हं भो पवाइया ! किं भं सायं दुक्खं असायं ? सभिया पडिवण्णं या विएवं भूया।”

“सव्वेसि पाणाणं, सव्वेसि भूयाणं,

सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं

असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं।” — आचारांगसूत्र 1/4/2

अपनी सुरक्षा के लिए प्रयास करते हैं। हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं कि वनस्पतिकाय के जीव (वनस्पति—जगत) भी अपनी सुरक्षा के लिए नुकीले काँटों को उत्पन्न करते हैं, जैसे — गुलाब, बबूल, नींबू आदि के पौधे अपनी सुरक्षा काँटों से करते हैं। वहीं विकलेन्द्रि (बेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चउरिन्द्रिय) जीव अपनी सुरक्षा पलायन करके या डंक मारकर करते हैं। गाय, बैल, हिरण आदि पशु सींग के द्वारा अपनी सुरक्षा करते हैं। हाथी अपनी विशाल काया और सूंड से तथा कुछ पक्षी विशेष प्रकार की आवाज निकालकर अपनी सुरक्षा करते हैं। इसी प्रकार, सभी प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाने वाला मनुष्य अपनी सुरक्षा अस्त्र—शस्त्रों के माध्यम से करता है। अस्त्र— अर्थात् फेंककर चलाये जाने वाले हथियार, जैसे— भाला, तीर आदि और शस्त्र— अर्थात् लोहा, इस्पात से बनाए गए औजार अर्थात् तलवार आदि जो शत्रु का घात करते हैं, यानी जो हाथों के द्वारा चलाए जाते हैं, वे शस्त्र कहे जाते हैं, जैसे — बंदूक, बम आदि।

आचारांगसूत्र⁵⁶ में शस्त्र दो प्रकार के बतलाए गए हैं — द्रव्य—शस्त्र और भाव—शस्त्र। पाषाण—युग से अणु—युग तक जितने भी अस्त्र—शस्त्रों का निर्माण हुआ है, वे सब द्रव्य—शस्त्र हैं, दूसरे शब्दों में, स्वतः निष्क्रिय शस्त्र द्रव्य—शस्त्र हैं। उनमें स्वतः प्रेरित संहारक—शक्ति नहीं होती है। सक्रिय—शस्त्र जिसे आचारांगसूत्र में भाव—शस्त्र कहा गया है, वह असंयम है। विध्वंस का मूल असंयम ही है। असंयम के कारण ही निष्क्रिय शस्त्रों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार, मानसिक—स्तर पर रहे हुए भय के कारण ही अस्त्र शस्त्रों का निर्माण एवं उपयोग होता है।

संयुक्तराष्ट्र संघ द्वारा की गई घोषणा के अनुसार भी —“युद्ध पहले मनुष्य के मस्तिष्क में लड़ा जाता है, फिर समरांगण में”⁵⁷ मानव—मस्तिष्क में उपजा भय या असुरक्षा का भाव तथा शत्रु के विनाश की वृत्ति ही भाव—शस्त्र है। भारतीय—मनोविज्ञान में भय—संवेग को ही हिंसा या युद्ध का कारण माना गया है। संवेगों की

⁵⁶ आचारांगसूत्र — 1, शस्त्रपरिज्ञा

⁵⁷ विश्व शांति एवं अहिंसा प्रशिक्षण, पृ. 210

इसी विशेषता के कारण ही मनोवैज्ञानिक संवेगों को एक विध्वंसात्मक—शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। मानव भाग के पदार्थों की आसक्ति के कारण अपनी आवश्यकताओं से विलासिताओं की ओर बढ़ने लगता है, तो हिंसा उसके लिए आवश्यक हो जाती है। भय का संवेग ही व्यक्ति के हृदय में असुरक्षा की भावना उत्पन्न करता है और इस असुरक्षा की भावना के कारण वह आक्रामक हो जाता है, और अपनी सुरक्षा के लिए अस्त्र—शस्त्र जुटाता है। इसी प्रकार, क्रूरता का संवेग व्यक्ति को पेशेवर हत्यारे के रूप में बदल देता है। शत्रुता का भाव व्यक्ति में अविश्वास पैदा करता है, जिससे वह स्वयं को सदैव असुरक्षित अनुभव करता है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि मानव—मस्तिष्क में उपजे भय, भोगाकांक्षा, क्रूरता का भाव आदि संवेग हिंसा या युद्ध के लिए जिम्मेदार हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व दो महाशक्तियों — अमेरिका और रूस के खेमों में बंट गया। इन दोनों गुटों में हथियारों की होड़ में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। दोनों महाशक्तियों ने अपनी राष्ट्रीय—सुरक्षा के लिए ही नहीं, बल्कि अपने मित्र राष्ट्रों की सुरक्षा के लिए भी नए हथियारों, विशेषकर नाभिकीय (न्यूक्लियर) व परम्परागत हथियारों का उत्पादन किया। दोनों महाशक्तियाँ स्वयं तो भयंकर अस्त्र—शस्त्रों की होड़ में लगी थीं, साथ ही विकासशील देशों ने अपने समर्थक राज्यों को भी हथियार देना प्रारंभ कर दिया। यह विश्व—स्तर पर उनकी शत्रुता का विस्तार था। मात्र यही नहीं अपने उत्पादित अस्त्र—शस्त्रों की खपत के लिए, दूसरे शब्दों में, अपना बाजार खोजने में अन्य राष्ट्रों को एक—दूसरे के विरुद्ध उकसाया। यथा— भारत और पाकिस्तान।

इस प्रकार, विश्व में हथियार एवं अस्त्र—शस्त्रों की होड़ का तीसरा प्रमुख कारण व्यवसाय था, अर्थात् धन कमाने के लिए तीसरी दुनिया के देशों को हथियार बेचना था। इस तरह, संपूर्ण विश्व में सैन्यीकरण की स्थिति बनी, जिसका अर्थ था, विश्व के सभी भागों में हथियारों की होड़। इस कारण, विश्व में अस्त्र—शस्त्रों की संख्या में कई गुना वृद्धि होने लगी। आज मानवता बारूद के ढेर पर बैठी है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय-चिन्तन का मुख्य आधार यह था कि विरोधी राष्ट्रों से अपनी सुरक्षा के लिए हथियारों का भारी भण्डार जमा कर शान्ति को सुनिश्चित किया जा सकता है, लेकिन इस धारणा ने विश्व में शान्ति को सुनिश्चित करना तो दूर, मानव का जीना ही दूभर कर दिया।

अब तक जितने भी नाभिकीय-हथियार जमा हो चुके हैं, वे पृथ्वी को कई बार नष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। वर्तमान में सभी देश आणविक और अन्य अस्त्र-शस्त्रों की शक्ति जुटाने में लगे हुए हैं। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आज संपूर्ण संसार एक बारूद के ढेर पर बैठा है। एक भी राष्ट्र ने मूर्खतावश उसमें चिंगारी लगाई, तो कुछ ही मिनट में संसार राख का ढेर बन सकता है। इस सबके पीछे पारस्परिक-अविश्वास, असुरक्षा की भावना तथा लोभ (परिग्रह) वृत्ति ही है, जिसने मानवीय-मूल्यों अर्थात् पारस्परिक-विश्वास एवं सहयोग की भावना को ही समाप्त कर दिया है। जैनदर्शन की भाषा में कहें, तो इस सबके मूल में भय एवं परिग्रह संज्ञा ही है।

पूर्व चर्चा में हमने विवेचन किया कि विश्व में अस्त्र-शस्त्रों की जो दौड़ चल रही है, उसका मूल कारण भय है। भय पारस्परिक-अविश्वास से पैदा होता है। यदि विश्व के राष्ट्रों में पारस्परिक-विश्वास का विकास हो जाए, तो यह अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। आज विश्व में निःशस्त्रीकरण की बात चल रही है। निःशस्त्रीकरण का अर्थ है, अस्त्र-शस्त्रों को कम करना, नियंत्रित करना। अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ डिफेन्स एनालिसिस ने निःशस्त्रीकरण की परिभाषा देते हुए कहा है - "कोई भी एक योजना, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निःशस्त्रीकरण के किसी भी एक पहलू, जैसे संख्या, प्रकार, शस्त्रों की प्रयोजन-प्रणाली, उसका नियंत्रण, उसकी सहायता के लिए पूरक यंत्रों का निर्माण, प्रयोग व वितरण, गुप्त

सूचनाएं एकत्र करने के संयंत्र, सेना का संख्यात्मक—स्वरूप आदि को नियमित करने से संबंधित हो, निःशस्त्रीकरण की श्रेणी में आती है।⁵⁸

इस प्रकार, आंशिक रूप में निःशस्त्रीकरण का अभिप्राय अधिक खतरनाक समझे जाने वाले विशेष प्रकार के हथियारों में कटौती करना है, जबकि समग्र या व्यापक निःशस्त्रीकरण का अभिप्राय है—सभी प्रकार के हथियारों की समाप्ति करना।

निःशस्त्रीकरण तभी संभव होगा, जब राष्ट्रों में भय समाप्त होकर पारस्परिक—विश्वास जाग्रत हो। यद्यपि सभी राष्ट्र निःशस्त्रीकरण को चाहते हैं, किन्तु पारस्परिक—भय के कारण इस दिशा में प्रथम कदम उठाना कोई नहीं चाहता है, किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि इस भय की वृत्ति से अस्त्र—शस्त्रों की दौड़ कभी समाप्त होने वाली नहीं है। हम अपनी सुरक्षा के साधन के रूप में अस्त्र—शस्त्रों का संग्रह तो करते ही हैं, साथ ही यह भी चाहते हैं कि हमारे पास जो अस्त्र—शस्त्र हैं, वे हमारे प्रतिस्पर्धी अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक विध्वंसक हों, किन्तु भगवान् महावीर ने कहा था—“शस्त्र तो एक से बढ़कर एक बनाए जा सकते हैं, किन्तु अशस्त्र (अभय) से बढ़कर कुछ नहीं है। इन शस्त्रों की दौड़ से मानवता का कल्याण संभव नहीं।”

आज विश्व में इतनी अधिक मात्रा में संहारक अस्त्र—शस्त्र निर्मित हो गए हैं कि वे हमारी इस दुनिया का सम्पूर्ण नाश करने में समर्थ हैं। यदि इन संहारक शस्त्रों का प्रयोग किया गया तो न तो मानव—प्रजाति बचेगी न अन्य प्राणी बचेंगे। इसलिए आज विश्व की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता यही है कि परस्पर अभय और मैत्री—भाव का विकास हो, क्योंकि यही एक ऐसा तत्त्व है, जो दुनिया को अस्त्र—शस्त्रों की दौड़ से बचा सकता है।

⁵⁸ विश्व—शांति एवं अहिंसा—प्रशिक्षण — पृ. 209

अभय और विश्व-शांति

भय की भावना को निरस्त करने के लिए अभय की भावना का विकास आवश्यक है। आज प्रायः हर व्यक्ति भयाक्रान्त है, क्योंकि सर्वत्र अविश्वास एवं असुरक्षा की भावना है। भगवान् महावीर ने कहा है —“प्रमादी, अर्थात् असजग को सब तरफ से भय होता है और सजग या सावधान भय-मुक्त होता है।”⁵⁹ प्रमाद या असजगता इसलिए है कि बुद्धि का जागरण तो है, किन्तु प्रज्ञा सोई हुई है। बुद्धि भय को मिटा नहीं सकती है, बल्कि भय को अधिक सूक्ष्मता से पकड़ लेती है, इसलिए बुद्धि जितनी प्रखर होगी, उतना ही अधिक भय होगा। उदाहरणतः, सामान्य व्यक्ति कम भयभीत है, पर एक पढ़े-लिखे व्यक्ति एवं वैज्ञानिक आदि के सामने अनेकों संकट हैं। उनके सामने ऊर्जा का संकट है, आबादी का संकट है, पर्यावरण का संकट है, परमाणु-अस्त्रों का संकट है, जबकि सामान्य व्यक्ति इन भयों से परे है। भयभीत व्यक्ति सुरक्षा की कोशिश करता है, किन्तु अभय को प्राप्त व्यक्ति निडर और शान्त होता है।

भगवान् महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा था —“अभय से बढ़कर अन्य कोई भी वस्तु नहीं” और अभय का विकास पारस्परिक-विश्वास से होगा। कहा भी गया है—“अशस्त्र में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं।” आज विश्व-शान्ति के लिए निःशस्त्रीकरण आवश्यक है और यह निःशस्त्रीकरण भय और अविश्वास को समाप्त करके ही संभव है। इसके लिए हमें अभय का विकास करना होगा, अभय के विकास से पारस्परिक-विश्वास बढ़ेगा और मानव-जाति सुख और शान्तिपूर्वक अपना जीवन जी सकेगी।

विश्व-शान्ति मानव-जाति के अस्तित्व, विकास एवं प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। युद्ध का भय, विकास एवं प्रगति के सभी साधनों को शांतिपूर्ण उपयोग से हटाकर युद्ध या युद्ध की तैयारियों के लिए मोड़ देता है। मानव-इतिहास के रक्तंजित पृष्ठ युद्ध की भयानकता व विनाशकता के जीवन्त उदाहरण हैं, किन्तु

⁵⁹ सब्बओ पमत्तस्स भयं,

सब्बओ अपमत्तस्स नत्थि भयं। — आचारांग 1/3/4

जब-जब मानव युद्ध से त्रस्त हुआ, तब-तब शान्ति की अधिकतम आवश्यकता अनुभव की गई।

बीसवीं शताब्दी से पूर्व विश्व-शांति के सामूहिक प्रयास बहुत कम हुए। कलिंग-युद्ध के पश्चात् सम्राट अशोक ने युद्ध का परित्याग कर अहिंसा के मार्ग पर चलने का प्रण किया, बाद में एशिया, अफ्रीका, यूरोप आदि क्षेत्रों में युद्धोपरान्त जो सन्धियाँ हुई, उनका उद्देश्य द्विपक्षीय-विवाद को समाप्त कर क्षेत्रीय-शान्ति कायम करना था। प्रथम विश्वयुद्ध की वीभत्सता को दृष्टिगत रखते हुए युद्ध टालने एवं शान्ति कायम करने हेतु 'लीग ऑफ नेशन्स' की स्थापना हुई, लेकिन युद्ध संकट फिर भी न टल सका। द्वितीय विश्वयुद्ध में महाविनाश का सामना करना पड़ा। विश्व में शान्ति की स्थापना तथा परस्पर विवादों के हल हेतु संयुक्तराष्ट्र संघ की स्थापना की गई। संयुक्तराष्ट्र संघ के उद्देश्यों में विश्व-शांति तथा सुरक्षा को कायम रखना एवं शान्ति के लिए उत्पन्न खतरों को सामूहिक सुरक्षा द्वारा रोकना प्रमुख है।

अभय और शान्ति मानव-जाति की शाश्वत अभिलाषा रही है। इसे जीवन के श्रेष्ठतम मूल्यों में रखा जाता है। युद्ध कभी अच्छा नहीं होता, और शान्ति कभी भी बुरी नहीं होती। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार शान्ति शब्द का अर्थ है— युद्ध से मुक्ति। दो युद्ध-शक्तियों में शान्ति-संधि, अर्थात् युद्ध की समाप्ति तथा युद्धरत राष्ट्रों में संधि कर शान्ति स्थापित की जा सकती है।

अभय और शान्ति केवल दर्शन ही नहीं है, अपितु यह एक आचरण है। वह संकटकालीन स्थिति से उबरने का उपाय भी है। अभय में असीम शक्ति है। उस शक्ति का जागरण तभी सम्भव हो सकता है, जब उसका बोध हो, प्रशिक्षण हो और प्रयोग हो। आज हम यह देखते हैं कि विश्व का प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुरक्षा के साधनों के रूप में अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ में पड़ा हुआ है और अपने बजट का पचास प्रतिशत से अधिक भाग केवल सुरक्षा के नाम पर खर्च करता है। यदि अभय और मैत्री-भाव का विकास हो सके तो यह राशि मानव कल्याण में काम आ सकती है। इस विशाल राशि से गरीबी और भूख की पीड़ा को मिटाया जा सकता है, इसलिए

जैनदर्शन एवं भगवान् महावीर की यही शिक्षा है कि हम परस्पर अभय का विकास करें। सूत्रकृतांगसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है—दानों में यदि कोई श्रेष्ठ दान है, तो वह अभय प्रदान करना है।⁶⁰ हम दूसरों को अभय प्रदान करें और स्वयं अभय को प्राप्त हों। इस प्रकार, विश्वशान्ति की स्थापना के लिए अभय और निःशस्त्रीकरण अतिआवश्यक है,⁶¹ और यही वर्तमान परिवेश में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। अविश्वास शस्त्र—विस्तार को जन्म देता है, जबकि विश्वास अभय को जन्म देता है। अभय से निःशस्त्रीकरण संभव है और निःशस्त्रीकरण से ही विश्वशान्ति।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में हमने भयसंज्ञा के स्वरूप एवं लक्षणों की चर्चा के पश्चात् भयसंज्ञा के कारणों और दुष्परिणामों की चर्चा की। तदुपरान्त, भय के विभिन्न रूपों एवं प्रकारों की चर्चा करते हुए जैनदर्शन में सप्तविध भय की अवधारणा और उसका विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस प्रकार भयसंज्ञा के विविध पक्षों के विवेचन के पश्चात् प्रस्तुत अध्याय में, आधुनिक मनोविज्ञान में भय की क्या अवधारणा है—इसकी चर्चा की और पाया कि आधुनिक मनोविज्ञान में भय को एक मूलप्रवृत्ति के रूप में तथा संवेग के रूप में विवेचित किया गया है। तत्पश्चात्, आधुनिक मनोविज्ञान में भय की अवधारणा और उसकी जैनदर्शन से तुलना की गई है। इन सब चर्चाओं के पश्चात् हमने देखा कि प्रत्येक प्राणी में भयसंज्ञा पाई जाती है। फिर भी आध्यात्मिक—साधना और आध्यात्मिक—विकास की दृष्टि से हमें भय से अभय की ओर ही बढ़ना होगा, क्योंकि आज विश्व में जो अस्त्र—शस्त्रों की दौड़ है, राष्ट्रों का पारस्परिक—अविश्वास या पारस्परिक—भय ही उसका मूल कारण है। यदि विश्व से हिंसा को समाप्त करना है और निःशस्त्रीकरण की दिशा में आगे बढ़ना है, तो हमें अभय का विकास करना होगा। पारस्परिक विश्वास और सहयोग की धारणा से ही अभय का विकास हो सकता है और उससे ही विश्व—शान्ति की स्थापना हो सकती है। जो अभय होकर जीना जानता है, उसे कोई मार नहीं सकता। एकदा रवीन्द्रनाथ

⁶⁰ दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं — सूत्रकृतांगसूत्र, 1/6/23

⁶¹ अभओ पत्थिवा। तुब्भं अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिसाए पसज्जसि — 18/11

टैगोर बैठे-बैठे पत्र लिख रहे थे। कोई हत्यारा हाथ में छुरा लेकर उनके कक्ष में घुसा... पाँवों की आहट सुन उन्होंने आँखें उठाई ... देखा और पत्र लिखने में लीन हो गए। हत्यारा बोला -- "मैं तुम्हें मारने के लिए आया हूँ।" टैगोर के चेहरे पर किसी प्रकार का विकार नहीं उभरा। वे शान्त भाव से बोले -- "कुछ आवश्यक पत्र लिखने हैं। उन्हें लिख लूँ, उसके बाद तुम अपना काम कर लेना।" मृत्यु की साक्षात् उपस्थिति में भी कोई व्यक्ति इतना निर्विकार रह सकता है, उसने यह पहली बार देखा। उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। पर जो कुछ था, वह सत्य था। वह क्षमा मांगकर लौट गया। जिसको मृत्यु का भय नहीं, वही निश्चय में अभय है। निर्भयता एक महान दैवीक गुण है। जो मनुष्य को सिंह पुरुष बना देता है। भगवान् महावीर, बुद्ध, दयानन्द, लूथर, लिंकन और महात्मा गांधी निर्भयता के जीते-जागते उदाहरण थे।

इस प्रकार, प्राणियों में भय की सत्ता को स्वीकार करते हुए हमने यह बताने का प्रयास किया है कि साधक को अपनी साधना के माध्यम से अभय का विकास करना होगा। जैनदर्शन का कहना है कि यदि हम अभय चाहते हैं, तो हमें दूसरों को भय से मुक्त करना होगा। अभय की चाह स्वाभाविक है, किन्तु वह तभी फलित हो सकती है, जब हम दूसरों को निर्भय बनाएं और यही वर्तमान युग में विश्व-शान्ति का एकमात्र सूत्र हो सकता है।

-----000-----

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 4 मैथुन संज्ञा

1. कामवासना का स्वरूप और लक्षण
2. कामवासना के प्रकार
3. जैनदर्शन की वेद (कामवासना) और लिंग (शारीरिक संरचना) की अवधारणा
4. जैनदर्शन की मैथुन संज्ञा की फ्रायड के लिबिडो से तुलना एवं समीक्षा
5. कामवासना के दमन एवं निरसन के संबंध में जैन दृष्टिकोण
6. व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास और कामवासना
7. वासना-जय की प्रक्रिया और ब्रह्मचर्य की साधना

अध्याय—4

मैथुन—संज्ञा

मैथुन—संज्ञा में दो शब्द हैं — मैथुन + संज्ञा। मैथुन शब्द 'मिथ्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है — आपस में मिलना, जुड़ना आदि और संज्ञा शब्द का अर्थ है — अनुभूति, संवेदना, इच्छा, आकांक्षा, चाह, तृष्णा आसक्ति आदि।

मोहनीय—कर्म के उदय से इच्छापूर्वक स्त्री—प्राप्ति और उसके भोग की अभिलाषारूप क्रिया होती है और स्त्रीवेद के उदय से पुरुष—प्राप्ति और उससे भोग की अभिलाषारूप क्रिया होती है तथा नपुंसकवेद के उदय से स्त्री और पुरुष—दोनों के भोग की अभिलाषारूप क्रिया होती है, जो मैथुन—संज्ञा कहलाती है।¹ तत्त्वार्थभाष्य में मैथुन शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा —“स्त्री—पुरुष का युगल मिथुन कहलाता है। मिथुन के भाव को मैथुन कहते हैं।² उसी प्रकार स्त्री या पुरुष की कामेच्छा को मैथुन—संज्ञा कहते हैं और स्त्री—पुरुष के योग को मैथुन कहते हैं।”³

आचार्य पूज्यपाद⁴ ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है — मोह का उदय होने पर राग—परिणाम से स्त्री—पुरुष में जो परस्पर संस्पर्श की इच्छा होती है, यह मिथुन है और उसका कार्य मैथुन है, अर्थात् दोनों के पारस्परिक—भाव और कर्म मैथुन नहीं, अपितु राग—परिणाम के निमित्त से होने वाली चेष्टा एवं क्रिया मैथुन है। योगशास्त्र⁵ में आचार्य हेमचन्द्रजी ने मैथुन को एक रमणीय सुखद प्रतीत होने वाला परिणाम

¹ प्रज्ञापनासूत्र — 8/725

² तत्त्वार्थभाष्य —9/6

³ मिथुनस्य स्त्रीपुंसलक्षणस्य भावः कर्म वा मैथुनम् — अभिधानराजेन्द्रकोष — 5/425

⁴ स्त्रीपुंसयोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शनं प्रति इच्छा मिथुनम्। मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते। — सर्वार्थसिद्धि — 7/16

⁵ योगशास्त्र — 2/77

कहा है, पर यह परिणाम अत्यन्त घातक है, क्योंकि उससे अत्यधिक सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। आचार्य वात्स्यायन⁶ भी इस सत्य तथ्य को स्वीकार करते हैं।

जैनागमों में इसके चार कारण बताए हैं — शरीर में अधिक मांस, रक्त, वीर्य का संचय होने से, मोहनीय—कर्म के उदय से, मैथुन की बात सुनने से तथा मैथुन में चित्त लगाने से मैथुन—संज्ञा होती है।⁷ आचारांगनिर्युक्ति की टीका में चारित्र—मोहनीय कर्म के उदय के कारण कामवासनाजन्य आवेग को मैथुन—संज्ञा कहा गया है।⁸ तत्त्वार्थसार में अन्तरंग में वेद—नोकषाय की उदीरणा होने से तथा बहिरंग में कामोत्तेजक गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करने से, मैथुन—सम्बन्धी क्रियाओं में उपयोग (चित्तवृत्ति) जाने तथा कामुक मनुष्यों की संगति करने से जो मैथुन की इच्छा होती है, उसे मैथुन—संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा नवम गुणस्थानक के पूर्वार्द्ध तक होती है।⁹ धवलाग्रंथ¹⁰ में भी मैथुन—संज्ञा के संबंध में यही बात कही गई है।

हम यह कह सकते हैं कि मैथुन—संज्ञा विभाव—दशा में रमण करने की वृत्ति है। यौन—अंगों के घर्षण, युगलभाव या किसी अन्य का साथ चाहने और विपरीत लिंग से भोग करने की वृत्ति को मैथुन—संज्ञा कहते हैं।

यह संज्ञा प्रत्येक संसारी जीव में पाई जाती है। यह संज्ञा जीव को अपनी प्रजाति की वृद्धि में सहयोग प्रदान करती है। यह बात ठीक है कि मैथुन—संज्ञा के बिना संसार चल नहीं सकता और इसीलिए इसे पूरी तरह से नकारा भी नहीं जा सकता, परन्तु इस सम्बन्ध में भी विवेक अति—आवश्यक है। वस्तुतः, मैथुन—संज्ञा मनुष्य की जैव—वृत्ति या पाशविक—प्रवृत्ति की परिचायक है, यदि कामवासनाओं पर विवेक की लगाम न लगाई जाए तो संपूर्ण समाज—व्यवस्था खतरे में पड़ सकती है।

⁶ कामशास्त्र — आ. वात्स्यायन

⁷ स्थानांगसूत्र — 4/58

⁸ आचारांगनिर्युक्ति टीका, गा. 39

⁹ तत्त्वार्थसार — 2/36, पृ. 46

¹⁰ पणिदरसभोयणेण य, तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए
वेदस्सुदीरणाए, मेहुणसण्णा हवदि एवं ।। — धवला — 2, गा. 226

जैनदर्शन की दृष्टि से जिस तरह से आहार, भय, परिग्रह आदि संज्ञाएं सभी जीवों में पाई जाती हैं, वैसे मैथुन-संज्ञा भी है। कामवासना का सम्बन्ध चारित्रमोहनीय-कर्म से है, जिसका सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल से चला आ रहा है। अनादिकाल से सम्बन्ध होने के कारण भी यह वृत्ति अच्छी हो, सम्यक् हो, -यह बात नहीं है क्योंकि अनादिवृत्ति को खुली छोड़ने में समझदारी नहीं है, जैसे- भूख लग गई तो इसका अर्थ यह नहीं कि जो भी मन में आया, वही उदरस्थ कर लिया जाय। भूख की तरह काम-भोग भी सहज है, पर इस पर नियंत्रण नहीं होगा, तो पशु और मानव में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा। क्योंकि सच्चे साधक की दृष्टि से कामभोग रोग के समान है,¹¹ अतः काम पर धर्म का नियन्त्रण होना अतिआवश्यक है। भविष्य में कष्ट भोगना न पड़े, इसलिए अभी से अपने को विषय वासना से दूर रखकर अनुशासित हो जाओ।¹²

व्यावहारिक-जीवन में हम देखते हैं कि मैथुन-संज्ञा सभी जीवों में पाई जाती है। यहाँ तक कि एकेन्द्रिय वनस्पति-जगत में भी यह संज्ञा स्पष्ट दिखाई देती है, जैसे- कुरुबक, अशोक, तिलक आदि के पेड़ स्त्री का आलिंगन, पाद-प्रहार, कटाक्ष, निक्षेप आदि से फलते-फूलते हैं।¹³ गिलखी, तोरु आदि शाक की उत्पत्ति भी तितली और भंवरो के द्वारा नर एवं मादा पुष्पों के परागकुंजों के आदान-प्रदान से होती है।

चार गतियों में से स्त्री-जाति तीन ही गतियों में होती है- देव, मनुष्य और तिर्यच में। नरक-गति में स्त्री-जाति नहीं होती और दुःख-वेदना अधिक होने के कारण वहाँ मैथुन-संज्ञा की अल्पता होती है।

मैथुन तीन प्रकार के कहे गए हैं- (1) दिव्य, (2) मानुष्य (3) तिर्यक्योनिक।
तीन मैथुन को प्राप्त करते हैं--(1) देव (2) मनुष्य (3)तिर्यच

¹¹ अदुक्खु कामाइ रोगवं - सूत्रकृतांगसूत्र 1/2/3/2

¹² मा पच्छ असाधुता भवे
अच्चेही अणुसास अप्पगं - वही 1/2/3/7

¹³ प्रवचनसारोद्धार, संज्ञाद्वार 145, साध्वी हेमप्रभा श्रीजी, पृ. 80

और तीन ही मैथुन का सेवन भी करते हैं— (1) स्त्री (2) पुरुष (3) नपुंसक।¹⁴

देव या अप्सरा संबंधी मैथुन को दिव्य मैथुन कहते हैं। नारी अर्थात् मनुष्यिनी से संबंधित मैथुन को मानसिक-मैथुन कहते हैं और पशु-पक्षी आदि के मैथुन को तिर्यच-विषयक मैथुन कहते हैं। केवल रतिकर्म का ही नाम मैथुन नहीं है, बल्कि रागभाव-पूर्वक जीव की जितनी भी चेष्टाएं हैं, वे सभी मैथुन हैं।¹⁵ स्त्री के अंग, प्रत्यंग, संस्थान, मधुर बोली और कटाक्ष को देखने, उनकी ओर ध्यान देने आदि ये सभी काम-राग को बढ़ाने वाले हैं।¹⁶ इस सम्बन्ध में कहा गया है कि स्त्री के चित्रों, भित्तिचित्रों या आभूषण से सुसज्जित स्त्री को टकटकी लगाकर देखना, कामवर्द्धक प्रवृत्ति है। उन पर दृष्टि भी पड़ जाए तो उसे वैसे ही खींच लेते हैं, जैसे मध्याह्न के सूर्य पर पड़ी हुई दृष्टि स्वयं खींच जाती है।¹⁷

मैथुन-संज्ञा की उत्पत्ति के कारण :-

अनादिकाल से प्रत्येक संसारी-जीवों में चार संज्ञाएँ पायी जाती हैं— आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा और मैथुनसंज्ञा। तिर्यचगति में आहारसंज्ञा की प्रधानता है। नरकगति में भयसंज्ञा की प्रधानता है, देवगति में परिग्रहसंज्ञा की प्रधानता है¹⁸ और मनुष्य गति में मैथुन-संज्ञा की प्रधानता है। इस मैथुन-संज्ञा के कारण पुरुष को स्त्री के भोग की और स्त्री को पुरुष के भोग की इच्छा होती है। अनादिकाल से आत्मा में घर कर गई इन संज्ञाओं को तोड़ना अत्यन्त कठिन कार्य है। निमित्त प्राप्त होते ही ए संज्ञाएँ जाग्रत हो जाती हैं। जिस प्रकार अग्नि के संपर्क से मोम पिघलने लगता है, उसी प्रकार स्त्री के निमित्त को पाते ही पुरुष के भीतर

¹⁴ तिविहे मेहुणे पण्णते, तं जहा - दिव्हे, माणुस्सए तिरिक्खजोगिए।

तओ मेहुणं गच्छंति, तं जहा - देवा, मणुस्सा, तिरिक्खजोगिया

तओ मेहुणं संवति, तं जहा - इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा। - स्थानांगसूत्र -3/10-12

¹⁵ दशवैकालिकसूत्र - 4/4

¹⁶ वही - 8/57

¹⁷ वही - 8/54

¹⁸ प्रज्ञापनासूत्र - 8/734

काम--वासनाएँ जाग्रत हो जाती हैं। दोनों में संभोग के लिए जो भाव--विशेष होता है, अथवा दोनों मिलकर जो संभोग--क्रिया करते हैं, उसी को मैथुन कहते हैं। मैथुन ही अब्रह्म है।¹⁹ यहां अब्रह्म का अर्थ है -- पर में परिचारणा, अतएव उस अभिप्राय से जो भी क्रिया की जायगी, फिर चाहे वह परस्पर पुरुष या दो स्त्री मिलकर ही क्यों न करें अथवा अनंगक्रीड़ा आदि ही क्यों न हो, वह सब अब्रह्म या मैथुन ही है।

स्थानांगसूत्र में मैथुन--संज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण बताए गए हैं--²⁰

- (1) नामकर्मजन्य दैहिक--संरचना के कारण।
- (2) चारित्र--मोहनीय कर्म के उदय से।
- (3) काम--भोग सम्बन्धी चर्चा करने से।
- (4) वासनात्मक--चिन्तन करने से।

नामकर्मजन्य दैहिक--संरचना के कारण --

जिस कर्म के उदय से जीव विभिन्न प्रकार के शरीर, रूप, रस, गंध, वर्ण, स्पर्श, संघयण, संस्थान, आकृति, प्रकृति आदि प्राप्त करता है उसे नामकर्म²¹ कहते हैं। नामकर्म के उदय के कारण ही दैहिक--संरचना को निर्माण होता है। इसी कर्म के कारण स्त्री और पुरुष की दैहिक--संरचना में भिन्नता होती है। स्त्री का स्वरूप सुन्दर, सुडौल और प्रकृति से ही कोमल और सौम्य होता है, इसलिए स्त्री को सुन्दरता की प्रतिमूर्ति कहा जाता है। स्त्री के रूप में आसक्त कवि को स्त्री के मुख में चन्द्रमा की सौम्यता के दर्शन होते हैं और वह उसे 'चन्द्रमुखी' की उपमा देता है। स्त्री के राग के कारण ही स्त्री की गति में हाथी (गज) जैसी मस्ती होती है, इसलिए उसे गजगामिनी कहा जाता है। उसके नेत्रों को कमल की पंखुड़ी के समान मानकर

¹⁹ मैथुनम् ब्रह्म -- तत्त्वार्थसूत्र 7/11

²⁰ उरुहिं ठाणेहिं मेहुणसण्णा समुप्पज्ज, तं जहा --

1) चितमंससोणिययाए 2) मोहणिज्जस्स
3) कम्मस्स उदएणं, मतीए, 4) तदड्ढोवओगेणं -- 4/4, सूत्र 58

²¹ उत्तराध्ययनसूत्र -- 33/13

उसे कमलनयनी कहते हैं,²² परन्तु पुरुष की दैहिक-संरचना स्त्री की अपेक्षा कुछ कठोर एवं भिन्न होती है। इसी विपरीत दैहिक-संरचना के कारण पुरुष का आकर्षण स्त्री में और स्त्री का आकर्षण पुरुष में होता है, अतः विपरीत लिंग को प्राप्त करने की, परस्पर बात करने की और स्पर्श करने की इच्छा होती है, उससे ही मैथुन-संज्ञा की उत्पत्ति होती है। स्त्री और पुरुष दोनों के परस्पर मिथुन-भाव अथवा मिथुन-कर्म की इच्छा को ही मैथुन-संज्ञा कहा जाता है।

चारित्रमोहनीय-कर्म के उदय से -

चारित्रमोहनीय-कर्म की एक प्रवृत्ति वेद, अर्थात् संभोग की इच्छा है, उसी के विपाकोदय से स्त्री-पुरुष में जो स्पर्श आदि की इच्छा होती है, उस इच्छा के अनुरूप जो वचन प्रवृत्ति तथा कर्म (मैथुनकर्म) होता है, वह मैथुन है।²³ The lustful desire as well as action male and female to copulate is incontinence.²⁴ स्त्री-पुरुष का वासनायुक्त संभोग का भाव एवं कार्य चारित्रमोहनीय-कर्म के उदय से ही होता है, क्योंकि स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद मोहनीय-कर्म की प्रकृतियाँ हैं।²⁵ काम-भोग की अभिलाषा को वेद कहते हैं। वेद, अर्थात् वासना। पुरुषवेद के उदय से स्त्री-संभोग की इच्छा होती है, स्त्रीवेद के उदय से पुरुष-संभोग की इच्छा होती है, नपुंसकवेद के उदय से स्त्रीसंभोग और पुरुषसंभोग -दोनों की इच्छा पैदा होती है।²⁶ जैन-शास्त्रों के अनुसार, वेदों के उद्दीपन के कारण ही मैथुन-संज्ञा उत्पन्न होती है। जैन-कथासाहित्य के अनुसार चारित्रमोहनीय-कर्म का जब तीव्र उदय हुआ, तो मासक्षमण के पश्चात् पुनः मासक्षमण जैसी उग्र तपश्चर्या करने वाले संभूति मुनि केवल स्त्री की केशराशि के स्पर्शमात्र से कामातुर हो गए और

²² ब्रह्मचर्य, श्री रत्नसेन विजयजी, पृ. 56

²³ तत्त्वार्थसूत्र, उपाध्याय श्री केवल मुनि, पृ. 314

²⁴ तत्त्वार्थसूत्र, छगनलाल जैन, पृ. 190

²⁵ सोलम इमे कसाया एसो नवनोकसायसंदोहो
इत्थी पुरिस नपुंसकरुवं वेयत्तयं तंमि। - प्रवचनसारोद्धार, गाथा 1257

²⁶ वेदोदय कामपरिणामा काम्यकर्म सहु त्यागी,
निःकामा करुणारससागर, अनंत चतुष्क पद पागी -श्री मल्लीनाथ स्तवना, योगिराज आनंदघन जी

स्त्री-सुख को पाने के लिए अपनी संयम की उत्कृष्ट साधना का भी सर्वनाश करने के लिए तैयार हो गए। प्रश्नव्याकरणसूत्र²⁷ में कहा गया है कि धर्म और संयमादि गुणों में निरत ब्रह्मचारी पुरुष भी मैथुनसंज्ञा के वशीभूत होकर क्षणभर में चारित्र-संयम से भ्रष्ट हो जाता है।

काम-सम्बन्धी चर्चा करने से -

मैथुन-संज्ञा की उत्पत्ति का तीसरा प्रमुख कारण काम-सम्बन्धी चर्चा करना है। काम का एक अर्थ कामना अर्थात् इच्छा (Desire) है और उसका दूसरा अर्थ है - यौन-सम्बन्ध (Sex), काम-ऊर्जा मनुष्य के पास ऐसी शक्ति है, जो दूसरे के प्रति गतिमान हो, तो यौन-सम्बन्ध (Sex) बन जाती है। ऊर्जा एक है, मात्रा तथा दृष्टिभेद से सारा जीवन भिन्न हो जाता है। जिस प्रकार किसी के कटु शब्द जीवनभर याद रहते हैं, उसी प्रकार किसी सुन्दर स्त्री का रूप-सौन्दर्य, अथवा उसके मधुर शब्दों के बारे में जब हम चर्चा करते हैं, तो उस स्त्री के प्रति कामवासना जाग्रत हो जाती है। व्यक्ति उस रूप को देखने और शब्द को सुनने के लिए कामातुर हो जाता है और पुनः-पुनः उस रूप का पिपासु बना रहता है एवं वासना को पुष्ट करता रहता है।

आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जो काम-गुण है, इन्द्रियादि के शब्दादि विषय है, वे ही आवर्त्त या संसारचक्र हैं।²⁸ ये विषयातुर मनुष्य ही दूसरे को उसी प्रकार परिताप देते हैं। जिस प्रकार अमरकंका नगरी का राजा पद्मराज नारदजी के मुख से द्रौपदी के सौन्दर्य की चर्चा सुनकर कामातुर बन गया और देव की सहायता से द्रौपदी का अपहरण कर उसे अपने महल में लेकर आ गया।²⁹ आधुनिक युग में भी कॉलेजों का सहशिक्षण, स्वतंत्र जीवन, टी.वी. वीडियो और ब्लू फिल्मों के देखने

²⁷ प्रश्नव्याकरणसूत्र - 4/90

²⁸ 1) जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे - आचारांगसूत्र 1/1/5
2) आतुरा परितावेति, - वही, 1-1-6

²⁹ अ) स्थानांगसूत्र - 10/160
ब) प्रवचन-सारोद्धार - आश्चर्यद्वार 138

एवं उसकी चर्चा करने के कारण मैथुन—संज्ञा भड़क उठती है। जहर तो खाने पर ही मारता है, जहर को देखने से किसी की मौत नहीं हो जाती है, किन्तु स्त्री—दर्शन और स्मरण भी आत्मपतन में निमित्त बन जाते हैं।

वासनात्मक—चिन्तन करने से —

मैथुन—संज्ञा की उत्पत्ति वासनात्मक—चिन्तन के कारण भी होती है, इसीलिए ब्रह्मचर्य की नौ वाङ् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पूर्वकृत कामक्रीड़ा का स्मरण करने से भी कामभोग के संस्कार पुनः जाग्रत हो जाते हैं। गृहस्थ—जीवन की पूर्वावस्था में यदि स्त्री—संसर्ग आदि किया हो, तो उसे पुनः याद नहीं करना चाहिए, क्योंकि वासनात्मक—चिन्तन करने से भी वासना जाग्रत हो जाती है। उत्तराध्ययनसूत्र³⁰ में स्पष्ट कहा गया है —“दीक्षा ग्रहण के बाद पूर्व जीवन में स्त्रियों के साथ अनुभूत हास्य, क्रीड़ा आदि का कदापि चिन्तन न करें।”

उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त मैथुन—संज्ञा की उत्पत्ति के अन्य कारण भी हो सकते हैं :—

1. स्त्रियों की कामजनक कथा करने से एवं स्त्रियों के मनोहर और मनोरम अंगों का कामरागपूर्वक अवलोकन करने से।
2. अतिमात्रा में आहार—पानी का सेवन करने से या सरस स्निग्ध भोजन का उपयोग करने से।
3. स्त्री, पशु, नपुंसक से युक्त शय्या या आसनादि का सेवन करने से।
4. अतिमात्रा में मादक पदार्थ जैसे शराब आदि का सेवन करने से।
5. श्रृंगार, विलेपन, सुगंधित इत्र, सुन्दर वस्त्राभूषण का धारण करना, कामवासना को उत्तेजित करने तथा मैथुन—संज्ञा की उत्पत्ति के कारण होते हैं।

³⁰ हासं किइडं रइं एवं दप्यं सहभुत्तासियाणि य
बम्भचेररओ थीणं नाणुचिन्ते कयाइ वि। — उत्तराध्ययनसूत्र 16/6

6. काम-विकार उत्पन्न करने वाले अश्लील-साहित्य और वस्त्रों को ग्रहण करने से।
7. आधुनिक युग के अश्लील एवं कामुक अंगों के प्रदर्शन करने वाले कपड़े पहनना भी कामवासना को उत्पन्न करते हैं।

इस प्रकार मैथुन-संज्ञा की उत्पत्ति के उपर्युक्त कारण भी हो सकते हैं।

मैथुन के प्रकार —

भारतीय महर्षियों ने मैथुन के आठ प्रकार बताए हैं³¹ — 1. स्मरण, 2. कीर्तन, 3. केलि, 4. प्रेक्षण, 5. गुह्यभाषण, 6. संकल्प, 7. अध्यवसाय और 8. सम्भोग। इन आठों प्रकार के मैथुनों का ब्रह्मचर्य-महाव्रत में परित्याग करना होता है। जब तक मन में कुत्सित विचारों का भयंकर विष व्याप्त रहेगा, तब तक वह ब्रह्मचर्य की निर्मल साधना नहीं कर सकता।

स्मरण —

कामक्रीड़ा सम्बन्धी घटनाओं को याद करना, स्त्री-संबन्धी बातों का स्मरण करना। काम-संबन्धी बातों का स्मरण करने से मैथुन के संस्कार उत्तेजित होते हैं और व्यक्ति अनुचित कार्य करने के लिए तैयार हो जाता है, अतः संयम की सुरक्षा के लिए काम संबंधी स्मृतियों से बचने का प्रयास करना चाहिए। अशुभ कर्म के उदय से अथवा अशुभ निमित्त के बल से यदि इस प्रकार के कामुक विचार आ जाएं तो तुरंत ही सावधान हो जाना चाहिए। अशुभ विचारों से बचने के लिए मन को सदैव शुभ प्रवृत्ति में जोड़े रखना चाहिए।

³¹ स्मरण कीर्तन केलि: प्रेक्षणं गुह्यभाषणं,
संकल्पोऽध्यवायश्च क्रिया निर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुमष्टां प्रवदन्ति विवक्षणाः
विपरीत-ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्ट लक्षणम् — पातंजलयोग दर्शनम्

कीर्तन –

काम-क्रीड़ा सम्बन्धी वार्त्तालाप करना। किसी के साथ बैठकर उसके सम्बन्ध में चर्चा करना इत्यादि। इस प्रकार की बातचीत करने से स्वयं की वाचिक पवित्रता समाप्त हो जाती है।

अपने जीवन में हमेशा ऐसे ही मित्रों के साथ अपना संग होना चाहिए, जिनके साथ धार्मिक और आत्मविकास की बात होती है। काम-क्रीड़ा संबंधी चर्चा करने से भी काम-वृत्तियों को उत्तेजना मिलती है, इसलिए संयम की सुरक्षा के लिए विजातीय-तत्त्वों के साथ अनावश्यक वार्त्तालाप से सर्वथा दूर रहना चाहिए।

केलि –

केलि, अर्थात् हंसी-मजाक, किसी स्त्री आदि के साथ हास्य-विनोद करना, हंसी-मजाक की बातें करना। इस प्रकार, हंसी-मजाक करने से एक-दूसरे के प्रति आकर्षण बढ़ता है और जीव आनन्द की अनुभूति करता है, अतः संयमी आत्मा को इस प्रकार की हंसी-मजाक नहीं करना चाहिए। संयमी व्यक्ति को मित-परिमित ही बोलना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक शब्द प्रभावशाली होता है। जो व्यक्ति इधर-उधर की गपशप लगाते रहते हैं, उनके शब्दों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

प्रेक्षण –

मैथुन-संज्ञा को उत्तेजित करने वाले दृश्य देखना। किसी स्त्री-पुरुष की कामक्रीड़ा आदि के दृश्यों को देखने से स्वयं के संयम का नाश होता है, क्योंकि इस प्रकार के दृश्य अचेतन मन में रही सुषुप्त वासनाओं को उत्तेजित किए बिना नहीं रहते हैं। सिनेमा, टीवी, कामुक पोस्टर और पर्दे पर दिखाई देने वाले कामुक दृश्यों को बार-बार देखने से नैतिक-चरित्र का पतन हुए बिना नहीं रहता है, अतः संयमी आत्मा को इस प्रकार के कामुक दृश्यों के दर्शन से सदा दूर रहना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के दृश्य दृष्टा के दिल में उत्सुकता पैदा करते हैं और फिर धीरे-धीरे व्यक्ति उस प्रकार की दुष्प्रवृत्ति करने के लिए तैयार हो जाता है।

गुह्यभाषण —

एकान्त में मैथुन—क्रीड़ा सम्बन्धी गुप्त बात करना, एकान्त में मिलने के लिए स्त्रियों को संकेत करना आदि।

संकल्प —

किसी स्त्री के साथ शारीरिक—संबंध बनाने का निश्चय करना संकल्प कहलाता है।

अध्यवसाय —

संकल्प के अनुसार चेष्टा करने को अध्यवसाय कहते हैं।

क्रिया—निष्पत्ति —

स्त्री के साथ शारीरिक—संबंध को क्रिया—निष्पत्ति कहते हैं।

ये मैथुन के प्रकार कहे गए हैं। जो साधक ब्रह्मचर्य एवं संयम के महत्त्व को समझते हैं, उनका जीवन उन्नति के शिखर पर पहुंच जाता है। ब्रह्मचर्य का अपूर्व तेज उनके जीवन के कण—कण में व्याप्त हो जाता है। ब्रह्मचारी साधक को आठ प्रकार के मैथुन का त्याग करना ही चाहिए, साथ ही मैथुन प्रवृत्ति का भी त्याग करना चाहिए। मैथुन के उपसेवन को 'परिचारणा'³² कहते हैं। शास्त्र में पाँच प्रकार की परिचारणा का वर्णन मिलता है।

काय—परिचारणा।

स्पर्श—परिचारणा।

रूप—परिचारणा।

शब्द—परिचारणा।

मनः—परिचारणा।

³² क) स्थानांगसूत्र — 5/402

ख) प्रज्ञापनासूत्र — 4/34, 2051, 2052

देवों में पांचों प्रकार की परिचारणा मिलती है। भवनपति से लेकर ईशानकल्प के देव काय-परिचारक होते हैं। सनत्कुमार और महेन्द्रकल्प के देव स्पर्शपरिचारक, ब्रह्मलोक एवं वान्तक के देव रूप-परिचारक होते हैं। महाशुक्र एवं सहसारकल्प के देव शब्द-परिचारक तथा आनत, प्राणत, आरण व अच्युतकल्पों के देव मन-परिचारक होते हैं। नौ ग्रैवेयक एवं पांच अनुत्तर-विमान के देव मैथुन-प्रवृत्ति से रहित होते हैं। वस्तुतः नैरयिक मैथुन-क्रिया को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि वे नपुंसक होते हैं। नपुंसक जीव भी अब्रह्म (भाव-मैथुन) का सेवन करते हैं, किन्तु मैथुन-क्रिया से रहित होते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाती³³ कहते हैं कि बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देव शान्त और काम-लालसा से परे होते हैं। उन्हें देवियों के स्पर्श, रूप, शब्द या चिन्तन द्वारा काम-सुख भोगने की अपेक्षा नहीं रहती, फिर भी वे नीचे के देवों से अधिक सन्तुष्ट और अधिक सुखी होते हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि ज्यों-ज्यों काम-वासना प्रबल होती है, त्यों-त्यों चित्त-संक्लेश अधिक बढ़ता है और निवारण के लिए विषयभोग भी अधिकाधिक आवश्यक होता है। ज्यों-ज्यों नीचे से ऊपर देवलोक की ओर जाते हैं, नसका चित्त-संक्लेश भी कम होता जाता है। उनके कामभोग के साधन भी अल्प होते हैं और बारहवें देवलोक के ऊपर के देवों की कामवासना शान्त होती है, अतः उन्हें काय, स्पर्श, रूप, शब्द, चिन्तन आदि किसी भी प्रकार के भोग की कामना नहीं होती है। वे संतोषजन्य परमसुख में निमग्न रहते हैं। यही कारण है कि नीचे-नीचे की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देवों का सुख अधिकाधिक माना गया है।

मैथुन-संज्ञा के स्वरूप को जानने के पश्चात् आगे हम कामवासना के स्वरूप, उसके लक्षण एवं प्रकारों की चर्चा आगे करेंगे।

³³ 1) कायप्रवीचारा आ ऐशानात् -4/8

2) शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचारादृयोर्दयोः - वही, 4/9

3) परेऽप्रवीचाराः -- वही, /10

कामवासना का स्वरूप एवं लक्षण —

काम शब्द [कम् + घञ्] धातु से बना है, जिसका अर्थ है — कामना, इच्छा (Desire), स्नेह, अनुराग और दूसरा अर्थ है— प्रेम, विषय-भोग की इच्छा या यौन सम्बन्ध (Sex) स्थापित करना आदि। उसी प्रकार, वासना शब्द [वास् + णिच् + युच् + टाप] धातु से बना है जिसका अर्थ हैं — स्मृति से प्राप्त ज्ञान, रुचि, कल्पना, मिथ्या-विचार, अज्ञान, अभिलाषा। इस प्रकार, कामवासना का शाब्दिक अर्थ— कामनापूर्वक या अभिलाषापूर्वक यौन-अंगों के स्पर्श या संघर्षण की इच्छा है। काम-भोग सम्बन्ध को 'काम' कहते हैं।³⁴ विषयासक्त मनुष्यों द्वारा काम्य, अर्थात् इष्ट शब्द, रूप, गन्ध, रस तथा स्पर्श को काम कहते हैं।³⁵ भारतीय ऋषि-मुनियों ने मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थ बताए हैं। 'पुरुषार्थ चतुष्टय' की अवधारणा हिन्दू-धर्मदर्शन की आधारशिला है। इस अवधारणा का उल्लेख हमें जैनदर्शन में मोक्ष-चर्चा के प्रसंग में मिलता है। हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में पुरुषार्थ-चतुष्टय का उल्लेख किया है। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ 'ज्ञानार्णव' में भी कहा गया है कि प्राचीनकाल से ही महर्षियों ने 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष — ये पुरुषार्थ के चार भेद माने हैं,³⁶ किन्तु इस स्वीकृति के बावजूद पहले तीन पुरुषार्थ नाशसहित और संसार के रोगों से दूषित बताए गए हैं अतः ज्ञानी पुरुषों को केवल मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करने को कहा गया है।³⁷ इसी प्रकार, परमात्मप्रकाश में भी धर्म, अर्थ और काम — इन सभी पुरुषार्थों से मोक्ष को ही 'उत्तम' माना गया है, क्योंकि अन्य किसी में परम सुख नहीं है।³⁸ वस्तुतः, जैनदर्शन केवल मोक्ष को ही पुरुषार्थ रूप में स्वीकार करता है, परन्तु

³⁴ काम्यन्तेऽमिलष्यन्त एव न तु विशिष्टशरीर संस्पर्शद्वारेणोपयुज्यन्ते ये ते कामाः। मनोज्ञेषु शब्देषु संस्थानेषु च। भ.

³⁵ 1) ते इह्वा सद्वरसरुवगन्धफासा कामिज्जमाणा विसयपसत्तेहिं कामा भवन्ति। — जि.चू. पृ. 75
2) शब्दरसरुपगन्धस्पर्शाः मोहोदयाभिभूतैः सत्त्वैः काम्यन्त इति कामाः। — हा.टी. पृ. 85

³⁶ धर्मश्चार्थश्चकामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभिः पुरुषार्थोऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेदः पुरातनैः।। — ज्ञानार्णव, 3/4 शुभचन्द्र, परमश्रुत प्रभावक मण्डल (आगास, 1978)

³⁷ ज्ञानार्णव — 3/3, वही. 4.5

³⁸ परमात्मप्रकाश, योगिन्दुदेव, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास, वि.सं. 2029, 2.3

न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और वैवाहिक-मर्यादानुकूल काम का भी जैन-विचारणा में समुचित स्थान स्वीकृत है।³⁹

चार पुरुषार्थों में सांसारिक-दृष्टि से काम-पुरुषार्थ का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। काम वर्तमान समाज-व्यवस्था के लिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। इसकी उपयोगिता है, इसमें भी कोई संदेह नहीं है, क्योंकि संसार में जो भी सृजन-कार्य हो रहा है, वह 'काम' की ऊर्जा से ही हो रहा है। "काम ऊर्जा (Sex Energy) मनुष्य की एक ऐसी ऊर्जा है, जो किसी दूसरे के प्रति गतिमान हो, तो यौन बन जाती है और यही स्वयं के प्रति गतिमान हो, तो योग बन जाती है।"⁴⁰

काम का स्वरूप -

जैनदर्शन में भी मनुष्य-जीवन में काम के महत्त्व को कभी भी पूर्णतः अनदेखा नहीं किया गया है। आगमिक-साहित्य स्पष्टतः कहता है - "यह पुरुष निश्चित रूप से कामकामी है।"⁴¹ मनुष्य की कामनाएं विशाल हैं, अनन्त हैं, इतना ही नहीं, वे दुराग्रही और हठी भी हैं। - "गुरु से कामा"⁴² उनका अतिक्रमण करना सहज नहीं है, इसीलिए कामना को भारी (गुरु) कहा गया है। कामना के बिना कोई क्रिया प्रारम्भ नहीं होती है, परन्तु किसी भी कामना की पूर्ण सन्तुष्टि हो नहीं पाती, क्योंकि यह पुरुष अनेक चित्त (अनेक कामनाओं) वाला है। एक कामना सन्तुष्ट हो नहीं पाती कि मन में दूसरी कामना का जन्म हो जाता है और व्यक्ति दूसरे विषयों की ओर आकृष्ट हो जाता है। कोई अगर यह सोचता है कि शयन से नींद पर, भोजन से भूख पर अथवा लाभ से कामनाओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है, तो निश्चित

³⁹ मूल्य और मूल्यबोध की सापेक्षता का सिद्धान्त- डॉ. सागरमल जैन, श्रमण, जनवरी 1992, पृ.10-11

⁴⁰ महावीरवाणी, ओशो-1, पृ. 405

⁴¹ 'कामकामी खलु पुरिसे' - आचारांगसूत्र 1/123

⁴² वही- 5/2, पृ. 176

ही वह भ्रम में है।⁴³ मनुष्य मानों चलनी से पानी भरना चाहता है जो कभी भर ही नहीं सकता।⁴⁴ जिसकी कामनाएं तीव्र होती हैं, वह मृत्यु से ग्रस्त होता है और जो मृत्यु से ग्रस्त होता है, वह शाश्वत् सुख से दूर रहता है, परन्तु जो निष्काम होता है, वह न तो मृत्यु से ग्रस्त होता है और न शाश्वत् सुख से दूर होता है।⁴⁵

काम के दो प्रकार हैं - द्रव्य-काम और भाव-काम।⁴⁶ विषयासक्त मनुष्यों द्वारा काम्य (इच्छित) इष्ट शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को काम कहते हैं। जो मोह के उदय के हेतु-भूत द्रव्य है, जिसके सेवन द्वारा शब्दादि विषयों का सेवन होता है, वह द्रव्य-काम है।⁴⁷ तात्पर्य यह है कि मनोरम रूप, स्त्रियों के हास-विलास या हावभाव एवं कटाक्ष आदि, अंग-लावण्य, उत्तम शय्या, आभूषण आदि कामोत्तेजक द्रव्य द्रव्यकाम कहलाते हैं।⁴⁸ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त व्यक्ति आत्मा के वास्तविक रूप को नहीं जान सकता, क्योंकि ये सभी विषय इन्द्रियों से सम्बन्धित हैं। इन्द्रियां शरीर का ही अंग हैं, आत्मा तो अतीन्द्रिय है। शुद्ध आत्मा में तो वर्ण, रस आदि तथा स्त्री पुरुष आदि पर्याय और संस्थान संहनन होते नहीं हैं।⁴⁹ विषय-भोग द्वारा प्राप्त शारीरिक-सुख, जिसे हम वस्तुतः सुख समझते हैं, सुख होता ही नहीं। इसकी तुलना खुजली के रोगी से की जा सकती है। खुजली का रोगी

⁴³ न शयानो जेयन्दिनां, न भुञ्जानो जयेत् क्षुधाम्

न कामज्ञानः कामानां, लभनेह प्रशाम्यति।। - आचारांगसूत्र टिप्पणी-15, पृ. 147

⁴⁴ अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरइत्तए। - आचारांगसूत्र -3/42

⁴⁵ गुरु से कामा, तओ से मारस्स अंतो,
जओ से मारस्स अंतो, तओ से दूरे।
नेव से अंतो नेव दूरे। - वही- 1/5/1.

⁴⁶ नामं ठवणा काया दव्वकामा य भावकाम य। - निर्युक्ति, गा. 161

⁴⁷ सहरसरुवगंधफासा उदयंकरा य जे दव्वा। - निर्युक्ति, गा. 162

⁴⁸ जाणिय मोहोदयकारणाणि वियऽमासादीणि दव्वाणि तेहिं अब्बवहरिएहिं सदाहिणो विसया उद्विजति एते दव्वकामा - जिन. चूर्णि, पृ. 75

⁴⁹ श्रमणसूत्र - 183

जैसे खुजालने पर हुए दुःख को भी सुख मानता है, वैसे ही मोहातुर मनुष्य कामजन्य दुःख को सुख मानता है।⁵⁰

भाव-काम -

भाव-काम दो प्रकार के हैं - इच्छा-काम और मदन-काम।⁵¹ चित्त की अभिलाषा, आकांक्षा रूप काम को इच्छाकाम कहते हैं।⁵² इच्छा भी दो प्रकार की होती है - प्रशस्त और अप्रशस्त।⁵³ धर्म और मोक्ष से सम्बन्धित इच्छा प्रशस्त है, जबकि युद्ध, कलह, राज्य की कामना या दूसरे के विनाश की कामना आदि इच्छाएं अप्रशस्त हैं।⁵⁴ वेदोपयोग को मदनकाम कहते हैं,⁵⁵ जैसे -स्त्री के द्वारा स्त्री-वेदोदय के कारण पुरुष के भोग की अभिलाषा करना, पुरुष द्वारा पुरुष-वेदोदय के कारण स्त्री के भोग की अभिलाषा करना तथा नपुंसकवेद के उदय के कारण नपुंसक द्वारा स्त्री और पुरुष दोनों के भोग की अभिलाषा करना तथा विषयभोग में प्रवृत्ति करना मदनकाम है।⁵⁶ निर्युक्तिकार कहते हैं -“विषयसुख में आसक्त एवं कामराग में प्रतिबद्ध जीव को धर्म से गिराते हैं। पण्डित लोग काम को एक प्रकार का रोग कहते हैं। जो जीव कामों की प्रार्थना (अभिलाषा) करते हैं, वे अवश्य ही रोगों की प्रार्थना करते हैं।”⁵⁷

⁵⁰ श्रमणसूत्र - 49

⁵¹ दुविहा य भावकामा - इच्छाकामा मयणकामा। - निर्युक्ति गाथा. 162

⁵² तत्रेषणमिच्छा सैव चित्ताभिलाषरूपकामा इतीच्छाकामा - वही, गा. 162 हा.टी. पृ. 85

⁵³ इच्छां पसत्थमपसत्थिगा य -----। नि.गा. 163

⁵⁴ तत्थ पसत्था इच्छा जहा धम्मं कामयति मोक्खं कामयति, अपसत्था इच्छा रज्जं वा कामयति जुद्धं वा कामयति एवमादि इच्छाकामा। - जि.चू., पृ. 76

⁵⁵ मयणमि वेयउवओगी। - नि. गा. 163

⁵⁶ जहा इत्थी इत्थिवेदेण पुरिस पत्थेइ, पुरिसोवि इत्थी, एवमादी - जि.चू., पृ. 76

⁵⁷ निर्युक्ति, गाथा- 164-165

काम का मूल और उसके परिणाम —

शास्त्रकारों ने काम का मूल संकल्प को कहा है। संकल्प का अर्थ काम—अध्यवसाय है।⁵⁸ दशवैकालिक में कहा है — जो व्यक्ति कामभोगों का निवारण नहीं कर पाता, वह संकल्प के वशीभूत होकर पद—पद पर विषाद पाता हुआ श्रामण्य जीवन का कैसे पालन कर सकता है।⁵⁹ काम के अर्थ को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि संकल्प—विकल्पों से काम पैदा होता है। अगस्त्यसिंहचूर्णि⁶⁰ में संकल्प और काम का संबंध बताते हुए कहा गया है —

काम! जानामि ते रूपं, संकल्पात् किल जायसे,
न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि।

अर्थात् — हे काम! मैं तुझे जानता हूँ। तू संकल्प से पैदा होता है। मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा, तो तू मेरे मन में उत्पन्न नहीं हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि जब व्यक्ति काम का संकल्प करता है, अर्थात् मन में नाना प्रकार के कामभोगों की कामना करता है, तो वह कामोत्तेजक मोहक पदार्थों की वासना, तृष्णा या इच्छाओं को जाग्रत कर लेता है, तब उन काम्य पदार्थों को पाने का अध्यवसाय करता है, और उन्हीं के चिन्तन में रत रहता है, तब यह कहा जाता है कि वह काम—संकल्पों के वशीभूत (अधीन) हो गया है। उसका परिणाम यह आता है कि जब काम—संकल्प पूरे नहीं होते, या संकल्पपूर्ति में कोई रुकावट आती है या कोई उसका विरोध करने लगता है, अथवा इन्द्रिय—क्षीणता आदि विवशताओं के कारण काम का काम्यपदार्थों का उपभोग नहीं कर पाता, तब वह क्रोध करता है, मन में संक्लेश करता है, झुंझलाता है, शोक और खेद करता है, विलाप करता है, दूसरों को मारने—पीटने या नष्ट करने का प्रयास करता है। इस प्रकार की आर्त्त—रौद्रध्यान की स्थिति में वह

⁵⁸ संकप्पोति वा छंदोति वा कामज्जवसायो — जिनदासचूर्णि पृ. 78

⁵⁹ दशवैकालिकसूत्र — 2/1

⁶⁰ दशवैकालिक, अगस्त्यसिंहचूर्णि, पृ. 41

पद-पद पर विषादग्रस्त हो जाता है। पद-पद पर विषादग्रस्त होना ही संकल्प-विकल्पों का पारेणाम है।⁶¹

भगवद्गीता में भी काम के संकल्प से अधःपतन एवं सर्वनाश का क्रम दिया है। कहा है —“जो व्यक्ति मन से विषयों का स्मरण-चिन्तन करता है, उसकी आसक्ति उन विषयों में हो जाती है। आसक्ति से उन विषयों को पाने की कामना (काम) पैदा होती है। काम्य-पूर्ति में विघ्न पड़ने से क्रोध होता है। क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढ़भाव पैदा होता है। सम्मोह (मूढ़भाव) से स्मृति भ्रान्त हो जाती है। स्मृति के भ्रमित या भ्रष्ट हो जाने से बुद्धि (ज्ञान-विवेक की शक्ति) नष्ट हो जाती है और बुद्धिनाश से मनुष्य का सर्वनाश यानि श्रेयः साधन से सर्वथा अधःपतन हो जाता है।⁶²

जो मनुष्य शरीर में आसक्त हैं, वे विषयों की ओर खिंचे चले जाते हैं, इस प्रकार बार-बार दुःख उठाते हैं। काम-भोगों के ए कटु परिणाम हैं। इन्हें जान लेना चाहिए।⁶³ इन्द्रिय-विषय या कामवासनाएं व्यक्ति को चारों ओर से घेर लेती हैं। जैसे आवर्त (भंवर) में फंसा व्यक्ति निकल नहीं सकता, वैसे ही विषयों में घिरा हुआ व्यक्ति स्वयं को असहाय पाता है, इसीलिए कहा गया है कि जो विषय है, वह आवर्त (संसार) है और जो आवर्त (संसार) है, वे ही विषय हैं।⁶⁴ यहां विषय और आवर्त का एकत्व प्रतिपादन कर यह निर्दिष्ट किया गया है कि साधक को यदि विषयों का ग्रहण करना ही पड़े तो मूर्च्छा नहीं करना चाहिए, क्योंकि मूर्च्छा से ग्रस्त व्यक्ति इच्छा के अधीन होकर विषयलोलुप हो जाता है और फिर विषयों से छुटकारा लगभग असम्भव हो जाता है। कामनाओं का अतिक्रमण सहज नहीं है, वे विशाल हैं, दुराग्रही और हठीली हैं, इसलिए अज्ञानी पुरुष उनकी पूर्ति के लिए क्रूर-से-क्रूर

⁶¹ दशवैकालिकसूत्र, आचार्य श्री आत्मारामजी म., पृ. 20

⁶² ध्यायतो विषयान् पुंसः, संगस्तेषूपजायते
संगात् संजायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ — भगवद्गीता, अ.-2, श्लोक 62-63

⁶³ आचारांगसूत्र — 5/11-13

⁶⁴ जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे — वही, 1/93 .

कर्म करने को भी उद्यत हो जाते हैं। क्रूर कर्म करते हुए वे सुख के बजाय दुःख का मृजन करते हैं और इस प्रकार 'विपर्यास' को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सुख का मर्था दुःख को प्राप्त होता है।⁶⁵ सुखवाद की यही विडम्बना है। सुख की तलाश अपने-आप में दुःखद है। इसी को पाश्चात्य-नीतिशास्त्र में 'पैराडॉक्स ऑव इडोनिज्म' कहा गया है। इसी बात को उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि - सभी कामभोग अन्ततः दुःखद ही होते हैं,⁶⁶ क्योंकि संसार के विषय-भोग क्षण भर के लिए सुखदायी प्रतीत होते हैं, किन्तु चिरकाल तक दुःखदायी होते हैं।⁶⁷ अंदर के विषय-विकार ही वस्तुतः बंधन के हेतु हैं।⁶⁸ जो भोगासक्त है वह कर्मों से लिप्त होता है। भोगासक्त संसार में परिभ्रमण करता है। भोगों से अनासक्त ही संसार से मुक्त होता है।⁶⁹ मिट्टी के सूखे गोले के समान विरक्त साधक कहीं भी विषयों से चिपकता नहीं है, अर्थात् आसक्त नहीं होता है।⁷⁰

मनः काम् -

कामवासना को तीन प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है - मनकाम, वचनकाम, कायिककाम। वस्तुतः, तो तीनों ही काम जैनसाधना-पद्यति में वर्जनीय हैं, परन्तु मनकाम को विशेष वर्जनीय बताया गया है। इसके लिए एक शब्द प्रयुक्त हुआ है- अनंग-क्रीड़ा। अनंग का अर्थ होता है -अंग-हीन। शैव लोगों ने तो काम के प्रतीक देव को मनोज और अनंग नामों से ही उल्लेखित किया है। जैनशास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख है कि अगर आप मानसिक-रूप से, अर्थात् मन के द्वारा समागम करते हैं तो वह भी कामाचार है, मैथुन है। वासनाप्रधान-चित्र, चलचित्र आदि देखना

⁶⁵ आचारांगसूत्र-5, 6 तथा 2/151

⁶⁶ सब्बे कामा दुहावहा। - उत्तराध्ययनसूत्र -13/16

⁶⁷ खणमित्तसुक्खा बहुकाल दुक्खा। - वही- 14/13

⁶⁸ अज्झत्थ हेउं निययस्स बंधो। - वही- 14/19

⁶⁹ वही - 25/41

⁷⁰ विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा सुक्को उ गोलओ। - उत्तराध्ययनसूत्र - 25/43

तथा अप्राकृतिक, विकृत और उच्छृंखल यौनाचार में रुचि रखना 'अनंगक्रीड़ा' है। इस विषय में जैनदर्शन में बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। केवल दैहिक-क्रियाओं से कामाचार होता है—ऐसा नहीं है, बल्कि मानसिक तौर पर चिंतन, कथामण्डन अथवा मानसिक-स्तर पर क्रिया करना भी काम है।

वचन-काम —

मन की तरह कामयुक्त वचनों का आदान-प्रदान करने से, उन्हें सुनने से भी कामवासना जाग्रत होती है। इसके लिए जैनदर्शन में कामकथा या स्त्रीकथा को न करने का निर्देश दिया गया है। समकित के पांच दूषणों में से दो दूषण स्पष्ट रूप से इससे संबंधित हैं। 1. कांक्षा, 2. परपाषण्ड संस्तव (अर्थात् प्रशंसा)। इन दो दूषणों में और कुलिंगिसंस्तव के द्वारा पर की प्रशंसा करना, उसके प्रति आकर्षित होना नैतिक जीवन के प्रति अयथार्थ दृष्टिकोण है। अश्लील संगीत, कैसेट आदि को सुनना आदि चरित्र के पतन के कारण होते हैं, अतः सदाचारी पुरुष को अनैतिक आचरण करने वाले लोगों से अतिपरिचय या घनिष्ठ संबंध नहीं रखना ही योग्य माना गया है। वर्तमान युग में टीवी, चलचित्र, रेडियो, नाटक, उत्तेजित करने वाले साहित्य का वाचन आदि सभी वाचिक-कामवासना में आते हैं। तरह-तरह की पाश्चात्य कामुक धुनों पर बजने वाला संगीत मन और शरीर पर गहरा प्रभाव डालता है और मनुष्य के काम-अंगों को उत्तेजित करता है, अतः जैनदर्शन में उससे बचने को कहा गया है।

कायिक-काम —

कायिक-कामवासना को प्रोत्साहित करने वाली मुख्यतः पांच इन्द्रियां हैं, जिनका मालिक मन है। मन जो सूचनाओं का आदान-प्रदान करता है, उनका परिणाम शरीर पर होता है और शरीर कामोत्तेजनाओं का शिकार हो जाता है। कामोत्तेजना के भी दो प्रकार हैं—प्राकृत-कामोत्तेजना और ऐच्छिक-कामोत्तेजना।

प्राकृत-कामोत्तेजना मनुष्य के शरीर की बनावट का एक भाग है जो कर्मप्रकृतियों के अनुसार वेदोदय का निमित्त बनती है। ऐच्छिक-कामोत्तेजना से तात्पर्य इच्छापूर्वक या काम की तीव्र लालसापूर्वक दैहिक चेष्टाएं करना। चरित्रहीन स्त्री-पुरुषों की संगति करना, उनसे यौन-सम्बन्ध स्थापित करना आदि, इसलिए कहा गया है कि इन्द्रियों के दास असंवृत मनुष्य हिताहितनिर्णय के क्षणों में मोहमुग्ध हो जाते हैं।⁷¹

काम की उपर्युक्त सीमाओं को देखते हुए मनुष्य को सही निर्णय लेना आवश्यक है। वस्तुतः, इन्द्रियों के भोग-विषय अपने आप में न अच्छे हैं, न बुरे हैं, किन्तु इनके प्रति राग के कारण जो विकृतियां या विषमताएं आती हैं वे अप्रशस्त हैं। कामभोगों में यह लिप्तता ही काम को अनुचित बनाती है। अतः आवश्यकता इस बात की इतनी नहीं है कि काम से व्यक्ति पूर्णतः विरत हो जाए, या उसे निरस्त कर दे। जब तक व्यक्ति के पास शरीर है, ऐसा किया भी नहीं जा सकता, किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि वह अपने काम का वृत्त कम करे। कामनाओं को असीमित न होने दे, बल्कि उनकी सीमा निर्धारित करता जाए और धीरे-धीरे इन सीमाओं को, अर्थात् कामभोग के दायरे को संकुचित करता जाए और अन्त में उससे मुक्त हो जाए।

काम के प्रति आसक्ति न रखकर एक निःसंग, निष्काम भाव विकसित करे, क्योंकि विषयभोगजन्य विकृति से इसी प्रकार बचा जा सकता है। सत्पुरुष इसीलिए काम आदि विषय-भोगों का सेवन अनुचित मानते हैं। उनका कथन है कि कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही सत्पुरुष सम्यक्त्व के प्रभाव से विकारों और विषयों में लिप्त नहीं होते।⁷² वे भले ही तिलक आदि लगाकर मुनि का वेश धारण कर लें, यदि काम के प्रति अपनी आसक्ति नहीं छोड़ पाते, तो वे मुक्त भी नहीं हो सकते हैं। कहा गया है कि कुछ लोग तो विषयों का सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करते (अर्थात् विषयों में लिप्त नहीं होते) और कुछ सेवन न करते

⁷¹ मोहं जति नय असंबुद्धा। - सूत्रकृतांगसूत्र -1/2/1/20

⁷² श्रमणसूत्र - 227

हुए भी विषयों का सेवन करते हैं (अर्थात् उनसे अपने रागात्मक लगाव को छोड़ नहीं पाते)। इन दोनों में स्पष्ट ही प्रथम प्रकार के लोग ही सच्चे सत्पुरुष हैं जो कर्म तो करते हैं किन्तु उनमें लिप्त नहीं होते हैं।⁷³ यह ठीक वैसे ही है, जैसे अतिथि के रूप में आया कोई पुरुष विवाहादि कार्य में लगा रहने पर भी उस कार्य का स्वामी न होने से कर्ता नहीं होता।

⁷³ 1) वही, 229

2) सेवतेऽसेवमानोऽपि सेवमानो न सेवते। — अध्यात्मसार, प्रबंध-2, अधिकार 5, गाथा-25

कामवासना के प्रकार —

भारतीय—मनोविज्ञान ने 'काम' को जीवन का आवश्यक अंग माना है। जैनदर्शन की दृष्टि से भी कामवासना सभी प्राणियों में होती है। कामवासना का सम्बन्ध मोहनीयकर्म से है, जिसका सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल से है। यद्यपि आहार ग्रहण करना, मैथुन—सेवन करना आत्मा का धर्म नहीं है, परन्तु शरीर धारण करने से ये प्रवृत्तियाँ बनी रहती हैं। मानव—भव में भी न्यूनाधिक अंश में चारों संज्ञाएँ रहती हैं। परन्तु मैथुन—संज्ञा या कामवासना के संस्कार विशेष रूप से पाए जाते हैं।

ईंधन में ज्वलन—गुण रहा हुआ है, लेकिन जब तक उसे चिनगारी नहीं मिलती है, तब तक ईंधन में रहा हुआ ज्वलन्त गुण प्रकट नहीं होता है। इसी प्रकार, आत्मा में रहे हुए अच्छे—बुरे संस्कारों के जागरण के लिए भी शुभाशुभ निमित्त की आवश्यकता रहती है। मनुष्य के भीतर जो 'कामवासना' रही हुई है, वह कामवासना भी निमित्त पाकर ही जाग्रत होती है। युवावस्था, एकांत, अंधकार, कुसंग, दृश्य, अश्लील साहित्य तथा स्त्री—संग आदि ऐसे प्रबल निमित्त हैं जो प्राणी के भीतर रहीं हुई कामवासना को जाग्रत कर देते हैं।

प्रवचन—सारोद्धार⁷⁴ में कामवासना के चौबीस प्रकार बताए गए हैं।

मुख्य रूप से दो भेद हैं —1. संप्राप्त, 2. असंप्राप्त या संयोगजन्य या विप्रयोगकाम। संयोग काम (संभोगजन्य कामक्रीड़ा) कामियों के परस्पर संयोग से उत्पन्न सुख है, जो चौदह प्रकार का है। विप्रयोग काम वे कामुक स्थितियाँ हैं, जिनमें संभोग नहीं होता, किन्तु वासना को संतृप्त करने का प्रयास होता है। इसके भी दस भेद हैं।

⁷⁴ कामो चउवीसविहो संपतो खलु तहा असंपतो।

चउदसहा संपतो दसहा पुण हो असंपतो।।

तत्थ असंपतोऽत्था चिंता तह सद्ध संभरण मेव।

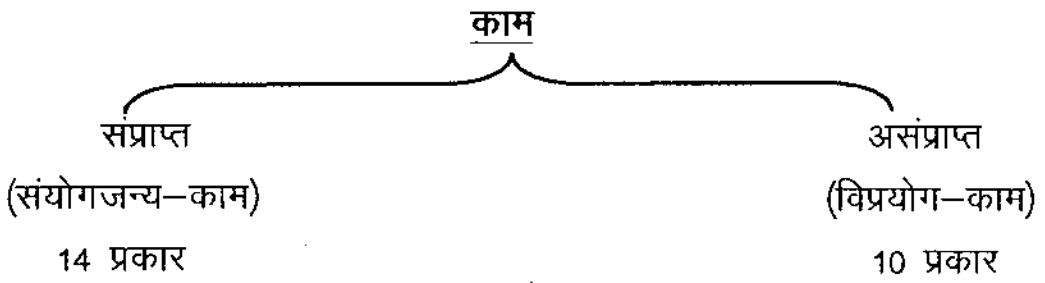
विककवय लज्जनासो पमाय उम्माय तब्बावो।।

मरण च होइ दसमो संपत्तपि य समासओ वोच्छं।

दिट्ठीए संपाओ दिट्ठीसेवा या संभासो।।

हसिय ललिओवगूहिय दंत नहनिवास चुंबण चेव।

आलिगण मादाणं कर सेवणऽण्णकीडा य।। — प्रवचनसारोद्धार, साध्वी हेमप्रभा श्रीजी, गाथा 1062-1065



संयोग-काम के 14 भेद -

1. दृष्टिसंपात - स्त्री के विकारवर्द्धक अंगों का अवलोकन करना।
2. दृष्टिसेवा - हाव-भाव से युक्त दृष्टि मिलाना।
3. संभाषण - कामवर्द्धक वार्त्तालाप करना।
4. हसित - व्यंग्यपूर्वक मधुर-मधुर मुस्कुराना।
5. ललित - पासा आदि खेलना।
6. उपगूढ - कसकर आलिंगन करना।
7. दंतपात - दन्तक्षत करना।
8. नखनिपात - नख आदि से घात करना।
9. चुम्बन - चूमना।
10. आलिंगन - स्पर्श करना।
11. आदान - काम-अंगों को रागवश स्पर्श करना।
12. करण - कामुक शारीरिक-स्थितियाँ बनाना।
13. आसेवन - मैथुन-क्रिया का आस्वादन लेना।
14. अनंगक्रीड़ा - वासनाप्रधान चित्र आदि देखना तथा अप्राकृतिक विकृत और उच्छृंखल यौनाचार में रुचि रखना।

विप्रयोगजन्य काम के दस भेद

1. अर्थ - स्त्री की अभिलाषा करना। किसी स्त्री की सौन्दर्य कथा सुनकर उसे पाने की इच्छा करना, जैसे-पद्मनाभ राजा का द्रोपदी के रूप के विषय में सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए आतुर हो जाना।

2. चिन्ता— उसका कैसा सुन्दर रूप है ? उसके कैसे गुण हैं ? इस प्रकार का रागवश चिन्तन करना ।
3. श्रद्धा — स्त्री-संभोग की अभिलाषा करना ।
4. संस्मरण— स्त्री के रूप की कल्पना करके अथवा चित्र आदि देखकर स्वयं को सान्त्वना देना ।
5. विक्लव— वियोग—जन्य व्यथा के कारण आहार आदि की उपेक्षा करना ।
6. लज्जानाश—गुरुजनों की लज्जा छोड़कर उनके सम्मुख प्रेमिका के गुणगान करना ।
7. प्रमाद — स्त्री के लिए विविध क्रियाएं करना ।
8. उन्माद— विक्षिप्त की तरह प्रलाप करना ।
9. तदभावना—स्त्री की कल्पना से स्तंभादि का आलिंगन करना ।
10. मरण — राग की तीव्रता के कारण असह्य व्यथा से मूर्च्छित हो जाना । यहाँ मरण का अर्थ प्राणत्याग से नहीं है, श्रृंगाररस का भंग हो जाने से है ।

वृत्तिकार अभिनव गुप्त ने भी इसकी व्याख्या इसी प्रकार की है ।

जैनदर्शन की वेद (कामवासना) और लिंग (शारीरिक—संरचना) की अवधारणा

वैदिक—दर्शन में जहाँ वेद शब्द ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, वहीं जैनदर्शन में वेद शब्द अनुभूति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इसके दो रूप हैं — ज्ञानात्मक और संवेदनात्मक । उत्तराध्ययनसूत्र⁷⁵ में वेद ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । कहा गया है जिससे तत्त्व का ज्ञान किया जाता है, उसे वेद (आगम) कहते हैं ।

⁷⁵ उत्तराध्ययनसूत्र — 15/2

दूसरी ओर, —‘वेद्यते इति वेदः’⁷⁶ इस सूत्र के द्वारा वेद शब्द का अर्थ अनुभूति (वासना) या संवेदना भी बताया गया है। इस आधार पर स्त्री, पुरुष आदि की काम सम्बन्धी आकांक्षाओं को भी वेद माना जाता है।

वेद जैनदर्शन का एक पारिभाषिक-शब्द है, जिसका अर्थ मैथुन की आकांक्षा है जो मोहनीयकर्म के कर्मदलिकों से उत्पन्न होता है। इस अर्थ में स्त्री, पुरुष आदि से मैथुन करने की आकांक्षा का उत्पन्न होना ही वेद है।⁷⁷ लिंग और वेद में अन्तर यह है कि लिंग शारीरिक संरचना है और वेद तत्सम्बन्धी कामवासना है। योगीराज श्री आनंदघनजी⁷⁸ कृत मल्लिनाथ स्तवनावली में भी वेद शब्द का अर्थ कामवासना की इच्छा से लिया गया है। दूसरे शब्दों में कामवासना का अनुभव होना ही वेद है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद के भेद से यह तीन प्रकार का होता है।⁷⁹ यहाँ वेद शब्द स्त्री, पुरुष आदि के बाह्यलिंग अर्थात् दैहिक-संरचना का द्योतक नहीं है। बाह्यलिंग तो शरीर नाम कर्म का फल है। वेद मोह-कर्म के उदय का परिणाम है। यह अवश्य है कि बाह्यलिंग से स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक की पहचान होती है, तथा वेद से उसका गहरा सम्बन्ध भी है। प्रायः, स्त्रीलिंग में स्त्रीवेद, पुरुषलिंग में पुरुषवेद तथा नपुंसकलिंग में नपुंसकवेद पाया जाता है। वेद की तृप्ति का साधन लिंग है। नौवें गुणस्थान के बाद तीन वेदों में से किसी का भी उदय नहीं रहता है। किन्तु लिंग का शारीरिक-लक्षण या लिंग की सत्ता बनी रहती है। वीतराग आत्मा के वेद का क्षय हो जाता है, किन्तु शरीर के साथ लिंग बना रहता है। श्वेताम्बर जैनों की मान्यता है कि तीन लिंगों में से किसी के भी रहते हुए वीतराग-अवस्था प्राप्त हो

⁷⁶ प्रज्ञापनासूत्र, वृ.प. 468-469

⁷⁷ भगवई विआहपण्णती, —आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 258

⁷⁸ वेदोदय कामपरिणामा काम्यकर्म सहु त्यागी,

निःकामा करुणारससागर, अनंत चतुष्क पद पागी। श्री आनंदघनजी भ. मल्लिनाथ स्तवन, गा.—7

⁷⁹ तिविहे वेए षण्णते, तं जहा —(1) इत्थिवेए (2) पुरिसवेए (3) नपुंसगवेए। — समवायांगसूत्र—156

सकती है। क्योंकि चौदह प्रकार के सिद्धों⁸⁰ में स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध एवं नपुंसक लिंग सिद्धों का भी उल्लेख है।

वेद के तीन प्रकार और उनका सम्बन्ध —

कामभोग की अभिलाषा को वेद कहते हैं। वस्तुतः, वेद के तीन प्रकार हैं — स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।⁸¹

स्त्रीवेद⁸² — पुरुष के साथ काम-भोग की इच्छा को स्त्रीवेद कहते हैं, अर्थात् स्त्री के द्वारा पुरुष से सहवास एवं भोग की इच्छा स्त्रीवेद कहलाती है।

पुरुषवेद⁸³ — इसी प्रकार, स्त्री के साथ काम-भोग की इच्छा पुरुषवेद कहलाती है।

नपुंसकवेद⁸⁴ — स्त्री तथा पुरुष —दोनों के साथ काम-भोग की इच्छा को नपुंसकवेद कहते हैं। प्राणी में स्त्रीत्व सम्बन्धी और पुरुषत्व सम्बन्धी दोनों वासनाओं का होना नपुंसकवेद कहा जाता है, अर्थात् दोनों से संभोग की इच्छा ही नपुंसकवेद है।

वेद के दो प्रकार हैं — 1. द्रव्यवेद, 2. भाववेद⁸⁵। द्रव्यवेद का निर्णय शरीर के बाह्य चिह्नों से किया जाता है, अंगोपांग नामकर्म के उदय से स्त्री पुरुष और नपुंसक अवयवों को द्रव्य-वेद कहते हैं। जैसे— पुरुष-द्रव्यवेद में पुरुष के चिह्न,

⁸⁰ जिण अजिण तित्थत्तित्था, गिहि, अन्न सलिंग थी नर. नपुंसा।

पत्तेय सयंबुद्धा, बुद्ध बोहिय इक्कणिक्का य। — (नवतत्त्व प्रकरण, गाथा 55)

⁸¹ विद्यते इति वेदः स्त्रिया वेदः स्त्रीवेदः, स्त्रियाः पुमांसं प्रत्यभिलाष इत्यर्थः तद्विपाकवेद्यं कर्मापि स्त्रीवेदः, पुरुषस्य वेदः पुरुषवेदः, पुरुषस्य स्त्रियां प्रत्यभिलाष इत्यर्थः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि पुरुषवेदः, नपुंसकस्य वेदो नपुंसकवेदः नपुंसकस्य स्त्रियं पुरुषं च प्रत्याभिलाष इत्यर्थः तद्विपाकवेद्यं कर्मापि नपुंसकवेदः। — प्रज्ञापना वृ.प.468-469

⁸² स्त्रियः — योषितः पुरुषं प्रत्यभिलाषः स्त्रीवेदः।

⁸³ नरस्य — पुरुषस्य स्त्रियं अभिलाषो नरवेदः।

⁸⁴ नपुंसकस्य — षण्टस्य स्त्रीपुरुषौ प्रत्याभिलाषो नपुंसकवेदः। — चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. 129

⁸⁵ कर्मग्रन्थ चतुर्थ भाग — मुनि श्री मिश्रीमल जी म. पृ. 114

दाढ़ी, मूँछ आदि। स्त्री के चिह्नों में दाढ़ी, मूँछ का अभाव और स्त्री-लिंगाकृति का सदभाव और नपुंसक में स्त्री-पुरुष दोनों के कुछ चिह्नों को नपुंसक-द्रव्यवेद कहते हैं। ज्ञातव्य है कि द्रव्यवेद और लिंग एकार्थक हैं। संवेदना, अभिलाषा, इच्छा भाववेद हैं।⁸⁶ मोहनीय कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ कामभोग की इच्छा स्त्रीभाववेद, पुरुष को स्त्री के साथ कामभोग की इच्छा पुरुषभाववेद तथा स्त्री और पुरुष दोनों के साथ कामभोग की इच्छा को नपुंसकभाववेद कहते हैं।⁸⁷ द्रव्यवेद और भाववेद सहभावी होते हैं। परन्तु कहीं-कहीं विषमता भी पाई जाती है, यानी बाह्यशरीर, आकृति और चिह्न पुरुष के होते हैं, लेकिन भाव स्त्री या नपुंसक जैसे होते हैं।

वेद का स्वरूप -

काम-वासना की तीव्रता की दृष्टि से जैन-विचारकों के अनुसार पुरुष की काम-वासना शीघ्र ही प्रदीप्त हो जाती है और शीघ्र ही शान्त हो जाती है। स्त्री की कामवासना देरी से प्रदीप्त होती है और प्रदीप्त हो जाने पर पर्याप्त समय तक शान्त नहीं होती। नपुंसकवेद की कामवासना शीघ्र प्रदीप्त हो जाती है, लेकिन शान्त देरी से होती है।⁸⁸

स्त्रीवेद -

स्त्रीवेद कंडे की अग्नि और बकरी के मल की अग्नि के समान कहा गया है। गोबर और बकरी का मल विलम्ब से प्रज्ज्वलित होता है किन्तु एक बार प्रज्ज्वलित होने के बाद उसका ताप उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। ठीक उसी प्रकार, स्त्री के मन में पुरुष के साथ कामभोग की इच्छा थोड़ी देर से उत्पन्न होती है, किन्तु वह जल्दी तृप्त या शांत नहीं होती है और उत्तरोत्तर तीव्र होती जाती है।⁸⁹

⁸⁶ भगवई विआहपण्णती - आचार्य महाप्रज्ञ - 1/पृ. 259

⁸⁷ दण्डक प्रकरण - मुनि मनितप्रभसागर, पृ. 550

⁸⁸ जैन साइकॉलाजी, पृ. 131-134

⁸⁹ वेयस्स सरूवं प. इत्थिवेए भंते! किं पगारे पण्णते।

उ. गोयमा! फुंफुअग्निसमाणे पण्णत्ते। - जीवाभिगम, प्रतिपत्ति 2, सूत्र 51(2)

पुरुषवेद —

पुरुषवेद को तृणाग्नि के समान कहा गया है। जिस प्रकार तृण, घास छोटी-सी चिंगारी पाकर सुलग उठता है और बहुत जल्दी बुझ जाता है। उसी प्रकार पुरुष के मानस में स्त्री को देखते ही कामवासना जाग्रत हो जाती है और कुछ समय में ही शान्त भी हो जाती है।

नपुंसकवेद —

इस वेद को महानगर के दाह के समान कहा गया है। जिस प्रकार नगर में लगी आग बहुत प्रयास करने पर लम्बे समय के बाद ही शांत होती है, उसी प्रकार नपुंसक की कामवासना लम्बे प्रयासों के बाद ही शांत होती है।⁹⁰

चार गतियों में वेद का प्ररूपण —

पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय एवं वनस्पतिकाय में जो कामवासना है वह नपुंसकवेद के रूप में है। इसी प्रकार, तीन विकलेन्द्रियों, सम्मूर्च्छिम तिर्यच पंचेन्द्रिय, सम्मूर्च्छिम मनुष्य एवं समस्त नैरायिक-जीवों की कामवासना में भी नपुंसकवेद होता है। देवों में दो वेद होते हैं— स्त्रीवेद एवं पुरुषवेद। देवों में नपुंसकवेद नहीं होता और नैरायिकों में नपुंसक के अलावा दोनों वेद नहीं होते। गर्भ से पैदा होने वाले तिर्यच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों में तीनों वेद होते हैं। चार गति में मनुष्य का ही एक दण्डक ऐसा है, जो अवेदी भी हो सकता है, अर्थात् काम-वासना का नाश मात्र मनुष्यों में ही संभव है। कोई भी जीव एक समय में एक से अधिक वेदों का अनुभव नहीं करता। स्त्रीवेद का उदय होने पर स्त्री पुरुष की अभिलाषा

⁹⁰ (1) पुरिसवेए णं भंते। किं पगारे पण्णत्ते ?
 गोयमा! वणदवग्निजालसमाणे पण्णत्ते।
 नपुंसगवेए णं भंते! किं पगारे पण्णत्ते ?
 गोयमा! महाणगरदाह समाणे पण्णत्ते समणाउसो। — जीवाभिगम, प्रतिपत्ति 2, सू 61(2)

(2) पुरिसिस्थि तदुभयं पइ, अहिलासो जव्वसा हवइ सो उ।
 थी-नर-नपु-वेउदओ, फुंफुण-तण-नगरदाहसमो।। — प्रथम कर्मग्रंथ, गा. 22

करती हैं तथा पुरुषवेद का उदय होने पर पुरुष स्त्री की अभिलाषा करता है।⁹¹ तीनों वेद, भाववेद की अपेक्षा से नौ गुणस्थानक तक तथा द्रव्यवेद अर्थात् लिंग की अपेक्षा से चौदह गुणस्थानक तक पाए जाते हैं।

तीनों वेदों में जीव का काल -

पुरुष वेद - जघन्यतः - अन्तर्मुहूर्त

उत्कृष्टतः - साधिक सागरोपम शत पृथक्त्व

स्त्री वेद - जघन्यतः - एक समय

उत्कृष्टतः - पृथक्त्व कोटि पूर्व अधिक एक सौ दस पल्योपम

नपुंसकवेद- जघन्यतः - एक समय

उत्कृष्टतः - अनंतकाल

अवेदी-अवस्था में जीव का काल -

उपक्षमश्रेणी आश्रित - जघन्यतः - एक समय

उत्कृष्टतः - अन्तर्मुहूर्त

क्षपकश्रेणी आश्रित - अनंतकाल

संवेदक जीव, अर्थात् वेद (इच्छा) सहित जीव तीन प्रकार के होते हैं⁹² -

1. अनादि-अपर्यवसित
2. अनादि-सपर्यवसित और
3. सादि-सपर्यवसित

जिन जीवों में अनादिकाल से संवेदकता चली आ रही है एवं कभी समाप्त नहीं होती, वे अनादि अपर्यवसित संवेदक कहे जाते हैं। जिन जीवों की संवेदकता पूर्णतः समाप्त हो जाती है, उन्हें अनादि-सपर्यवसित-संवेदक माना जाएगा। जो एक

⁹¹ एगे वि य णं जीवे एगेण समएणं एगं वेयं वेइ तं जहा -

(1) इत्थिवेयं वा (2) पुरिसवेयं वा

- व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, 2/5/1

⁹² जीवाभिगम प्रतिपत्ति- 9/232

बार अवेदी होकर (ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर) पुनः संवेदी हो जाता है, उसे सादि-सपर्यवसित संवेदक कहा जाता है। अवेदक जीव दो प्रकार के होते हैं – 1. सादि-अपर्यवसित एवं 2. सादि-सपर्यवसित।⁹³ जो जीव एक बार अवेदक होने के बाद पुनः संवेदक नहीं होते, वे प्रथम प्रकार में तथा पुनः संवेदक होने वाले द्वितीय प्रकार में आते हैं। सादि-सपर्यवसित जीवों की अवेदकता जघन्य एक समय एवं उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहती है। अल्प-बहुत्व की अपेक्षा से स्त्री, पुरुष एवं नपुंसकों में पुरुष सबसे अल्प है, स्त्रियाँ उनके संख्यातगुना हैं, नपुंसक उनसे भी अनंतगुना हैं।⁹⁴

⁹³ प्रज्ञापनासूत्र, पद-18, सूत्र 1326-1330

⁹⁴ जीवाभिगम प्रतिपत्ति 2, सूत्र 62 (1-9)

4. जैनदर्शन की मैथुन-संज्ञा की फ्रायड के लिबिडो से तुलना एवं समीक्षा --

जैनदर्शन के अनुसार संज्ञा एक जैविक-प्रवृत्ति है जो प्रत्येक संसारी-जीव में पाई जाती है। इन संज्ञाओं में मैथुन-संज्ञा भी सम्मिलित है। इसे हम कामवासना भी कह सकते हैं। जैनदर्शन के अनुसार, मैथुन-संज्ञा (कामवासना) न केवल मनुष्यों में, अपितु सभी प्राणियों में, यहां तक कि एकेन्द्रिय जीवों, अर्थात् वनस्पति आदि में भी पाई जाती है और उसी से नवसृजन होता है। वैज्ञानिकों के अनुसार, सृष्टि-चक्र का आधार मैथुन-संज्ञा या कामवासना है और उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि कुछ वनस्पतियाँ, जैसे - कुरुबक, अशोक, तिलक आदि के वृक्ष स्त्री के स्पर्श, पादप्रहार, कटाक्ष आदि से ही फलते-फूलते हैं।

जीव-वैज्ञानिकों के समान ही मनोवैज्ञानिकों ने भी मैथुन-संज्ञा की सर्वव्यापकता को स्वीकार किया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों में सिगमण्ड फ्रायड {Sigmund Freud} एक ऐसे मनोवैज्ञानिक हैं जो कामतत्त्व या मैथुनसंज्ञा की सर्वव्यापकता को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार तुलनात्मक-दृष्टि से विचार करें, तो मैथुन-संज्ञा या कामतत्त्व की सर्वव्यापकता को आधुनिक मनोविज्ञान और जैनदार्शनिक दोनों ही स्वीकार करते हैं। फ्रायड ने मैथुन-संज्ञा या कामतत्त्व को "लिबिडो" का नाम दिया है। जिसका वास्तविक अर्थ है - सुख की चाह। वह यह मानता है कि छोटे से बच्चे से लेकर बड़े तक यह कामतत्त्व (लिबिडो) पाया जाता है। जैन-दार्शनिक यद्यपि इसके नियंत्रण की बात करते हैं, तथापि इसकी सर्वव्यापकता से वे भी इन्कार नहीं करते। फ्रायड ने मानस के तीन विभाग किए हैं - चेतन {Conscious}, अर्द्धचेतन {Subconscious} और अचेतन {Unconscious}।⁹⁵

चेतन {Conscious} -

चेतन से तात्पर्य मन के ऐसे भाग से होता है, जिसमें वे सभी अनुभूतियाँ होती हैं, जिनका संबंध वर्तमान से होता है। दूसरे शब्दों में, चेतन क्रियाओं का सम्बन्ध तात्कालिक-अनुभवों से होता है, फलतः चेतन व्यक्तित्व के छोटे एवं सीमित पहलू

⁹⁵ आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, अरुणकुमार सिंह आशीषकुमार सिंह, पृ. 570

का प्रतिनिधित्व करता है। किसी भी क्षण व्यक्ति के मन में आ रही अनुभूतियों {Experience} का सम्बन्ध उसके चेतन से ही होता है।

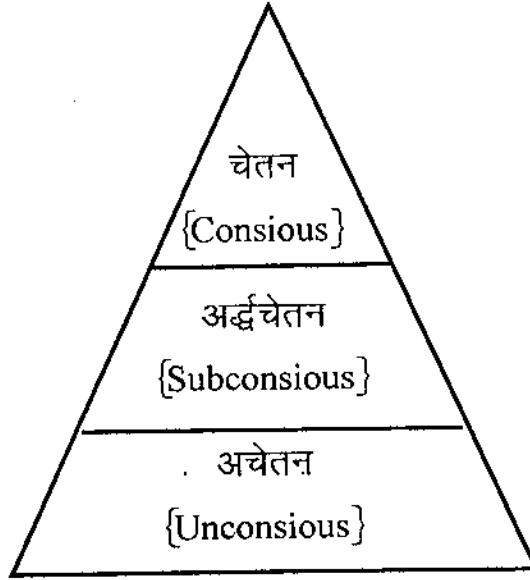
अर्द्धचेतन {SubConscious} —

अर्द्धचेतन से तात्पर्य ऐसे मानसिक-स्तर से होता है, जो सचमुच में न तो पूर्णतः चेतन होता है और न ही पूर्णतः अचेतन। इसमें वैसी इच्छाएँ, विचार, भाव आदि होते हैं जो हमारे वर्तमान चेतन या अनुभव में नहीं होते हैं, परन्तु प्रयास करने पर वे हमारे चेतन मन {Conscious mind} में आ जाते हैं। आलमारी में हम अमुक किताब को नहीं पाते और थोड़ी देर के लिए परेशान हो जाते हैं, फिर कुछ सोचने पर याद आती है कि उस किताब को तो हमने अपने मित्र को दे दिया था। वह अर्द्धचेतन मन का उदाहरण होगा। फ्रायड के अनुसार, अर्द्धचेतन चेतन और अचेतन क्षेत्र के बीच एक पुल {bridge} का काम करता है।

अचेतन {Unconscious} —

अचेतन का शाब्दिक-अर्थ है —जो चेतन या चेतना से परे हो। हमारे कुछ अनुभव इस प्रकार के होते हैं, जो न तो हमारी चेतना {Consciousness} में होते हैं और न ही अर्द्धचेतन {Subconscious} में। ऐसे अनुभव अचेतन में होते हैं। अचेतन मन में रहने वाले विचार एवं इच्छाओं का स्वरूप कामुक {Sexual}, असामाजिक {antisocial}, अनैतिक {immoral} तथा घृणित {hateful} होता है। चूँकि ऐसी इच्छाओं एवं विचारों को दैनिक जिन्दगी में पूर्ण करना संभव नहीं हो पाता, अतः उनको दमित {repress} कर दिया जाता है, जहाँ जाकर ऐसी इच्छाएँ समाप्त नहीं होती, परन्तु थोड़ी देर के लिए निष्क्रिय अवश्य हो जाती हैं और चेतन में आने का भरसक प्रयास भी करती हैं।

फ्रायड के अनुसार, अचेतन अनुभूतियों एवं विचारों का प्रभाव हमारे व्यवहार पर चेतन एवं अर्द्धचेतन की अनुभूतियों एवं विचारों से अधिक होता है। यही कारण है कि फ्रायड ने अपने सिद्धान्त में अचेतन को चेतन एवं अर्द्धचेतन की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण एवं बड़ा {large} आकार का बताया है।



फ्रायड की मान्यता यह है कि यह कामतत्त्व (लिबिडो) अचेतन मन में निवास करता है और सत्ता के रूप में वहाँ रहकर भी चेतन, अर्द्धचेतन (अवचेतन) स्तर पर अपनी अभिव्यक्ति का प्रयत्न करता है।

फ्रायड और जैनदर्शन – दोनों में एक समानता इस बात को लेकर भी है कि दोनों ही अर्द्धचेतन (अवचेतन) या चेतन में रहे हुए इन काम-संस्कारों के दमन के समर्थक न होकर इनके निरसन के समर्थक हैं। जैनदर्शन यह मानता है कि Id (इड) वासनात्मक अहं है, अतः अव्यक्त रूप से रहे हुए इन काम-संस्कारों का निरसन आवश्यक है। यद्यपि, यहाँ फ्रायड और जैनदर्शन में मतभेद हैं। जैनदर्शन मैथुन-संज्ञा या काम-संस्कारों के पूर्णतः निरसन की संभावना को स्वीकार करता है, जबकि फ्रायड ऐसा नहीं मानता। फिर भी दोनों इस बात में एकमत हैं कि इन संस्कारों के दमन से चित्तशुद्धि संभव नहीं है। जैनदर्शन में दमन को उपशम के रूप में और निरसन को क्षय के रूप में बताया गया है। जैनदर्शन का कहना है कि

दमित वासनाएँ साधना के उच्च स्तर पर स्थित व्यक्ति को भी नीचे गिरा देती हैं। जैनदर्शन की पारिभाषिक-शब्दावली में कह, तो उपशम-मार्ग का साधक आध्यात्मिक पूर्णता के चौदह गुणस्थानों में से ग्वारहवें गुणस्थान तक पहुंचकर वहाँ से गिरता है और पुनः प्रथम मिथ्यात्व-गुणस्थान तक आ सकता है।⁹⁶ यह तथ्य जैनसाधना में दमन के अनौचित्य को स्पष्ट करता है।

कामतत्त्व के मूल में रागवृत्ति रहती है। यही रागवृत्ति फ्रायड के दर्शन में 'लिबिडो' के अर्थ में मानी गई है। 'राग' तत्त्व के कारण ही व्यक्ति 'पर' से जुड़ता है और पर के जुड़ाव की यह वृत्ति ही आध्यात्म के क्षेत्र में कामवृत्ति या मैथुनसंज्ञा कही गई है। जैनदर्शन कामवासना से मुक्त होकर वीतरागता की बात करता है। जबकि फ्रायड भी अपने मनोविश्लेषण के सिद्धान्त⁹⁷ [Psychoanalytic theory] के अनुसार इस बात का समर्थन करता है कि वासना का दमन न करके उसका निरसन करके हम वासनाओं से मुक्त हो सकते हैं। मनोविश्लेषण मन के प्रति सतत जागरुकता के बिना संभव नहीं। मन या चेतन की सतत जागरुकता ही जैनदर्शन में आध्यात्मिक विकास का आधार मानी गई है।

फ्रायड और जैनदर्शन - दोनों ही यह मानते हैं कि दमित वासना या कर्म-संस्कार कभी भी हमारी विमुक्ति के साधन नहीं बन सकते हैं। फ्रायड के अनुसार, अचेतन मन ही वासनाओं का भण्डार है और उन वासनाओं को दमित स्तर पर नहीं, पर चैतनिक-स्तर पर लाकर उनकी निरर्थकता का बोध करते हुए हमारी चेतना से बहिष्कृत किया जा सकता है। जैनसाधना-पद्धति तो समत्व (समभाव) की साधना है।⁹⁸ वासनाओं के दमन का मार्ग तो चित्तक्षोभ उत्पन्न करता है, अतः वह उसे स्वीकार नहीं है। जैनसाधना का आदर्श क्षायिक-साधना है, जिसमें वासना का दमन नहीं, वरन् वासना-शून्यता ही साधक का लक्ष्य है।

⁹⁶ देखिए- गुणस्थानारोहण

⁹⁷ मनोविश्लेषणात्मक-सिद्धान्त मानव-प्रकृति या स्वभाव {Human Nature} के बारे में कुछ मूल पूर्वकल्पनाओं {basic assumptions} पर आधारित है।

⁹⁸ उत्तराध्ययनसूत्र - 23/58

जैनदर्शन कामवृत्ति को जगाने में मूल कारण वेदमोहनीय-कर्म को मानता है। फ्रायड भी जन्मजात शारीरिक-उत्तेजना को ही इसका मूल कारण मानता है। जैनदर्शन में वेदमोहनीय-कर्म, जो आन्तरिक है, वासना को जगाने के लिए उपादान-कारण है, परन्तु बाह्य-कारण भी निमित्त कारण होते हैं और कुछ शारीरिक-कारण, नैमित्तिक-वातावरण अशुभ संस्कार भी कारणभूत होते हैं, जो निमित्त मिलते ही प्रबल हो उठते हैं। संभूति मुनि⁹⁹, रथनेमि¹⁰⁰ आदि के पौराणिक-उदाहरण इस बात को स्पष्ट करते हैं।

जैनदर्शन और फ्रायड यह मानता है कि वासना को निरसन के द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार एक सुन्दर मकान के निर्माण के साथ-साथ गंदगी को निकालने के लिए नालियों की उचित व्यवस्था की जाती है, क्योंकि गंदगी के कारण मकान का और आसपास का वातावरण दूषित न हो, उसी प्रकार जैनदर्शन भी कामवासना के निरसन के लिए 'विवाह-संस्कार' और 'स्वदार-संतोषव्रत' की व्यवस्था का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है, जिससे कामवासना का निरसन भी हो जाए और समाज की व्यवस्था भी सुचारु रूप से चलती रहे। जैनदर्शन जहाँ इच्छाओं एवं वासनाओं को दमित करना चाहता है, वहीं फ्रायड इसे बाह्यरूप से निरसन की बात करता है।

फ्रायड के अनुसार, मानस के तीन प्रकार हैं - चेतन, अर्द्धचेतन (अवचेतन) और अचेतन। अचेतन मन दमित इच्छाओं का संग्रहालय है, जो स्वप्न और मनोविकृतियों को जन्म देता है। रागद्वेष-रूप कषाय की पृष्ठभूमि में वे मनोविकृतियाँ पनपती रहती हैं। फ्रायड ने जिसे लिबिडो नाम दिया था, जैनदर्शन उसके लिए ही 'कामना' शब्द का प्रयोग कर उसे संसार का मूल कारण मानता है। यह कषाय मोहनीय-कर्म का बीजतत्त्व है। इस दृष्टि से दोनों में समानता दिखाई देती है।

⁹⁹ उत्तराध्ययन चूर्णि 13, पृ. 314

¹⁰⁰ दशवैकालिकसूत्र - 2/11

अचेतन मन के साथ सूक्ष्म-शरीररूप कर्म और संस्कार जुड़े हुए हैं। यही संस्कार अनुवांशिकता और जीन्स के सिद्धान्तों को समझने में सहयोगी बनते हैं। जैनदर्शन में राग-द्वेष भावों का जन्म इसी कर्म-चेतना (अचेतन मन) से ही होता है। आचारांगसूत्र में 'अणेगचित्त खलु अयं पुरिसे', अर्थात् वासनाओं के कारण यह चित्त अनेक भागों में विभाजित हो जाता है।¹⁰¹ यह कथन चित्त की यथार्थता को अभिव्यक्त करता है, जो मनोविज्ञान का प्रस्थापक बिन्दु है। यही चित्त कर्मचेतना को उत्पन्न करता है। उसमें कुछ प्रशस्त होती है और कुछ अप्रशस्त। चेतन मन को विवेक के कारण वासनाओं से संघर्ष करना पड़ता है। कभी इन इच्छाओं का, कामवृत्ति का निरसन भी किया जाता है और कभी विवेक के माध्यम से पुनः अचेतन मन में भेज दिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनदर्शन की मैथुन-संज्ञा और फ्रायड की काम-संज्ञा अर्थात् लिबिडो व्यावहारिक रूप से समान है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक फ्रायड यह कहता है कि कामवासना का दमन या मनोनिग्रह मानसिक-स्वास्थ्य के लिए अहितकर है। यही नहीं, इच्छाओं और वासनाओं के दमन में जितनी अधिक तीव्रता होती है, वे दमित वासनाएँ उतने ही वेग से विकृत रूप में प्रकट होकर केवल अपनी ही पूर्ति का प्रयास ही नहीं करती है, वरन् मनुष्य के व्यक्तित्व को भी विकृत बना देती है, परंतु जैनधर्म ब्रह्मचर्य की आराधना के द्वारा मैथुनसंज्ञा/कामवासना को दमित करने और मुक्ति को प्राप्त करने के मार्ग को प्रशस्त करता है।

¹⁰¹ आचारांगसूत्र, 3/1/42

कामवासना के दमन एवं निरसन के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण –

जैन-दृष्टिकोण कामवासना के दमन के सम्बन्ध में यह कहता है कि विकास का सच्चा मार्ग वासनाओं का उपशम या दमन नहीं है, उनका निरसन या क्षय करना है, क्योंकि दमित चित्त में वासना की सत्ता बनी रहती है। वासना को जितना दबाया जाता है, वह उतनी ही तेजी से विस्फोटित होती है, जबकि क्षय में वासना धीरे-धीरे कम होकर समाप्त हो जाती है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में भी दमन में वासना {Id} और नैतिक मन {super ego} में संघर्ष चलता रहता है, लेकिन क्षय में यह संघर्ष नहीं होता है, वहाँ तो वासना जगती ही नहीं है। दमन और निरसन को स्पष्ट करने के लिए उदाहरणतः जैसे पानी गंदा है और उसमें फिटकरी डालकर पानी के मैल को उपशमित किया जाता है, लेकिन इस पानी को हिलाने पर पुनः पानी गंदा दिखाई देता है, परन्तु जब पानी को फिल्टर में डालकर साफ किया जाता है, तो फिर पानी गंदा होने की संभावना ही नहीं रहती है, जिस प्रकार पानी की गंदगी फिल्टर द्वारा पूर्ण रूप से साफ हो गई, तो फिर गंदा होने की संभावना ही समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार वासना के क्षय से पुनः वासना उत्पन्न होने की संभावना ही नहीं रहती है। दशवैकालिकसूत्र¹⁰² में कहा है – स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग, हावभाव, सौन्दर्य, चालढाल, अंगचेष्टां आदि को गौर से देखने से कामराग की वृद्धि होती है तथा दमित कामवासना पुनः जाग्रत हो जाती है। सामान्यतः, दमन शब्द का प्रयोग बलपूर्वक होने वाले निरोध के अर्थ में किया जाता है। संस्कृत-हिन्दी-कोष में इस शब्द के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं। उनमें से कुछ निम्न हैं – दबाना, नियन्त्रित करना, निरावेश, शान्त, आत्मसंयम, वश में करना, जीतना।¹⁰³ जहाँ तक निरसन शब्द के अर्थ का प्रश्न है, उसका प्रचलित अर्थ निकालना एवं दूर करना है, किन्तु

¹⁰² दशवैकालिकसूत्र – 8/57

¹⁰³ संस्कृतहिन्दी कोश पृ. 488

संस्कृत-हिन्दी-कोश के अनुसार इसके निम्न अनेक अर्थ हैं — निकालना, प्रक्षेपन, हटाना, दूर करना, उद्वमन, उन्मूलन, निष्कासन, रोकना, दबाना विनाश आदि।¹⁰⁴

जैनसाधना-पद्धति तो समत्व (समभाव) की साधना है।¹⁰⁵ वासनाओं के दमन का मार्ग तो चित्तक्षोभ उत्पन्न करता है, अतः वह उसे स्वीकार्य नहीं है। जैनसाधना का आदर्श क्षायिक-साधना है, जिसमें वासना का दमन नहीं, वरन् वासना-क्षय ही साधक का लक्ष्य है।

वासनाओं का क्षय कैसे किया जाए ? इस संदर्भ में आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र में कहते हैं कि मन जिन-जिन विषयों में प्रवृत्त होता हो, उनसे उसे बलात् नहीं रोकना चाहिए, क्योंकि बलात् रोकने से वह उस ओर अधिक दौड़ने लगता है और न रोकने से शान्त हो जाता है। जैसे मदोन्मत्त हाथी को रोका जाय तो वह और अधिक प्रेरित होता है और उसे न रोका जाए तो वह अपने इष्ट विषयों को प्राप्त करके शान्त हो जाता है, यही स्थिति वासनाओं और मन की है। साधक अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हुई इन्द्रियों को न तो रोके और न उन्हें प्रवृत्त करे। वह केवल इतना ध्यान रखे कि विषयों के प्रति रागद्वेष उत्पन्न न हो। वह प्रत्येक स्थिति में तटस्थ बना रहे। वह अपनी वृत्ति को उदासीन बना ले और किंचित् भी संकल्प-विकल्प न करे। जो चित्त-संकल्पों से व्याकुल होता है, उसमें स्थिरता नहीं आ सकती।¹⁰⁶

इस प्रकार कमनीय रूप को देखता हुआ और मनोज्ञ वाणी को सुनता हुआ, सुगंधित पदार्थों को सूँघता हुआ, रस के आस्वादन का अनुभव करता हुआ, कोमल पदार्थों का स्पर्श करता हुआ, और अनुभूतियों को न रोकता हुआ भी, उदासीन भाव से युक्त तथा आसक्ति का परित्याग करके, बाह्य और आन्तरिक-चिन्ताओं एवं

¹⁰⁴ संस्कृतहिन्दी कोश पृ. 535

¹⁰⁵ उत्तराध्ययनसूत्र — 23/58

¹⁰⁶ योगशास्त्र — 12/27-28, 12/26, 12/19

चेष्टाओं से रहित होकर वह एकाग्रता को प्राप्त करके साधक अतीव अनासक्त-भाव या वीतरागता को प्राप्त कर लेता है।¹⁰⁷

उदासीन-भाव में निमग्न, सब प्रकार के प्रयत्न से रहित और परमानन्द-दशा की भावना करनेवाला योगी किसी भी जगह मन को नहीं जोड़ता है। इस प्रकार, आत्मा जब मन की उपेक्षा कर देती है तो वह उपेक्षित मन इन्द्रियों का आश्रय नहीं करता और वासना को उत्पन्न होने के स्रोत को ही समाप्त कर देता है। जैसे-वायुविहीन स्थान में स्थापित दीपक निराबाध प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार मनोवृत्तियों की चंचलतारूपी वायु का अभाव हो जाने से आत्मा में कर्म-मल से रहित शुद्ध आत्मज्ञान का प्रकाश होता है।¹⁰⁸

जैनाचार्यों ने इस प्रकार वासनाओं एवं मन के विलयन की जो अवस्था बतायी, वह सहज ही साध्य नहीं है, इसलिए वासनाओं को समाप्त करने का वास्तविक उपाय ब्रह्मचर्य, अर्थात् मैथुन-संज्ञा पर विजय हो सकती है, क्योंकि भोगों के माध्यम से वासना की तृप्ति हो जाती है, परन्तु उसका अभाव नहीं होता। वह दोगुने वेग से पुनः उभरती है। प्रारम्भिक दशा में श्रावक में इतनी सामर्थ्य नहीं होती है कि वह ब्रह्मचर्य-महाव्रत का पालन कर सके, अतः उसके लिए स्वपत्नी-संतोषव्रत¹⁰⁹ बताया गया है। दम्पति एक-दूसरे से सन्तुष्ट और प्रसन्न रहें, दाम्पत्य की मर्यादा के बाहर आकर्षण का अनुभव न करें। पुरुष के लिए एक ही पत्नी और स्त्री के लिए एक ही पति की मर्यादा हर प्रकार से उचित, न्यायसंगत और निरापद सिद्ध हुई है। गृहस्थों के लिए यही 'ब्रह्मचर्य-अणुव्रत' है।

¹⁰⁷ योगशास्त्र - 12/23-25

¹⁰⁸ वही - 12/33-36

¹⁰⁹ उपासकदशांग - 1/44

कामवासनाओं का दमन और निरसन, ब्रह्मचर्य के माध्यम से --

लालटेन की लौ से प्रकाश होता है, परन्तु काँच की हण्डी यदि धुएँ से काली हो चुकी हो, तो लौ को आप कितनी भी तेज कर दें, उससे वस्तुएँ साफ-साफ नहीं दिखाई देती। इसी प्रकार, आत्मा में ज्ञान की लौ है, अनन्त प्रकाश है, परन्तु मन पर विषय-वासनाओं के धुएँ रूपी आवरण हो, तो सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। मन की निर्मलता के लिए तन, की शरीर की निर्मलता/स्वस्थता अत्यावश्यक है। किसी अंग्रेजी चिन्तक ने ठीक ही कहा है -- "Sound mind in sound body" सबल शरीर में ही सबल मन रहता है। सुख के सैकड़ों साधन हों, किन्तु यदि शरीर स्वस्थ नहीं है, तो उन साधनों का कोई मूल्य नहीं, कोई आनन्द नहीं। जीवन का सच्चा सुख, सच्चा आनन्द स्वस्थता है, अर्थात् स्व में अवस्थिति है। यह तभी सम्भव है, जब विषयों की ओर नहीं भागें। तन की स्वस्थता का आधार भी इन्द्रियों का संयम, ब्रह्मचर्य एवं सदाचार का पालन ही है। ब्रह्मचर्य ही तन और मन की स्वस्थता का आधार है। महापुरुषों ने कहा है --

ब्रह्मचर्य जीवन है, वासना मृत्यु है।

ब्रह्मचर्य अमृत है, वासना विष है।

ब्रह्मचर्य अनन्त शान्ति है, वासना अशान्ति है।

ब्रह्मचर्य शुद्ध ज्योति है, वासना घना अन्धकार है।

यह विचारणीय है कि शील क्या है ? ब्रह्मचर्य क्या है ? इनसे शारीरिक और मानसिक-स्वस्थता का क्या सम्बन्ध है ?

ब्रह्मचर्य शब्द 'ब्रह्म' और 'चर्य' इन दो शब्दों के संयोग से बना है। ब्रह्म का अर्थ है -- आत्मा की शुद्ध दशा; चर्य का अर्थ है -- आचरण। आत्मा के शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करने वाला आचरण ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की साधना परमात्मस्वरूप की साधना है। ब्रह्मव्रत की साधना का अर्थ मन-वचन एवं काया से वासनारूपी कर्म-बीज का उन्मूलन करना है।¹¹⁰ यद्यपि ब्रह्मचर्य का महाव्रतों की परिगणना में

¹¹⁰ गांधी वाणी, पृ. 19

चतुर्थ क्रम है, तथापि वह अपनी अद्भुत महिमा और गरिमा के कारण सभी व्रतों में प्रथम स्थान रखता है। “तं बंभ भगवंतं तित्थयरे चेव जहा मुणीणं¹¹¹” अर्थात् ब्रह्मचर्य स्वयं भगवान है। जैसे श्रमणों में तीर्थंकर सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है। एक ब्रह्मचर्य-व्रत की जो आराधना कर लेता है, वह समस्त व्रत-नियमों की आराधना कर लेता है। समस्त व्रत, नियम, तप, शील, विनय, सत्य, संयम आदि की साधना का मूल आधार ब्रह्मचर्य को माना गया है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है — इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों के प्रति रही हुई आसक्ति समाप्त करना है। प्रश्नव्याकरणसूत्र¹¹² में बत्तीस उपमाओं द्वारा ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता स्थापित की गई है। जो निम्न हैं —

1. जिस प्रकार समस्त ग्रहों, नक्षत्रों और तारों में चन्द्रमा प्रधान होता है, उसी प्रकार समस्त व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।
2. मणि, मुक्ता, शिला, प्रवाल और लाल (रत्न) की उत्पत्ति के स्थानों (खानों) में समुद्र प्रधान है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सर्व व्रतों का श्रेष्ठ उद्भव-स्थान है।
3. ब्रह्मचर्य मणियों में वैदूर्यमणि के समान उत्तम है।
4. ब्रह्मचर्य आभूषणों में मुकुट के समान है।
5. ब्रह्मचर्य समस्त प्रकार के वस्त्रों में क्षौमयुगल-कपास के वस्त्रयुगल के सदृश है।
6. ब्रह्मचर्य पुष्पों में श्रेष्ठ अरविन्द (कमल) पुष्प के समान है।
7. ब्रह्मचर्य चन्दनों में गोशीर्ष चन्दन के समान श्रेष्ठ है।
8. जैसे औषधियों, चमत्कारिक वनस्पतियों का उत्पत्ति स्थान हिमवान् पर्वत है, उसी प्रकार आमशौषधि की उत्पत्ति का स्थान ब्रह्मचर्य है।
9. जैसे नदियों में शीतोदा नदी प्रधान है, वैसे ही सब व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।

¹¹¹ प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवरद्वार-4

¹¹² प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवरद्वार-अध्ययन 4

10. समस्त समुद्रों में स्वयंभूरमण समुद्र जैसे महान् है, उसी प्रकार व्रतों में ब्रह्मचर्य महान् है।
11. जैसे गोलाकार (माण्डलिक) पर्वतों में रुचकवर (तेरहवें द्वीप में स्थित) पर्वत प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।
12. इन्द्रों का ऐरावण नामक गजराज जैसे सर्व गजराजों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी सभी व्रतों में श्रेष्ठ है।
13. ब्रह्मचर्य—वन्य जन्तुओं में सिंह के समान प्रधान है।
14. सुपर्णकुमार देवों में वेणुदेव के समान सब व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है।
15. जैसे नागकुमार जाति के देवों में धरणेन्द्र प्रधान है, उसी प्रकार सर्व व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।
16. ब्रह्मचर्य कल्पों में ब्रह्मलोक कल्प के समान उत्तम है, क्योंकि ब्रह्मलोक का क्षेत्र महान् है और वहाँ का इन्द्र अत्यन्त शुभ परिणाम वाला होता है।
17. जैसे उत्पाद—सभा, अभिषेक—सभा, अलंकार—सभा, व्यवसाय—सभा आदि सभाओं में सुधर्म—सभा श्रेष्ठ है, उसी प्रकार व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है।
18. जैसे स्थितियों में लवसप्तमा अर्थात् अनुत्तरविमानवासी देवों की स्थिति प्रधान है, उसी प्रकार व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।
19. सब दानों में अभयदान के समान ब्रह्मचर्य सब व्रतों में श्रेष्ठ है।
20. ब्रह्मचर्य सब प्रकार के कम्बलों में रत्नकम्बल (कृमिरागरक्त) के समान श्रेष्ठ है।
21. संहननों में वज्रऋषभनाराच—संहनन के समान ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है।
22. संस्थानों में समचतुरस्र—संस्थान के समान ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है।
23. जैसे ध्यानों में शुक्लध्यान सर्वप्रधान है, उसी प्रकार व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है।
24. समस्त ज्ञानों में जैसे केवलज्ञान श्रेष्ठ है, वैसे ही व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है।

25. समस्त लेश्याओं में शुक्ललेश्या के समान व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है।
26. मुनियों में जैसे तीर्थंकर उत्तम हैं, उसी प्रकार व्रतों में ब्रह्मचर्य--व्रत उत्तम है।
27. क्षेत्रों में महाविदेहक्षेत्र की तरह ही व्रतों में ब्रह्मचर्य उत्तम है।
28. पर्वतों में गिरिराज सुमेरु की भांति व्रतों में ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम व्रत है।
29. जैसे समस्त वनों में नन्दन वन प्रधान है, उसी प्रकार समस्त व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।
30. जैसे समस्त वृक्षों में सुदर्शन जम्बु-वृक्ष प्रधान है, उसी प्रकार समस्त व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।
31. जैसे अश्वाधिपति, गजाधिपति और रथाधिपति राजा विख्यात होता है, उसी प्रकार व्रताधिपति ब्रह्मचर्य विख्यात है।
32. जैसे रथिकों में महारथी राजा श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार समस्त व्रतों में ब्रह्मचर्य--व्रत सर्वश्रेष्ठ है।

इस प्रकार, एक ब्रह्मचर्य की आराधना करने पर अनेक गुण स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से इहलोक और परलोक--सम्बन्धी यश और कीर्ति प्राप्त होती है, अतएव एकाग्र-स्थिर चित्त से तीन करण और तीन योग से विशुद्ध सर्वथा निर्दोष ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

प्राचीन साहित्य का अनुशीलन व परिशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि 'ब्रह्म' शब्द के मुख्य रूप से तीन अर्थ हैं -

ब्रह्म - वीर्य है।

ब्रह्म - आत्मा है।

ब्रह्म - विद्या है।

'चर्य' शब्द के भी तीन अर्थ हैं - रक्षण, रमण और अध्ययन। इस प्रकार, ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ हुए - 1. वीर्यरक्षण, 2. आत्मरमण और 3. विद्याध्ययन।

वीर्यरक्षण अर्थ तो प्रायः प्रसिद्ध है, किन्तु इसके आगे के दो अर्थ भी मननीय हैं। आत्मस्वरूप में लीन होना और सतत ज्ञानार्जन करते रहना — ये ब्रह्मचर्य की साधना को सम्पूर्णता प्रदान करते हैं। इस प्रकार, ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ — विकारों का उपशमन कर ज्ञानपूर्वक आत्मा में रमण करना।

वीर्यरक्षण —

महर्षि पतंजलि ने 'योगदर्शन' में ब्रह्मचर्य की परिभाषा करते हुए लिखा है — 'ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठाया वीर्य लाभः'¹¹³ ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना कर लेने पर अपूर्व मानसिक-शक्ति और शरीर-बल प्राप्त होता है। 'योगदर्शन' के भाष्यकार और टीकाकारों ने वीर्य शब्द का अर्थ 'शक्ति और बल' किया है। जब तक व्यक्ति अपने वीर्य और शक्ति का रक्षण नहीं करता, तब तक शरीर ओजस्वी और तेजस्वी नहीं बनता है। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से शारीरिक-शक्ति का केन्द्र वीर्य और शुक्र हैं। शरीर के इस महत्त्वपूर्ण अंश को अधोमुखी होकर बहने से ऊर्ध्वमुखी बनाना ब्रह्मचर्य है। वीर्य के विनाश से जीवन का सर्वतोमुखी पतन होता है।

वीर्य-निर्माण —

भारतीय आयुर्वेद-शास्त्र में तथा पाश्चात्य-चिन्तकों ने वीर्य और उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में गहराई से अनुचिन्तन किया है। वैद्यक-शास्त्र के आद्य प्रणेता आचार्य चरक ने अपने ग्रन्थ 'चरक संहिता' में लिखा है कि हम जो भोजन करते हैं, पाचन-क्रिया के क्रम में उसका सर्वप्रथम रस बनता है। रस से रक्त, फिर मांस, उसके बाद मेद, तत्पश्चात् अस्थियाँ, अस्थियों से मज्जा, मज्जा से अन्त में शुक्र अर्थात् वीर्य बनता है।¹¹⁴

¹¹³ पातंजलि योगदर्शन — 2/38

¹¹⁴ 1) रसात् रक्तं ततो मांसं, मांसात् भेदो प्रजायते।
भेदसोऽस्थि ततो मज्जा, मज्जायाः शुक्रसंभवः॥ — चरकसंहिता, अ.3 श्लोक 6

2) समयसार, गाथा-179

प्रत्येक के बनने में सात-सात दिन लगते हैं। आज भोजन किया, सात दिन बाद रस बनेगा, चौदह दिन बाद रक्त, इक्कीस दिन बाद मांस, अट्ठाईस दिन बाद मेद, पैंतीस दिन बाद अस्थियाँ, बयालीस दिन बाद मज्जा, और उनपचासवें दिन कहीं जाकर वीर्य का निर्माण होता है, जोकि हमारे जीवन की अमूल्य शक्ति है, वह भी सिर्फ़ डेढ़ तोला ही बनता है। भोजन को पचाते-पचाते उनपचास दिनों के बाद जो शक्ति हमने प्राप्त की, वह एक बार के संभोग में नष्ट हो जाती है। महर्षि सुश्रुत¹¹⁵ का अभिमत है – रस से शुक्र तक सप्तधातुओं के परम तेज भाग को ओजस् कहते हैं। यह ओजस् बल और शक्तियुक्त है। शारंगधर का कथन है¹¹⁶ – ओजस् सम्पूर्ण शरीर में रहता है। वह अत्यन्त स्निग्ध, शीतल, स्थिर, श्वेत, सौम्य तथा शरीर को बल तथा पुष्टि प्रदान करने वाला है, परन्तु अब्रह्म के कारण क्षणमात्र में वह नष्ट हो जाता है। जैसे सम्राट बहुत सुन्दर उद्यान लगवाएं। सुन्दर-सुन्दर फूल चुनवाएं, उन हजारों फूलों की इत्र बनाएं, उस इत्र की मात्र दो-चार बूंद उपयोग में ले और बाकी इत्र नाली में फेंक दें, उसे मूर्खता ही कहेंगे।

वीर्य के ह्रास से ज्ञान-तन्तु दुर्बल हो जाते हैं। वीर्य का नाश मस्तिष्क का नाश है, क्योंकि वीर्य और मस्तिष्क –दोनों एक ही पदार्थ से निर्मित हैं। दोनों के निर्माता रासायनिक-तत्त्व एक से हैं। शारीरिक और मानसिक-परिश्रम करने से, अथवा निरन्तर किसी कार्य में लगे रहने से वीर्य के जो अणु हैं, वे मस्तिष्क में व्यय हो जाते हैं। जिसका वीर्य आवश्यकता से अधिक मात्रा में व्यय हो जाता है उसकी मस्तिष्कीय और चिन्तन-शक्ति दुर्बल हो जाती है।

ब्रह्मचर्य: आत्मरमण –

ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ 'आत्मरमण' है। ब्रह्मचारी साधक कामवासना से अपने-आपको मुक्त रखता है। उसका मन निर्विकारी होता है। वह वासना का त्याग करता है और वासना को उद्दीप्त करने वाले साधनों का भी त्याग करता है। वासना

¹¹⁵ रसादिनां शुक्रांतानां धातुनां यत्परंतेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलम्। – सूत्रस्थान, 15/19

¹¹⁶ ओजः सर्वशरीरस्य स्निग्धं शीत स्थिरं सितम्
सोमात्मकं शरीरस्य बल-पुष्टिकरं मतम्।। – शिवसंहिता

से आत्मा में मलिनता आती है और ब्रह्म का अपूर्व तेज उससे धूमिल हो जाता है। ब्रह्मचारी साधक इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गलों के परिणमन को जैसा है, वैसा—जानकर, अपनी आत्मा को उपशान्त कर, तृष्णा रहित हो विहार करे।¹¹⁷ साधक आत्मा को विकारी भावों से हटाकर अपने—आपको शुद्ध परिणति में केन्द्रित करता है, या ब्रह्मचर्य की जो साधना करता है, वही परमात्म—भाव की साधना करता है। जिस साधक का मन विषय—वासना के बीहड़ वनों में भटकता रहता है, वह साधक कभी भी अन्तर्मुखी नहीं बनता है और अन्तर्मुखी या आत्मकेन्द्रित हुए बिना ब्रह्मचर्य की सही साधना नहीं हो सकती है। जिसका मन बहुविधभोग के विषयों में फंसा हुआ है, वह ब्रह्मचर्य की उत्कृष्ट साधना नहीं कर सकता, क्योंकि विविध विषयों के भोग की आकांक्षा में लगा हुआ मन कभी स्थिर नहीं होता है।

ब्रह्मचर्य: विद्याध्ययन —

ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ 'विद्याध्ययन' है। अथर्ववेद¹¹⁸ में लिखा है कि ब्रह्मचर्य से तेज, धृति, साहस और विद्या की उपलब्धि होती है। वह शक्ति का स्रोत है। उससे बल, साहस, निर्भयता, प्रसन्नता और शरीर में अपूर्व तेजस्विता आती है।

आर्य—संस्कृति में ब्रह्मचर्य की महिमा अपरंपार है। शक्तिसंपन्न मनोबली साधक को तो जीवनपर्यंत ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, परन्तु यदि जीवन—पर्यंत पालन करने में समर्थ न हो, तो भी विद्यार्थी—जीवन में तो ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त ही आवश्यक है। जो विद्यार्थी विद्यार्थी—जीवन में ब्रह्मचर्य—पालन में शिथिल हो जाता है और येन—केन उपाय से अपनी वासना की पूर्ति करने का प्रयास करता है, उस व्यक्ति की वीर्यशक्ति का नाश हो जाता है और वह धीरे—धीरे कमजोर हो जाता है। विद्यार्थी—जीवन में तो अध्ययन, खेल व अन्य प्रवृत्ति में अधिक शक्ति, एकाग्रता व संकल्पबल की आवश्यकता रहती है, जिसकी प्राप्ति ब्रह्मचर्य से ही संभव है।

¹¹⁷ दशवैकालिकसूत्र — 8/59

¹¹⁸ ब्रह्मचर्येण वै विद्या । — अथर्ववेद 15, 5-17

वैदिक-परम्परा में आश्रम-व्यवस्था को मान्य किया गया है। उसमें सर्वप्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है। ब्रह्मचर्य की सुदृढ़ नींव पर है। अन्य आश्रम टिके हुए हैं। ब्रह्मचर्य से बुद्धि पूर्ण रूप से निर्मल रहती है, इसलिए वह प्रत्येक विषय को सहज रूप से ग्रहण कर सकती है। वेदों के प्रशस्त भाष्यकार सायण-¹¹⁹ ने ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है - वेदात्मक-ब्रह्म का अध्ययन करना जिसका स्वभाव है, वही ब्रह्मचारी है। वेद ब्रह्म हैं। वेदाध्ययन के लिए आचारणीय कर्म ब्रह्मचर्य है। ऋग्वेद¹²⁰, अथर्ववेद¹²¹, तैत्तरीयसंहिता¹²² आदि में ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी शब्द प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण¹²³ ग्रन्थों में भी ब्रह्मचर्य शब्द की व्याख्या है।

वैदिक-साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्याश्रम में तो ब्रह्मचर्य की प्रधानता थी ही, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में भी ब्रह्मचर्य को ही महत्त्व दिया गया था, केवल गृहस्थाश्रम में कामवासना की तृप्ति की छूट थी, किन्तु वह छूट बहुत ही सीमित थी, केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए। गृहस्थाश्रम में भी अधिक समय तो ब्रह्मचर्य का पालन ही किया जाता था।

ब्रह्मचर्य : अपूर्व कला -

ब्रह्मचर्य जीवन की साधना है। वह एक अपूर्व कला है, जो विचार और व्यवहार को आचार में परिणत करती है। उससे शारीरिक-सौन्दर्य में निखार आता है, मन विशुद्ध बनता है। वह कहने की वस्तु नहीं, आचरण करने की वस्तु है।

ब्रह्मचर्य में अमित शक्ति है। वह शक्ति मन में एक अपूर्व क्षमता का संचार करती है। अन्तरात्मा में एक प्रबल प्रेरणा उद्बुद्ध करती है। प्रचण्ड शक्ति व दैदीप्यमान तेज के कारण जीवन में अपूर्व ज्योति जगमगाने लगती है। ब्रह्मचर्य ऐसी

¹¹⁹ अथर्ववेद - 11-5-1, 11-5-16 (सायणभाष्य)

¹²⁰ ऋग्वेद - 10-109-5

¹²¹ अथर्ववेद - 5/16 15, 11-5-1-26

¹²² तैत्तरीय संहिता 3-10-5

¹²³ शतपथ ब्राह्मण - 9-5-4-12

धधकती हुई आग है, जिसमें तपकर आत्मा कुन्दन की तरह दमकने लगती है, ऐसी अद्भुत औषध है, जिससे अपूर्व बल प्राप्त होता है। परमात्म-तत्त्व के दर्शन करने के लिए विकारों का दमन करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य जहाँ बाह्य-जगत् में हमारे तन को स्वस्थ रखता है, वहाँ अन्तर्जगत् में विचारों को भी विशुद्ध रखता है। मानव-जीवन में ब्रह्मचर्य की साधना के बिना सर्वांगीण विकास संभव नहीं होता है।

जब मन में वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, तब चित्त का विचलन बढ़ जाता है और जीवन का विकास रुक जाता है। इसीलिए कहा गया है कि साधक सुखाभिलाषी होकर काम-भोगों की कामना न करे, प्राप्त भोगों को भी अप्राप्त जैसा कर दे, अर्थात् उपलब्ध भोगों के प्रति भी निःस्पृह रहे।¹²⁴

मानव का तन सामान्य तन नहीं है। वह बहुत ही मूल्यवान् है। इस शरीर का यदि सदुपयोग करे, तो वह नर से नारायण बन सकता है, इन्सान से भगवान् हो सकता है। पर मानव का अत्यन्त दुर्भाग्य है कि युवावस्था प्रारम्भ होते ही उसमें वासना की आग सुलगने लगती है। वह उस पर नियन्त्रण नहीं कर पाता। वातावरण की वायु से यह आग और भड़क उठती है, जिससे उसके शरीर का तेज और ओज धूमिल होने लगता है। विकास की जो कल्पनाएँ उसके अन्तर्मानस में पनपती हैं, वे कल्पनाएँ वासनाओं की चिनगारी से भस्म हो जाती हैं, वह प्रगति नहीं कर पाता, इसलिए भारत के तत्त्वदर्शी महर्षियों ने ब्रह्मचर्य पर अधिक बल दिया है। उन्होंने कहा है कि ब्रह्मचर्य जीवन को सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम बनाता है।

सूत्रकृतांगसूत्र¹²⁵ में ब्रह्मचर्य को सभी तपों में श्रेष्ठ माना गया है। उसी प्रकार ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठतम व्रत माना है।¹²⁶ अत्यन्त दुष्कर ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले ब्रह्मचारी को तो देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नरादि सभी नमस्कार करते हैं।¹²⁷

¹²⁴ कामी कामे न कामए, लद्धे वाचि अलद्ध कण्हुई। - सूत्रकृतांगसूत्र - 1/2/3/6

¹²⁵ तवेसु वा उत्तम बंभचेरं - वही 1/6/23

¹²⁶ एस धम्मे धुवे निअए, सासए जिणदिसिए।

सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण सिज्झिस्सन्ति तहावरे। - उत्तराध्ययनसूत्र 16/17

¹²⁷ वही - 16-16

जैन-परम्परा में ही नहीं, अपितु बौद्ध-परम्परा में भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व एक स्वर से स्वीकार किया गया है। धम्मपद¹²⁸ में कहा है — अगरु और चन्दन की सुगंध तो बहुत अल्प मात्रा में होती है, पर ब्रह्मचर्य (शील) की ऐसी सुगन्ध है, जो देवताओं के दिल को लुभा देती है। वह सुगन्ध इतनी व्यापक होती है कि मानव-लोक में तो क्या, देवलोक में भी व्याप्त हो जाती है। विसुद्धिमग्ग¹²⁹ में कहा है — निर्वाण-नगर में प्रवेश करने के लिए ब्रह्मचर्य के समान और कोई द्वार नहीं।

बौद्ध-त्रिपिटक-साहित्य के अनुशीलन में यह भी ज्ञात होता है कि वहाँ पर 'ब्रह्मचर्य' तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। दीघनिकाय¹³⁰ में ब्रह्मचर्य का प्रयोग बुद्ध द्वारा प्रतिपादित 'धर्म-मार्ग' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दीघनिकाय के पोडुपाद में उसका अर्थ 'बौद्ध धर्म में निवास'¹³¹ है। जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ 'मैथुन-विरमण'¹³² है।

आत्मा अनन्तकाल से अपने शुद्ध स्वरूप को विस्मृत कर चुकी है और जो उसका निज स्वभाव नहीं है, उसे वह अपना स्वभाव मान बैठी है। अनन्तकाल से विकार और वासनाएँ आत्मा के साथ हैं, पर वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। पानी स्वभाव से शीतल है, अग्नि के संस्पर्श से वह उष्ण हो जाता है, पर उष्णता उसका स्वभाव नहीं है। आग का स्वभाव उष्ण है, मिर्ची का स्वभाव तीखापन है, मिश्री का स्वभाव मधुरता है, वैसे ही आत्मा का स्वभाव विकाररहित अवस्था या स्वभावदशा है। विभाव कर्मों का स्वभाव है, इसलिए वह औपाधिक-भाव है। उस विभाव से हटकर जिन-स्वभाव में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है।

¹²⁸ चंदनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी
एतेसं गंधजातान् सीलगंधो अनुत्तरो ।। — धम्मपद 4-12

¹²⁹ सगारोहन सोपानं अंजं सीलसमं कुतो
द्वारं वा पन निव्वान-नगरस्स पवेसने ।। — विसुद्धिमग्ग, परि-1

¹³⁰ दीघनिकाय, महापरिनिव्वाणसुत्त, पृ. 131

¹³¹ दीघनिकाय, पोडुपाद, पृ. 75

¹³² विसुद्धिमग्ग, प्रथम भाग, पृ. 195

जैन परम्परा में 'ब्रह्मचर्य' शब्द व्यापक अर्थ को लिए हुए है। आचारांग का अपर नाम भी 'ब्रह्मचर्याध्ययन'¹³³ है। ब्रह्मचर्य-अध्ययन में प्रवचन का सार है और मोक्ष का उपाय प्रतिपादित है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए जितने भी आवश्यक सद्गुण और आचरण करने योग्य बातें हैं, वे सभी ब्रह्मचर्य में आ गईं।¹³⁴ ब्रह्मचर्य में सारे मूलगुणों व उत्तरगुणों का समावेश है।¹³⁵ आचार्य भद्रबाहुजी¹³⁶ का मन्तव्य है कि भाव-ब्रह्म दो प्रकार का है - एक, श्रमण का 'बस्ती संयम' और द्वितीय, श्रमण का 'सम्पूर्ण संयम'। श्रमणधर्म ग्रहण करते समय मुमुक्षु साधक महाव्रतों को स्वीकार करता है, उसमें चतुर्थ महाव्रत ब्रह्मचर्य है।¹³⁷ वह देव-सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी या तिर्यच-सम्बन्धी,¹³⁸ सभी प्रकार के मैथुन का परित्याग करता है। मन, वचन और काया से न स्वयं मैथुन का सेवन करता है, न दूसरों से करवाता है, न मैथुन-सेवन करने वालों का अनुमोदन करता है।

आचार्य अकलंक¹³⁹ ने अपना स्वतन्त्र चिन्तन प्रस्तुत करते हुए कहा है- व्यक्ति के द्वारा स्वयं के कामांग आदि का संस्पर्श भी अब्रह्म-सेवन या मैथुन ही है, क्योंकि उस संस्पर्श से भी कामरूपी पिशाच से चित्त-विकलन प्रारम्भ हो जाता है, अतः हस्त-कर्म आदि भी मैथुन कहलाता है। यहाँ तक कहा गया है कि पुरुष-पुरुष या स्त्री-स्त्री के बीच जो अनिष्ट चेष्टाएँ हैं, वे भी अब्रह्म हैं। साधक के लिए उस अब्रह्मचर्य से छुटकारा पाना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, जिनदेशित है। पहले भी प्रस्तुत धर्म का पालन कर अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, अभी

¹³³ आचारांगनियुक्ति, गाथा-11

¹³⁴ वही, गाथा 30

¹³⁵ वही गाथा 30 की वृत्ति

¹³⁶ वही गाथा 28

¹³⁷ क) दशवैकालिकसूत्र - 4/4
ख) आचारांग श्रुतस्कन्ध - 2,15

¹³⁸ क) दशवैकालिकसूत्र 4/4
ख) समवायांगसूत्र - 5

¹³⁹ तत्त्वार्थवार्तिक

होते हैं और आगे भी होंगे।¹⁴⁰ अन्य व्रत के परिपालन हेतु, ज्ञानवृद्धि के लिए, कषाय पर विजय पाने हेतु, स्वच्छंद वृत्ति की निवृत्ति के लिए यह आवश्यक है कि श्रमण गुरु-चरणों में रहे। इस उद्देश्य से गुरुकुलवास को भी ब्रह्मचर्य कहा है।¹⁴¹

ब्रह्मचर्याणुव्रत {स्वदारसन्तोष-व्रत}¹⁴² -

जैन-साधना में जहाँ श्रमण साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर स्त्री-पुरुष सम्बन्धी काम-क्रिया से पूर्णतया विरत हो जाता है, वहाँ गृहस्थ के लिए कम से कम इतना तो आवश्यक माना गया है कि यदि वह अपनी भोगलिप्सा का पूरी तरह त्याग न कर सके, तो उसे स्वपत्नी तक सीमित रखे एवं सम्भोग की मर्यादा करे अर्थात् उसे सीमित करे। स्वपत्नी-सन्तोषव्रत का प्रतिज्ञासूत्र उपासकदशांग में इस प्रकार है - "मैं स्वपत्नीसन्तोषव्रत ग्रहण करता हूँ (.....) नामक पत्नी के अतिरिक्त अवशिष्ट मैथुन का त्याग करता हूँ।"

इस व्रत की प्रतिज्ञा से स्पष्ट ही है कि यह अन्य अणुव्रतों की अपेक्षा विशिष्ट है। जहाँ उन व्रतों की प्रतिज्ञा में करण और योग का उल्लेख किया गया है, वहाँ इस व्रत की प्रतिज्ञा में आगम में उनका उल्लेख नहीं है। टीकाकार की दृष्टि में इसका कारण यह हो सकता है कि गृहस्थ-जीवन में सन्तान आदि का विवाह कराना आवश्यक होता है। इसी प्रकार, पशु-पालन करनेवाले गृहस्थ के लिए उनका भी परस्पर सम्बन्ध कराना आवश्यक हो जाता है, अतः इसमें दो करण और तीन योग न कहकर श्रावक को अपनी परिस्थिति एवं सामर्थ्य पर छोड़ दिया गया है। फिर भी, इतना तो निश्चित ही है कि गृहस्थ-साधक को एक करण और एक योग

¹⁴⁰ उत्तराध्ययनसूत्र 16/17

¹⁴¹ क) तत्त्वार्थसूत्र 9/6, भाष्य 10

ख) स्वतन्त्र वृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम् - सर्वार्थसिद्धि - 9/6

¹⁴² योगशास्त्र - 2/76

से, अर्थात् अपनी काया से स्वपत्नी के अतिरिक्त शेष मैथुन का परित्याग करना होता है। स्वपत्नीसन्तोषव्रती को निम्न पांच दोषों से बचने का विधान है¹⁴³—

1. इत्वरपरिग्रहीतागमन —

इत्वरपरिग्रहीतागमन, अर्थात् अल्प समय के लिए संभोग के लिए पत्नी के रूप में गृहीत स्त्री से समागम करना, या वाग्दत्ता (अल्पवयस्क पत्नी) के साथ समागम करना। इस प्रकार गृहस्थ के लिए संभोग के लिए अल्पकाल के लिए परिग्रहीत वाग्दत्ता और अल्पवयस्का पत्नी के साथ मैथुन करने का निषेध किया गया है।

2. अपरिग्रहीतागमन —

अपरिग्रहीता, अर्थात् वह स्त्री जिस पर किसी का अधिकार नहीं है, अर्थात् वेश्या। वेश्या के साथ समागम करना—यह अपरिग्रहीतागमन है। कुछ आचार्य अपरिग्रहीत का अर्थ करते हैं—किसी के द्वारा ग्रहण नहीं की गई, अर्थात् कुमारी या स्व के द्वारा अपरिग्रहीत पर—स्त्री को भी अपरिग्रहीत माना गया है, अतः वेश्या, कुमारी अथवा पर—स्त्री से काम—सम्बन्ध रखना व्रती गृहस्थ के लिए निषिद्ध है।

3. अनंगक्रीड़ा —

मैथुन के स्वाभाविक अंगों से काम—वासना की पूर्ति न करके अप्राकृतिक अंगों जैसे—हस्त, मुख, गुदादि आदि से वासना की पूर्ति करना, अथवा समलिंगी से मैथुन करना, या पशुओं के साथ मैथुन करना आदि। गृहस्थ—साधक को वासनापूर्ति के ऐसे अप्राकृतिक कृत्यों से बचना चाहिए।

4. परविवाहकरण —

गृहस्थ—जीवन में व्यक्ति को अपने परिवार के सदस्यों के विवाह—संस्कार करने होते हैं, लेकिन यदि गृहस्थ—साधक स्वसंतान एवं परिजनो के अतिरिक्त अन्य

¹⁴³ 1) उपासकदशांग— 1/44

2) जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-2, डॉ. सागरमल जैन, पृष्ठ 281

व्यक्तियों के विवाह—सम्बन्ध या नाते—रिश्ते करवाने की प्रवृत्ति में रुचि लेता रहे तो वह कार्य उसकी भोगाभिरुचि को प्रकट करेगा और मन की निराकुलता में बाधक होगा, अतः गृहस्थ—साधक के लिए स्वसंतान एवं परिजनों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के विवाह—सम्बन्ध कराने का निषेध है, किन्तु डॉ. सागरमल जैन ने इसका भिन्न अर्थ किया है। वे पर—विवाह का अर्थ दूसरा विवाह करना या व्रतग्रहण के बाद अन्य विवाह करना करते हैं।

5. कामभोग—तीव्राभिलाषा --

कामवासना के सेवन की तीव्र इच्छा रखना, अथवा कामवासना के उत्तेजन के लिए कामवर्द्धक औषधियों व मादक द्रव्यों का सेवन करना भी जैन—गृहस्थ के लिए निषिद्ध है, क्योंकि तीव्र कामासक्ति और तज्जनित मानसिक—आकुलता विवेक को भ्रष्ट कर साधक को साधना—पथ से च्युत कर देती है।

इस प्रकार, ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन श्रावक—श्राविका को अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार ही कम करते—करते एक समय सम्पूर्ण वासनाओं का क्षय भी कर सकते हैं।

अब्रह्मचर्य और हिंसा --

जैनदर्शन के अनुसार, एक बार संभोग करने से जघन्यतः एक, दो या तीन और उत्कर्षतः नौ लाख जीव उत्पन्न होते हैं।¹⁴⁴ जयाचार्य के अनुसार, ये नौ लाख संज्ञी (समनस्क) जीव होते हैं। संभोग के समय जो असंज्ञी (अमनस्क) जीव पैदा होते हैं, उनकी संख्या तो इससे कहीं अधिक है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने कहा है — मछली के साथ—साथ नौ लाख बच्चे उत्पन्न हो सकते हैं, उसी प्रकार स्त्री—पुरुष की योनि में एक साथ नौ लाख जीव उत्पन्न हो सकते हैं,

¹⁴⁴ क) प्रवचनसारोद्धार, द्वार— 246/1364

ख) गोयमा! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तीणिण वा।

उक्कोसेणं सयसहस्सपुहतं जीवा णं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति।। — भगवई 5/88

किन्तु उनमें से परिपक्व अवस्था को प्राप्त करने वाले कम ही होते हैं,¹⁴⁵ अतः शेष सभी जीवाणु समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इस तरह, अब्रह्मचर्य के द्वारा बहुत बड़ी हिंसा होती है। श्री हेमचन्द्राचार्यरचित योगशास्त्र में कहा है — 'योनिरूपी यंत्र में अनेक सूक्ष्मतर जन्तु उत्पन्न होते हैं। मैथुन-सेवन करने से वे जन्तु मर जाते हैं, इसलिए मैथुन-सेवन का त्याग करना चाहिए।'¹⁴⁶ इस तरह अब्रह्मचर्य के द्वारा बहुत बड़ी हिंसा होती है। संभवतः, इसी दृष्टि से ब्रह्मचर्य की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए एक आचार्य ने कल्पना की है कि तराजू के एक पलड़े में चारों वेद रखे जाएं और दूसरे पलड़े में ब्रह्मचर्य व्रत रखा जाए, तो ब्रह्मचर्य का पलड़ा भारी हो जाता है।¹⁴⁷ अब्रह्म-सेवन में हिंसा तो मुख्य रूप से होती ही है, किन्तु अन्य पाप भी होते हैं। आचार्य पूज्यपाद¹⁴⁸ लिखते हैं कि अहिंसा आदि गुण जिसके पालन से सुरक्षित रहते हैं, या बढ़ते हैं, वह ब्रह्म है और जिसके होने से अहिंसा आदि गुण सुरक्षित नहीं रहते, वह अब्रह्म है। अब्रह्म के सेवन से प्राणी चर और अचर —सभी की हिंसा करता है। वह झूठ बोलता है, वह बिना दी हुई वस्तु भी ग्रहण करता है। इस प्रकार, ब्रह्मचर्य के व्रत-भंग होने पर अन्य सभी व्रत भंग हो जाते हैं। जैसे पर्वत से गिरने पर वस्तु के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, वैसी ही स्थिति व्रतों की होती है।¹⁴⁹

महात्मा गांधी ने भी कहा है¹⁵⁰ —“पाँच मुख्य व्रत मेरी आध्यात्मिक-साधना के पाँच स्तम्भ हैं। ब्रह्मचर्य उनमें से एक है। पाँचों अविभक्त और सम्बद्ध हैं। वे एक-दूसरे से सम्बन्धित और एक-दूसरे पर आधारित हैं। यदि उनमें से एक का भंग होता है, तो सबका भंग हो जाता है।”

¹⁴⁵ भगवई, वृ.— 2/87

¹⁴⁶ योनियंत्रसमुत्पन्ना सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः
पीडयमान विपद्यन्ते यत्र तन्मैथुनं त्यजेत् ॥ — योगशास्त्र — 2/79

¹⁴⁷ एकतश्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्यं च एकतः — अणु से पूर्ण की यात्रा पृ. 331

¹⁴⁸ तत्त्वार्थराजवार्तिक — 9, 6-23

¹⁴⁹ प्रश्नव्याकरणसूत्र — 2/4

¹⁵⁰ महात्मा गांधी — दि लास्ट फेस, पृ. 585

कामवासना का दमन और निरसन —

ब्रह्मचर्य की भावना और नौ वाड़ के माध्यम से —

ब्रह्मचर्य की साधना वासनाओं के निरसन की साधना है। मानव एकान्त-शान्त स्थान पर बैठकर उग्र-से-उग्र तप की साधना कर सकता है, पर जिस समय उसके अर्न्तमानस में वासना का भयंकर तूफान उठता है, उस समय वह अपने-आपको नियंत्रित नहीं रख पाता, अतः कामवासनाओं के निरसन और ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए सतत जागरुकता अपेक्षित है। साधक को कामवासनाओं के निरसन के लिए अपना जीवन पूर्ण सादगीमय बनाना होता है। कामोत्तेजक मोहपूर्ण वातावरण से अपने-आपको मुक्त करना होता है, अतः आचारांगसूत्र¹⁵¹, समवायांग¹⁵², प्रश्नव्याकरणसूत्र¹⁵³, आचारांगचूर्ण¹⁵⁴, आवश्यकचूर्ण¹⁵⁵, तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं, सर्वार्थसिद्धि¹⁵⁶ एवं राजवार्तिक¹⁵⁷ में ब्रह्मचर्य की पाँच भावनाओं का उल्लेख है। यद्यपि इन सबमें क्रम में या नामों में कुछ अन्तर है, परन्तु भाव सभी का समान है।

आचारांगसूत्र के अनुसार पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं —

1. निर्ग्रथ श्रमण पुनः—पुनः स्त्रियों की कामजनक कथा न करे, क्योंकि उनकी कथा करने से सच्चारित्र और ब्रह्मचर्य का भंग और केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होने की आशंका रहती है।

2. स्त्रियों के मनोहर और मनोरम अंगों का कामरागपूर्वक सामान्य या विशेष रूप से अवलोकन न करे, उससे भी ब्रह्मचर्य का भंग होता है।

¹⁵¹ आचारांगसूत्र — 2, 786—787

¹⁵² समवायांग, सम. 25

¹⁵³ प्रश्नव्याकरणसूत्र

¹⁵⁴ आचारांगचूर्ण, मूल पाठ टिप्पण, पृ. 280

¹⁵⁵ आवश्यकचूर्ण, प्रतिक्रमण अध्ययन, पृ. 143—147

¹⁵⁶ तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि— 7—7

¹⁵⁷ तत्त्वार्थराजवार्तिक 7—7 पृ. 536

3. निर्ग्रथ श्रमण स्त्रियों के साथ की हुई पूर्वरति या पूर्वक्रीड़ा का स्मरण न करे।

4. अतिमात्रा में आहार--पानी का सेवन या सरस स्निग्ध भोजन का उपयोग नहीं करना चाहिए।

5. निर्ग्रथ मुनि को स्त्री, पशु या नपुंसक से युक्त शय्या या आसनादि का सेवन नहीं करना चाहिए।

समवायांगसूत्र में वर्णित पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं --

1. स्त्री-पुरुष-नपुंसक संसक्त शय्या और आसन का वर्जन करे।
2. स्त्रीकथा विवर्जन करे।
3. स्त्रियों की इन्द्रियों का अवलोकन न करे।
4. पूर्वक्रीडित क्रीड़ाओं का स्मरण न करे।
5. प्रणीत (स्निग्ध--सरस) आहार नहीं करे।

प्रश्नव्याकरणसूत्र के अनुसार --

1. विविक्तशयनासन।
2. स्त्रीकथा का परित्याग।
3. स्त्रियों के रूपादि को देखने का परिवर्जन।
4. पूर्वकाल में भुक्तभोगों के स्मरण से विरति।
5. सरस बलवर्द्धक आदि आहार का त्याग।

आचारांगचूर्ण के अनुसार --

1. निर्ग्रथ प्रणीत भोजन तथा अतिमात्रा में आहार न करे।
2. निर्ग्रथ शरीर की विभूषा करने वाला न हो।
3. निर्ग्रथ स्त्रियों के मनोहर और मनोरम अंगों को नहीं देखे।
4. निर्ग्रथ स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शय्या और आसन का सेवन न करे।
5. स्त्रियों की (कामभोगजनक) कथा न करे।

आवश्यकचूर्ण के अनुसार –

1. आहार पर संयम रखे।
2. विभूषा को वर्जन करे।
3. स्त्रियों की ओर न देखे।
4. स्त्रियों का संस्तव/परिचय न करे।
5. क्षुद्र (काम) कथा न करे।

तत्त्वार्थसूत्र में पाँच भावनाएँ इस प्रकार वर्णित हैं –

1. स्त्रियों के प्रति रागोत्पादक कथा-श्रवण का त्याग करे।
2. स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने का त्याग करे।
3. पूर्वभुक्त भोगों के स्मरण का त्याग करे।
4. गरिष्ठ और इष्ट रस का त्याग करे।
5. शरीर-संस्कार का त्याग करे।

सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक में भी भावनाओं का यही क्रम दिया गया है।

भावनाओं में, ब्रह्मचर्य में सहायक तत्त्वों का चिन्तन और मनन करें – ऐसा उपदेश दिया गया है और साथ ही, व्रत के बाधक तत्त्वों से बचने का संकेत भी है। व्रती की सुरक्षा के लिए विधेयात्मक और निषेधात्मक – दोनों प्रकार के उपाय आवश्यक हैं। जहाँ कहीं भी जिन कारणों से ब्रह्मचर्य में दूषण लगने और स्खलन होने की सम्भावना है, उन-उन कारणों का वर्जन इन भावनाओं में किया गया है।

1. असंसक्त-वसति-भावना –

भावना का आशय यह है कि ब्रह्मचारी को ऐसे स्थान में नहीं रहना या ठहरना चाहिए जहाँ स्त्रियाँ उठती-बैठती हों, बात करती हों, श्रृंगार करती हुई दिखाई देती हों, सन्निकट वेश्यालय हो – ऐसे स्थान पर रहने से सहज ही विकार भावनाएँ उद्बुद्ध हो सकती हैं। चित्त चंचल हो सकता हो, श्रमण को तो वर्जित है ही, पर ब्रह्मचारी को भी वहाँ नहीं रहना चाहिए। जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली का

भय बना रहता है, वैसे ही ब्रह्मचारी को स्त्री का भय बना रहता है,¹⁵⁸ इसलिए कामवासना को जाग्रत करने वाले स्थानों का साधक पूर्ण रूप से त्याग करने का प्रयास करे।

2. स्त्रीकथा-विरति-भावना -

जिस प्रकार स्त्री-संस्वक्त आवास साधक के लिए वासनाजन्य है, उसी प्रकार स्त्री-कथा का कथन भी वासनाजन्य है। जैसे स्त्रीदर्शन कामवासनाओं को जाग्रत करता है, उसी तरह स्त्री का कीर्तन और चिन्तन भी। कामवासनाओं के शमन के लिए श्रमण और साधक को अपना समय आगम के चिन्तन-मनन व आत्मचिन्तन में व्यतीत करना चाहिए। वह चर्चा भी करे, तो त्याग-वैराग्य की ही करे। साधक को स्त्रियों सम्बन्धी कामुक चेष्टाओं का, उनके हास-विलास आदि का तथा स्त्री के रूप सौन्दर्य, वेशभूषा आदि का वर्णन करने से बचना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की कथनी भी मोहजनक होती है। दूसरा कोई इस प्रकार की बातें करता हो, तो उन्हें सुनना भी नहीं चाहिए और न ही ऐसे विषयों का मन में चिन्तन करना चाहिए। सदा अपने अन्तर्मानस को पवित्र विचारों में लगाना चाहिए ताकि संयम में सुदृढ़ता रहे।

3. स्त्री-रूप-निरीक्षण-विरति-भावना -

स्त्रीकथा के साथ ही उसका रूप भी साधक के लिए घातक है। सुन्दरतम रूप प्राप्त होना -यह पुण्य का फल है, परन्तु उसके प्रति आसक्ति बुरी है। जिस प्रकार दीपक के तेज प्रकाश को देखकर पतंगा दीवाना बनकर अपने-आपको उसमें भस्म कर देता है, वैसे ही सुन्दर रूप को देखकर मन भी विचलित हो उठता है। जैसे सूर्य के बिम्ब पर दृष्टि पड़ते ही उसे हटा लिया जाता है, उसे टकटकी लगाकर नहीं देखा जाता है, उसी प्रकार नारी पर दृष्टिपात हो जाए, तो तत्क्षण ही उसे हटा लेना चाहिए।¹⁵⁹ दशाश्रुतस्कन्ध¹⁶⁰ में वर्णन है - चेलना के उद्भूत रूप को

¹⁵⁸ जहा कुक्कडपोयस्स, निच्चं कुललो भयं

एवं खु बंभयारिस्स इत्थी विग्गहओ भयं ॥ - दशवैकालिक सूत्र 8/54

¹⁵⁹ वही - 8/54

देखकर कई श्रमणों के मन विचलित हो गए थे, तब भगवान् ने उन्हें उद्बोधन दिया कि प्रायश्चित्त ग्रहण करो, शुद्धीकरण करो।

4. पूर्वक्रीडित-रति-विरति-भावना --

इस भावना में पूर्वकाल में, अर्थात् गृहस्थावस्था में भोगे हुए भोगों के चिन्तन के वर्जन की प्रेरणा की गई है। बहुत से साधक ऐसे होते हैं, जो गृहस्थदशा में दाम्पत्य-जीवन यापन करने के पश्चात् मुनिव्रत अंगीकार करते हैं। उनके मस्तिष्क में गृहस्थ-जीवन की घटनाओं के संस्कार या स्मरण संचित होते हैं। वे संस्कार निमित्त पाकर उभर उठें, तो चित्त को विभ्रान्त कर देते हैं, चित्त को विकृत बना देते हैं। कभी-कभी मुनि अपने कल्पना-लोक में उसी पूर्वावस्था में पहुंचा हुआ अनुभव करने लगता है। वह अपनी वर्तमान स्थिति को कुछ समय के लिए भूल जाता है। यह स्थिति उसके तप, संयम एवं ब्रह्मचर्य का विघात करने वाली होती है, इसलिए ब्रह्मचारी पुरुष को ऐसे प्रसंगों से निरन्तर बचना चाहिए, जिनसे काम-वासना को जाग्रत होने का अवसर मिले। गीता¹⁶¹ में भी कहा है - 'विषयों का चिन्तन व स्मरण करने से पुरुष उन विषयों के प्रति आसक्त हो जाता है।'

5. प्रणीत आहार-विरति-समिति-भावना --

ब्रह्मचर्य की साधना एवं कामवासनाओं के निरसन के लिए बाह्य-परिवेश का जितना गहरा प्रभाव पड़ता है, उतना ही आहार का भी है। आहार का सीधा असर मन पर होता है। यदि मसालेदार चटपटा भोजन किया जाए, तो मन चंचल होगा, इसलिए शरीर विशेषज्ञों का मत है कि सात्विक-भोजन से मन में विशुद्धता बनी रहती है। 'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धि' - आहार शुद्ध होने से सत्त्व भी शुद्ध होता है।

प्रणीत आहार, अर्थात् अधिक गरिष्ठ आहार और अधिक मात्रा में आहार ब्रह्मचर्य की साधना से विचलित करता है। साधक को न तो अति स्निग्ध आहार करना चाहिए, न अधिक मात्रा में आहार करना चाहिए। प्रणीत आहार से शरीर में

¹⁶⁰ दशाश्रुतस्कन्ध - 10

¹⁶¹ 'ध्यायते विषयान् पुंसः संथस्तेषूपजायते' - गीता - 2/62

रस, रक्त उत्तेजित हो जाते हैं और उससे विकार बढ़ते हैं। प्रणीत आहार से धातु कुपित होने से मन चंचल हो जाता है और गरिष्ठ भोजन से आलस्य और प्रमाद आता है तथा मन की कुत्सित वृत्तियाँ जाग्रत होती हैं, इसलिए साधक के लिए वासनाओं के प्रशमन के लिए प्रणीत भोजन का निषेध है। कहा गया है – जो आवश्यकता से अधिक भोजन नहीं करता है, वही ब्रह्मचर्य का साधक सच्चा निर्ग्रन्थ है।¹⁶² ब्रह्मचर्य की इन पाँच भावनाओं के सतत चिन्तन व मनन से मन ब्रह्मचर्य में स्थिर होता है, सुसंस्कार सुदृढ़ होते हैं और साधक ब्रह्मचर्य को दूषित करने वाले घटकों से बचता है।

जिस प्रकार अनाज उत्पन्न करने वाले खेत की सुरक्षा के लिए काँटों की बाड़ लगाई जाती है, आम के फल से लदे वृक्षों की सुरक्षा के लिए तारों की बाड़ बनाई जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रत की सुरक्षा के लिए शास्त्र में नौ बाड़ों का विधान किया गया है, जो निम्न हैं –

स्थानांगसूत्र¹⁶³ के अनुसार –

1. विविक्त शयनासन – ब्रह्मचारी ऐसे स्थान पर शयन-आसन करे, जो स्त्री, पशु, नपुंसक से संसक्त न हो।
2. स्त्री-कथा-परिहार – स्त्रियों की सौन्दर्य-वार्ता, कथा-वार्ता आदि की चर्चा न करे।
3. निषद्यानुपवेशन – स्त्री के साथ एकासन पर न बैठे। उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस आसन पर न बैठे।
4. स्त्री-अंगोपांग-अदर्शन – स्त्रियों के मनोहर अंग-उपांग न देखे, यदि कदाचित् उस पर दृष्टि चली जाए, तो पुनः हटा ले, फिर उसका ध्यान न करे।

¹⁶² नाइमत्पाणाभोयणाभोई से निगंथे – आचारांगसूत्र – 2/3/15/14

¹⁶³ स्थानांगसूत्र – 9/4

5. कुड्यान्तर शब्द श्रवणादिवर्जन — दीवार आदि की आड़ से स्त्रियों के शब्द, गीत आदि न सुने।
6. पूर्वभोग स्मरण—वर्जन — पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करे।
7. प्रणीत भोजन त्याग — विकारोत्पादक गरिष्ठ भोजन न करे।
8. अतिमात्रा भोजन त्याग — रुखा—सूखा भोजन भी अधिक मात्रा में न किया जाए।
9. विभूषाविवर्जन — शरीर की सजावट न करे।

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए वेद, उपनिषद् और बौद्ध—साहित्य में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए कुछ नियम और उपनियमों का उल्लेख अवश्य हुआ है, उदाहरणार्थ — स्मरण, क्रीड़ा, अवलोकन आदि का निषेध किया गया है,¹⁶⁴ परन्तु जिस तरह से जैन—साहित्य में इसका क्रमबद्ध उल्लेख प्राप्त होता है, वैसा वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। यह एक ज्वलन्त सत्य है कि काम पर विजय प्राप्त करना सरल नहीं है। उसके लिए निशीथचूर्णि में एक मनोवैज्ञानिक रूपक प्रस्तुत किया है — एक बाला, जो सारे दिन निठल्ली बैठी रहती थी और अपने रूप को सजाती—संवारती रहती थी, उसे तीव्र वासनाएं सताने लगीं, तब समझदार वृद्धा ने उसको सम्पूर्ण घर का भार सौंप दिया, जिससे वह उस काम में इतनी तल्लीन हो गई कि कामवासना को भूल गई। वह रात्रि में इतनी थकी रहती थी कि लेटते ही उसे गहरी नींद आ जाती थी। वैसे ही, श्रमण—श्रमणियों को भी दिन—रात स्वाध्याय और ध्यान में लगे रहना चाहिए जिससे काम—वासनाएं उद्बुद्ध ही न हों। काम—वासनाओं पर विजय प्राप्त करने का यह सरलतम उपाय है।¹⁶⁵

वस्तुतः, ब्रह्मचर्य कामवासना के निरसन के लिए मेरुदण्ड के समान है, इसके अभाव में साधक आध्यात्मिक—साधना नहीं कर सकता, इसलिए श्रमणों के लिए नैष्ठिक—ब्रह्मचर्य—महाव्रत के पालन करने और श्रमणोपासक (गृहस्थों) के लिए

¹⁶⁴ दक्षस्मृति — 7/32

¹⁶⁵ निशीथभाष्य, चूर्णि, गाथा—574

स्वदारसंतोष—अणुव्रत का पालन करने को कहा गया है, अतः दोनों के आध्यात्मिक—विकास के लिए ब्रह्मचर्य की साधना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

वासना—जय की प्रक्रिया और ब्रह्मचर्य की साधना

‘सत्यं—शिवं—सुन्दरम्’ ये जीवन के तीन आदर्श हैं। जीवन केवल सत्य ही नहीं, उसमें सुन्दरता भी चाहिए और शिवत्व तक पहुंचने के लिए साधना भी। प्रस्तुत संदर्भ में सत्य से तात्पर्य संसार है। शिव का अर्थ ब्रह्मचर्य की साधना और सुन्दरम् का अर्थ आदर्श जीवन (वासनाजय की प्रक्रिया) से है। जिस जीवन में सत्यं शिवं सुन्दरम् —ये तीन आदर्श नहीं, वह जीवन वास्तविक जीवन नहीं हो सकता है, क्योंकि अनादिकाल से यह जीव अपनी मूलप्रवृत्तियों के कारण एक भव से दूसरे भव, एक योनि से दूसरी योनि और एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त कर रहा है। इसका मूल कारण उसमें रही हुई इच्छा, तृष्णा और वासना है। वासनाओं के माध्यम से जीव कर्म को करता जाता है और इस कारण संसार—परिभ्रमण का क्रम लगातार चलता जाता है। कार कितनी भी अच्छी हो, पर उसमें ब्रेक सही न हों, तो वह कार कभी भी दुर्घटनाग्रस्त हो सकती है। ठीक उसी प्रकार, जब तक वासनाओं पर अंकुश न लगाया जाए, तो जीव शिवत्व को प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए आत्मा से परमात्मा बनने के लिए, इन्सान से ईश्वर बनने के लिए तथा जन से जिन बनने के लिए ब्रह्मचर्य की साधना बताई गई है। इस साधना के माध्यम से ही साधक शिव बन सकता है। ब्रह्मचर्य की साधना वासना—विजय की साधना है। मानव एकान्त—शान्त स्थान पर बैठकर उग्र—से—उग्र तप की साधना कर सकता है, अन्य कठिन व्रतों की आराधना कर सकता है; पर जिस समय उसके अन्तर्मानस में वासना का भयंकर तूफान उठता है, उस समय वह अपने—आपको नियंत्रित नहीं रख पाता। ‘कामवासना की लालसा ही लालसा में प्राणी एक दिन, उन्हें बिना भोगे ही दुर्गति में चला जाता है।’¹⁶⁶

¹⁶⁶ कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं। — उत्तराध्ययनसूत्र — 9/53

कालिदास भारतीय संस्कृत-साहित्य के कवियों में अपना मूर्धन्य स्थान रखते हैं। कुमारसम्भव¹⁶⁷ उनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमें उन्होंने महादेव के उग्र तप का निरूपण किया है। उस तप के वर्णन को पढ़कर पाठक आश्चर्यचकित हो जाते हैं, पर वही महादेव जब पार्वती के अपूर्व सौन्दर्य को निहारते हैं, तो साधना से विचलित हो जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य की साधना कितनी कठिन और कठिनतम है।

भारत के तत्त्वदर्शियों ने कामवासना पर विजय प्राप्त करने हेतु अत्यधिक बल दिया है। कामवासना ऐसी प्यास है, जो कभी भी बुझ नहीं सकती। ज्यों-ज्यों भोग की अभिवृद्धि होती है, त्यों-त्यों वह ज्वाला प्रज्वलित होती जाती है और एक दिन मानव की सम्पूर्ण सुख-शान्ति उस ज्वाला में भस्मीभूत हो जाती है। गृहस्थ-साधकों के लिए कामवासनाओं का पूर्ण रूप से परित्याग करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि जो महान् वीर हैं, मदनोन्मत्त गजराज को परास्त करने में समर्थ हैं, सिंह को मारने में सक्षम हैं, वे भी कामवासनाओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिए अनियन्त्रित कामवासनाओं को नियन्त्रित करने के लिए तथा समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने हेतु मनीषियों ने 'विवाह-संस्कार'¹⁶⁸ और स्वदारसन्तोषव्रत¹⁶⁹ का विधान किया है, ताकि वह अपनी विधिवत् विवाहित पत्नी में संतोष करके शेष सभी परस्त्री आदि के साथ मैथुन-विधि का परित्याग करे। इस प्रकार, असीम वासनाओं को प्रस्तुत व्रत के माध्यम से सीमित कर सकते हैं। योगशास्त्र में कहा है - "समझदार गृहस्थ-उपासक परलोक में नपुंसकता और इहलोक में राजा या सरकार आदि द्वारा इन्द्रियच्छेदन वगैरह अब्रह्मचर्य के कड़वे फल को देखकर या शास्त्रादि द्वारा जानकर परस्त्रियों का त्याग करे और अपनी स्त्री में संतोष रखे।"¹⁷⁰

¹⁶⁷ कुमारसम्भव महाकाव्य से

¹⁶⁸ आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, उदय-चौदहवां, निर्णयसागर मुद्रणालय बॉम्बे प्रथम संस्क.1922, पृ. 31

¹⁶⁹ सदारसंतोषिए अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खाइ। - उपासकदशांगसूत्र- 1/44

¹⁷⁰ षष्ठत्वमिन्द्रियच्छेदं, वीक्ष्याब्रह्मफलं सुधीः

भवेत् स्वदार संतुष्टोऽन्यदारान् वा विवर्जयेत्। - योगशास्त्र - 2/76

परस्त्री से तात्पर्य अपनी धर्मपत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों से है। चाहे थोड़े समय के लिए किसी को रखा जाए, उपपत्नी के रूप में, किसी की परित्यक्ता, व्यभिचारिणी, वेश्या, दासी, किसी की पत्नी अथवा कन्या – ये सभी परस्त्रियाँ हैं। उनके साथ उपभोग करना अथवा वासना की दृष्टि से देखना, क्रीड़ा करना, प्रेमपत्र लिखना, विभिन्न प्रकार के उपहार देना, उसे प्राप्त करने का प्रयास करना, उसकी इच्छा के विपरीत कामक्रीड़ा करना व्रत के विरुद्ध है और इच्छा से करना परस्त्री सेवन है।

वाल्मिकी ऋषि¹⁷¹ ने लिखा है – परस्त्री से अनुचित सम्बन्ध रखने जैसा कोई पाप नहीं है। कविकुल गुरु कालिदास¹⁷² ने परस्त्री सेवन को अनार्यों का कार्य कहा है। आचार्य मनु¹⁷³ ने कहा है – इस विश्व में पुरुष के आयुष-बल को क्षीण करने वाला परस्त्री-सेवन जैसा अन्य कोई निकृष्ट कार्य नहीं है। बाईबिल में भी कहा है – जो व्यक्ति परस्त्री के साथ व्यभिचार करता है, वह विवेकशून्य है और स्वयं अपनी आत्मा का हनन करता है। 'ओल्ड टेस्टमेन्ट में कहा है – 'पराई स्त्री की सुन्दरता देखकर उसकी अभिलाषा मत कर कहीं ऐसा नहीं हो कि वह तुम्हें अपने कटाक्षों में फंसा ले।'

गांधीवाद की दृष्टि में स्वपत्नीसन्तोष भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि विवाह और गृहस्थाश्रम कामवासना को सीमित करने का प्रयास है। विवाह का उद्देश्य केवल विषय-वासनाओं का सेवन ही नहीं है। यही कारण है कि पत्नी को भोग-पत्नी न कहकर धर्मपत्नी कहा गया है। विवाह द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छाओं को नियन्त्रित करता है और स्वयं को धर्म-मार्ग में उत्प्रेरित करता है, लेकिन इससे भी आगे बढ़कर जैनदर्शन के समान गांधीवाद भी गृहस्थ-जीवन में पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन की सम्भावना को स्वीकार करता है और उस पर जोर भी देता है। गांधीजी का जीवन

¹⁷¹ परदारामिमर्शातु नान्यत पापतरं महत् । – वाल्मिकी रामायण 338/30

¹⁷² अनार्यः परदार व्यवहारः । – अभिज्ञान शाकुन्तलम्

¹⁷³ नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चित् दृश्यते
यादृशं पुरुषस्येह परवसेपसेवनम् – मनुस्मृति 4/134

स्वयं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इस प्रकार, गांधीवाद और जैनदर्शन मानते हैं कि स्त्री को भी ब्रह्मचर्य—पालन का पुरुष के समान ही अधिकार प्राप्त है। गांधीजी¹⁷⁴ की दृष्टि में ब्रह्मचर्य मन, वचन और काया से सभी इन्द्रियों का संयम है। गांधीवादी ब्रह्मचर्य को मात्र स्त्री—पुरुष सम्बन्ध तक सीमित नहीं मानते, वरन् उसे अधिक व्यापक बनाते हैं।

1. जीवन की आधारशिला : ब्रह्मचर्य

मनुष्य का यह महान् जीवन ब्रह्मचर्य की आधारशिला पर व्यवस्थित रूप से टिका हुआ है, क्योंकि चरित्र का मूल ब्रह्मचर्य है। मनुष्य के पास विद्वत्ता हो, वक्तृत्व हो, लेकिन चरित्र में वह खोटवाला हो, तो उसका जीवन सफल नहीं हो सकता, न ही वह सुखी और शान्ति से सम्पन्न रह सकता है। पाश्चात्य दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर¹⁷⁵ के शब्दों में – "Not education, but character is man's greatest need and man's greatest safe-guard". अर्थात् केवल शिक्षण ही नहीं, मनुष्य का चरित्र ही उसकी सबसे बड़ी आवश्यकता है और जीवन का सबसे बड़ा सुरक्षक है, इसलिए चरित्र को सुरक्षित रखने के लिए ब्रह्मचर्य—पालन और उसकी साधना अतिआवश्यक है। ब्रह्मचर्य से शरीर और मन—दोनों ही सशक्त बनते हैं। जीवन भी निर्भय, सुखी, शान्तिमय एवं शक्ति—सम्पन्न बनता है। विचारों में एवं आचरण में बल भी ब्रह्मचर्य की साधना से ही आता है। धर्मपालन में उद्यम, साहस, शौर्य, उत्साह, बल, धैर्य, सहिष्णुता, क्षमता आदि जिन उत्तमोत्तम गुणों की आवश्यकता होती है, वे सब ब्रह्मचर्य से प्राप्त होते हैं। ब्रह्मचर्य की साधना का साधक यदि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेगा, तो वहां भी अपनी जीवन—यात्रा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकेगा और यदि वह साधु—जीवन अंगीकार करेगा तब भी अपनी जीवन—यात्रा श्रेष्ठ—रीति से स्वपर—कल्याण—साधना के माध्यम से पार करेगा। ब्रह्मचर्य की साधना से शरीर पर

¹⁷⁴ गांधीवाणी, पृ. 75

¹⁷⁵ देवेन्द्र भारती, मासिक पत्रिका, 10 मई 2010, पृ. 11

उद्भूत प्रभाव पड़ता है। आचार्य हेमचन्द्रजी ने योगशास्त्र¹⁷⁶ में शारीरिक-शक्तियों के विकास का मूल स्रोत ब्रह्मचर्य को बताते हुए कहा है -

“चिरायुषः, सुसंस्थानां, दृढसंहनना नराः।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः॥”

ब्रह्मचर्य की साधना से मनुष्य चिरायु होते हैं, उनके शरीर का संस्थान सुन्दर-सुडौल हो जाता है। उनका शारीरिक-संहनन मजबूत हो जाता है। वे तेजस्वी और महाशक्तिशाली होते हैं।

ब्रह्मचर्य की साधना हमारे आरोग्य-मंदिर का आधार स्तम्भ है। आधार-स्तम्भ के टूटने से जिस प्रकार सारा भवन ढह जाता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर सम्पूर्ण शरीर व साधना का द्रुतगति से नाश हो जाता है। ब्रह्मचर्य ही हमारी सम्पूर्ण विद्या, वैभव, सौभाग्य का आदि कारण है। वासनाजय की प्रक्रिया हमारी श्रेष्ठता, सम्पूर्ण उन्नति और स्वतन्त्रता का बीजमंत्र है।

2. ब्रह्मचर्य की साधना से जीवन में प्रगति -

ज्ञानी गीतार्थ पुरुष के वचनों के माध्यम से कह सकते हैं कि ब्रह्मचर्य की साधना ही जीवन में प्रगति लाती है। ब्रह्मचर्य की साधना के बिना योग, ध्यान, मौन, जाप, तप आदि साधनाएं नहीं हो सकती। योग साधना में वासना, कामना, आसक्ति और तृष्णा आदि बाधक तत्त्व हैं। इन क्षुद्र वृत्तियों को अपनाकर कोई भी व्यक्ति योग साधना नहीं कर सकता, इसलिए जो व्यक्ति योग की साधना करना चाहता है तथा उसके द्वारा अपने ध्येय को प्राप्त करने का इच्छुक है, उसके लिए सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य साधना आवश्यक है, इसलिए यम-नियम आदि आठ अंगों में से पांचों यमों में ब्रह्मचर्य को भी एक यम माना है।¹⁷⁷ भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर

¹⁷⁶ योगशास्त्र - 2/105

¹⁷⁷ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। - पातंजलयोगसूत्र - 2/30

तक चौबीस तीर्थकरों ने आचार-योग में ब्रह्मचर्य को साधु के लिए महाव्रत के रूप में और गृहस्थ के लिए अणुव्रत के रूप में स्वीकार किया है।

किसी भी व्रत या नियम के पालन के लिए, जप-तप-ध्यान की साधना के लिए मन की पवित्रता आवश्यक है और मन की पवित्रता ब्रह्मचर्य से आती है। मनुष्य का मन पवित्र नहीं होगा, तो इधर-उधर की वासना की गलियों में भटकता रहेगा तथा विविध वासनाओं एवं इन्द्रियों के विषयों के आकर्षण में घूमते रहने के कारण एकाग्रता समाप्त हो जाएगी, उसका मन विश्रृंखलित हो जाएगा। विश्रृंखलित मन किसी भी साधना को ठीक ढंग से नहीं करने देगा, इसलिए शुद्ध साधना का सिंहद्वार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के बिना किसी भी साधना में प्रगति नहीं हो सकती।

3. ब्रह्मचर्य : जीवन अमरत्व की साधना है —

महापुरुषों ने ब्रह्मचर्य को जीवन और कामवासना (अब्रह्म) को मृत्यु कहा है। ब्रह्मचर्य अमृत है और अब्रह्मचर्य या वासना पर असंयम विष है। ब्रह्मचर्य अनुपम सुख-शान्ति का मूलस्रोत है, जबकि वासना अशान्ति और दुःख का अपार सागर है। ब्रह्मचर्य आत्मा का शुद्ध प्रकाश है, जबकि वासना कालिमा है। ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व एवं विनय का मूल है, जबकि अब्रह्मचर्य अज्ञान, भ्रान्ति, अश्रद्धा, अविनय, भोग और रोग का मूल है। किम्पाकवृक्ष का फल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में बड़ा मनोहर, मधुर और सुगन्धित लगता है, खाने में भी स्वादिष्ट होता है, जिससे मन को भी संतोष मिलता है, मगर खाने के बाद वह व्यक्ति जी भी नहीं सकता, कुछ ही देर में उसका प्राण निकल जाता है। इसी प्रकार, विषयसुख सेवन करते समय बड़ा मनोहर लगता है, लेकिन बाद में उनका परिणाम बहुत ही भयंकर होता है,¹⁷⁸ इसलिए ज्ञानी पुरुषों ने ब्रह्मचर्य को अमरत्व की साधना के सदृश्य कहा है।

¹⁷⁸ रम्यमापातमात्रे, यत्परिणामेऽतिदारुणम्।

किम्पाक फल संकाशं, तत्कः सेवेत मैथुनम् ? — योगशास्त्र- 2/77

4. ऋषि-मुनियों द्वारा ब्रह्मचर्य का विधान और आधुनिक युग -

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने ब्रह्मचर्य की प्रेरणा उस समय के समाज को इसलिए दी कि पशुओं में भी प्रायः ऋतुकाल के सिवाय अन्य समय में मैथुन-क्रिया नहीं होती, किन्तु मनुष्य होकर भी अगर ब्रह्मचर्य मर्यादा को स्वीकार न करे, तो फिर मनुष्य और पशु में अन्तर ही क्या रह जाएगा। वर्तमान युग में मनुष्य कामवासना-सेवन में पशुओं को भी मात कर गया है। प्राकृतिक-मर्यादाओं को टुकराकर वह जब भी इच्छा हो, उच्छृंखल रूप से भोग-वासना में प्रवृत्त हो जाता है, इसलिए नीतिकारों, आयुर्वेदशास्त्रियों और धर्म-शास्त्रों ने और ऋषि-मुनियों ने मनुष्य के लिए अपनी वासनाओं पर जय पाने के लिए ब्रह्मचर्य की साधना का विधान किया है।

प्राणीमात्र में मानव श्रेष्ठ है, क्योंकि अन्य प्राणी तो प्रायः निसर्ग के अधीन हैं, जबकि मानव चाहे, तो प्रकृति को भी अपने अधीन कर सकता है। वर्तमान युग का मानव अनेक वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा है और करता जा रहा है। वर्तमान युग की विकृतियों और प्रबल कामवासना के वातावरण को देखते हुए मानव को प्रकृति का गुलाम न बनकर ब्रह्मचर्य या सर्वेन्द्रिय-संयम के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

यहाँ रथनेमि का उदाहरण उल्लेख करने योग्य है। रथनेमि¹⁷⁹ गिरनार गुफा में ध्यानस्थ थे, किन्तु वर्षा से वस्त्र भीग जाने के कारण उन्हें सुखाने के लिए सती राजीमती भी अनजाने में उसी गुफा में प्रवेश करती है और वस्त्रों को सुखाने लगती है। तभी, राजीमती के अंगोपांग को देखकर रथनेमि का मन चलायमान हो जाता है। राजीमती से वह, मुनिदीक्षा छोड़कर, ब्रह्मचर्य को तिलांजलि देकर कामभोग की तृप्ति के लिए प्रार्थना करता है। उस समय राजीमती साध्वी कहती हैं - जिन भोगों को तुच्छ समझकर तुमने वमन कर दिया था, उन्हें ही पुनः अंगीकार करना, अर्थात्

¹⁷⁹ क) उत्तराध्ययनसूत्र - 22/43-44

ख) दशवैकालिकसूत्र - 2/7-8

अब्रह्म का सेवन करना चाहते हो, इससे तो अच्छा है कि अगन्धनसर्प [जो उगले हुए विष को पुनः चूसकर नहीं पीता] की तरह मरण को स्वीकार कर लो। यह शब्द सुनकर और अब्रह्मचर्य को अधर्म का मूल एवं अनेक दोषों का आश्रव होने के कारण वह पुनः संयम में स्थिर हो गए।

5. अहिंसा एवं सत्य के पालन के लिए ब्रह्मचर्य की साधना आवश्यक –

यह बात निश्चित है कि वासना-जय की प्रक्रिया में, अहिंसा एवं सत्य के पालन में, ब्रह्मचर्य प्रबल साधन है। शास्त्रीय-भाषा में कहें तो जिसने एक ब्रह्मचर्य-व्रत की साधना कर ली, उसने सभी उत्तमोत्तम व्रतों की आराधना की है – ऐसा समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि एक ब्रह्मचर्यव्रत के भंग होने पर दूसरे प्रायः सभी व्रतों का भंग हो जाता है, इसलिए निपुण साधक को अहिंसा, सत्य आदि व्रतों की सम्यक् साधना के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का सदा आचरण करना चाहिए, क्योंकि संसार के विषयभोग क्षणभर के लिए सुख देते हैं, किन्तु बदले में धिरकाल तक दुःखदायी होते हैं।¹⁸⁰ मन से, वचन से और काया से अहिंसा का पूर्ण पालन करना हो तो बिना ब्रह्मचर्य के यह संभव नहीं है। अहिंसा-पालन का अर्थ है –बाह्य और आन्तरिक संयमवृत्ति। इससे देहासक्ति क्षीण होती है, इस कारण स्त्री-विषयक और पुरुष-विषयक विकार भी शान्त हो जाते हैं। संयम और तप अहिंसा भगवती के दो चरण हैं। संयम और तप के बिना अहिंसा का सुचारु रूप से पालन दुष्कर है। ब्रह्मचर्य का अर्थ संयम की पराकाष्ठा है, इसलिए संयमवृत्ति का ह्रास या देहासक्ति होना अब्रह्मचर्य है और वह हिंसा भी है।

वासना-जय की प्रक्रिया कैसे ?

अनादिकाल के अभ्यास के कारण प्रत्येक आत्मा में काम, क्रोध, लोभ आदि मूलप्रवृत्तियां कुसंस्कार रहे हुए हैं। जब तक आत्मा में से ए कुसंस्कार मूल सहित

¹⁸⁰ खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा । – उत्तराध्ययनसूत्र– 14/13

नहीं उखाड़े जाएंगे, तब तक इन कुसंस्कारों के जाग्रत होने की पूरी-पूरी संभावना रहती है। जिस प्रकार दूध में घी रहता है, उसी प्रकार ईंधन में अग्नि छुपी हुई है, परन्तु अग्नि का निमित्त पाकर ही ईंधन में से अग्नि प्रकट होती है, पेट्रोल में भयंकर आग रही हुई है, लेकिन जब तक उसे चिनगारी नहीं मिले, तब तक वह पेट्रोल पानी की तरह शीतल दिखाई देता है। मोहाधीन संसारी आत्मा के भीतर काम, क्रोध आदि संस्कार तो पड़े हुए हैं और ऐसा ही प्रतीत होता है, मानों व्यक्ति निष्काम और अक्रोधी बन गया है, परन्तु ज्यों ही शुभ-अशुभ निमित्त मिलते हैं, वे कुसंस्कार तुरंत जाग्रत हो जाते हैं और व्यक्ति कामातुर और क्रोधातुर बन जाता है।

मनुष्य के भीतर जो प्रबल 'कामवासना' रही हुई है, वह कामवासना भी निमित्त पाकर ही जाग्रत होती है। युवावस्था, एकांत, अधंकार, कुसंग, वीभत्स दृश्य, अश्लील-साहित्य तथा स्त्री-संग आदि ऐसे प्रबल निमित्त हैं, जो आत्मा के भीतर रही हुई कामवासना को जाग्रत कर देते हैं। एक छोटी सी चिनगारी क्षणभर में घास के ढेर को जलाकर खाक कर देती है। ड्रायवर की एक छोटी-सी भूल अनेक जिन्दगियों को क्षणभर में नष्ट कर देती है, ठीक इसी प्रकार एक छोटा सा अशुभ निमित्त पाकर कामवासना जाग्रत हो जाती है और साधना का पतन कर देती है, जैसे - संभूति मुनि¹⁸¹ अपने चारित्र से पतित हुए और नंदिषेण मुनि¹⁸² बारह वर्ष तक वेश्या के जाल में फंसे रहे।

जिस प्रकार आहार-संज्ञा को जीतने के लिए तप-धर्म है, भयसंज्ञा को जीतने के लिए अभय-धर्म है, परिग्रहसंज्ञा को जीतने के लिए दान-धर्म है, उसी प्रकार अनादिकाल से आत्मा में रही काम-वासना को जीतने के लिए ब्रह्मचर्य-धर्म की साधना बताई है, क्योंकि भगवती आराधना¹⁸³ में कहा गया है - "जैसे कुत्ता रक्तहीन

¹⁸¹ उत्तराध्ययन चूर्ण, 13, पृ. 214

¹⁸² उपदेशमाला, गाथा 54

¹⁸³ ण लहदि जह लेहंतो, सुखल्लहयमदिठयं रसं सुणहो
से सग-तालुग रुहिरं लेहंतो मण्णए सुखं ।।

महिलादि भोगसेवी, ण लहदि किंचि वि सुहं तथा पुरिसो ।
सो मण्णदे वराओ, सगकायपरिस्समं सुखं ।।

— भगवती आराधना— 1255/56

अस्थि को चबाता हुआ रस को प्राप्त नहीं करता, किन्तु अपने ही तालु से निकले हुए रक्त को चूसता हुआ सुख मानता है, ठीक उसी प्रकार कुत्ते की तरह कामी व्यक्ति का भी एक भ्रम होता है कि स्त्रीभोग से उसे सुख मिल रहा है, वास्तव में देखा जाए तो, वह भोग द्वारा अपनी ही शक्ति का व्यय करता है। भर्तृहरि¹⁸⁴ ने ठीक ही कहा है —“आदमी भोग को नहीं भोगता है, परंतु भोग ही उसका भोग ले लेता है।” ईंधन से अग्नि और जल से सागर कभी तृप्त नहीं होता। ठीक, इसी प्रकार, भोग से आत्मा कभी तृप्त नहीं होती है, बल्कि वह भूख और अधिक बढ़ती ही जाती है। सोलह हजार स्त्रियाँ जिसके अंतःपुर में थी — ऐसा रावण¹⁸⁵ भी अतृप्त ही था, क्योंकि वह भोग से तृप्ति पाना चाहता था, जो कदापि संभव नहीं है। काम—विजय कठिन है। अन्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना तो भी आसान है, परन्तु स्पर्शेन्द्रिय को जीतना अत्यंत ही कठिन है। अन्य तीन महाव्रतों का पालन करना तो फिर भी आसान है, परन्तु ब्रह्मचर्य—महाव्रत का पालन करना अत्यंत ही कठिन है। अन्य सभी व्रतों के लिए उत्सर्ग व अपवाद—मार्ग का विधान है, परंतु मैथुन—त्याग में कहीं भी अपवाद नहीं है, क्योंकि रागभाव के बिना मैथुन की प्रवृत्ति शक्य ही नहीं। युवावस्था में काम—वासना का जोर अधिक होता है, अतः उस पर विजय प्राप्त करने के लिए निम्न उपाय बताए गए हैं —

1. दृढ़ मनोबल —

वस्तुतः, काम का मुख्य उत्पत्ति—स्थान मन है। मन में विकार उत्पन्न होने के बाद ही वह विकार वाणी व काया में परिणत होता है। कमजोर मन सामान्य कुनिमित्तों को पाकर भी कामातुर बन जाता है, परन्तु जिसके पास दृढ़ मनोबल है, वह व्यक्ति अशुभ निमित्तों के बीच भी अपनी चित्तवृत्तियों को बाहर नहीं जाने देता है। ब्रह्मचर्य के लिए दृढ़ मनोबल ही विकट प्रसंगों में आत्म—सन्तुलन रख सकता है। कमजोर मन का मानव तो तुरन्त ही प्रवाह की दिशा में बहने लग जाता है।

¹⁸⁴ भोगाः न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः । — भर्तृहरि

¹⁸⁵ योगशास्त्र — 2/99

स्थूलीभद्रजी¹⁸⁶ मन से दृढ़ थे, इसलिए ब्रह्मचर्य के महान उपासक बन गए। अपने गृहस्थ-जीवन में स्थूलीभद्रजी कोशा वेश्या के यहां बारह वर्ष तक रहे थे। एक छोटे से निमित्त को पाकर वे संसार के समस्त भोगसुखों को तिलांजलि देकर ब्रह्मचर्य-व्रत में दृढ़ हो गए। उसके बाद उन्होंने कोशा वेश्या के भवन में चातुर्मास किया। वय, ऋतु, भोजन आदि सब अनुकूल होने पर भी मन की दृढ़ता के कारण उनमें लेश-मात्र भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ। उनको पतित करने के लिए कोशा ने अपने सब प्रयत्न कर लिए, परन्तु वह निष्फल ही रही। अन्त में वह भी व्रतधारी श्राविका बन गई। अपने ब्रह्मचर्य के व्रत के कारण चौरासी चौबीसी तक इतिहास के पन्नों पर स्थूलीभद्र का नाम अंकित रहेगा।

2. मंत्र-जाप —

मन का रक्षण करे, वह मंत्र कहलाता है। जहाँ-तहाँ भटक रहे अपने मन को मंत्र के द्वारा केन्द्रित करने का प्रयास करना चाहिए। नमस्कार-महामंत्र अथवा नेमिनाथ प्रभु आदि के मंत्र-जाप से अपने मन को स्थिर करने से मन के अशुभ विचार स्वतः दूर हो जाएंगे, फलस्वरूप ब्रह्मचर्य-पालन में दृढ़ता आएगी। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नवकार-महामंत्र के प्रभाव से सेठ सुदर्शन¹⁸⁷ की सूली सिंहासन बन गई, देव-दुन्दुभि बजने लगी, शील की सुगन्ध फैलने लगी, सदाचार की वाणी मुखरित हो उठी, आकाश से फूल बरसने लगे, क्योंकि सुदर्शन श्रावक ने परस्त्री के पास रहने पर भी निष्कलंक मनोवृत्ति रखी और अपने ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहे।

3. आत्म-ध्यान का चिंतन —

आत्मा स्वयं निर्विकार चैतन्यस्वरूप है। अवकाश के समय में आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप का ध्यान करने से मन की अशुभ वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं। अपनी

¹⁸⁶ उपदेशमाला, गाथा 59

¹⁸⁷ अकलंकमनोवृत्तेः परस्त्रीसन्निधावपि ।
सुदर्शनस्य किं ब्रमः सुदर्शनसमुन्नते ॥ — योगशास्त्र, गाथा 101

आत्मा में ही निर्विकार चैतन्यस्वरूप परमात्मा छिपे हुए हैं, —इस प्रकार की आत्मजाग्रति व चिन्तन से ब्रह्मचर्य—पालन में अपूर्व बल मिलता है।

4. शुभ प्रवृत्ति —

'काम' का औषध काम है। कहावत है — 'Empty mind is Devil's workshop' खाली दिमाग शैतान का घर है। ब्रह्मचर्य—पालन के लिए अपने तन—मन को सतत शुभ प्रवृत्तियों में जोड़े रखने से कामवासना प्रदीप्त नहीं होती, क्योंकि अवकाश मिलते ही तन—मन अनादि के कुसंस्कारों में प्रवृत्त हो जाता है, इसलिए भगवान् महावीर ने श्रमण—श्रमणियों के लिए प्रतिदिन चार प्रहर स्वाध्याय की आज्ञा दी है।¹⁸⁸ सतत शास्त्र—स्वाध्याय में लीन रहने से अब्रह्म के विचार मन को स्पर्श नहीं करते हैं और मन शुद्ध बनता जाता है।

5. सात्विक—आहार —

आहार प्रत्येक प्राणी की एक अपरिहार्यता है। चाहे व्यक्ति गृहस्थ हो या मुनि — दोनों के लिए आहार करना आवश्यक होता है, परंतु आहार की शुद्धता और सात्विकता साधना में अतिआवश्यक है। तामसिक व राजसी, आहार मन को विकृत बनाता है, अतः उन अनर्थों से बचने के लिए सदैव सात्विक खुराक ही लेना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है — ब्रह्मचर्यरत भिक्षु शीघ्र ही कामवासना को बढ़ाने वाले प्रणीत भोजन—पान का सदैव त्याग करे।¹⁸⁹ ब्रह्मचारी को घी, दूध आदि रसों का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि रस प्रायः उद्दीपक होता है। उद्दीप्त पुरुष के निकट काम—वासनाएँ वैसे ही चली आती हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष के पास पक्षी चले जाते हैं।¹⁹⁰

¹⁸⁸ उत्तराध्ययनसूत्र — 26/18

¹⁸⁹ वही — 16/7

¹⁹⁰ रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकारा नराणं
दित्तं च कामा समभिद्ववन्ति दुभं जहा साऊफलं व पक्खी।। — उत्तराध्ययन — 32/8

6. रात्रि भोजन का त्याग —

ब्रह्मचर्य—व्रत की साधना के लिए ब्रह्मचारी को रात्रि में भोजन नहीं लेना चाहिए। यदि शक्य हो, तो दिन में एक बार ही भोजन लेना चाहिए। संध्या के भोजन व शयन के बीच तीन से चार घंटों का अंतर अवश्य होना चाहिए, चूंकि असमय किया गया आहार अनुचित विकृति पैदा करता है, अतः ब्रह्मचारी साधक को भावनाशुद्धि के लिए रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए और कम खाना चाहिए, ताकि भोजन सुचारु रूप से पच सके। कम खाना गुणकारी होता है।¹⁹¹

7. उचित श्रम —

ब्रह्मचर्य—पालन के लिए शरीर का उचित श्रम जरूरी है। श्रम के अभाव में व्यक्ति में वासना प्रबल हो जाती है, इसलिए श्रमण—जीवन की दैनिक समस्त क्रियाओं को योग्य आसन, मुद्रा, काउस्सग (कायोत्सर्ग) आदि के द्वारा किया जाता है, इसलिए आवश्यक श्रम स्वतः मिल जाता है। जैनदर्शन के प्रत्येक अनुष्ठान के साथ भिन्न—भिन्न आसन, मुद्रा का योग भी जुड़ा हुआ है। पाद—विहार, गोचरी हेतु परिभ्रमण, स्थण्डिल भूमि—गमन आदि योग और उचित श्रम के ही अंग हैं।

वर्तमान युग में आधुनिक साधनों की अभिवृद्धि के साथ—साथ मनुष्य का शारीरिक—श्रम दिन—प्रतिदिन घटता जा रहा है, इसके फलस्वरूप शरीर में विकृति पैदा होती है। ब्रह्मचर्य की साधना उचित प्रकार से करने के लिए साधक द्वारा प्राणायाम, शीर्षासन, सिद्धासन, पद्मासन आदि के द्वारा भी योग्य श्रम किया जा सकता है।

8. नियमितता व मर्यादित निद्रा —

शारीरिक—श्रम के निवारण के लिए निद्रा की भी आवश्यकता रहती है। निद्रा से क्षय हुई ऊर्जा का पुनः संचय होता है, इसलिए स्वाध्याय, आराधना और मन को

¹⁹¹ गुणकारित्तणाओ ओमं भोत्तव्वं। — निशीथचूर्णि —2951

एकाग्र करने के लिए ब्रह्मचारी की निद्रा नियमित होना चाहिए। देर रात्रि तक जागने से और अनियमित रूप से नींद लेने से शरीर का सन्तुलन टूटता जाता है।

वास्तव में तो, रात्रि के प्रथम प्रहर के बाद सो ही जाना चाहिए और सूर्योदय के दो मुहूर्त पूर्व, अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा का त्याग कर देना चाहिए। कहा है –

प्रथम प्रहर में सब कोई जागे, दूसरे प्रहर में भोगी।

तीसरे प्रहर में तस्कर जागे, चौथे प्रहर में योगी।।

अपनी भावशुद्धि का परमात्मा के साथ अनुसंधान करने के लिए रात्रि का अंतिम प्रहर अत्यन्त श्रेष्ठ है, अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त में जगकर परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास करना चाहिए। जब परमात्मा में मन लगेगा, तो वासनाओं पर नियंत्रण हो जाएगा।

9. शारीरिक-आवेग को नहीं रोकें –

मल-मूत्र आदि जो शारीरिक-आवेग हैं उन्हें रोकने का प्रयास नहीं करना चाहिए। उन्हें रोकने से नुकसान होता है।

10. अशुभ वातावरण से दूर रहें –

नाटक, नृत्य, सिनेमा, टीवी, वीडियो तथा अश्लील साहित्य आदि से एकदम बचकर रहें। चूंकि ये विषय-वासनाओं को बढ़ाने का काम करते हैं, इसलिए वासनाओं को जाग्रत करने वाले निमित्तों का भी त्याग करना चाहिए।

11. शारीरिक श्रृंगार न करें –

ब्रह्मचारी का जीवन अत्यन्त सादगीपूर्ण होना चाहिए। तेल, इत्र, आदि सौंदर्य-प्रसाधनों के प्रयोग से काम-विकार उत्तेजित हो जाते हैं, अतः ब्रह्मचर्य के साधक को शरीर का श्रृंगार, भड़कीले-अश्लील वस्त्र, वर्तमान युग में प्रचलित उपभोग की वस्तुएं, जैसे – फोन, मोबाईल, कम्प्यूटर, नेट, टीवी, संगीत आदि का त्याग करना चाहिए।

12. शयनगृह —

ब्रह्मचारी को स्त्री आदि से रहित स्वतंत्र शयनगृह में सोना चाहिए। सोने के लिए बिस्तर अत्यन्त कोमल व मुलायम नहीं होना चाहिए। शयनकक्ष में महापुरुषों के चित्र अंकित होना चाहिए ताकि उन्हें देखकर मन में ही शुभ भाव पैदा हो सकें।

13. एकांत का त्याग —

अपेक्षा से एकान्त लाभकर भी है और हानिकर भी। राम और रमा—दोनों का ध्यान एकान्त में ही होता है। एकान्त में ही कान्त की प्राप्ति होती है। राम और काम—दोनों से मिलन एकान्त में ही होता है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि जिसका मन स्वाधीन है, ऐसे साधक के लिए एकान्त लाभकारी है और जिसका मन पराधीन है, ऐसे व्यक्ति को एकान्त मिलने पर उसका मन कुविचार में भटक जाता है। ऐसे व्यक्ति को ज्येष्ठ पुरुषों के सान्निध्य में ही रहना चाहिए। माता—पिता व गुर्वादि के सान्निध्य में रहने से अशुभ विचारों से पूर्णतया बचा जा सकता है।

लज्जा—गुण के कारण या दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति भी व्यक्ति को पाप करने से बचा देती है, क्योंकि दूसरों की उपस्थिति में पाप का भय पैदा होता है। इसी नियम के अनुसार श्रमण—जीवन में एकाकी विहार का निषेध है और गुर्वादि के सान्निध्य में ही बैठने का विधान है।

14. रुचिपूर्वक सर्जन में लीन रहें —

मन को सदा वशीभूत करने के लिए अपनी अभिरुचि का काम उसे सतत करते रहना चाहिए। अपने रुचिपूर्वक सर्जन में लीन मन भटकेगा नहीं। स्तुति—सर्जन में लीन शोभनमुनि को यह पता ही नहीं चला कि उनके पात्र में किसी ने पत्थर रख दिया। भामती टीका के सृजन में लीन वाचस्पति मिश्र इस बात को भी भूल चुके थे कि वे विवाहित हैं। साहित्य, काव्य, स्तुति, गीत, कला आदि में लीन मन अन्य विकृत विचारों से मुक्त बन जाता है। इससे स्पष्ट है कि मन को किसी सर्जनात्मक कार्य में लगा दें, तो किसी प्रकार के अशुभ विचार छू नहीं सकते।

15. आत्म—स्वरूप विचार —

निश्चयदृष्टि से देखा जाए तो आत्मा न पुरुष है और न स्त्री। यह स्त्री है, यह पुरुष है —यह तो दैहिक—धर्म है। स्त्री व पुरुष —दोनों के देह में रही हुई आत्मा तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही है। प्रेम तो आत्मा से होना चाहिए, क्योंकि वह सहज है। देह से प्रेम तो औपाधिक है। मैं देह नहीं, किन्तु आत्मा हूँ। देह के धर्म मेरे वास्तविक धर्म नहीं हैं, अतः दैहिक—धर्मों में आकर्षित होना अज्ञानस्वरूप है। इस प्रकार, आत्म—स्वरूप का चिंतन करने से भी आत्मा विकारमुक्त बनती है और ब्रह्मचर्य की साधना सुगम बनती है।

16. व्रत—स्वीकार —

प्रतिज्ञा के स्वीकार से मनोबल मजबूत बनता है। जीवनपर्यन्त अथवा वर्ष में अमुक दिनों में ब्रह्मचर्यपालन का नियम कर अपने मन को अशुभ विचारों से रोक सकते हैं।

17. तप —

ब्रह्मचर्य की साधना में तप—धर्म का विशेष महत्त्व है। तप की साधना से भीतर की वासनाएं निर्जरित हो जाती हैं। काम—क्रोध आदि विकार तप से जलकर भस्मीभूत हो जाते हैं, शर्त यह है कि तप विवेकपूर्ण होना चाहिए। बार—बार भोजन करने से, अतिमात्रा में आहार लेने से एवं मादक भोजन करने से कामविकार जाग्रत होते हैं, अतः साधक को अपने दैनिक—जीवन में भी तप का आश्रय लेना चाहिए। साधु के लिए दशवैकालिक में 'एगभतं च भोयणं'¹⁹² [दिन में एक बार सात्त्विक भोजन] का जो विधान किया गया है, वह एकदम युक्तिसंगत है। दिन में एक बार सात्त्विक—भोजन लेने से शरीर के लिए आवश्यक ऊर्जा—शक्ति की भी प्राप्ति हो जाती है और दैनिक आराधना—साधना में भी नियमितता रहती है। कामवासनाओं का भोजन के साथ सीधा संबंध है। तप के द्वारा आहार—संयम होते ही काम पर आसानी

¹⁹² दशवैकालिकसूत्र -6, गाथा-23

से विजय पाई जा सकती है। कामवासना पर विजय प्राप्त करने के लिए आयंबिल का तप एक रामबाण उपाय है। आयंबिल के भोजन से रसना पर ता विजय मिलती ही है साथ में काम पर विजय भी प्राप्त की जा सकती है, अतः साधक को आयंबिल, या प्रतिदिन एक विगई का त्याग करना चाहिए। साधक को अपने भावब्रह्मचर्य के पालन के लिए विवेकपूर्ण तप-धर्म का आचरण अवश्य करना चाहिए।

18. कायोत्सर्ग –

कायोत्सर्ग की साधना के द्वारा भी भटकते हुए मन को नियंत्रित किया जा सकता है। मन को केन्द्रित करने के लिए कायोत्सर्ग श्रेष्ठ साधना है। काया के उत्सर्ग के द्वारा काया के ममत्व का त्याग करना होता है। जहाँ काया की ममता नहीं रहेगी, वहाँ कामवासना का अस्तित्व भी कैसे टिक पाएगा। भगवान् महावीर प्रभु भी अपने छद्मस्थ-काल में अधिकांश समय कायोत्सर्ग की साधना में ही बिताते थे। खड़े-खड़े लंबे समय तक कायोत्सर्ग करने से मन का भटकाव रुक जाता है और साधक आत्मोन्नति के शिखर पर चढ़ जाता है।

19. अशुचि-भावना¹⁹³ से मन को भावित करें –

मानव-शरीर के भीतर भयंकर अशुचि है। मल-मूत्र, हाड़-मांस से यह देह भरा हुआ है। ऊपर रही गौरवर्णीय चमड़ी का आकर्षण परिणाम में तो अत्यन्त ही खतरनाक है। स्त्री-देह बाहर से कितना ही सुंदर क्यों न हो, भीतर से तो अत्यन्त ही वीभत्स है। बाहर की चमड़ी उतर जाए, तो उसकी ओर एक क्षण का भी आकर्षण नहीं रहेगा। अब्रह्म के पाप से बचने के लिए हमेशा अशुचि-भावना से अपनी आत्मा का भावित करना चाहिए।

20. विजातीय-सजातीय स्पर्श-त्याग –

ब्रह्मचर्य-पालन के इच्छुक व्यक्ति को विजातीय और सजातीय के अंगोपांग के स्पर्श का भी त्याग करना चाहिए। इस स्पर्श के पाप में हस्त-मैथुन का पाप जीवन

¹⁹³ योगशास्त्र – 4/72

में फलता—फूलता है और व्यक्ति स्वप्नदोष आदि का शिकार बनकर सत्त्वहीन और शक्तिहीन बन जाता है।

21. परलोक का विचार करें —

अब्रह्म के सेवन से आत्मा को परलोक में भयंकर कटु विषाक भुगतने पड़ते हैं। नरक में परमाधामी देवता धग—धगायमान लोहे की पुतलियों का आलिंगन करने हेतु तीव्र दबाव डालते हैं। जीते—जी चमड़ी उतार दी जाती है। यहाँ कामभोग में क्षणभर का सुख है, किन्तु परिणामस्वरूप नरक में लाखों—करोड़ों—अरबों वर्षों तक भयंकर यातनाएं भुगतना पड़ती हैं।

22. भव—आलोचना —

पाप के पश्चाताप में आत्मा के ऊर्ध्वीकरण की अपूर्व शक्ति रही हुई है। मोह व अज्ञानता के कारण जो भूलें हो चुकी हैं, उनको हृदय से स्वीकार करना चाहिए और भविष्य में उन भूलों का पुनरावर्तन न हो जाय, इसके लिए अत्यंत ही सावधान रहना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य की साधना और वासना पर जय हम मन की एकाग्रता और व्रत की दृढ़ संकल्पता के माध्यम से कर सकते हैं, क्योंकि आगम—साहित्य में काम—भोग के त्याग को ब्रह्मचर्य माना है। काम और भोग ये दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों के विषयों को 'काम' कहा गया है तथा घ्राण, चक्षु और कर्ण—इन्द्रियों के विषयों को 'भग' माना गया है। काम और भोग में पांचों इन्द्रियों के विषय का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। सम्यक् रूप से इन्द्रियों को वश में कर ब्रह्मचर्य की साधना की जा सकती है। विश्व के सभी चिन्तकों ने व्यभिचार, विषयवासना, विलासिता की भर्त्सना की है। बाइबिल में भी यह स्वर मुखरित हुआ है। उसी प्रकार, मुस्लिम—धर्म में भी विलासिता को निन्दनीय माना गया है।

अनियन्त्रित कामवासना मानव के संस्कारों को विकृत बनाती है। आज चलचित्रों के दृश्य व्यक्ति की विषयवासना को उद्दीप्त करते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र का

'ब्रह्मचर्यसमाधि अध्ययन'¹⁹⁴ ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रतिष्ठित करता है। इसमें वैज्ञानिक रूप से उस वातावरण से दूर रहने की प्रेरणा दी गई है जिससे विकार-वासना जाग्रत होने की संभावना हो। यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र के युग में दूरदर्शन [टीवी], फिल्म का आविष्कार नहीं हुआ था, तथापि उसमें अश्लील दृश्य देखने का निषेध किया गया है। ब्रह्मचर्य की साधना वासना-जय की साधना है। इस साधना के माध्यम से ही व्यक्ति स्व का ज्ञान कर शैलेषी-अवस्था तक पहुंच सकता है।

¹⁹⁴ उत्तराध्ययनसूत्र— 16/1-16

6. व्यक्ति का आध्यात्मिक-विकास और काम-वासना —

व्यक्ति का आध्यात्मिक-विकास जीवन का वह सर्वोच्च शिखर है, जहाँ पहुंचकर आत्मा कर्मबंधन में नहीं बंधती है और अपने शुद्ध स्वरूप में लीन हो जाती है। वहाँ न तो कोई इच्छा है, न कोई आकांक्षा, न कोई शरीर और न कोई लिंग। आध्यात्मिक-विकास जीवन का अन्तिम सोपान है। उस सोपान तक पहुंचते ही व्यक्ति का जीवन सफल और सार्थक हो जाता है। ठीक इसके विपरीत, कामवासना एक ऐसी भावात्मक — इच्छा, आकांक्षा, लालसा और चाहना है, जो व्यक्ति के आध्यात्मिक-विकास को रोकती है और पुनः-पुनः नए कर्मों के बंधन के कारण वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता। यहाँ यह चिंतन उपस्थित होता है कि किस प्रकार से जीवात्मा अपना आध्यात्मिक-विकास करे ? भारतीय-जैनदर्शन में व्यक्ति की आध्यात्मिक-विशुद्धि के विभिन्न स्तरों का निर्धारण करने के लिए जैनदर्शन में गुणस्थान की अवधारणा को प्रस्तुत किया है। उसमें व्यक्ति के आध्यात्मिक-विकास का मूल्यांकन इसी अवधारणा के आधार पर होता है।

यह एक प्रकार का मापदण्ड है, थर्मामीटर है, जिसके द्वारा आत्मा के विकास की स्थिति को जाना जा सकता है। कहा गया है —

‘स्वयं कर्म करोति आत्मा—स्वयं तत्फलमश्नुते,
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद् विमुच्यते।’

आत्मा स्वयं ही कर्म करता है एवं स्वयं ही उसका फल भोगता है, कर्म-बन्धनों के कारण भव-भ्रमण करता है तथा पुरुषार्थ के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्वाण पाना, परमसुख पाना, मुक्ति-पाना यही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है। यह तभी संभव है, जब आत्मा के स्वयं के गुणों का विकास हो। ज्यों-ज्यों आत्मगुण प्रकट होने लगता है, त्यों-त्यों कर्मावरण हटता जाता है। आत्मा के गुणों के विकास की भूमिकाओं की क्रमिक अवस्थाओं को जैन-दर्शन में ‘गुणस्थान’ कहा गया है।

वस्तुतः, गुणस्थान शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक-शब्द है। श्वेताम्बर-परम्परा में सर्वप्रथम समवायांग में जीवस्थान के नाम से इसका उल्लेख हुआ है।¹⁹⁵ समयसार में गुणस्थान को जीवरस या जीव के परिणाम (मनोदशाएँ) कहा गया है।¹⁹⁶ गोम्मटसार में गुण शब्द को जीव का पर्यायवाची मानकर जीव की अवस्थाओं को ही गुणस्थान कहा गया है।¹⁹⁷ यहाँ एक बात स्पष्ट होती है कि आत्मा के आध्यात्मिक-विकास की दृष्टि से जिन विभिन्न अवस्थाओं की चर्चा की जाती है, उनके लिए गुणस्थान शब्द परवर्तीकाल में ही रूढ़ हुआ है। उपर्युक्त समग्र चर्चा से स्पष्ट है कि जैनदर्शन में 'गुण' शब्द का प्रयोग संसार, इन्द्रियों के विषय, बन्धन के कारण कर्मों की उदयजन्य अवस्थाएँ, कर्मविशुद्धि के स्थान, आत्मा की विशुद्धि की अवधारणा और आध्यात्मिक विकास की अवस्थाएँ आदि विभिन्न अर्थों में हुआ है। आचारांगसूत्र में कहा गया है —“जो गुण है, वह संसार है और जो संसार है, वह गुण है।” यहाँ 'गुण' शब्द संसार-परिभ्रमण का वाचक माना गया है। वस्तुतः देखा जाय तो सोलह प्रकार की संज्ञाएं व्यक्ति के जीवन में सदा व्यक्त-अव्यक्त रूप से विद्यमान हैं, अवसर और अभिव्यक्ति के उपस्थित होने पर वे व्यक्त हो जाती हैं।

प्रस्तुत संदर्भ में कामवासना का अर्थ संज्ञा (मूल प्रवृत्ति) [Instinct] से है, क्योंकि जब तक जीव में इच्छा, आकांक्षा और कामवासना रहेगी, तब तक उसका आध्यात्मिक-विकास संभव नहीं हो सकता, क्योंकि मूलवृत्तियाँ जीव की आवश्यकता भी है और बंध का कारण भी। आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा और परिग्रह-संज्ञा आदि मूल रूप से सांसारिक-जीव के साथ रहने के कारण, वे कर्मबंधनों में जीव को प्रवृत्त करती हैं, जैसे — शरीर को चलाने के लिए आहार आवश्यक माना गया है, इसके अभाव में शरीर अधिक समय तक टिकाया नहीं जा सकता, क्योंकि आहार ग्रहण करने से शरीर को शक्ति एवं स्फूर्ति मिलती है। परन्तु राग और आसक्ति पूर्वक, भक्ष्याभक्ष्य का विवेक नहीं रखकर, मात्र स्वाद के लिए लिया गया

¹⁹⁵ कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउदस जीवहाण पण्णता । — समवायांग, 14/15, मधुकरमुनि

¹⁹⁶ समयसार, गाथा क्र. 55 लेखक— कुन्दाकुन्दाचार्य।

¹⁹⁷ गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 8

आहार कर्म-बंधन का कारण बनता है और हमारे आध्यात्मिक-विकास में बाधा उत्पन्न करता है। तप की साधना द्वारा आहार-संज्ञा को धीरे-धीरे समाप्त किया जा सकता है।

जैसा पूर्वोक्त में, भयसंज्ञा के विस्तृत विश्लेषण में यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि व्यक्ति अपनी सुरक्षा और सुख के भय के कारण ही सारी पाप-प्रवृत्तियाँ करता है। भय जीवन का दूषण है और अभय जीवन का भूषण। आध्यात्मिक-विकास के लिए जीव को अभय की साधना करना चाहिए, तभी वह अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है और अपने आध्यात्मिक-विकास के स्तर को ऊँचा उठा सकता है।

मैथुनसंज्ञा, जैसा कहा जा चुका है कि मोहकर्म के उदय होने के कारण राग-परिणाम से स्त्री-पुरुष में जो परस्पर संस्पर्श की इच्छा होती है, यह मिथुन है और उसका कार्य मैथुन है। मिथुनरूपी कामवासना ही आध्यात्मिक-विकास में सबसे बड़ी बाधक है, इसलिए आध्यात्मिक-विकास की ओर बढ़ने के लिए इन्द्रिय और मन के संयम से वासनात्मक-प्रवृत्ति को हटाना ही ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार अन्य संज्ञाएँ भी हैं जिनके निरसन और क्षय के माध्यम से हम अपने आत्मिक-विकास को बढ़ा सकते हैं।

शास्त्रकार कहते हैं कि जब तक जीव में मूलप्रवृत्तियाँ (संज्ञा) और रागद्वेष विद्यमान हैं, तब तक वह किसी-न-किसी योनि के शरीर द्वारा इंद्रियों आदि की न्यूनाधिकतापूर्वक संसार में परिभ्रमण करता रहता है। संसारी-जीव अनंत हैं और वे सभी अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न प्रकार के शरीर, ज्ञान, बुद्धि आदि वाले हैं। इन जीवों में ही तीन, चार, दस, और सोलह प्रकार की संज्ञाएँ पाई जाती हैं और जीव की विभिन्न पर्याओं या अवस्थाओं के सन्दर्भ में जिन-जिन अपेक्षाओं से विचार-विमर्श या अन्वेषण किया जाता है, वे सभी 'मार्गणा' कही जाती हैं। ज्यों-ज्यों जीव का गुणस्थान बढ़ता जाएगा, वह आत्मविशुद्धि के पथ पर चलता चला जाएगा और उसकी संपूर्ण मूलप्रवृत्तियाँ आध्यात्मिक-विकास के शिखर पर पहुंचकर समाप्त

हो जाएंगी। वहां न तो कोई कषाय रहेंगे, न कोई लेश्या [शुक्ललेश्या को छोड़कर] न ही वेद।

उपसंहार —

मैथुनसंज्ञा या कामवासना प्राणीय-जीवन का अपरिहार्य अंग है। प्रजाति के संरक्षण में भी वह एक आवश्यक तथ्य है, फिर भी वह मात्र दैहिक-तथ्य है, आध्यात्मिक-विकास के लिए देहातीत या वासना से मुक्ति होना आवश्यक है।

इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर जिनका नाम आज भी दैदीप्यमान है, ऐसे अनेक महापुरुष और महासतियाँ हुए हैं उन्होंने अपने जीवन में कामवासना का निरसन करके ही अपनी आत्मा का कल्याण किया था। उनका जीवन वर्तमान युग में आदर्श स्वरूप है। यह स्पष्ट है कि जब तक कामवासनाओं का निरसन या क्षय नहीं होगा और ब्रह्मचर्य की साधना नहीं होगी, तब तक आध्यात्मिक-विकास संभव नहीं हो सकता। यह शास्त्र-प्रमाणित तथ्य है कि जितने भी महायुद्ध और संग्राम हुए, कुछ को छोड़कर सभी महायुद्ध मैथुन-संज्ञा के कारण ही हुए हैं। सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, कांचना, रक्तसुभद्रा, अहिल्या, स्वर्णगुटिका, किन्नरी, सुरूपविद्युन्मति और रोहिणी आदि के लिए जो संग्राम हुए हैं, उनका मूल कारण मैथुन-संज्ञा ही था।¹⁹⁸ दूसरे शब्दों में, मैथुन-संबंधी काम-वासना के कारण ये सब महायुद्ध हुए। कहते हैं— “अब्रह्म का सेवन करने वाले इस लोक में तो नष्ट होते ही हैं, परलोक में भी उनकी दुर्गति होती है,”¹⁹⁹ जैसे — सीता के रूप में मुग्ध बने रावण को बेमौत मरना पड़ा था और अन्त में नरक में जाना पड़ा था।²⁰⁰ द्रौपदी को प्राप्त करने के लिए अमरकंका देश के राजा की युद्ध में दुर्गति हुई और उसे अपमान सहन करना पड़ा।²⁰¹ मदनरेखा के रूप में पागल बने मणिरथ ने अपने सगे भाई युगबाहु की

¹⁹⁸ प्रश्नव्याकरणसूत्र - 4/91

¹⁹⁹ 'इहलोए ताव णड्ढा, परलोए वि य णड्ढा महया। - वही -4/91

²⁰⁰ विक्रमाक्रान्तविश्वोऽपि परस्त्रीषु रिरंसया

कृत्वा कुलक्षयं प्राप नरकं दशकन्धराः। - योगशास्त्र -2/99

²⁰¹ 1) स्थानांगसूत्र - 10/160

2) प्रवचनसारोद्धार, आश्चर्यद्वार - 138, साध्वी हेमप्रभा श्रीजी

छाती में छुरा भोंककर उसकी हत्या कर दी थी।²⁰² 23 तीर्थंकर प्रभु पार्श्वनाथ का प्रथम भव मरुभूति का था। मरुभूति और कमठ – दोनों भाई थे, पर मरुभूति की पत्नी अति रूपवान होने से कमठ उस पर बुरी नजर रखता था। जब यह बात मरुभूति को ज्ञात हुई, तो कमठ को राजा ने नगर में घुमाकर अपमानित कर नगर से बाहर निकाल दिया। स्त्रीरूप के कारण ही भगवान् के दस भवों में कमठ हर समय प्रभु का द्वेषी बना और अन्त में उसकी दुर्गति हुई।²⁰³ परस्त्री चाहे कितनी ही लावण्ययुक्त हो, शुभ आंगोपांगों से युक्त हो, सौंदर्य एवं सम्पत्ति का घर हो तथा विविध कलाओं में कुशल हो, फिर भी उसका त्याग करना चाहिए, अतः परस्त्री को त्याज्य समझकर छोड़ना चाहिए।²⁰⁴

मानव-देह का अस्तित्व आयुष्य की सीमाओं में बंधा हुआ है। लाख कोशिश करने के बावजूद भी इसे शाश्वत जीवन देने में कोई सक्षम नहीं हुआ है। विश्व रंगमंच पर अनेक आत्माओं को मानवदेह मिलती है, किन्तु उसे सफल व सार्थक बनाने वाले विरले ही हुए हैं। इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों से अंकित उन महापुरुषों के पवित्र जीवन का जब अवलोकन करते हैं, तब अपना हृदय उन महान् विभूतियों के चरणों में सहजता से झुक जाता है। ब्रह्मचर्य-धर्म की साधना वाले बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमीनाथ, विजय सेठ और विजया सेठानी, जंबुकुमार, सुदर्शनसेठ, स्थूलभद्र, वज्रस्वामी आदि अनेक साधक हुए हैं, जिन्होंने ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा आत्मकल्याण किया। इससे सिद्ध होता है कि मैथुन-संज्ञा पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

-----000-----

²⁰² भरहेसर –सज्जाओ, गाथा-8 श्री श्राद्ध प्रतिक्रमणसूत्र प्रबोधटीका, भाग-2, पृ. 468

²⁰³ श्रीकल्पसूत्र, छट्टी वाचना, हिन्दी अनुवाद –श्री आनन्दसागरसूरीश्वरजी म.सा., पृ. 280

²⁰⁴ लावण्यपुण्यावयवां पदं सौन्दर्यसम्पदः।

कलाकलापकुशलामपि जह्यात् परस्त्रियम्।। – योगशास्त्र -2/100

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 5 परिग्रह संज्ञा

1. परिग्रह का स्वरूप एवं लक्षण
2. जैन दर्शन में परिग्रह के प्रकार
3. परिग्रह या संचयवृत्ति के दुष्परिणाम
4. जैन दर्शन में परिग्रह वृत्ति के नियंत्रण के उपाय - परिग्रह परिमाण व्रत
5. परिग्रह वृत्ति के विजय के संबंध में गांधीजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धांत
6. धन अर्जन की वृत्ति एवं धनसंचय की वृत्ति में अंतर
7. ममत्ववृत्ति का त्याग एवं समत्ववृत्ति का विकास

अध्याय—5

परिग्रह—संज्ञा {Instinct of appropriation}

परिग्रह शब्द परि+ग्रहण से मिलकर बना है। 'परि' शब्द का अर्थ विपुल मात्रा में या पूर्णतः और ग्रहण का अर्थ प्राप्त करना, संग्रह करना आदि है, अतः परिग्रह शब्द का विस्तृत अर्थ विपुल मात्रा में वस्तुओं का संग्रह करने से है, या उन पर पूर्णतया अपने स्वामित्व का आरोपण करने से है। 'परिग्रहणं वा परिग्रहः',¹ अर्थात् परिग्रहण ही परिग्रह है। परिग्रह का एक अर्थ विषयासक्ति या संसार के समस्त विषयों के प्रति राग भाव तथा ममत्व रखना भी है। जैनदर्शन के अनुसार, लोभ मोहनीयकर्म के उदय से संसार के कारणभूत सचिताचित् पदार्थों को आसक्तिपूर्वक ग्रहण करने की अभिलाषारूप क्रिया को परिग्रह—संज्ञा कहते हैं।²

पदार्थ असीम हैं और इच्छाएं या आकांक्षाएँ आकाश के समान असीम हैं।³ जिस प्रकार विराट् सागर में प्रतिपल जलतरंगें तरंगित होती हैं, एक जलतरंग अनन्त सागर में विलीन होती है, तो दूसरी जलतरंग उठ जाती है, यही स्थिति इच्छा और तृष्णा की भी है। मानव—मन में निरंतर तृष्णा या इच्छा—रूपी तरंगें उठती ही रहती हैं। एक इच्छा की पूर्ति होने पर दूसरी इच्छा जन्म ले लेती है। दूसरी इच्छा पूर्ण होने पर तीसरी इच्छा उद्भूत हो जाती है। इस प्रकार, इच्छाओं का कहीं अन्त नहीं है, इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है —“यदि मानव को कैलाश पर्वत के सदृश चमचमाते स्वर्ण और चाँदी के असंख्य पर्वत भी प्राप्त हो जाएं तो भी उसकी तृष्णा या विषयों की प्राप्ति के प्रति आसक्ति शान्त नहीं होती है।⁴ कहा गया है— ‘जहा

¹ अभिधानराजेन्द्रकोश, प्राकृत/संस्कृत भाग—5, पृ. 552

² लोभोदयात्प्रधान भवकारणाभिव्यङ्गपूर्विका सचितेतरदृव्योपादानक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति परिग्रह संज्ञा। — प्रज्ञापनासूत्र — 8/725

³ इच्छा हु आगाससमा अणंतिया — उत्तराध्ययनसूत्र — 9/48

⁴ 1) प्रश्नव्याकरणसूत्र — 5/93

2) सुवण्ण—रूपस्स उ पव्वया भवे, सियाः हु कैलाससमा असंख्या नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि.....। — उत्तराध्ययनसूत्र — 9/48

लाहो, तहा लोहो अर्थात् ज्यों—ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों—त्यों लोभ बढ़ता जाता है। वस्तुतः, लाभ से लोभ का वर्द्धन होता है। उत्तराध्ययनसूत्र⁵ में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है।

परिग्रह—संज्ञा का सामान्य अर्थ संचयवृत्ति से है। यद्यपि संचयवृत्ति सभी प्राणियों में पाई जाती है, फिर भी मनुष्य में परिग्रह—संज्ञा या संचयवृत्ति सर्वाधिक है। सामान्य प्राणी अपनी आहारसंज्ञा की पूर्ति या दैहिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए संचय करता है, किन्तु मनुष्य की संचयवृत्ति भिन्न होती है। वह केवल स्वामित्व को प्राप्त करने के लिए ही प्रयत्न करता है। पाश्चात्य—वैज्ञानिक मैकड्यूगल ने जिन चौदह मूलवृत्तियों की चर्चा की है, उसमें उसने संचयवृत्ति को भी मूल प्रवृत्ति माना है। जीवन और देह के संरक्षण के लिए संचयवृत्ति आवश्यक है, किन्तु जब वह संचयवृत्ति लोभ और तृष्णा का परिणाम होती है, तो वह संसार में संघर्ष, युद्ध और तनाव को उत्पन्न करने वाली होती है।

उपभोग और परिभोग के लिए संचय उतना बुरा नहीं है, जितनी अधिकार—भावना की दृष्टि से वह होता है। प्रत्येक प्राणी को अपना जीवन जीने का अधिकार है और इसलिए उसे उपभोग का भी अधिकार है। वह उपभोग के लिए संचय करे, किन्तु जो संचय के लिए संचय करता है, वह मनोवैज्ञानिक—दृष्टि से जो साधन है, उसी को साध्य बना लेता है। जब लोभ की वृत्ति से संचय की वृत्ति होती है, तो वह मनोवैज्ञानिक—दृष्टि से तनाव एवं संघर्ष का कारण बन जाती है। आक्रामकता की वृत्ति भी इसी से पनपती है, इसीलिए भागवत्⁶ में कहा गया है —“जहां तक उदरपूर्ति का प्रश्न है या दैहिक आवश्यकता की पूर्ति का प्रश्न है वहां तक पदार्थों के उपभोग का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है, लेकिन जो आवश्यकता से अधिक का संचय करता है, या उस पर अपना स्वामित्व मानता है, वह चोर है।”

⁵ उत्तराध्ययनसूत्र — 32/8

⁶ यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।। — भागवत् — 7/14/8-11

परिग्रह—संज्ञा के उत्पत्ति के कारण —

वस्तुतः, यह सत्य है कि इच्छाएं असीम हैं, किन्तु आवश्यकताएं बहुत ही सीमित हैं। “पेट भर सकता है, किन्तु पेटी कभी नहीं भरती।” एक पेटी भर जाने पर दूसरी पेटी भरने की चिन्ता सताती है। इस प्रकार, अनावश्यकता हेतु धन—सम्पत्ति और पदार्थों का संग्रह करना तथा उन वस्तुओं के प्रति ममत्व—बुद्धि और आसक्ति रखना भी परिग्रह—संज्ञा तो है, किन्तु वह उतनी बुरी नहीं है, जितनी मात्रा में स्वामित्व की भावना से जनित संचयवृत्ति। उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्र, स्त्री आदि भोगोपभोग, के साधनभूत पदार्थों को देखने से, पहले भुक्त पदार्थों का स्मरण करने से परिग्रह में ममत्व—बुद्धि रखने से तथा लोभकर्म की उदीरणा होने पर परिग्रहसंज्ञा होती है।⁷ तत्त्वार्थसार⁸ में कहा गया है —“अन्तरंग में लोभकषाय की उदीरणा होने से तथा बहिरंग में उपकरणों को देखने से, परिग्रह की ओर उपयोग जाने से और मूर्च्छाभाव होने से परिग्रह की इच्छा होना परिग्रहसंज्ञा है। यह संज्ञा दसवें गुणस्थान तक होती है। तिर्यचों में परिग्रह—संज्ञा सबसे कम होती है तथा देवों में सबसे अधिक पायी जाती है, क्योंकि सोना और रत्नों में उनकी सदा आसक्ति बनी रहती है।⁹ शास्त्रों में, धन—वैभव को नहीं, किन्तु धन—वैभव के प्रति जो मन में आसक्ति या स्वामित्व की भावना लहरा रही है, उसे परिग्रह—संज्ञा कहा गया है। एक भिखारी है, जिसके पास तन ढकने को न पूरे वस्त्र हैं, न खाने को अन्न और न ही रहने के लिए झोपड़ी, परन्तु उसके मन में चलचित्र की तरह एक के बाद दूसरी इच्छाएँ आ रही हैं। उसके मन में पदार्थों के प्रति तीव्र आसक्ति है, इसीलिए कंगाल होते हुए भी करोड़पति की इच्छाएँ उसकी इच्छाओं के सामने कम हैं। वह चाहता है कि पलक

⁷ उपयरणदंसणेण य तस्सुवजोगेण मुच्छिदाए य।

लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥ — गो.जी. 137

⁸ तत्त्वार्थसार, 2/36 का भावार्थ, पृ. 46

⁹ प्रज्ञापनासूत्र — 8/711

झपकते ही वह संपूर्ण विश्व का स्वामी बन जाए। वस्तुतः वह दरिद्र होने पर भी महान परिग्रही है, क्योंकि उसके मन में तीव्र परिग्रहसंज्ञा है।¹⁰

जैन-कर्मसिद्धान्त के अनुसार, लोभ-मोहनीयकर्म के उदय से सचित् एवं अचित्-द्रव्यों को संचय करने की जो वृत्ति होती है, वह परिग्रह-संज्ञा है। प्राणी की संचयात्मक-वृत्ति के कारण स्थानांगसूत्र¹¹ में परिग्रह-संज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण बताए गए हैं -

1. संचय करने की वृत्ति से।
2. लोभ-मोहनीयकर्म के उदय से।
3. परिग्रह को देखने से
4. परिग्रह सम्बन्धी विचार करने से।

आगे हम इनकी विस्तृत विवेचना करेंगे।

1. संचय करने की वृत्ति से -

मुख्यतः, परिग्रह का सीधा सम्बन्ध तो व्यक्ति की आसक्ति से है, किन्तु गौणरूप से वस्तु-संग्रह की वृत्ति भी परिग्रह कहलाती है। मनुष्य एक देहधारी प्राणी है और देहधारी की अपनी कुछ आवश्यकताएँ होती हैं, जिनकी पूर्ति पदार्थों के द्वारा ही की जा सकती है। देह के लिए आहार आवश्यक है¹², अतः आवश्यक पदार्थों का संग्रह और उसके लिए अर्थ-उपार्जन भी जरूरी है। जैनदर्शन में इसलिए गृहस्थ के लिए यह निर्देश है कि वह अपने पुरुषार्थ से धन का अर्जन करे, क्योंकि मनुष्य को स्वप्रयत्नों से उपार्जित सम्पत्ति को ही भोगने का अधिकार है। गौतमकुलक में कहा

¹⁰ क) मूर्च्छाच्छत्रधियाँ सर्व जगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छया रहितानां तु, जगदेवा परिग्रहः ॥ - उपासकदशांगसूत्र

ख) इच्छा परिणामं करेह - उपासकदशांगसूत्र

¹¹ चउहिं ठाणेहिं परिग्रहसण्णा समुप्पज्जति, तं जहा-
अविमुत्तयाए, लोभवेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं,
मतीए, तदद्दोवओगेणं। - स्थानांगसूत्र - 4/582

¹² भोक्खपसाहणहेतुं णाणादी तप्पसहणे देहो
देहद्धा आहारो तेण तु कालो अणुण्णातो ॥ - निशीथभाष्य, 47/91

गया है कि—पिता के द्वारा संचित लक्ष्मी निश्चय ही पुत्र के लिए भगिनी के तुल्य होती है और दूसरों की लक्ष्मी पर—स्त्री के समान है, दोनों का भोग वर्जित है, अतः व्यक्ति को अपनी जैविक—आवश्यकता के लिए जितना धन आवश्यक है उतना उसे संचय करने का अधिकार है, परन्तु यदि वह भविष्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिए संचय करता है, तो वह दूसरों के अधिकारों का हनन करता है।

वर्तमान काल में केवल इच्छापूर्ति के लिए ही संचय नहीं किया जाता, वरन् विलासिता, सुविधा और सुख—प्राप्ति के लिए संचय किया जा रहा है। आज के विज्ञापन, पत्र—पत्रिकाएं ऐसी इच्छा जाग्रत करते हैं जो अनावश्यक को भी आवश्यक बना देती है। उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि इनके बिना तो हमारा जीवन चल ही नहीं सकता। विज्ञापन आदि संचयवृत्ति को जाग्रत करते हैं और इससे परिग्रह—संज्ञा की वृत्ति बढ़ती ही चली जाती है, अतः हमें आवश्यकता को सम्यक् रूप से समझना होगा।

2. लोभमोहनीय—कर्म के उदय से¹³ —

जो कर्म जीव को मोहग्रस्त करता है, विवेक भ्रष्ट करता है उसे मोहनीयकर्म कहते हैं। कर्मग्रन्थ में मोहनीयकर्म के दो भेद किए गए हैं — 1. दर्शन—मोहनीय और 2. चारित्र—मोहनीय। प्रस्तुत संदर्भ में, चारित्र—मोहनीयकर्म के उदय से व्रतों और महाव्रतों के ग्रहण एवं पालन में बाधा उपस्थित होती है। इसके भी दो भेद हैं — 1. कषाय—चारित्रमोहनीय, 2. नोकषाय—चारित्रमोहनीय। कषाय—चारित्रमोहनीय, जिससे दुःखों की प्राप्ति होती है उसे कषाय कहते हैं।¹⁴ कष्—संसार, जन्ममरण, रागद्वेष और आय अर्थात् लाभ। जिसके कारण भव (संसार) का विस्तार होता है, उसे कषाय कहते हैं।¹⁵ कषाय चार प्रकार के हैं — 1. क्रोध, 2. मान, 3. माया और 4. लोभ। मोहनीयकर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होनेवाली तृष्णा या लालसा लोभ

¹³ सोलस कसाय नव नोकसाय, दुविहं चरित्त मोहणीयं।

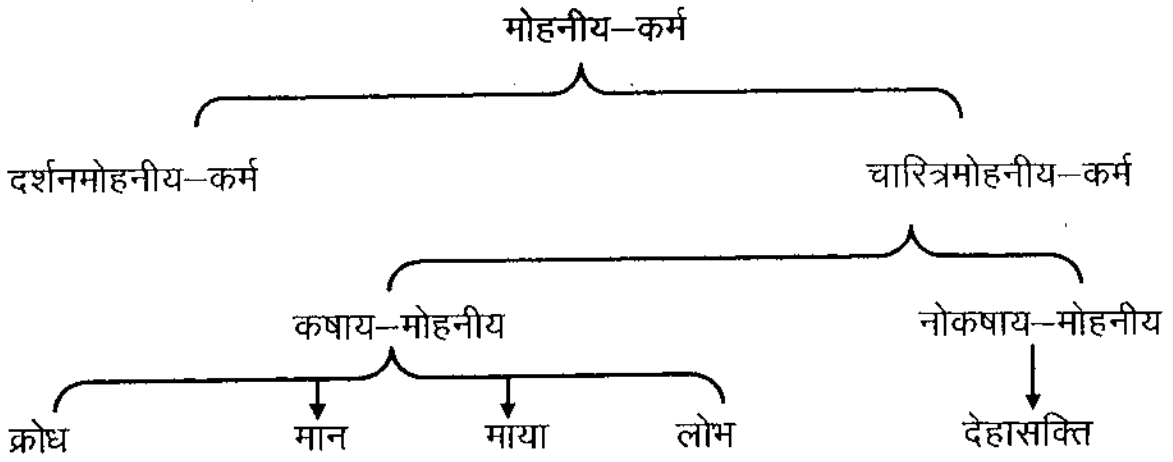
अण—अपच्चक्खाणा, पच्चक्खाणा य संजलणा ॥

— प्रथमकर्मग्रंथ, गाथा 17

¹⁴ कम्मं कस भवो वा कसमाओ सिं जओ कसाया ता। — विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2978

¹⁵ अभिधानराजेन्द्रकोष, खण्ड—3, पृ. 395

कहलाती है। जब व्यक्ति में लोभमोहनीय-कर्म का उदय होता है, तो अधिकाधिक संग्रह की लालसा उत्पन्न होती है। स्थानांगसूत्र में कहा है कि जिस प्रकार मांस के लिए गिद्ध आदि पक्षी चक्कर काटते हैं, उसी प्रकार लोभी मनुष्य इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए उद्यमशील रहता है। लोभ को आमिषावर्त कहा गया है। अतः, स्पष्ट है कि लोभमोहनीय-कर्म के उदय से ही व्यक्ति में परिग्रह-संज्ञा उत्पन्न होती है।



3. परिग्रह को देखने से --

परिग्रह-संज्ञा की उत्पत्ति का तृतीय प्रमुख कारण परिग्रह-सामग्री को देखने से एवं उसे प्राप्त करने का मानस बनाने से है। मानव-मन की यह वृत्ति है कि "दूसरों की थाली में घी अधिक दिखाई देता है।" मनुष्य के पास उसकी आजीविका-निर्वाह करने के लिए पर्याप्त सामग्री है, पर जब उसकी दृष्टि दूसरों की सामग्री, जैसे मकान, दुकान, वस्त्र, आभूषण, गाड़ी आदि पर पड़ती है, तो उसे अपनी सामग्री कम लगती है। यह कमी की दृष्टि ही भौतिक-वस्तुओं के प्रति उसे आकर्षित करती है और परिग्रह-संज्ञा को उत्पन्न करती है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि महिलाओं के पास सौ साड़ियाँ होने पर भी जब वे अपनी पड़ोसिन या अन्य की नई साड़ियाँ देखती हैं, तो आवश्यकता न होने पर भी वह उन्हें खरीदने के लिए तैयार हो जाती हैं। यह वृत्ति आकांक्षा, इच्छा, परिग्रह-संज्ञा को बढ़ाती है।

4. परिग्रह सम्बन्धी विचार करने से —

जिस प्रकार भोजन की चर्चा करते हैं, तो भोजन ग्रहण करने की इच्छा जाग्रत होती है, भय—संबन्धी विचार करते हैं तो भय स्वतः ही लगने लगता है, काम—संबन्धी विचार करते हैं, तो वासनाएं प्रकट होने लगती हैं, ठीक उसी प्रकार परिग्रह—संबन्धी विचार करते हैं तो वस्तुओं को संचय करने की इच्छा जाग्रत होती है। मनुष्य के मन एवं मस्तिष्क में निरन्तर विचारों का क्रम चलता रहता है। व्यक्ति के विचार ही उसके कार्य के रूप में परिणत होते हैं। मन में यदि भविष्य में उपभोग के लिए वस्तु—संचय का विचार चल रहा है तो निश्चित रूप से वह संचय करने का प्रयास करेगा और अपने परिग्रह को बढ़ाएगा। अतः जैनदर्शन का कहना है कि मनुष्य को आवश्यकता से अधिक की संचयवृत्ति से बचना चाहिए।

परिग्रह का स्वरूप एवं लक्षण —

प्रश्नव्याकरणसूत्र के टीकाकार¹⁶ ने परिग्रह की व्याख्या करते हुए लिखा है —जो पूर्ण रूप से ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह है। पूर्ण रूप से ग्रहण करने का अर्थ है—ममत्वबुद्धि से ग्रहण करना। वास्तविक दृष्टि से तो परिग्रह आसक्ति, ममत्वबुद्धि या मूर्च्छा है।¹⁷ मूर्च्छा का अर्थ है —किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व का भाव। यह ममत्व की चेतना रागवश होती है और इसी चेतना के कारण अर्जन, संग्रह आदि के लिए प्राणी प्रयत्नशील रहता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार, समग्र संसारी—जीवों के दुःखों का मूल कारण तृष्णा है। जिसकी तृष्णा समाप्त हो जाती है, उसका मोह भी समाप्त हो जाता है और जिसका मोह समाप्त हो जाता है, उसके दुःख भी समाप्त हो जाते हैं।¹⁸ मूर्च्छा या तृष्णा ही परिग्रह है। तृष्णा का ही दूसरा

¹⁶ परिसामस्तयेन ग्रहणं परिग्रहणं.....मूर्च्छविशेषेण परिग्रह्यते आत्मभावेन ममेति बुद्ध्या ग्रह्यते इति परिग्रहः। — प्रश्नव्याकरणवृत्ति 215

¹⁷ मुच्छा परिग्रहो वृत्तो। — दशवैकालिकसूत्र 6/20

¹⁸ उत्तराध्ययनसूत्र — 32/8

रूप लोभ है और लोभ को ही सर्वगुणों का विनाशक कहा गया है।¹⁹ इस प्रकार, लोभमोहनीय—कर्म—फल—चेतना या तृष्णा के कारण ही परिग्रह—संज्ञा उत्पन्न होती है।

उत्तराध्ययनसूत्र में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यदि सोने और चांदी के कैलाश पर्वत के समान असंख्य पर्वत भी खड़े कर दिए जाएं तो भी यह दुष्पूर्य तृष्णा शांत नहीं हो सकती है। चूंकि धन चाहे कितना भी हो, वह सीमित है और तृष्णा अनन्त—असीम है, अतः सीमित साधनों से इस असीम तृष्णा की पूर्ति नहीं की जा सकती।²⁰ यदि हम अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें, तो जैन दार्शनिकों की दृष्टि में तृष्णा या आसक्ति दुःख का पर्यायवाची ही बन गई है। यह तृष्णा या आसक्ति ही परिग्रह (संग्रहवृत्ति) का मूल है। आसक्ति ही परिग्रह है।

मूर्च्छा—परिग्रह —

आचार्य उमास्वाति ने परिग्रह का स्वरूप बताते हुए कहा है — “मूर्च्छा परिग्रह है,²¹ अर्थात् किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व का अनुभव करना, या उस पर अपना मालिकाना हक रखना परिग्रह है। संसार में जड़ और चेतन, छोटे—बड़े अनेक पदार्थ हैं, यह संसारी प्राणी मोह या रागवश उन्हें अपना मान लेता है। उनके संयोग में यह हर्ष मानता है और वियोग में दुःखी होता है तथा उनके अर्जन, संचय और संरक्षण के लिए यह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। अब तो इन बाह्य पदार्थों पर स्वामित्व स्थापित करने के लिए और अपने देशवासियों की तथाकथित सुख—सुविधा के लिए राष्ट्र—राष्ट्र में युद्ध होने लगे हैं। वर्तमान काल में न्याय—नीति की स्थापना और असदाचार के निवारण के लिए युद्ध न होकर, अपने—अपने स्वार्थों की पूर्ति आदि कारणों से युद्ध होते हैं। वास्तव में देखा जाए तो इन सब प्रवृत्तियों की तह में मूर्च्छा या तृष्णा ही काम करती है, इसलिए सूत्रकार ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है। ‘मैं

¹⁹ लोहो सब्बविणासणो । — वही

²⁰ उत्तराध्ययनसूत्र — 9/48

²¹ मूर्च्छा परिग्रहः — तत्त्वार्थसूत्र— 7, 17

और 'मेरे' का भाव परिग्रह की ओर प्रेरित करता है।²² स्त्री, पुरुष, घर, धन-धान्य, चेतन-अचेतन आदि वस्तुओं के प्रति ममत्व रखना परिग्रह है।²³ अन्य शब्दों में कहें तो ऐसी वस्तुओं के मिलने की खुशी एवं उनके चले जाने का गम-रूपी मूर्च्छाभाव ही परिग्रह है। जिसके पास विपुल सम्पत्ति है, वे अवश्य परिग्रही हैं, परन्तु जिनके पास कुछ भी नहीं है, फिर भी चित्त में बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ लिए रहते हैं, वे भी परिग्रही हैं। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है — "मुनि न तो संग्रह करता है, न कराता है और करने वालों का समर्थन भी नहीं करता है। वह पर पदार्थों से पूर्णतया अनासक्त एवं अकिंचन होता है। इतना ही नहीं, वह अपने शरीर से भी ममत्व नहीं रखता है, संयम निर्वाह के लिए वह जो कुछ भी अल्प उपकरण अपने पास रखता है, उस पर भी उसका ममत्व नहीं होता है,"²⁴ इसलिए मुनि के पास सामग्री होते हुए भी मूर्च्छा न होने के कारण वह अपरिग्रही है। जैनाचार्यों ने बार-बार बलपूर्वक कहा है कि न्याय की कमाई से मनुष्य जीवनभर निर्वाह कर सकता है, किन्तु धन का भण्डार नहीं भर सकता। अटूट संपत्ति तो पाप की कमाई से ही प्राप्त की जा सकती है। जिस प्रकार नदियाँ जब भरती हैं, तो वर्षा के गन्दे जल से ही भरती हैं।²⁵ वास्तव में परिग्रह आसक्ति ही है। इस दृष्टिकोण से, धन-वैभव के अपार भण्डार होते हुए भी व्यक्ति अपरिग्रही या अल्प परिग्रही हो सकता है, शर्त यह है कि उसके हृदय में उस वैभव के प्रति अनासक्ति का भाव हो।²⁶

इच्छा-परिग्रह —

कुन्दकुन्दाचार्यविरचित 'समयसार' में इच्छा को परिग्रह कहा गया है। जिसमें इच्छा है, वह परिग्रही है, जिसमें इच्छाएँ नहीं हैं, वह अपरिग्रही है, क्योंकि इच्छा

²² The feeling of I and mine, are root causes of Infatuation. तत्त्वार्थसूत्र, अनु.— छगनलाल जैन, पृ. 191

²³ सो य परिग्रहो चेयणाचेयणेसु दव्वेसु मुच्छानिमित्तो भवई । — जि.चू., पृ. 151

²⁴ सव्वत्थुवहिणा बुद्धा संरक्खणपरिग्रहे ।

अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं ।। — दशवैकालिकसूत्र —6/21

²⁵ उत्तराध्ययनसूत्र, साध्वी चन्दना, पृ. 466

²⁶ जैन नीतिशास्त्र : एक परिशीलन, देवेन्द्र मुनि, पृ. 324

अज्ञानमय भाव है। वे भाव ज्ञानी के नहीं हो सकते हैं।²⁷ ज्ञानी को आहार की भी इच्छा नहीं है, इस कारण ज्ञानी का आहार करना भी परिग्रह नहीं है। यदि आहार इच्छापूर्वक, आसक्तिपूर्वक और स्वाद के लिए किया जाता है, तो वह भी परिग्रह बन जाता है।²⁸ जैन-कर्मसिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि असातावेदनीय-कर्म के उदय से जठराग्नि से क्षुधा उत्पन्न होती है, वीर्यांतराय के उदय से उसकी वेदना सही नहीं जाती और चारित्रमोह के उदय से ग्रहण करने की इच्छा जाग्रत होती है। इसलिए इच्छा को कर्मजन्य माना है। परिग्रह के स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है -ज्ञानी खाने की कोई इच्छा रखता ही नहीं है। यह अनिच्छा ही अपरिग्रह है। वह भूख को देखता है, पर भूख से व्याकुल नहीं होता है। इच्छा का अभाव ही अपरिग्रह है। प्यासा व्यक्ति पानी पीता है, वह आवश्यकता है, पर शराबी शराब पीता है, वह इच्छापूर्वक है, इसलिए वह परिग्रह है। साधु वस्त्रों का धारण लज्जा को ढकने के लिए करता है, पर गृहस्थ वस्त्रों का प्रयोग सुन्दर दिखाई देने के लिए करता है। इस प्रकार रागभाव और आसक्तिपूर्वक की गई क्रिया परिग्रहस्वरूप होती है।

आसक्ति/तृष्णा-परिग्रह :

बौद्ध-परम्परा में भी इच्छा (तृष्णा) को बन्धन एवं दुःखों का मूल माना गया है। बुद्ध कहते हैं कि तृष्णा के नष्ट हो जाने पर सभी बन्धन स्वतः नष्ट हो जाते हैं। वे कहते हैं कि चाहे स्वर्ण-मुद्राओं की वर्षा होने लगे, लेकिन उससे भी तृष्णायुक्त मनुष्य की तृप्ति नहीं होती।²⁹ भगवान् बुद्ध की दृष्टि में तृष्णा ही दुःख है³⁰ और

²⁷ अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं
अपरिग्रहो अधम्मस्य जाणगो तेण सो होदि।। - समयसार, गाथा 211

²⁸ अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि असणं
अपरिग्रहो दुं असणस्स जाणगो तेण सो होदि।। - वही, गाथा 212

अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो णाणीय णिच्छदे पाण
अपरिग्रहो दुं पाणस्स जाणगो तेण सो होदि - वही, गाथा-13

²⁹ धम्मपद, 186

³⁰ संयुत्तनिकाय, 2/12/66, 1/1/65

जिसे यह विषैली तृष्णा घेर लेती है, उसके दुःख वैसे ही बढ़ते रहते हैं, जैसे खेतों में वीरण घास बढ़ती रहती है।³¹ इच्छाओं (आसक्ति) का क्षय ही दुःखों का क्षय है। जो व्यक्ति इस तृष्णा को वश में कर लेता है, उसके दुःख उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं, जैसे कमलपत्र पर रखा हुआ जल-बिन्दु शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।³² इस प्रकार, बुद्ध की दृष्टि में भी आसक्ति (परिग्रह) ही वास्तविक दुःख है और अनासक्ति (अपरिग्रह) ही सच्चा सुख है। बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति, चाहे वह पदार्थों की हो, चाहे वह किसी अतीन्द्रिय तत्त्व की हो, बन्धन ही है। अस्तित्व की चाह तृष्णा है और मुक्ति तो वीतरागता या अनासक्ति (अपरिग्रह) में ही प्रतिफलित होती है,³³ क्योंकि आसक्ति ही बन्धन है।³⁴ बुद्ध कहते हैं कि परिग्रह या संग्रहवृत्ति का मूल यही आसक्ति या तृष्णा है, कहा भी गया है कि परिग्रह का मूल इच्छा है,³⁵ अतः बुद्ध की दृष्टि में भी अनासक्ति की वृत्ति के विकास के लिए परिग्रह का विसर्जन आवश्यक है।

महात्मा गांधी ने तो गीता को 'अनासक्ति-योग' ही कहा है। गीताकार ने भी यह स्पष्ट किया है कि आसक्ति का तत्त्व ही व्यक्ति को संग्रह और भोगवासना के लिए प्रेरित करता है। कहा गया है कि आसक्ति के बन्धन में बंधा हुआ व्यक्ति कामभोग की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक अर्थ-संग्रह करता है,³⁶ इसलिए आर्थिक-क्षेत्र में अपहरण, शोषण और संग्रह की जो बुराइयाँ पनपती हैं वे सब मूलतः आसक्ति से प्रत्युत्पन्न हैं। गीता में कहा है कि आसक्ति (इच्छा) और लोभ (परिग्रह) नरक के कारण हैं। काम-भोगों में आसक्ति मनुष्य ही नरक और अशुभ योनियों में

³¹ धम्मपद, 335

³² वही- 336

³³ मज्झिमनिकाय- 3/20

³⁴ सुत्तनिपात- 68/5

³⁵ महानिदेसपालि- 1/11/107

³⁶ गीता- 16/12

जन्म लेता है।³⁷ श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन! तू कर्मों के फल में रही हुई आसक्ति का त्याग कर निष्काम भाव से कर्म कर।³⁸ पुराणों में भी परिग्रह का मूल कारण ममत्वबुद्धि को माना है। 'परि समन्तात् मोहबुद्ध्या गृह्यते यः स परिग्रहः', अर्थात् मोह (ममत्व) बुद्धि के द्वारा जो पदार्थ को ग्रहण किया जाए वह परिग्रह है।³⁹ पातंजल योगसूत्र⁴⁰ में अपरिग्रह को पांचवे यम के रूप में स्वीकार किया गया है। कहा है कि परिग्रह का मूल कारण ममत्व, आसक्ति या तृष्णा है। परिग्रह या वस्तुओं का संग्रह व्यक्ति विषय-भोग हेतु करता है। चूंकि भोगों की पूर्ति पदार्थों से होती है, अतः भोगाकांक्षी को संसार में जन्म लेना आवश्यक होता है। संसार में वही जन्म लेता है, जिसमें सांसारिक-भोगों की कामना है। अभिप्राय यह है कि परिग्रह भोगेच्छाओं का द्योतक है और भोगेच्छाएँ संसार में जन्म लेने का कारण हैं।⁴¹ यह उक्ति प्रसिद्ध है—'न तृष्णायाः परो व्याधि न संतोषात्परं सुखम्', अर्थात् तृष्णा से बड़ी कोई व्याधि नहीं एवं संतोष से बड़ा कोई सुख नहीं। तृष्णा द्रौपदी के चीर के समान है, जो छोड़ने के बाद ही समाप्त होती है। यह बिना पाल के तालाब जैसी है, जिसमें कितना भी पानी आ जाए वह भरता नहीं है। परिग्रह का मूल मोह है, आसक्ति है। बाह्य-परिग्रह कभी भी बाधक नहीं होता, यदि मोह क्षीण हो जाता है, तो व्यक्ति के लिए परिग्रह कोई महत्त्व नहीं रखता। इसलिए कहा गया है—“जिस वृक्ष की जड़ सूख गई हो, उसे कितना ही सींचिएं, वह हरा-भरा नहीं होता। मोह के क्षीण होने पर कर्मवृक्ष फिर से हरा-भरा नहीं होता है। मूल को सींचने पर ही फल लगते हैं, मूल नष्ट होने पर फल भी नष्ट हो जाते हैं।”⁴²

³⁷ वही— 16 / 16

³⁸ वही— 16 / 16

³⁹ पुराणों में जैनधर्म, साध्वी डॉ. चरणप्रभा, पृ. 138

⁴⁰ अहिंसास्त्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । — पातंजलयोगसूत्र —2 / 30

⁴¹ अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता संबोधः । — वही— 2 / 39

⁴² सुक्क मूले जहा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति ।

एवं कम्मा न रोहति, मोहणिज्जे खयंगते ॥ — दशाश्रुतस्कन्ध— 5 / 14

इसी प्रकार, पुराण भी परिग्रह की मूल भावना आसक्ति (तृष्णा) को त्याज्य बतलाते हैं। उनके अनुसार, अग्नि में ईंधन डालने के समान ही विषयोपभोग से तृष्णा कभी शांत नहीं होती। भूमण्डल पर जितने भी धान्य, स्वर्ण, पशु, स्त्रियाँ आदि हैं, वे सब एक मनुष्य के लिए भी तृप्तिकारक नहीं हैं। कामनाओं के त्याग से ही मानव समृद्ध होता है। केश, दंत, चक्षु, कर्ण—सभी के जीर्ण हो जाने पर भी बुढ़ापे में तृष्णा ही तरुण रूप से रहती है।⁴³ मनुष्य का स्वभाव ऐसा होता है कि जिसके पास सौ रुपए होते हैं, वह सहस्त्र की इच्छा करता है, सहस्त्र वाला लक्ष का अधिपति होना चाहता है, लक्षाधिपति एक विशाल राज्य प्राप्त करने की इच्छा रखता है, राजा चक्रवर्ती सम्राट बनने की लालसा रखता है, चक्रवर्ती भी देवपद तथा देवपद की प्राप्ति के बाद इन्द्रपद की चाह रखता है, किन्तु इन्द्रपद मिलने के बाद भी तृष्णा शांत नहीं होती है।⁴⁴

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि परिग्रह का मूल स्वरूप आसक्ति और तृष्णा से जुड़ा हुआ है। जब तक व्यावहारिक—रूप में आसक्ति, मूर्च्छा या तृष्णा समाप्त नहीं होती, तब तक जीव परिग्रह—संज्ञा से युक्त बना रहता है।

पाश्चात्य—विचारक महात्मा टालस्टाय ने भी How Much Land Does A Man Needs नामक कहानी में एक ऐसा ही सुन्दर रूपक खींचा है। कहानी का सारांश यह है कि कथानायक भूमि की असीम तृष्णा के पीछे अपने जीवन की बाजी लगा देता है, किन्तु अन्त में उसके द्वारा उपलब्ध किए गए विस्तृत भू-भाग में केवल उसके शव को दफनाने जितना भू-भाग ही उसके उपयोग में आता है।⁴⁵

⁴³ जीर्यन्तः केशा दन्ता चक्षुः श्रोतश्च जायेते तृष्णैका निरूपद्रवा। — लिंगपुराण 1, श्लो. 21-22, पृ. 410

⁴⁴ इच्छति शति सहस्त्रं सहस्त्री लक्षमीहते।

कर्तुलक्षाधिपती राज्यं, राज्येऽपि सकलचक्रवर्तित्वम्।।

चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरत्वलाभे सकलसुरपतित्वम्।

भवितुं सुरपतिरूर्ध्वगतत्वं तथापि न निवर्तते तृष्णा।। — गरुडपुराण (2), 2/14-15, पृ. 254

⁴⁵ जैन, बौद्ध और गीता के आचार—दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 238

जिस प्रकार अग्नि में घृत डालने से अग्नि शान्त नहीं होती, उसी प्रकार परिग्रह से तृष्णा शान्त नहीं होती, वरन् बढ़ती ही जाती है। तृष्णा और परिग्रह की अग्नि केवल त्याग के द्वारा ही शान्त हो सकती है।

परिग्रह के स्वरूप की विस्तृत विवेचना के पश्चात् परिग्रह के लक्षण के बारे में विवेचना करेंगे।

परिग्रह का लक्षण —

लक्षण, अर्थात् चिह्न या पहचान। जो धर्म अथवा गुण जिस वस्तु का कहलाता है, वह उसमें पूर्णतः व्याप्य हो, उसके सिवाय अन्य किसी भी वस्तु में संभव न हो, वह लक्षण कहलाता है। न्याय की भाषा में कहें, तो 'असाधारणधर्मत्वम् लक्षणस्य लक्षणम्' जो वस्तु-विशेष का असाधारण धर्म है तथा अव्याप्ति, अति व्याप्ति और असम्भव दोष से रहित हो, ऐसे शब्दों का समूह लक्षण कहलाता है, जैसे—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग—ये जीव के लक्षण हैं।⁴⁶ जहाँ—जहाँ जीव है, वहाँ—वहाँ ज्ञानादि गुण हैं, उसी प्रकार जहाँ—जहाँ तृष्णा, मूर्च्छा और आसक्ति है, वहाँ—वहाँ परिग्रह है।

अमृतचंद्राचार्य विरचित 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' ग्रंथ में परिग्रह का लक्षण इस प्रकार कहा गया है —“जो मूर्च्छा है वह ही परिग्रह समझना चाहिए और मूर्च्छा मोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होती है।⁴⁷ बाह्याभ्यन्तर—परिग्रह के प्रति ममत्व एवं उसके रक्षण आदि के व्यापार हैं, उन्हीं को मूर्च्छा कहते हैं। गाय, भैंस, मणि, मुक्ता आदि चेतन—अचेतन बाह्य—परिग्रह और रागद्वेषादि अभ्यन्तर—परिग्रह के संरक्षण, अर्जन आदि की प्रवृत्ति को मूर्च्छा कहते हैं। आभ्यन्तर—ममत्वरूपी परिणाम या भाव को मूर्च्छा कहते हैं, यही परिग्रह है। बाह्य—परिग्रह इसलिए परिग्रह कहलाता है कि

⁴⁶ नवतत्त्वप्रकरण, गाथा—5

⁴⁷ या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः

मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥ — पुरुषार्थसिद्धयुपाय, गाथा—111

उसमें, 'यह मेरा है' —इस प्रकार का विचार या भाव होता है। बाह्य—परिग्रह सदा मूर्च्छा का निमित्त कारण होने से, या, यह मेरा है, ऐसे ममत्वभाव से युक्त होने से परिग्रह कहलाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि परिग्रह का मूल लक्षण मूर्च्छा और संग्रहवृत्ति है। इच्छा और मूर्च्छा से भरा हमारा मन जहां तक जाता है, वहां तक सब कुछ परिग्रह हो जाता है। जिसके मन में पर पदार्थों के प्रति इच्छा है, मूर्च्छा का भाव है, उसके लिए सारा संसार परिग्रह है। जिसके मन में ऐसा ममत्व या मूर्च्छा—भाव निकल गया है, संसार में रहते हुए भी, संसार उसका परिग्रह नहीं है। कहा गया है—

मूर्च्छाच्छन्न धियां सर्व जगदेव परिग्रहः ।
मूर्च्छाया रहितानां तु जगदेवाऽपरिग्रहः ॥⁴⁸

आज परिग्रह की मूर्च्छा के कारण असंतोषी मनुष्य अनेक वर्जित दिशाओं में जा रहा है। धन के मद से नित—नई चाह रखने वाला अपने परिवार या परिजनो में कोई नवीनता नहीं देख पाता। उसकी दृष्टि कहीं अन्यत्र होती है। जहाँ व्यभिचार के अवसर नहीं हैं, वहां भी मानसिक—व्यभिचार निरन्तर चल रहा है। जीवन तनावों में कसता चला जा रहा है और जिसके पास जो कुछ भी है, वह उसमें संतुष्ट नहीं है। संसार के किसी भी पदार्थ को लें, किसी भी उपलब्धि पर विचार कर लें, जिसे वह प्राप्त नहीं है, वह उसे पाने के लिए दुःखी है, परन्तु जिसे वह प्राप्त है, वह भी सुखी नहीं है। वह तो किसी और पदार्थ के लिए अपने मन में आकर्षण पाल रहा है। उसी लालसा के कारण परिग्रह और संचयवृत्ति बढ़ रही है और यही वृत्ति परिग्रह है, मूर्च्छा है।

'प्रश्नव्याकरणसूत्र'⁴⁹ में परिग्रह के गुणनिष्पन्न अर्थात् वास्तविक अर्थ को प्रकट करने वाले निम्न तीस नामों का उल्लेख किया गया है —

⁴⁸ मानवता की धुरी, नीरज जैन, पृ. 94

⁴⁹ प्रश्नव्याकरणसूत्र — 5/94

1. परिग्रह – शरीर, धन, धान्य आदि बाह्य-पदार्थों को ममत्वभाव से ग्रहण करना।
2. संचय – किसी भी वस्तु को अधिक मात्रा में ग्रहण करना।
3. चय – वस्तुओं को जुटाना, एकत्र करना।
4. उपचय– प्राप्त पदार्थों की वृद्धि करना, बढ़ाते जाना।
5. निधान – धन को भूमि में गाड़कर रखना, तिजोरी में रखना, या बैंक में जमा करवाकर रखना, दबाकर रख लेना।
6. सम्भार – धान्य आदि वस्तुओं को अधिक मात्रा में भर कर रखना। वस्त्र आदि को पेटियों में भर कर रखना।
7. संकर – संकर का सामान्य अर्थ है –मिश्रण करना। यहाँ इसका विशेष अभिप्राय है –मूल्यवान् पदार्थों में अल्पमूल्य वस्तु मिलाकर अधिक धन अर्जित करना।
8. आदर – परपदार्थों में आदरबुद्धि रखना। शरीर, धन आदि को अत्यन्त प्रीतिभाव से संभालना–संवारना आदि।
9. पिण्ड – किसी पदार्थ को या विभिन्न पदार्थों को एकत्रित करना।
10. द्रव्यसार – द्रव्य अर्थात् धन को ही सारभूत समझना। धन को प्राणों से भी अधिक मानकर प्राणों को संकट में डालकर भी धन के लिए यत्नशील रहना।
11. महेच्छा – असीम इच्छा या असीम इच्छा का कारण।
12. प्रतिबंध – किसी पदार्थ के साथ बंध जाना या जकड़ जाना। जैसे भ्रमर सुगन्ध के लालच में कमल को भेदन करने की शक्ति होने पर भी भेद नहीं सकता, कोश में बंद हो जाता है और कभी–कभी मृत्यु का ग्रास बन जाता है, इसी प्रकार स्त्री, धन आदि के मोह में जकड़ जाना, उसे चाहकर भी छोड़ न पाना।
13. लोभात्मा – लोभ का स्वभाव, लोभरूप मनोवृत्ति।
14. महदिका – महती आकांक्षा अथवा याचनावृत्ति।

15. उपकरण — जीवनोपयोगी साधन—सामग्री की संचयवृत्ति। वास्तविक आवश्यकता का विचार न करके अत्यधिक साधन—सामग्री एकत्र करना।
16. संरक्षण — प्राप्त पदार्थों का आसक्तिपूर्वक संरक्षण करना।
17. भार — परिग्रह जीवन के लिए भारभूत है, अतएव उसे 'भार' नाम दिया गया है।
18. संपातोत्पादक — नाना प्रकार के संकल्पों—विकल्पों का उत्पादक, अनेक अनर्थों एवं उपद्रवों का जनक।
19. कलिकरण्ड — कलह का पिटारा। परिग्रह कलह, युद्ध, बैर, विरोध, संघर्ष आदि का प्रमुख कारण है, अतएव इसे कलह का पिटारा नाम दिया गया है।
20. प्रविस्तर — धन—धान्य आदि का विस्तार भी परिग्रह है।
21. अनर्थ — परिग्रह नानाविध अनर्थों का प्रधान कारण है।
22. संस्तव — संस्तव का अर्थ है —अति परिचय या अच्छा मानना। यह वृत्ति मोह और आसक्ति को बढ़ाती है।
23. अगुप्ति — अपनी इच्छाओं या कामनाओं का गोपन न करना, उन पर नियन्त्रण न रखकर उन्हें स्वच्छन्द छोड़ देना।
24. आयास — आयास का अर्थ है — खेद या प्रयास। परिग्रह जुटाने के लिए मानसिक और शारीरिक—खेद होता है, प्रयास करना पड़ता है।
25. अवियोग— विभिन्न पदार्थों के रूप में धन, मकान या दुकान आदि के रूप में जो परिग्रह एकत्र किया है, उसे बिछुड़ने न देना। चमड़ी चली जाए, पर दमड़ी न जाए —ऐसी वृत्ति अवियोग है।
26. अमुक्ति — मुक्ति अर्थात् निर्लोभता, उसका न होना, अर्थात् लोभ की वृत्ति होना। यह मानसिक भाव—परिग्रह है।
27. तृष्णा — अप्राप्त पदार्थों की लालसा और प्राप्त वस्तुओं की बुद्धि की अभिलाषा तृष्णा है, तृष्णा परिग्रह का मूल है।

28. अनर्थक — इसका तात्पर्य है — निरर्थक। पारमार्थिक—हित या सुख के लिए परिग्रह और निरर्थक निरुपयोगी है। इतना ही नहीं वह वास्तविक हित और सुख के लिए बाधक है।
29. आसक्ति — ममता, मूर्च्छा, गृद्धि आदि परिग्रहरूप हैं।
30. असंतोष — असंतोष भी परिग्रह का एक रूप है, जिसका तात्पर्य है —मन में बाह्य—पदार्थों के प्रति सन्तुष्टि न होना। भले ही पदार्थ न हो, परन्तु अन्तःस में यदि असन्तोष है, तो भी परिग्रह है।

अतः, 'मुच्छा परिग्रहो वृत्तौ' —इस आगमोक्ति के अनुसार ममत्वपूर्वक ग्रहण किए जाने वाले धन—धान्य, महल—मकान, कुटुम्ब—परिवार, यहाँ तक कि शरीर भी परिग्रह है। इस प्रकार ये तीस नाम परिग्रह के हैं। शान्ति, सन्तोष, समाधि और आनन्दमय जीवन यापन करने वालों को परिग्रह के इन रूपों को भलीभाँति समझ कर त्यागना चाहिए।

जैनदर्शन में परिग्रह के प्रकार —

जैन—आचार्यों के अनुसार, व्यक्ति जब तक सांसारिक—वस्तुओं और उनसे उत्पन्न सुखों की ओर उदासीनता की भावना नहीं लाता है, तब तक नैतिक और आध्यात्मिक—जीवन की शुरुआत नहीं हो सकती है, इसलिए परिग्रह के त्याग एवं निवृत्ति की भावना आवश्यक है। वस्तुतः, परिग्रह धन और सम्पत्ति तक ही सीमित नहीं है। मनुष्य का अपने घर, परिवार तथा संबंधित वस्तुओं के प्रति इतना अधिक मोह बढ़ जाता है कि वह उन सबको अपनी संपत्ति समझ लेता है, इसलिए परिग्रह के प्रकारों को समझना आवश्यक है, ताकि उनका त्याग कर वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सके।

जैन—शास्त्रों में सिर्फ बाह्य—पदार्थों को ही परिग्रह नहीं माना गया है, अपितु इन भावनाओं, इच्छाओं और आवेगों—संवेगों आदि को भी परिग्रह माना गया है। जिनके कारण मानव की धर्म—साधना, नैतिकता और नैतिक आचार, विचार, व्यवहार

में तनिक भी व्यवधान पड़ता है, वे सभी परिग्रह हैं। इस दृष्टिकोण से परिग्रह के दो भेद हैं — अंतरंग-परिग्रह और बाह्य-परिग्रह।

भगवतीसूत्र में परिग्रह के तीन भेद बताए हैं⁵⁰ —

1. कर्म-परिग्रह — राग-द्वेष के वशीभूत होकर अष्ट प्रकार के कार्यों को ग्रहण करना कर्म-परिग्रह है।
2. शरीर-परिग्रह — विश्व में जितने भी जीव हैं, वे सभी शरीरधारी हैं। यह शरीर भी परिग्रह है, क्योंकि इसके प्रति ममत्व-वृत्ति से परिग्रह उत्पन्न हो जाता है।
3. बाह्य भांड-परिग्रह — बाह्य-वस्तु और पदार्थ भी ममत्ववृत्ति से परिग्रह रूप हो जाते हैं।

ये तीनों इसलिए परिग्रह हैं कि ए जीव के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। ये राग-द्वेष की अभिवृद्धि करते हैं, आसक्ति के कारण बनते हैं, इसलिए इन्हें परिग्रह कहते हैं।

अन्तरंग-परिग्रह —

आत्मा के वे परिणाम, जो कर्मबन्ध या मूर्च्छा आदि के प्रत्यक्ष हेतु हैं, वे अंतरंग-परिग्रह है। यद्यपि ये बाहर से दृष्टिगोचर नहीं होते, किन्तु अन्तर्मानस में घोर की तरह छिपे रहते हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र⁵¹ में अंतरंग-परिग्रह का विश्लेषण करते हुए कहा है — लालसा, तृष्णा, इच्छा, आशा और मूर्च्छा, ये सभी असंयमरूप अंतरंग-परिग्रह हैं। इन्हीं के कारण बाह्य-परिग्रह का संचय होता है।

⁵⁰ कम्म पग्गिहे, सरीर परिग्गहे, वाहिर भंडमत्त परिग्गहे। — भगवतीसूत्र— 18/7

⁵¹ प्रश्नव्याकरणसूत्र, श्री मधुकर मुनि, पृ. 145

अंतरंग-परिग्रह के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग — ये पांच कारण बताए हैं।⁵² आगम के व्याख्या-साहित्य में परिग्रह के भेद-प्रभेदों की विचार-चर्चा करते हुए चौदह अंतरंग-परिग्रह बताए गए हैं।⁵³

मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद — ये अन्तरंग-परिग्रह के चौदह भेद हैं। कहीं-कहीं पर राग-द्वेष को कषाय में सम्मिलित कर वेद के स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, ये तीन भेद किए हैं। वस्तुतः, मिथ्यात्व और कषाय — ये कलुषित चित्तवृत्तियाँ हैं, जो अनादिकाल से आत्मा के साथ लगी हैं और उन्हीं के कारण मूर्च्छा करता हुआ आत्मा कर्मबंधन (परिग्रह) करता है।

बाह्य-परिग्रह —

जब अंतरंग में परिग्रहवृत्ति होती है, तभी बाह्य-वस्तुओं को ग्रहण करने की अभिलाषा मन में उत्पन्न होती है। जैसे पदार्थ अगणित हैं, वैसे ही परिग्रह के भेद भी अगणित हो सकते हैं, पर संक्षेप में आचार्य हरिभद्र⁵⁴ ने नौ भेदों का वर्णन किया है। बृहत्कल्पभाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण⁵⁵ ने बाह्य परिग्रह के दस भेद बताए हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं —

1. क्षेत्र — खेत या भूमि आदि।
2. वास्तु — रहने के लिए मकान, दुकान आदि।

⁵² प्रश्नव्याकरणसूत्र, वृत्ति-761, सन्मति ज्ञानपीठ प्रकाशन

⁵³ (क) प्रश्नव्याकरण टीका, पृ. 451

(ख) कोहो माणो माया, लोभो, पेज्जं तहेव दोसो अ मिच्छति वेद अरइ, रइ हासो सागो भय-दुगुंछा ॥ — बृहत्कल्पभाष्य — 931

(ग) मिच्छत-वेद रागा, हासादि भया होंति छदीसा चत्तारि तह कसाया, चोदसं अब्भंतरा गंथा ॥ — प्रतिक्रमणत्रयी, पृ. 175

⁵⁴ आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति, अ. 6

⁵⁵ (क) खेतं वत्थुं धण-धन्न संचओ मित्तणार्इ संजोगे जाण-सयणासणाणि य, दासी-दास च कुब्बयं च ॥ — बृहत्कल्पभाष्य — 825

(ख) वंदितुसूत्र, गाथा-18

3. हिरण्य – चांदी के सिक्के, आभूषण आदि।
4. स्वर्ण – स्वर्ण और स्वर्ण के आभूषण आदि।
5. धन – हीरे, पत्रे, माणक, मोती, जवाहरात आदि।
6. धान्य – गेहूँ, चावल, मूंग, मोठ आदि।
7. द्विपद – नौकर-नौकरानी, दास-दासी आदि। बहुत से लोग तोता, मैना, कबूतर, मोर आदि पक्षी भी पाल लेते हैं। दो पैर वाले होने से इनकी गणना भी परिग्रह के इसी भेद में होती है।
8. चतुष्पद – गाय, भैंस, आदि चार पैर वाले पशु।
9. कुप्य – वस्त्र, पलंग और अन्य विविध प्रकार की धातुओं के सामान आदि।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार दस भेद इस प्रकार हैं— क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, संचय (तृण काष्ठ आदि का) मित्रज्ञातिसंयोग (परिवार), यान (वाहन), शयनासन (पलंग पीठ आदि), दास-दासी और कुप्य। कहीं-कहीं द्विपद-चतुष्पद को एक गिनकर दास-दासी को पृथक् किया है और कहीं-कहीं पर धातु –चांदी, तांबा, पीतल, लोहा आदि को पृथक्-पृथक् भी गिन लिया गया है।

यह स्पष्ट है कि परिग्रह के कई आयाम हैं।⁵⁶ यह 'जड़' या 'चेतन' हो सकता है। जीव का परिग्रह चेतन-परिग्रह है, जबकि अजीव का परिग्रह जड़-परिग्रह है। परिग्रह 'रूपी' या 'अरूपी' हो सकता है। दृश्य वस्तुओं का संचय रूपी-परिग्रह है, जबकि अदृश्य वस्तुओं (जैसे –विचार, भाव आदि) का परिग्रहण अरूपी-परिग्रह है। इसी प्रकार, परिग्रह 'स्थूल या अणु' हो सकता है। सूक्ष्म वस्तुओं का परिग्रह अणु-परिग्रह है तथा स्थूल वस्तुओं का परिग्रह स्थूल-परिग्रह कहलाता है, किन्तु परिग्रह के भेदों की सर्वाधिक एवं महत्त्वपूर्ण विद्या 'बाह्य' और 'आभ्यंतर' के भेद में देखी जा सकती है। जब मन में मूर्च्छा होती है, तो उस मूर्च्छा से, चाहे जड़-चेतन,

⁵⁶ देखें, डॉ. कमल जैन, द कन्सेप्ट ऑफ पंचशील (उपर्युक्त), पृ. 224-225

रूपी-अरूपी, स्थूल-अणु, किसी भी प्रकार की वस्तु हो, उसका संग्रह करना परिग्रह कहलाता है।

परिग्रह या संचयवृत्ति के दुष्परिणाम —

एक बार जम्बुस्वामी ने आर्य सुधर्मा से पूछा — भगवान् महावीर की दृष्टि में बंधन क्या है और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है ? आर्य सुधर्मा ने उत्तर दिया — परिग्रह बंधन है⁵⁷ और बंधन का हेतु है — ममत्व⁵⁸। प्रस्तुत प्रसंग में बंधन के हेतु के रूप में पहला स्थान परिग्रह को दिया गया है, हिंसा को उसके बाद में रखा गया है। इससे भी स्पष्ट है कि सभी आश्रवों में परिग्रह को गुरुतर आश्रव या बन्धन का हेतु माना गया है।⁵⁹

वस्तुतः, जैनदर्शन में 'अर्थ' को ही मोटे तौर पर परिग्रह मान लिया गया है और कुल मिलाकर परिग्रह का या तो पूर्ण निषेध किया गया है (मुनिधर्म), अथवा उसे मर्यादित (सीमित) करने को कहा गया है (गृहस्थधर्म)। व्यक्ति का जब तक भौतिक जगत् से सम्बन्ध होता है, तो उसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए भौतिक-संसाधनों की आवश्यकता प्रतीत होती है, परन्तु जब यही आवश्यकताएं आसक्ति में बदल जाती हैं, तो एक ओर संग्रह होता है, दूसरी ओर संग्रह की लालसा बढ़ती जाती है। इसी से समाज में आर्थिक-विषमता का बीज पड़ता है। एक ओर संग्रह (परिग्रह) बढ़ता है, तो दूसरी ओर गरीबी बढ़ती है। परिणामस्वरूप, आर्थिक-विषमताओं के कारण समाज में कई दुष्परिणाम दिखाई देते हैं। कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यरचित योगशास्त्र में कहा गया है — "इस परिग्रह में त्रसरेणु (सूक्ष्म रजकण) जितने भी कोई गुण नहीं है ; बल्कि उसमें पर्वत जितने बड़े-बड़े दोष पैदा

⁵⁷ उक्तं हि — "आरम्भपरिग्रहौ बन्धहेतु" येऽपि च रागादयः तेऽपि नारम्भपरिग्रहावन्तरेण भवन्तीति, तेन तावेव वा गरीयांसाविति तत्रापि परिग्रहनिमित्तं आरम्भः क्रियत इति कृत्वा स एव गरीयस्त्वात् पूर्वमुपदिश्यते — सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ. 21-22

⁵⁸ सूत्रकृतांग — 1/1/2-3

⁵⁹ वही— 1/1/4

होते हैं।⁶⁰ धर्मकार्य के लिए भी परिग्रह की इच्छा करना उचित नहीं है। पैर को कीचड़ में डालकर बाद में उसे धोने के बजाय पहले ही कीचड़ का स्पर्श न करना ही अच्छा है। क्योंकि कोई व्यक्ति स्वर्णमणि रत्नमय सोपानों और हजारों खंभेवाला तथा स्वर्णमय भूमितलयुक्त जिनमन्दिर बनवाता है, उससे, अर्थात् पुण्यबंध के कार्य से भी अधिक फल तप-संयम या व्रताचरण का होता है। संबोधसत्तरि में भी इसी बात की पुष्टि की गई है।

परिग्रह या संचयवृत्ति के दुष्परिणाम निम्न हैं —

1. परिग्रह हिंसा का कारण होता है।
2. परिग्रह दुःख, असंतोष और बंध का कारण होता है।
3. संचयवृत्ति एक सामाजिक अपराध है।
4. वर्ग-संघर्ष का कारण परिग्रह है।
5. देशों में युद्ध का कारण भी परिग्रह है।
6. परिग्रह के कारण से भोगवृत्ति को बढ़ावा मिलता है।
7. गरीबी की खाई चौड़ी हो जाती है।
8. विज्ञापनों के माध्यम से गलत जानकारी देकर सम्पत्ति-अर्जन की प्रवृत्ति बलवती होती है।

1. परिग्रह हिंसा का कारण —

केवल हत्या या रक्तपात करना ही हिंसा नहीं है, परिग्रह भी हिंसा ही है, क्योंकि हिंसा के बिना परिग्रह करना असंभव है।⁶¹ संग्रह के द्वारा दूसरों के हितों का हनन होता है और इस रूप में परिग्रह भी हिंसा ही है। आचार्य शंकर ने कहा

⁶⁰ त्रसरेणुसमोऽप्यत्र न गुणः कोऽपि विद्यते
दोषास्तु पर्वतस्थूलाः प्रादुःष्यन्ति परिग्रहे — योगशास्त्र— 2/108

⁶¹ आरंभपूर्वको परिग्रहः। — सूत्रकृतांगचूर्णि— 1/2/2

है— “अर्थमनर्थ भावय नित्यं”, अर्थ अनर्थकारी है, उस पर चिन्तन करो। मरण समाधि में भी कहा गया है — अर्थ अनर्थों का मूल है।⁶² अर्थ की तृष्णा ने कितना अनर्थ किया है ? अर्थ के पीछे पागल बनकर पुत्र ने पिता की हत्या की, भाई ने भाई का खून किया, एक राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण किया, हजारों निरपराध व्यक्तियों के खून की होली खेली गई, हजारों स्त्रियाँ असमय में विधवा हुईं, हजारों माताएं पुत्रों के बिना बिलखती रहीं। अर्थ के अनर्थ की कहानी इतनी लम्बी है कि यदि उस बात का विस्तृत रूप में वर्णन करें, तो पृष्ठ-के-पृष्ठ भर सकते हैं। आवश्यकता से अधिक संचय मानव को मानव नहीं रहने देता, वह उसी मानव का हरण कर लेता है तथा जिस मानव में मानवता नहीं है, वह दानव के समान है। यह दानव-वृत्ति ही हिंसा है। धन व्यक्ति का ग्यारहवाँ प्राण है, अतः धन का संचय हिंसा है। आचार्य महाप्रज्ञजी न केवल अध्यात्म के लिए, अपितु स्वस्थ सामाजिक-जीवन जीने के लिए विसर्जन को अनिवार्य मानते हैं। उनका मानना है कि हिंसा से भी अधिक जटिल है —परिग्रह की समस्या। वर्तमान युग की समस्याओं को देखते हुए अपरिग्रह पर अधिक बल देना जरूरी है। ‘अहिंसा परमोधर्मः’ के साथ-साथ ‘अपरिग्रहः परमोधर्मः’ —इस घोष का प्रबल होना जरूरी है। जिस दिन ‘अहिंसा परमोधर्मः’ के साथ ‘अपरिग्रहः परमोधर्मः’ का स्वर बुलन्द होगा, विश्व की अधिकांश समस्याओं का समाधान उपलब्ध हो जाएगा,⁶³ इसलिए अपरिग्रह का विचार और आचार केवल परमार्थ-साधना का विषय नहीं है, अपितु व्यक्तिगत जीवन के सच्चे सुख, स्वस्थ समाज-संरचना के लिए आवश्यक है।

2. परिग्रह — दुःख, असंतोष और बंध का कारण —

संचयवृत्ति और परिग्रह कितना भी कर लो, फिर भी असंतोष ही रहता है। धन कितना भी मिल जाए, फिर भी तृप्ति नहीं होती है, इसलिए वह दुःख का कारण है। मूर्च्छा वाले को अत्यधिक धन मिल जाए, फिर भी संतोष नहीं होता, बल्कि वह

⁶² अर्थो मूलं अणत्थाणं । — मरणसमाधि — 603

⁶³ अस्तित्व और अहिंसा, आचार्य महाप्रज्ञजी, पृ. 63

उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक धन मिलने की आशा ही करता है और दुःखी होता है, क्योंकि दूसरे की अधिक सम्पत्ति देखकर अपनी कम सम्पत्ति में असंतोष मानने से दुःख होता है। अविश्वास भी दुःख का कारण है। अपने द्वारा संचित धन की रक्षा करने हेतु उसे किसी पर भी विश्वास नहीं होता है, इसलिए वह रात को भी सुख से नहीं सोता और दिन को भी चैन से नहीं रहता। धन को गोबर आदि से लीपकर छिपाता है। धन के लिए वह अनेक कृत्य करता है। रिश्वत लेना या देना, झूठी साक्षी देना या दिलाना, झूठ बोलना इत्यादि कृत्य परिग्रह के लिए किए जाते हैं। योगशास्त्र⁶⁴ में कहा गया है — दुःख के कारणरूप असंतोष, अविश्वास और आरम्भ को भी परिग्रहवृत्ति का फल मानकर परिग्रह पर नियंत्रण करना चाहिए। समयसार⁶⁵ में भी परिग्रह को बंध का कारण माना है।

3. संचयवृत्ति — एक सामाजिक अपराध —

धन से जहां तक हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती हो उसी हद तक वह हमारे लिए उपयोगी है। इसी प्रकार, आवश्यकता से अधिक धन का भी कोई उपयोग नहीं है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उतनी ही सम्पत्ति संकलित करने को उचित ठहराया है, जितने से हमारे सांसारिक-दायित्वों का भली प्रकार से निर्वाह हो सके। अधिक परिग्रह और वस्तुओं का अधिक मात्रा में संचय एक सामाजिक-अपराध माना गया है। महाभारत में कहा गया है — “जहाँ तक उदरपूर्ति का प्रश्न है या दैहिक आवश्यकता की पूर्ति का प्रश्न, है वहाँ पदार्थों के उपभोग का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है, लेकिन जो आवश्यकता से अधिक का संचय करता है, वह चोर है।⁶⁶ दूसरे प्राणियों को उपभोग से वंचित करके जो संग्रह करता है, वह अनैतिक है,

⁶⁴ असन्तोषमविश्वासमारम्भं दुःखकारणम्
मत्वा मूर्च्छाफलं कुर्यात् परिग्रह- नियंत्रणम्। — योगशास्त्र, गाथा 106

⁶⁵ एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु वज्झए पावं
तह वि य सच्चे दत्ते बभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरदि अज्झवसावं जं तेण दु वज्झदे पुण्णं।। — समयसार, गाथा. 263-264 (बंध)

⁶⁶ भागवत — 6/14/8

सामाजिक-अपराध है, क्योंकि उसमें कहीं-न-कहीं हिंसा का भाव और परिग्रह की वृत्ति जुड़ी हुई है। जैन-मनोवेज्ञानिकों का कहना है कि आवश्यकता की पूर्ति तो की जाए पर उसकी एक मर्यादा हो। सार्वजनिक सड़क पर चलने का अधिकार सबको है, परन्तु दूसरे के मार्ग को अवरुद्ध करने या टक्कर मारने का अधिकार किसी को भी नहीं। यही बात संचयवृत्ति/परिग्रह-संज्ञा पर भी लागू होती है और इसका उल्लंघन सामाजिक अपराध है।⁶⁷

4. वर्ग-संघर्ष -

आर्थिक-विकास केवल इच्छापूर्ति के लिए, या केवल विलासिता के लिए सारा प्रयत्न नहीं होता। आर्थिक-विकास जो मनुष्य करता है, उसका एक दृष्टिकोण बनता है- सुविधा। व्यक्ति को सुविधा चाहिए, इसलिए वह अर्थ का संग्रह करता है। इस कारण, समाज तीन वर्गों में बंट जाता है -1. अमीर-वर्ग, 2. मध्यम-वर्ग, 3. सामान्य-वर्ग। अमीर-वर्ग के लोग अपनी सुखसुविधा के लिए आलीशान बंगले, गाड़ी, आभूषण आदि के लिए धन का संचय करते हैं। मध्यम-वर्ग के व्यक्ति अपना स्तर सुधारने के प्रयास से धन के संचय में रत रहते हैं, वहीं गरीब/सामान्य लोगों की आवश्यकता मात्र रोटी, कपड़ा और मकान तक ही सीमित हो जाती है। वे आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थ का प्रयोग करते हैं।

वस्तुतः देखा जाए तो आर्थिक-विषमता का मूल कारण संग्रह-भावना ही है। यह कहा जाता है कि अभाव के कारण संग्रह की चाह उत्पन्न होती है। लेकिन वस्तुस्थिति कुछ और ही है। जीवन जीने के लिए अभावों की पूर्ति सम्भव है। लेकिन कृत्रिम अभाव की पूर्ति संभव नहीं। उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते हैं -गरीबी स्वयं में कोई समस्या नहीं, किन्तु अमीरों ने उसे समस्या बना दिया है। गड्ढा स्वयं में कोई समस्या नहीं है, किन्तु पहाड़ों की असीम ऊँचाईयों ने इस धरती पर जगह-जगह गड्ढे पैदा कर दिए हैं। पहाड़ टूटेंगे, तो गड्ढे अपने-आप भर जाएंगे। सम्पत्ति का

⁶⁷ डॉ. सागरमल जैन से वैयक्तिक चर्चा के आधार पर।

विसर्जन होगा, तो गरीबी अपने आप दूर हो जाएगी।⁶⁸ वस्तुतः, आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति में परिग्रह के विसर्जन की भावना उद्भूत हो। परिग्रह के विसर्जन से ही वर्गसंघर्ष समाप्त हो सकता है। जब तक संग्रहवृत्ति समाप्त नहीं होती, आर्थिक-समानता नहीं आ सकती है।

5. युद्ध का कारण – परिग्रह –

आज विश्व के चारों ओर जो अशान्ति के बादल मंडरा रहे हैं और मनुष्य-मनुष्य के बीच जो बैर-विरोध बढ़ रहा है यदि उसके कारणों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो मूल में परिग्रह और अनन्त इच्छाएँ हैं। अपने मात्र साढ़े तीन हाथ के शरीर की सुविधा के लिए दुनियाभर के परिग्रह को वह अपने घर में जमा करता है। आज देखा जाता है कि हर घर में भाई-भाई में, पड़ौसी-पड़ौसी में तथा राष्ट्रों के बीच तनाव और वैमनस्य बना रहता है। सर्वत्र दंगे और फसाद होते ही रहते हैं। न्यायालयों में अभी जितने अभियोग विचाराधीन हैं, उसमें से अधिकांश के मूल में परिग्रह ही है। अस्त्र-शस्त्रों का परिग्रह, युद्ध का मूल कारण है। देश की सुरक्षा और शान्ति के लिए शस्त्र रखे जाते हैं। परन्तु शस्त्रों की होड़ा-होड़ संग्रहवृत्ति इतनी बढ़ गई है कि संपूर्ण पृथ्वी बारूद के ढेर पर टिकी है, किसी भी राष्ट्र ने अपने शस्त्रों के भण्डार का प्रयोग किया तो कुछ ही समय में संपूर्ण सृष्टि नष्ट हो सकती है। हिटलर, नेपोलियन, मुसोलिनी ने साम्राज्य लिप्सा के कारण युद्ध किया। इसके कारण यूरोप और रूस की भूमि रक्तंजित हुई। भीषण नरसंहार हुआ, लाखों बच्चे अनाथ हुए, लाखों नारियों की मांग का सिन्दूर साफ हो गया, लाखों निरपराध व्यक्ति बिना मौत मारे गए। अरबों की सम्पत्ति स्वाह हो गई। बमों द्वारा मानव संहार का कैसा वीभत्स दृश्य उपस्थित हो गया ? अगर मूल में देखा जाए तो संघयवृत्ति की चाह और परिग्रह के कारण ही महायुद्ध हुए।

⁶⁸ जैनप्रकाश , 8 अप्रैल 1969, पृ. 11

6. परिग्रह के कारण भोगवृत्ति बढ़ना —

सुख (भोग) का अर्थी संग्रह में प्रवृत्त होता है। जो सुख का अर्थी होता है वह बार-बार सुख की कामना करता है। इस प्रकार वह अपने द्वारा कृत कामना की व्यथा से मूढ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है। सुख का अर्थी होकर दुःख को प्राप्त होता है।⁶⁹ भूख से कोई न मरे, इस व्यवस्था में वर्तमान युग सफल हुआ है। किन्तु मुट्ठीभर लोगों के संग्रह ने असंख्य लोगों को गरीबी का जीवन जीने के लिए विवश कर दिया है। दूसरी समस्या यह है कि अतिसंग्रह वाले भोगविलास एवं ऐशो आराम का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, किन्तु दिनों-दिन अति सम्पन्न लोग ही मानसिक तनाव, भय और आतंक का जीवन जी रहे हैं। धर्म उनके जीवन से खत्म होता जा रहा है, और भोग-विलास में उनका समय अधिक व्यतीत हो रहा है। “जिस प्रकार सम्पत्तिशाली व्यक्ति को जंगल में चोर लूट लेते हैं, उसी प्रकार संसाररूपी अरण्य में प्राणी को शब्दादि-विषयरूपी लुटेरे संयमरूपी सर्वस्व लूटकर भिखारी बना देते हैं। इसी तरह आग लगने पर अधिक परिग्रह वाला भागकर झटपट निकल नहीं सकता, वैसे ही संसाररूपी अटवी में रहा हुआ पुरुष कामरूपी अग्नि जला देती है। स्त्रीरूपी शिकारी उसे संसार की मोहमाया के जाल में फंसा लेते हैं। उस परिग्रही यात्री को संयममार्ग पर आगे बढ़ने नहीं देती। भोगवृत्ति के कारण उसकी दुर्गति हो जाती है। विलासिता केवल भोग का पोषण है। इसमें काम और अहं दोनों वृत्तियाँ निहित हैं। विलासिता में मनुष्य को कहीं पता नहीं होता। केवल संग्रह और अर्थ ही बचता है। विलासिता न हमारी आवश्यकता है न अनिवार्यता। न सुविधा है न कोरा मनोरंजन। वह केवल भोगवृत्ति का उच्छृंखल रूप है।

7. गरीबी की खाई चौड़ी हो जाना —

परिग्रह के अर्जन, संग्रह और विसर्जन सभी सीधे-सीधे समाज जीवन को प्रभावित करती है। अर्जन सामाजिक आर्थिक प्रगति को प्रभावित करता है तो संग्रह अर्थ के समवितरण को प्रभावित करता है। इस कारण अमीर वर्ग में संग्रहवृत्ति के

⁶⁹ सुहृद्दी लालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेदि। — आचारांगसूत्र 2/6'151

कारण गरीबी की खाई चौड़ी होती जा रही है। अमीर वर्ग में संग्रहवृत्ति के कारण गरीबी की खाई चौड़ी होती जा रही है। अमीर, अमीर बनता जा रहा है और गरीब वर्ग मंहगाई तथा अपनी निजी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए निरंतर कड़ा परिश्रम कर रहे हैं, फिर भी संग्रह और शोषण की दुष्प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप गरीबी की रेखा से ऊँचा नहीं उठ पा रहा है। जब एक ओर अमीरवर्ग अपने ऐशो-आराम में जीवन व्यतीत करता है, वहीं दूसरी ओर मानव को रोटी के टुकड़े के लिए भी सोचना पड़ता है, तब ही वर्ग संघर्ष का जन्म होता है और सामाजिक शान्ति भंग होती है। इसका मूल कारण संग्रहवृत्ति ही है।

8. विज्ञापन के माध्यम से गलत जानकारी और प्रदूषण –

आधुनिक अर्थशास्त्र का मुख्य सूत्र है – “अनियंत्रित इच्छा ही हमारे लिए कल्याणकारी और विकास का हेतु है। जहाँ इच्छा का नियंत्रण करेंगे, विकास अवरूद्ध हो जाएगा।”⁷⁰ अतः अर्थ को केन्द्र में रखने के लिए विज्ञापनों के माध्यम से लोगों की इच्छाओं को बढ़ाया जाता है और बाजार का विस्तार किया जाता है। विज्ञापनों के मनोवैज्ञानिक प्रभाव का उपयोग करके अपनी आवश्यक-अनावश्यक वस्तुओं का विक्रय उपभोक्ताओं से अधिक से अधिक पैसा खींचना इनका मुख्य उद्देश्य हो गया है।

विज्ञापनों के माध्यम से उपभोक्ताओं को सम्मोहित किया जाता है। एडवरटाइजमेंट {Advertisement} की कला सम्मोहन पर खड़ी है। रोज रेडियो, टी. वी. अखबार, पत्र-पत्रिकाओं और सड़कों पर लगे बड़े-बड़े पोस्टर आधुनिक वस्तुओं के प्रति सम्मोहित करते हैं और व्यक्ति सरलता से उन वस्तुओं के प्रति आकर्षित हो जाता है। वास्तव में विज्ञापनों के माध्यम से मात्र गुणवत्ता का ही बखान किया जाता है। उसके दोषों को उजागर नहीं किया जाता। पर वस्तुओं के प्रति सम्मोहित हुआ व्यक्ति अपनी जरूरत, जेब और जग, जहान और जीवन के लाभ हानि की चिन्ता न करते हुए नाना प्रकार की वस्तुओं को खरीदता है, भोगता है और जी भर जाने पर

⁷⁰ महावीर का अर्थशास्त्र – आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 18

उन्हें फेंक कर वातावरण को दूषित करता है। आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्ति जो ऐसा नहीं कर पाते, वे हीनभावना से ग्रसित होकर एक विषादपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं और उसकी पूर्ति हेतु नाना प्रकार के आर्थिक अपराधों में लिप्त होने को बाध्य होते हैं।

9. प्रदूषण —

वर्तमान में विज्ञापन और उपभोक्ता संस्कृति के कारण अरबों रूपयों वाले अनेक नए-नए उद्योग और सेवाएं चल पड़ी हैं। अर्थशास्त्री इसे आर्थिक विकास का सूचक मानते हैं, किन्तु इस अतिभोगवादी संस्कृति के भावी दुष्परिणामों का चिन्तन करने वाले कम ही रह गए हैं, क्योंकि विकास की तात्कालिक चमक-दमक तो सबको नजर आती है, किन्तु भोगवादी संस्कृति के मूल में निहित आर्थिक, सामाजिक और प्राकृतिक असन्तुलन किसी को दिखाई नहीं देता। विषाक्त औद्योगिक कचरा और शहरों में बढ़ते हुए कूड़े के ढेर भी लोगों को सावधान नहीं करते।

अधिक भोग का अर्थ है —अधिक उत्पादन। अधिक उत्पादन के लिए प्राकृतिक संसाधनों का अधिकाधिक दोहन और ऊर्जा की अधिक खपत। परिणाम — प्राकृतिक असन्तुलन और प्रदूषण। सिकुड़ते जंगल, वातावरण में कार्बन डाई ऑक्साइड की बढ़ती हुई मात्रा, परमाणु रिएक्टरों से फैलता हुआ रेडियाधर्मी विकिरण आज वैज्ञानिकों की चिन्ता के विषय बन गए हैं। इसी के परिणाम स्वरूप हमारे ग्रह का बढ़ता हुआ तापमान, विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक आपदाएँ और नाना प्रकार के असाध्य रोग खतरे की घंटी बजा रहे हैं। यदि हालात नहीं बदले तो इक्कीसवीं सदी के मध्य तक भीषण प्राकृतिक विप्लव की आशंका वैज्ञानिकों को हो रही है। उपभोक्ता संस्कृति शनैः-शनैः आत्मघाती विनाश की ओर अपने कदम बढ़ा रही है। प्रकृति के सारे संसाधनों का भोग हम ही कर लेंगे। भले ही हमारी भावी पीढ़ी भूखों मरे। 'यूज एंड थ्रो' संस्कृति का यही परिणाम होगा। अगर गहराई से चिन्तन करें तो इस सबके मूल में परिग्रह और संचय वृत्ति ही है।

जैनदर्शन में परिग्रहवृत्ति के नियंत्रण के उपाय — परिग्रह परिमाण व्रत ।

वर्तमान सन्दर्भ में आर्थिक समस्याएँ बलवती हैं। मानव व्यक्तित्व का मापन भी आर्थिक आधार पर किया जाता है। जिसके पास जितना अधिक पैसा है, वह उतना ही बड़ा आदमी माना जाता है। भले ही वह मन, वचन एवं कर्म से छोटा हो। किन्तु जिसके पास पैसा नहीं है, जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर है, वह आज के समाज में कोई स्थान नहीं रखता, चाहे वह कितना ही विचारशील, चिन्तनशील एवं वचन का धनी हो। यही कारण है कि आर्थिक संघर्ष के भयंकर परिणाम सामने आ रहे हैं। जिस प्रकार आकाश का कोई ओर-छोर नहीं होता, उसी प्रकार मानव की इच्छाओं का भी कोई अन्त नहीं होता। क्योंकि परिग्रह का मूल इच्छा (आसक्ति) है।⁷¹

परिग्रह के मूल में कामना होती है और कामना ही दुःख का कारण है — “कामे कामहि कमियं खु दुक्खं।”⁷² कामनाओं का आकाश अनन्त है। यदि मनुष्य अपनी सभी परिग्रहीत वस्तुओं का त्याग भी कर दे, तो भी वह पूर्णतः अपरिग्रही नहीं बन सकता। इसीलिए मूर्च्छा या आसक्ति को परिग्रह का सार माना गया है। वस्तुओं के प्रति आसक्ति हमें बार-बार उन्हें ग्रहण करने के लिए बाध्य करती है। जब तक यह आसक्ति या मूर्च्छा नहीं जाती है, अपरिग्रह असंभव है। जैसे “अमर्यादित धन, धान्य आदि माल से भरा हुआ जहाज अत्यधिक भार हो जाने से समुद्र में डूब जाता है, वैसे ही जीव भी अगर धन, धान्य, घर, मकान, जमीन-जायदाद व खेत आदि वस्तुएँ अमर्यादित यानि आवश्यकता की सीमा से अधिक रखता है तो वह भी उस परिग्रह के बोझ से दबकर नरक आदि दुर्गतियों में डूब जाता है।⁷³ कहा भी गया है — महारम्भ, महापरिग्रह, मांसाहार और पंचेन्द्रिय जीवों का वध, इन चारों में से किसी भी एक के होने पर भी जीव नरकायु उपार्जित करता है। दूसरे शब्दों में —

⁷¹ महानिद्देसपालि, — 1/11/107

⁷² दशवैकालिकसूत्र — 2/5

⁷³ परिग्रहमहत्वाद्धि मज्जत्येव भवाम्बुधौ ।

महापोत इव प्राणी त्यजेतस्मात् परिग्रहम् ॥ — योगशास्त्र 2/107

अतिआरम्भ एवं अतिपरिग्रह के कारण नरकायु का बंध करता है। इसलिए धन, धान्य आदि पर मूर्च्छा ममता रूप परिग्रह का त्याग करना चाहिए।

परिग्रह वृत्ति के नियंत्रण के उपाय —

1. इच्छा/मूर्च्छा/आसक्ति का त्याग करें —

भगवतीसूत्र में कहा गया है कि —“जब तक राग (इच्छा) मोह और लोभ (मूर्च्छा/आसक्ति) मन में उत्पन्न होते हैं तब तक ही आत्मा में बाह्यपरिग्रह ग्रहण करने की बुद्धि होती है।”⁷⁴

अतः जब तक इच्छा को समाप्त नहीं करेंगे तब तक अपरिग्रह के सिद्धान्त का प्रतिफलन संभव नहीं है। अर्थ या पदार्थों का संग्रह ही परिग्रह नहीं है। मूर्च्छा ममता भी परिग्रह हैं। इच्छाओं को न दबाना है, न उन्हें अनियंत्रित छोड़ना है। अगर दबाया जाय तो कभी भी अवसर पाकर वे और भी उग्रता से उठेंगीं। इसलिए उन्हें समझकर ही शमित करना चाहिए। आकांक्षाओं का विवेकपूर्ण शमन हो तो निश्चय ही वे कभी भी नहीं उभरेगीं। इसलिए आचारांगसूत्र में कहा गया है कि —“जो परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है, वह परिग्रह का त्याग करता है।”⁷⁵ यह मेरा है, ऐसी भावना प्राणियों और पदार्थों के प्रति होती है, जैसे — मेरी माता, मेरे पिता, मेरा घर, मेरी भूमि। जो व्यक्ति बुद्धिगत ममत्व को छोड़ देता है, वही वास्तव में अपरिग्रही है। भरत चक्रवर्ती छह खण्डों के अधिपति थे। किन्तु शीश महल में पहुंचकर ममत्वबुद्धि का परित्याग कर दिया। छह खण्ड की सम्पत्ति होते हुए भी वे अपरिग्रही थे। समवक्षरण में विराजमान तीर्थंकर परमात्मा की रिद्धि के परिग्रह के आगे तो संसार के सब परिग्रह उनके कारण फीके हैं, परन्तु कषाय ओर मूर्च्छा नहीं होने के कारण नके लिए परिग्रहरूप नहीं है। पुरुषार्थसिद्धिध्याय में अमृतचन्द्र स्वामी कहते

⁷⁴ “रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा तो तइया धेतुं जे गंधे बुद्धी परो कुणह।”

— भगवती आराधना 19/2

⁷⁵ आचारांग चूर्ण, पृ. 92

हैं केवल बाह्य वस्तुओं के त्याग को ही अपरिग्रह मानते हैं तो जिसके पास कुछ नहीं वे तो सदा अपरिग्रही रहेंगे, जैसे— भिखारी। पर उसकी इच्छा मूर्च्छा और वस्तुओं की आसक्ति के कारण वह महापरिग्रही है।⁷⁶ दशवैकालिक में भी कहा है कि जो सदा संग्रह की भावना रखता है, वह साधु नहीं (साधु के वेष में) गृहस्थ है।⁷⁷

अतः जैन दृष्टि से केवल बाह्य परिग्रह का ही परित्याग प्रमुख नहीं है। प्रमुख आभ्यान्तर परिग्रह का परित्याग। जब तक आसक्ति नहीं मिटती, वहाँ तक बाह्य परिग्रह का परित्याग करके भी आभ्यान्तर परिग्रह विद्यमान है तो बाह्य परिग्रह स्वतः आ जाएगा। परिग्रह बहुत बड़ा पाप है। विश्व में जितनी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं, उन सबके मूल में परिग्रह ही है।

बाह्य परिग्रह जैसे, धन, वस्तु, आदि केवल विनिमय या कृत्रिम साधन है, अथवा आवश्यकता-पूर्ति के माध्यम हैं, वस्तुतः वस्तु स्वयं में कोई परिग्रह नहीं, किन्तु उसके ग्रहण का भाव और संग्रह की इच्छा परिग्रह है। यदि पर-पदार्थों के ग्रहण व संग्रह की भावना नहीं है, केवल पर पदार्थ की उपस्थिति है तो वह परिग्रह नहीं है। जैसे— तीर्थंकर। इसलिए भगवान महावीर ने तथा जैनशास्त्रों में मूर्च्छा को परिग्रह कहा है और मूर्च्छा त्याग को अपरिग्रह।⁷⁸

2. वस्तु के त्याग एवं दान की भावना का विकास —

आचार्य अकलंक⁷⁹ ने सचेतन और अचेतन परिग्रह से निवृत्ति को ही त्याग माना है। जितने भी मोक्ष के साधन हैं उनमें त्याग को सर्वोत्तम साधन माना है।⁸⁰

⁷⁶ पुरुषार्थसिद्धिध्याय — गाथा, 113 आ. विशुद्धसागरजी मुनि, पृ. 303

⁷⁷ जे सिया सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से। — दशवैकालिकसूत्र, 6/18

⁷⁸ क) दशवैकालिक — 6/20

ख) मूर्च्छा परिग्रहः — तत्त्वार्थसूत्र 7/12

ग) 'मूर्च्छा परिग्रहः' इति सूत्रं यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादि

परिणामानुसारेण परिग्रहो भवति, न च बहिरंगपरिग्रहानुसारेण। — प्रवचनसारतात्पर्यवृत्ति टीका, गा. 278

घ) मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः। — पुरुषार्थसिद्धयुपाय, छन्द 111

ण) ममेदमिति संकल्प परिग्रहः। — सर्वार्थसिद्धि, अ.7 सूत्र 17

⁷⁹ परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तित्यागः इति निश्चीयते। — तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ.9, सू.6

⁸⁰ त्याग एव सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् — अणु से पूर्ण की यात्रा, पृ. 151

राग में दुःख और त्याग में सुख है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है – अपने से भिन्न सभी पदार्थ पर हैं। इसलिए वस्तु के इस स्वरूप को जानकर, जब त्याग किया जाता है, तब वह प्रत्याख्यान (त्याग) होता है। उसी प्रकार जब जब वस्तु के प्रति त्याग की भावना विकसित नहीं होती, तब तक ममत्व बना रहता है और परिग्रह बढ़ता ही जाता है। परिग्रह को कम करने के लिए या तो वस्तु का त्याग कर दो या उसका दान कर दो। इससे जो वस्तु हमारे लिए संग्रह योग्य और परिग्रह रूप थी, वही वस्तु दूसरों की आवश्यकता की पूर्ति का साधन बन जाती है।

वस्तुतः त्याग और दान में अन्तर है। त्याग जो हमारे लिए अनावश्यक अनुपयोगी है, अहितकारी है, उसका किया जाता है। किन्तु दान जो वस्तु दूसरे के लिए आवश्यक उपयोगी और हितकारी है, उस वस्तु का किया जाता है। उपकार के लिए वस्तु का देना दान है। दान में परोपकार मुख्य होता है। किन्तु त्याग में स्वयं का उपकार मुख्य होता है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में दोनों ही महत्त्व रखते हैं। त्याग और दान दोनों से परिग्रह वृत्ति कम होती है और ममत्व भाव भी कम होता है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति तभी दे सकता है जब उसका अन्दर से ममत्व छूटे।

ईशावास्या उपनिषद् के प्रथम श्लोक में ही स्पष्ट कहा गया है⁸¹ –

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन न भुञ्जीथा मा गृधः कस्यास्विद्वनम् ।।।।।

अर्थात् इस चराचर जगत् में जो भी कुछ है वह सब ईश्वर का है। अतः लब्ध (प्राप्त) वस्तु का त्याग बुद्धिपूर्वक ही भोग करे, किसी अन्य के धन का लोभ न करे। क्योंकि यह धन तुम्हारा नहीं है। इसमें त्याग और अलोभ के लिए स्पष्ट निर्देश है जो 'अपरिग्रह' व्रत का सार है।

रस्किन ने भी कहा है कि – "धनी आदमी धनी (धन का स्वामी) तभी होता है जब वह धन का दान कर पाता है। नहीं तो वह गरीब ही होता है। अर्थात् आप धनी उसी दिन है, जिस दिन आप धन को छोड़ पाते हैं। अगर आप धन को नहीं

⁸¹ ईशावास्यान उपनिषद् – श्लो. 1

छोड़ पाते तो आप गरीब हैं। दान मालकियत का लक्षण है और संग्रह गरीबी का।” कहते हैं, बहती सरिता सुन्दर और पवित्र होती है, पर इकट्ठा पानी/संग्रहित जल दूषित और गंदा होता है तथा शीघ्र नष्ट हो जाता है। अतः संग्रहित धन अधिक दिन तक रहेगा तो सरकार, डाकू या डॉक्टर में खर्च हो जाएगा। इसलिए धन का अधिक संग्रह करना ही नहीं। यदि किया भी है तो उसको दान देकर ममत्वबुद्धि का त्याग करना चाहिए।

3. उपभोक्ता संस्कृति और अपरिग्रह –

उपभोक्ता संस्कृति और अपरिग्रह परस्पर विरोधी विचारधाराएं हैं। उपभोक्ता संस्कृति कहती है – अधिक से अधिक वस्तुओं का प्रयोग करो। इसके विपरीत अपरिग्रह की विचारधारा कहती है – कम से कम वस्तुओं का प्रयोग करो। उपभोक्ता संस्कृति भोगवाद की ओर प्रवृत्त करती है और अपरिग्रह आत्म संयम की ओर। एक अनन्त इच्छाओं की अन्तहीन पूर्ति का प्रयास है तो दूसरा इच्छाओं का परिसीमन। उपभोक्ता संस्कृति भौतिक इन्द्रियों की संतुष्टि के प्रयास रूप सुखवाद है, जबकि अपरिग्रह आत्मवादी इन्द्रिय-निग्रह। उपभोक्ता संस्कृति भौतिक विकास से जुड़ी हुई है और अपरिग्रह आत्मिक विकास से।

जैन विचारधारा भोगवाद की इस समस्या के प्रति प्राचीनकाल से सावधान रही है। तपस्या और निवृत्ति की भावना के साथ-साथ भगवान महावीर ने पांच महाव्रतों के रूप में मनुष्य को एक आदर्श दर्शन दिया है। पांच व्रतों में अपरिग्रह भोगवाद की समस्या का सही निदान है। आज के भागदौड़, संघर्षरत और तनावपूर्ण जीवन का मुख्य कारण यही है कि हमने अपनी इच्छाओं को बहुत बढ़ा लिया है। इच्छाएँ महावीर के युग से कई गुना अधिक बढ़ चुकी हैं। इस अभिशाप्त असंतुष्ट जीवन से मुक्ति पाने का एक ही रास्ता है, वह है उपभोक्ता संस्कृति के मोह का परित्याग और इच्छाओं का परिसीमन अर्था अपरिग्रह।

4. परिग्रहपरिमाणव्रत —

जिस प्रकार अपरिग्रह एक महाव्रत के रूप में मुनियों के लिए प्रस्तुत किया गया है। उसी प्रकार अपरिग्रहाणुव्रत गृहस्थों के लिए विहित है। श्रमण साधक के लिए सम्पूर्ण परिग्रह का परित्याग है, लेकिन गृहस्थ के लिए यह संभव नहीं है। अतः गृहस्थ को परिग्रह से अधिकाधिक बचने के लिए परिग्रह की केवल सीमा रेखा निश्चित की गई है। क्योंकि सभी आरम्भों का मूल कारण परिग्रह है, इसलिए श्रमणोपासक या श्रावक धन—धान्यादि परिग्रह अल्प से अल्प करे।⁸² इसीलिए अपरिग्रहाणुव्रत का परिग्रह परिणामव्रत अथवा इच्छापरिमाणव्रत अथवा स्थूल परिग्रह विरमणव्रत भी कहते हैं। परिग्रह की तृष्णा को अपने लिए अहितकर समझकर अंतरंग और बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रह के प्रति ममत्व—भाव हटाना। परिग्रह का भार कम करने के उपाय करना और अपनी शक्ति के अनुरूप उनकी अव्यतम सीमा निर्धारित करके उससे अधिक संग्रह का त्याग कर देना यही 'परिग्रह परिमाण अणुव्रत' है। यह अपनी "अंतहीन इच्छाओं को सीमित करने का कौशल है। अतः इसका दूसरा नाम 'इच्छा—परिमाणव्रत' भी है।⁸³

परिग्रह जीवन निर्वाह का आवश्यक साधन है, लेकिन यह साधन भी यदि साध्य ही बन जावे तो साधन की सम्भावना ही नहीं रहती है। जीवन में प्रगति किसी भी एक आदर्श की ओर हो सकती है। लेकिन जब जीवन में विभिन्न आदर्शों की स्थापना एक साथ कर ली जाती है, तो निश्चय ही जीवनपथ विकृत हो जाता है और साधक को किसी भी लक्ष्य पर पहुंचाने में समर्थ नहीं रहता। भौतिक समृद्धि की उपलब्धि और आध्यात्मिक विकास दोनों को एक साथ आदर्श नहीं बनाया जा सकता है।

वस्तुतः वस्तुओं का परिग्रह जड़ है, उसमें हमारे शुद्ध चैतसिक स्वरूप को बाधा पहुंचाने का सामर्थ्य भी नहीं है, पर जब उन वस्तुओं के प्रति अपेक्षाबुद्धि,

⁸² संसारमूलमारम्भास्तेषां हेतुः परिग्रहः।

तस्मादुपासकः कुर्यादल्पमल्पं परिग्रहम्।। — योगशास्त्र 2/110

⁸³ उपासकदशांगसूत्र — 1/45

परिग्रहासक्ति, परिग्रह—तृष्णा या परिग्रह—संग्रह की इच्छा जाग्रत हो जाती है, तो वह साधना में बाधक बनती है। इसलिए सूत्रकार ने परिग्रह परिमाण व्रत कहने की अपेक्षा इच्छापरिमाणव्रत कहा है। एक अल्प—परिग्रही व्यक्ति में भी यदि परिग्रह—इच्छा मौजूद है तो वह साधना में प्रगति नहीं कर सकता। कहा गया है—
 “समूचे संसार में परिग्रह के समान प्राणियों के लिए दूसरा कोई बंधन नहीं है।”⁸⁴
 साधना की दृष्टि से इच्छाओं का परिसीमन अति आवश्यक है। जैन धर्मदर्शन इच्छा, तृष्णा या ममत्व के परिसीमन के प्रति अत्यधिक जागरूक रहा है। इच्छा का सम्बन्ध बाह्य परिग्रह से ही है, अतः उसका परिसीमन भी आवश्यक है। “जैन विचारणा में गृहस्थ साधक को नौ प्रकार के परिग्रह की मर्यादा निश्चित करना होती है।”⁸⁵

1. क्षेत्र — कृषि भूमि अथवा अन्य खुला हुआ भूमि—भाग।
2. वास्तु — मकान आदि अचल सम्पत्ति।
3. हिरण्य — चाँदी अथवा चाँदी की मुद्राएँ।
4. स्वर्ण — स्वर्ण अथवा स्वर्ण मुद्राएँ।
5. द्विपद — दास, दासी, नौकर, कर्मचारी इत्यादि।
6. चतुष्पद — पशुधन, गाय, घोड़ा, बकरी आदि।
7. धन — चल सम्पत्ति।
8. धान्य — अनाजादि।
9. कुप्य — घर गृहस्थी का अन्य सामान।

हर एक गृहस्थ का यह कर्तव्य है कि वह इन सभी वस्तुओं की अपने लिए सीमा निर्धारित करे। उस सीमा का उल्लंघन न करे और यदि संभव हो तो उस सीमा को वस्तुओं के परिप्रेक्ष्य में और कम करता जाए।

एक बार यदि गृहस्थ अपने लिए सीमा निर्धारित कर लेता है तो उसे इस परिग्रह परिमाणव्रत को “मणसा, वाचा, कर्मणा” निभाने का प्रावधान है। गृहस्थ इस

⁸⁴ नत्थि एरिसो पासो पडिबन्धो अत्थि सब्बजीवाणं सब्बलोए — प्रश्नव्याकरणसूत्र, 1/5

⁸⁵ क्षेत्रवास्तु धनधान्यं कुप्यभाण्डदासदासीकनकम्
 हिरण्यादि वस्तुषु मामूर्च्छापरिग्रह प्रमाणव्रतम् — उपासकाध्याय सूत्र. 9/50

व्रत को कृत और कारित दोनों ही तरह से अपनाता है। किन्तु इसके अनुमोदन के लिए स्वतंत्र होता है।

परिग्रह—परिमाण व्रत के पांच अतिचार —

जिस प्रकार जैनधर्म में अन्य व्रतों के परिप्रेक्ष्य में कुछ अतिचारों की गणना की गई है, वहीं परिग्रह—परिमाण व्रत के भी पांच अतिचार बताए गए हैं —

उपासकदशांकसूत्र⁸⁶ तथा तत्त्वार्थसूत्र⁸⁷ में कहा गया है कि —(1) क्षेत्र—वास्तु (2)सोना—चाँदी (3) धनधान्य (4) दास—दासी तथा (5) कुप्य का प्रमाण बढ़ा लेना परिग्रहाणुव्रत के अतिचार हैं। जो इस प्रकार हैं —

1. क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम — क्षेत्र का अभिप्राय है, खुली भूमि (खेत, बगीचा) और वास्तु का अभिप्राय व भूमि जिस पर मकान आदि बना हो। इसे अंग्रेजी में Open area और Covered area कहा जाता है। दोनों प्रकार की भूमियों की जितनी सीमा व्रत ग्रहण करते समय निश्चित की है, उसे बढ़ा लेना।
2. हिरण्य—सुवर्णप्रमाणातिक्रम — चाँदी—सोना आदि मूल्यवान धातुओं की मर्यादा का उल्लंघन करना।
3. द्विपद—चतुष्पद प्रमाणातिक्रम — दास—दासी तथा पशु सम्बन्धी मर्यादा का अतिक्रमण करना।
4. धनधान्यप्रमाणातिक्रम — मणि, मुक्ता एवं धन (पशुधन) धान्य (अनाज) का प्रमाण बढ़ाना। धन का अभिप्राय आज के युग में नगद रूपया, बैंक बलेन्स, शेयर आदि भी है।

⁸⁶ तयाणंतरं च णं इच्छा—परिमाणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा,
न समायरियव्वा तंजहा — खेतवत्थु—पमाणाइक्कमे, हिरण्ण, सुवण्ण, पमाणाइक्कमे,
दुपय—चउप्पय—पमाणाइक्कमे, धण—धत्त—पमाणाइक्कमे, कुविय—पमाणाइक्कमे — उपासकदशांकसूत्र—1/45

⁸⁷ क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदास कुप्यप्रमाणाति क्रमाः । — तत्त्वार्थसूत्र, 7/24

5. कृष्यप्रमाणातिक्रम — वस्त्र, पात्र, शय्या, आसन आदि गृहोपकरण सम्बन्धी मर्यादा का उल्लंघन करना।

भगवान महावीर ने संग्रह और ममत्व रूप परिग्रह का गृहस्थ के लिए सर्वथा निषेध नहीं किया है, सबसे पहले इच्छा को परिमित करने के लिए उपदेश दिया है, ज्यों-ज्यों इच्छा कम होती जाती है, त्यों-त्यों संग्रह और ममत्व भी कम होता जाता है।

उपर्युक्त पांचों अतिचारों का मूल भाव यही है कि गृहस्थ अपनी आवश्यकता से अधिक न तो भूमि, मकान आदि रखे, न धन-धान्य का संग्रह करे और न ही मर्यादा से अधिक पशु आदि रखे। धार्मिक दृष्टि से भी सर्व साधारण को उतनी ही सामग्री रखनी चाहिए जिससे जनता में आलोचना न हो तथा दूसरे उससे वंचित न हों और अपना कार्य भी सुचारु रूपेण चल सके।

दिगंबर ग्रंथ 'उपासकाध्ययन'⁸⁸ में परिग्रह परिमाण-अणुव्रत में विक्षेप उत्पन्न करने वाले पांच अतिचारों का वर्णन भी मिलता है जो निम्न है —

- (1) अतिवाहन, (2) अतिसंग्रह (3) अतिविस्मय (4) अतिलोभ और (5) अति भारवाहन।
- (1) अधिक लाभ की आकांक्षा में शक्ति से अधिक दौड़-धूप करना। दिन-रात उसकी आकुलता में उलझे रहना और दूसरों से भी नियम-विरुद्ध अधिक काम लेना 'अतिवाहन' है।
- (2) अधिक लाभ की इच्छा से उपभोक्ता वस्तुओं का अधिक समय तक संग्रह करके रखना। अर्थात् मुनाफाखोरी या जमाखोरी की भावना रखकर संग्रह करना 'अतिसंग्रह' है।

⁸⁸ अतिवाहनादिसंग्रहं द्रव्यसंग्रहाति भारारोपणं

पंचाक्षविषयमूर्च्छा मर्यादा विस्मृति पंचात्याः ॥ — उपासकाध्ययन 9/51

- (3) अपने अधिक लाभ को देखकर अहंकार में डूब जाना और दूसरों के अधिक लाभ में विषाद करना, जलना—कुढ़ना 'अतिविस्मय' है। अपनी निर्धारित सीमा को भूल जाना या बढ़ाने की भावना करना भी इसी में शामिल है।
- (4) मनचाहा लाभ होते हुए भी अधिक लाभ की आकांक्षा करना। क्रय—विक्रय हो जाने के बाद भाव घट—बढ़ जाने से, अधिक लाभ की सम्भावना को अपना घाटा मानकर संक्लेश करना 'अतिलोभ' है।
- (5) लोभ के वश होकर किसी पर न्याय—नीति से अधिक भार डालना तथा सामने वाले की सामर्थ्य के बाहर अपना हिस्सा, मुनाफा, ब्याज आदि वसूल करना 'अति—भारवाहन' है।

अतः स्पर्शनादि पांचों इन्द्रियों के योग्य भोग—परिभोग की वस्तुओं में विशेष मूर्च्छा का होना तथा की गई मर्यादा को भूल जाना, इस प्रकार परिग्रह प्रमाणव्रत के पांच अतिचार हैं। व्रतधारी श्रावक—श्राविकाओं को ए अतिचार न लगें, इसकी सावधानी रखनी चाहिए।

अपरिग्रहव्रत की पाँच भावना⁸⁹ —

एक श्रमण के लिए अपरिग्रह व्रत पालन हेतु निम्न भावनाओं का विधान किया गया है — पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति का निषेध अथवा मनोज्ञा या अमनयोग्य स्पर्श, रस, गंध, रूप तथा शब्द पर समभाव रखना। ए भावनाएँ इन्द्रियों के विषय में आसक्ति का निषेध करती हैं। एक मुनि को इन्द्रिय—विषयों में आसक्ति और कषायों के वशीभूत नहीं होना चाहिए। यही उसकी सच्ची अपरिग्रहवृत्ति है।

⁸⁹ पंचेन्द्रियविषयानि सन्तिमनोज्ञामनोज्ञानि नित्यम्।

रागद्वेषं जहाति भावनाऽपरिग्रहस्यपंच॥

—उपासकाध्ययन 9/49

आचारांगसूत्र⁹⁰ के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सूत्रकार फरमाते हैं कि यह तो संभव नहीं है कि इन्द्रियाँ अपने विषय को ग्रहण न करे, अर्थात् यह सम्भव नहीं कि कान शब्दों को ग्रहण न करे, यह भी सम्भव नहीं कि आँख रूप का ग्रहण न करे, नाक गन्ध का ग्रहण न करे, जीभ स्वाद का अनुभव न करे तथा त्वचा स्पर्श से सदा दूर रहे। ऐसी स्थिति में साधु के लिए एक ही मार्ग शेष रह जाता है कि वह पाप से बचने के लिए उन विषयों में रागभाव या द्वेषभाव न करे। इस प्रकार आचरण करता हुआ साधक परिग्रह के पाप से बच जाता है। अपरिग्रहवृत्ति संवर द्वार श्रेष्ठ वृक्ष है। भगवान महावीर का परिग्रह निवृत्ति का उपदेश उसी अपरिग्रह रूपी वृक्ष का फँलाव है। सम्यक्त्व उसका मूल है। धृति उसका कन्द है, विनय उसकी वेदिका है, तीनों लोकों में व्याप्त यश उसका स्कन्ध है। पांच महाव्रत उसकी विशाल शाखाएँ हैं, भावनाएँ उसकी त्वचा है। शुभ ध्यान, प्रशस्त योग एवं ज्ञान उसके पत्ते एवं अंकुर हैं। शील उसकी शोभा है, संवर उसका फल है, बोधि उसका बीज है और मेरुशिखर के समान मोक्ष मार्ग उसका श्रेष्ठ शिखर है। अतः साधक को शिखर रूपी मोक्ष को प्राप्त करने के लिए अपरिग्रह का पूर्ण रूपेण पालन करना चाहिए। ज्ञानसार में कहा है कि –“परिग्रह का त्याग करते ही साधु के सारे पास क्षय हो जाते हैं, जिस तरह पाल टूटते ही तालाब का सारा पानी बह जाता है।”⁹¹

⁹⁰ (क) न सक्का न सोउं सदा, सोतविसयमाणया ।
 रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खु परिवज्जए ॥ 131 ॥
 नो सक्का रुवमद्दट्ठुं ; चक्खुविसयमाणयं ।
 रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ 132 ॥
 न सक्का गंधमग्धाउं, नासाविसयमाणयं ।
 रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ 133 ॥
 न सक्का रसमस्साउं, जीहाविसयमाणयं ।
 रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ 134 ॥
 न सक्का फासमवेएउं, फासविसयमाणयं ।
 रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ 135 ॥

— आचारांगसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध अ.15, सू. 790, गा. 131—135

(ख) सोइंदियरागोवरई, चक्खिदियरागोवरई, घाणिंदियरागोवरई, जिभिंदियरागोवरई, फासिंदियरागोवरई ।” – समवायसूत्र – 25

(ग) आचारांग चूर्णिसम्मत विशेष पाठ, टि. पृ. 281

⁹¹ त्यक्ते परिग्रहे साधोः, प्रयाति सकलं रजः पालित्यागे क्षणादेव, सरसः सलिलं यथा— ज्ञानसार, 5/197

संतोषवृत्ति और अपरिग्रह —

संतोष रूपी महान् गुण अपनी आत्मा में प्रवेश कर जाएं तो परिग्रह की समस्या स्वतः ही खत्म हो जाती है। जब संतोष आ गया तो फिर वस्तु को प्राप्त होने में भी संतोष रहता है और न होने में भी संतोष रहता है। कोई अशान्ति नहीं, कोई अशुद्ध चिन्तन नहीं। सारी अशान्ति वहीं हैं, जहाँ संतोष नहीं है। क्योंकि असंतोष के कारण ही अन्याय से अर्थोपार्जन करते हैं, मन में यह भाव सदा बने रहते हैं किस प्रकार से ज्यादा से ज्यादा धन प्राप्त करूँ। ऐसा व्यक्ति एक ही नहीं भावी पीढ़ियों की चिन्ता भी करता है। बस इसी चिन्तन के साथ पतन का मार्ग प्रारंभ हो जाता है।

“सगरचक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र हुए, तब भी उसे तृप्ति नहीं हुई। कुचिकर्ण के पास बहुत-से गायों के गोकुल थे, फिर भी उसे संतोष नहीं हुआ, तिलकसेठ के पास अनाज के अनेक गोदाम भरे थे, फिर भी उसकी तृप्ति नहीं हुई और नंदराजा को सोने की पहाड़ियाँ मिलने पर भी संतोष नहीं हुआ। इसलिए परिग्रह कितना भी कर लो वह असंतोष का ही कारण है।⁹² साथ ही धनासक्त मम्मण वणिक के पास अपार धन था पर धनलोलुपता एवं असंतोषवृत्ति के कारण उसकी दुर्गति हो गई। इसलिए कहा गया है असंतोष भी संचयवृत्ति तथा तदजन्य दुःखों का कारण है।⁹³

श्रावक के बारह व्रतों में ‘स्थूल परिग्रह विरमण व्रत’ और ‘उपभोग—परिमाणव्रत’ इच्छा परिसीमन का एक व्यावहारिक रूप है। इसमें संकल्पबद्ध होकर कम से कम वस्तुओं के प्रयोग से जीवन निर्वाह का अभ्यास किया जाना चाहिए। जैन कषायों में पुणिया श्रावक अपरिग्रह संस्कृति का आदर्श चरित्र है। जिसमें वह दिन-भर रूई से पुणियां बनाता है और उन्हें बेचकर जितना धन प्राप्त होता है, उसी में अपने परिवार का पालन-पोषण करते हुए सन्तुष्ट रहता है। महात्मा कबीरदास भी ऐसे ही

⁹² तृप्तो न पुत्रैः सगरः, कुचिकर्णो न गोधनैः।

न धान्यैस्तिलकश्रेष्ठी, न नन्दः कनकोत्करैः।। — योगशास्त्र 2/112

⁹³ असंतोषमविश्वासमारंभं दुःखकारणम्। — वही 2/106

अपरिग्रही थे। पुणिया श्रावक की तरह वे भी कपड़ा बुनकर अपने परिवार का पालन-पोषण करते और ईश्वर की भक्ति में मस्त रहते। वे कहते थे –

साईं इतना दीजिए जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।।

इच्छाओं का परिसीमन करते हुए कबीरदास जी ने अपना जीवन फकीरी में लगा दिया। इसी फकीरी में ही उन्हें अनुपम सुख की अनुभूति होती थी। कहा भी है—

चाह मिटी चिन्ता गई, मनुवा भया बेपरवाहह।
जिन्हें कछु न चाहिए, वे शाहो के शहनशाह।।

आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने भी कम से कम वस्तुओं का प्रयोग करते हुए सादगी और सदाचार की साधना की और जीवन पर्यन्त वे सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह के प्रयोग करते रहे।

“संतोषी व्यक्ति के लिए संसार के वैभव तिनके के समान दिखाई देते हैं। जिसके पास संतोषरूपी आभूषण है, समझ लो, पद्म आदि नौ निधियाँ उसके हाथ में हैं। कामधेनु गाय तो उसके पीछे-पीछे फिरती है और देवता भी दास बनकर उसकी सेवा करते हैं।”⁹⁴ “असंतोषी मनुष्य चाहे वह इन्द्रमहाराज और चक्रवर्ती ही हो, उसे जो सुख प्राप्त नहीं होता, वह सुख संतोषी मनुष्य को प्राप्त होता है जैसे अभयकुमार ने राजपाट को त्यागकर भगवान महावीर के पास दीक्षा अंगीकार की। सुखप्रदायक, संतोष के धारक अभयकुमार मुनि आयुष्य पूर्ण करके सर्वार्थसिद्धि नामक देवलोक में गए। इस प्रकार संतोषसुख का आलम्बन लेने वाला अन्य व्यक्ति भी अभयकुमार के समान उत्तरोत्तर सुख प्राप्त करता है।”⁹⁵ अतः हम कह सकते हैं कि “जो आनंद

⁹⁴ सन्निधौ निधयस्तस्य कामगव्यनुगामिनी
अमराः किंकरायन्ते संतोषो यस्य भूषणम् – योगशास्त्र , 1/115

⁹⁵ योगशास्त्र – 2/114

संतोषी मनोवृत्ति वालों को प्राप्त होता है, वह सुख इधर-उधर धनप्राप्ति हेतु दौड़ने वालों को नहीं।⁹⁶

संसार का कोई भी धर्म-दर्शन परिग्रह को स्वर्ग या मोक्ष का कारण नहीं मानता है। सभी धर्म एक स्वर में उसे हेय घोषित करते हैं। आज अपरिग्रह की जीवन और जगत में अति आवश्यकता है। अर्थ-तृष्णा की आग में मानव-जीवन भस्म न हो जाय, जीवनचक्र अर्थ परिग्रह के इर्द-गिर्द ही न घूमता रहे और जीवन का उच्चतम लक्ष्य ममत्व के अंधकार में विलीन न हो जाय। इसके लिए अपरिग्रह की वृत्ति जीवन में आनी चाहिए। क्योंकि "आवश्यकता से अधिक एवं अनुपयोगी उपकरण (सामग्री) अधिकरण अर्थात् बन्धन के हेतु हैं।"⁹⁷ धन का सीमांकन स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए अनिवार्य है। यदि असंचय की वृत्ति जीवन में आए तो समाज की सारी विषमताएं स्वतः समाप्त हो जावेगी। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि अपरिग्रहवाद आधुनिक युग की ज्वलन्त समस्याओं का सुन्दर समाधान है। इससे व्यक्ति का जीवन उच्च और प्रशस्त बनता है और साथ ही समाज व देश की समस्याओं का समाधान भी सरलता से हो जाता है।

परिग्रहवृत्ति के विजय के संबंध में गांधी जी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त -

अहिंसक-राज्य की धारणा के साथ समाज की नवीन आर्थिक-संरचना के संबंध में गांधी जी का "ट्रस्टीशिप सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह सिद्धान्त आर्थिक वितरण के प्रश्न पर नैतिक और अहिंसक समाधान का एक प्रयास है। वर्तमान समाज की आर्थिक-व्यवस्था के संबंध में मुख्य रूप से दो विचार प्रचलित हैं - (1) पूंजीवादी विचार, (2) समाजवादी विचार।

⁹⁶ संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।

कृतस्तद्धनबुद्धानामेतश्चेतश्च धावताम्।। - अमर भये, ना मरेगें, पृ. 14

⁹⁷ अतिरेगं अहिगरण — ओघनिर्युक्ति - 741

पूँजीवादी विचार – उत्पादन के व्यक्तिगत स्वामित्व का समर्थन करता है। वहीं समाजवादी विचार – उत्पादन और वितरण के कार्यों को राज्य के हाथों में सौंपता है। ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति की स्वाभाविक उत्पादन की प्रेरणा समाप्त हो जाती है तथा वह अपनी सारी स्वतंत्रता खोकर यंत्रवत् जीवन व्यतीत करता है। इन दोनों से भिन्न एक तीसरे प्रकार का दृष्टिकोण भी है। जिसमें आर्थिक जीवन को तिरस्कृत कर आध्यात्मवादी जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा है। वास्तव में यह पलायनवादी विचार है, जिसका आधार सन्यासवाद ही है।

ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में गांधीजी ने ऊपर के तीनों सिद्धान्तों की बुराईयों का परित्याग कर उनकी अच्छाईयों को ग्रहण किया है। गाँधीवाद में अपरिग्रह का व्रत 'ट्रस्टीशिप' [न्यास सिद्धान्त] के रूप में विकसित हुआ। जिसका अर्थ है, अपनी जरूरत की चीजों को रखने में भी स्वामित्व भाव नहीं रहना चाहिए। मनुष्य अपनी जरूरत की चीजें तो रखें लेकिन उस पर अपना स्वामित्व नहीं माने।⁹⁸ गांधीजी के अनुसार संसार की सभी वस्तुओं का वास्तविक मालिक ईश्वर है।⁹⁹ उसने विश्व का सृजन किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं किया, बल्कि समस्त प्राणियों के लिए किया है। वह सर्वशक्तिमान होते हुए भी संग्रह नहीं करता है।¹⁰⁰ मनुष्य उसी ईश्वर का एक छोटा-सा रूप है, अतः उसे भी उत्पादन समाज-हित की भावना से करना चाहिए, स्वार्थ की भावना से नहीं। ईश्वर की भांति ही उसे भी भविष्य के लिए संग्रह नहीं करना चाहिए। अपनी आवश्यकता की पूर्ति के बाद जो धन बच जाए उसे अपना नहीं मानकर समाज का मानना चाहिए तथा उस संपत्ति का सदुपयोग समाजहित और राज्यहित में करना चाहिए।¹⁰¹ यदि इस प्रकार का विचार समाज में रूढ़ हो जाय, तो गांधी का यह दृढ़ विश्वास है कि समाज में आर्थिक विषमता मिटकर रहेगी।

⁹⁸ सर्वोदय दर्शन, पृ 281-82

⁹⁹ Harijan, 23/2/47. P. 39

¹⁰⁰ Ibid, P. 39

¹⁰¹ Young India, PP. 368-69

ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में आर्थिक विषमता मिटाने का प्रयत्न बलपूर्वक हिंसा के आधार पर नहीं, विचार-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन के आधार पर किया जाता है।¹⁰² अतः ट्रस्टीशिप के विचार का प्रचार ही सामाजिक आर्थिक विषमता को दूर कर सकता है।

गांधी यह मानते हैं कि बिना हृदय-परिवर्तन और विचार-परिवर्तन के कानून के द्वारा भी सच्चा समाजवाद नहीं ला सकते हैं। अतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात ट्रस्टीशिप के पक्ष में जनमत तैयार करने का है।

ट्रस्टीशिप सिद्धान्त के माध्यम से गांधी जी समाज को एक परिवार के रूप में देखते हैं। परिवार में हर व्यक्ति की क्षमता एक समान नहीं रहती। अतः हर व्यक्ति एक समान उत्पादन नहीं कर सकता। परन्तु जो कुछ वह उत्पादन करता है, उसका एक ही मालिक उस परिवार का मुखिया है जो उस संपत्ति का उपयोग समस्त परिवार के लिए करता है। ठीक उसी प्रकार समाज में भी शक्ति की विषमता के कारण उत्पादन की विषमता होगी। इसलिए व्यक्ति को अपनी शक्ति तथा मेधा के अनुकूल करोड़ों के उपार्जन का अधिकार है पर स्वामित्व समाज का रहेगा। समता का अर्थ अधिक से अधिक समानता है। इसीलिए गांधी निम्नतम पारिश्रमिक और उच्चतम आय को निर्धारित करना चाहते थे तथा समय-समय उसे बदलकर धीरे-धीरे विषमता कम करना चाहते थे।¹⁰³ विनोबा के अनुसार ट्रस्टीशिप-सिद्धान्त का अभिप्राय है — शरीर, बुद्धि और संपत्ति तीनों में से जो भी प्राप्त हो उसे सबके हित में लगाना।¹⁰⁴ किसी भी परिस्थिति में यह अपरिग्रह का उत्तम उपाय है।¹⁰⁵

यद्यपि ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के पीछे जो अमूर्च्छा या अनासक्ति का बीजमंत्र है, वह जैनाचार-दर्शन और गीता में पहले से ही मौजूद था। जैनदर्शन ने परिग्रह की परिभाषा करते हुए यही कहा था कि वास्तविक परिग्रह तो मूर्च्छा या आसक्ति

¹⁰² Pyarelal, Towards New Horizons, PP 90-91

¹⁰³ Harijan, 25/10/52, P. 301

¹⁰⁴ भावे, विनोबा, सर्वोदय और स्वराज्य शास्त्र, पृ. 134

¹⁰⁵ वही, पृ. 133

है।¹⁰⁶ गांधीवाद की दृष्टि में अपरिग्रह का अर्थ यह नहीं है कि बस हमारे लिए जितना आवश्यक है, मात्र उतना ही संग्रह करेंगे। आवश्यकता की कोई सीमा नहीं है। इसलिए आवश्यकता के नाम पर संग्रह की अभिलाषा समस्या का सही निदान नहीं है। सही निदान है संग्रह की वृत्ति या स्वामित्व की भावना का त्याग। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त स्वामित्व की वृत्ति का ही निषेध करता है। उसका नारा है —‘स्वामी नहीं संरक्षक।

धन अर्जन की वृत्ति एवं धनसंचय की वृत्ति में अंतर —

अर्जन शब्द का अर्थ है — कमाना और संचय शब्द का अर्थ है — जोड़कर रखना। वस्तुतः जीवन यात्रा के निर्वाह के लिए मानव को भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आवश्यकता होती है। अतः जीवन की इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन का अर्जन एवं संचय किया जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो परिवार का भरण-पोषण और उचित ढंग से निर्वाह के लिए भी धन का अर्जन किया जाता है। धन के संचय के पीछे भविष्य की सुरक्षा को ध्यान में रखा जाता है। भविष्य के लिए धनसंचय कितना करना ? आज तक इसकी कोई निर्धारित सीमा नहीं रही है। धनसंचय के प्रति आसक्ति और तृष्णा के कारण मनुष्य सात पीढ़ी तक सुखपूर्वक खा सके, इतने धन का संचय कर लेने पर भी संतुष्ट नहीं हो पाता है। वह आठवीं पीढ़ी भी सुखपूर्वक रह सके, इसलिए धन का संचय करता चला जाता है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है, वह केवल निवृत्तिपरक दर्शन नहीं है, अपितु इसमें प्रवृत्ति को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसमें ‘अपरिग्रहवाद’ के आदर्श को देखते हुए सामान्य व्यक्ति समझता है कि जैन धर्मदर्शन में धन का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि —“धन से मोक्ष नहीं मिलता है।”¹⁰⁷ परन्तु दूसरी ओर जैनपरम्परा इस बात को भी स्वीकार करती है कि प्रत्येक तीर्थंकर

¹⁰⁶ आचारांगसूत्र 6/21

¹⁰⁷ उत्तराध्ययनसूत्र — 4/5

की माता चौदह स्वप्न देखती है। उसमें एक स्वप्न लक्ष्मी का होता है तथा धन की देवी लक्ष्मी का स्वप्न, कुल में धन की वृद्धि का सूचक माना गया है।¹⁰⁸ साथ ही जैनधर्म में श्रमणधर्म के साथ-साथ जो श्रावकधर्म की भी व्याख्या है और श्रावक के लिए तो धन का अर्जन एवं संचय आवश्यक है। जैनधर्म में अपरिग्रहवाद के साथ-साथ श्रावक के लिए परिग्रह-परिमाण का सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया गया है। इससे प्रतिफलित होता है कि सामाजिक जीवन में धन की आवश्यकता को स्वीकार किया है इस दृष्टि से जैनधर्म में जहाँ एक ओर पंचमहाव्रतधारी, गृहत्यागी, अपरिग्रही श्रमण वर्ग के लिए पूर्णतया परिग्रह त्याग की व्यवस्था है, वहीं दूसरी ओर घर-परिवार में रहकर भी मर्यादित प्रवृत्ति करनेवाले अणुव्रतधारी श्रावक के लिए परिग्रह-मर्यादा की भी व्यवस्था है।

जैन साहित्य में आध्यात्मिक चर्चा के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में अर्थ के विषय में जो कुछ उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि श्रेणिक का पुत्र अभयकुमार अर्थशास्त्र का ज्ञाता था।¹⁰⁹ प्रश्नव्याकरणसूत्र में इस बात का उल्लेख है कि इस काल में 'अथसत्थ' अर्थात् अर्थशास्त्र विषयक ग्रन्थ लिखे जाते थे।¹¹⁰ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति से यह ज्ञात होता है कि भरत का सेनापति सुषेण अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में चतुर था।¹¹¹

जैनपरम्परा में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को अर्थव्यवस्था का संस्थापक माना गया है कि ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत चक्रवर्ती के लिए अर्थशास्त्र का निर्माण किया था।¹¹² नन्दीसूत्र में कहा गया है कि विनय से प्राप्त बुद्धि से सम्पन्न मनुष्य अर्थशास्त्र तथा अन्य लौकिक शास्त्रों में दक्ष हो जाते हैं।¹¹³

¹⁰⁸ कल्पसूत्र-पत्र-3

¹⁰⁹ ज्ञाताधर्मकथा - 1/16 - (अंगसुत्ताणि, लाडनू, खंड-3, पृ - 4)

¹¹⁰ प्रश्नव्याकरण - 1/5 - (अंगसुत्ताणि, लाडनू, खंड-3, पृ. - 680)

¹¹¹ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति - 3/77 - (उपंगसुत्ताणि, लाडनू, खंड-2, पृ. 426)

¹¹² आदिपुराण - 16/119 - (उद्धत् - प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, पृ. 9)

¹¹³ नन्दीसूत्र - सूत्र 38/गाथा 6 - (नवसुत्ताणि, लाडनू, पृ 259)

पूर्वोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त आगमिक व्याख्या साहित्य में भी धन सम्बन्धी विस्तृत उल्लेख प्राप्त होते हैं। किन्तु उन सबकी यहाँ चर्चा करना अप्रासंगिक ही होगा।

जैन परम्परा में दो प्रकार के धर्मों का विधान किया गया है — (1) श्रमण [मुनि] धर्म और (2) श्रावक [गृहस्थ] धर्म। यह स्पष्ट है कि अर्थ के अभाव में गृहस्थ जीवन का निर्वाह करना असम्भव है। अतः गृहस्थ के लिए न्याय-नीतिपूर्वक अर्थोपार्जन करना जैन परम्परा को भी स्वीकार रहा है। जैनाचार्य हरिभद्र¹¹⁴ और आचार्य हेमचन्द्रजी¹¹⁵ ने श्रावक के 'मार्गानुसारी गुणो' की चर्चा करते हुए न्याय नीतिपूर्वक धन के उपार्जन को श्रावक का एक कर्तव्य माना है। गृहस्थ जीवन में धन या वैभव की भी आवश्यकता होने के कारण श्रावक का एक विशेषण 'न्यायसम्पन्नविभव' भी रहा है कि — नीतिमान गृहस्थ को सर्वप्रथम स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात तथा चोरी आदि निन्दनीय उपायों का त्याग करके अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सदाचार और न्याय नीति से धन का उपार्जन करना चाहिए। क्योंकि न्याय से उपार्जित किया हुआ धन ही इस लोक में हितकारी होता है। जिसका धन न्यायोपार्जित होता है वह निःशंक होकर इपने लिए उसका उपयोग कर सकता है और मित्रों एवं स्वजनों को भी यथायोग्य दे सकता है। अपने पुरुषार्थ और बल से उपार्जित करने वाला धीर पुरुष स्वाभिमानी और प्रत्येक स्थिति में निःशंक होता है और बुरा कार्य करने वाला या अपनी आत्मा को कुकर्म से मलिन करने वाला पापी व्यक्ति प्रत्येक स्थिति में शंकाशील होता है। नीतिमान गृहस्थ परलोक के हित के लिए अपने न्यायोपार्जित धन का विनियोग सप्त-क्षेत्ररूपी सत्पात्र में कर सकता है तथा दीनों-अनाथों आदि पर अनुकम्पा करके उन्हें दान भी दे सकता है। किन्तु अन्याय से इकट्ठे किए हुए धन से तो दोनों लोकों में अहित ही होता है। अन्याय एवं अनीतियुक्त धनार्जन से कर्त्ता को इस लोक में वध, बंधन और अपकीर्ति आदि का भय रहता है और परलोक में भी नरकादि दुर्गति में भ्रमण करना

¹¹⁴ धर्मबिन्दु प्रकरण - 1/4-58

¹¹⁵ योगशास्त्र - 1/47-56

पड़ता है। इसलिए न्यायवृत्ति एवं परमार्थदृष्टि से धन—उपार्जन करना ही श्रेष्ठ उपाय है। जैसे —‘मेंढक जलाशयों की ओर एवं पक्षी पूर्ण सरोवर की तरफ स्वतः खिंचे हुए चले आते हैं, वैसे ही शुभकर्म वाले व्यक्ति के पास सभी संपत्तियाँ स्वतः ही चली आती हैं।’¹¹⁶ जो धन धर्मानुसार अर्जित और धर्मानुसार व्यय किया जाता है वही अर्थ मूल्यवान होता है।¹¹⁷ अतः धनोपार्जन का लक्ष्य मात्र अपना सुख, समृद्धि आदि की वृद्धि करना ही नहीं, अपितु श्रमण—ब्राह्मण, दीन, अनाथ, अपंग, गरीब लोगों की सेवा करना भी है।

उत्तराध्ययनसूत्र में बताया गया है कि धन का उपार्जन कैसे किया जाना चाहिए ? इसमें कहा गया है कि —‘जो मनुष्य अज्ञान के कारण पाप प्रवृत्तियों से धन का उपार्जन करते हैं, वे वासना और वैर (कर्म) से बंधे हुए, अन्त में मरने के बाद नरक में जाते हैं।’¹¹⁸ धनअर्जन का वहाँ तक विरोध नहीं है, जहाँ तक उसके साथ शोषण की दुष्प्रवृत्ति नहीं जुड़ती है। सम्पदा के अर्जन के साथ जब हिंसा, शोषण और संग्रह की बुराइयाँ जुड़ जाती हैं तभी वह अनैतिक बनता है, अन्यथा नहीं। भारतीय संस्कृति का आर्थिक आदर्श यह रहा है —‘शत हस्त समाहर—सहस्र हस्त विकीर्ण’ अर्थात् सौ हाथों से धन इकट्ठा करो और सहस्र हाथों से बांट दो। समाज—जीवन में शान्ति तभी सम्भव है, जब सम्पदा का उपभोग, संग्रह और वितरण नियन्त्रित हो।’¹¹⁹

व्यक्ति को अपनी जैविक आवश्यकताओं के लिए श्रम करना पड़ता है, उस श्रम से उपार्जित सम्पत्ति के भोग का भी अधिकार है, किन्तु उसको स्वामित्व का अधिकार नहीं। श्रम के द्वारा हमारी ऊर्जा शक्ति नष्ट होती है। उसकी पूर्ति के लिए आहार का भोग आवश्यक है। किन्तु यदि हम भावी आवश्यकता की पूर्ति के लिए संचय करते हैं तो दूसरे के अधिकारों का हनन है। भारतीय संस्कृति में

¹¹⁶ योगशास्त्र — 1/46, विवेचना — अनुवादकर्ता — मुनि पद्मविजयजी, पृ. 81

¹¹⁷ भारतीय जीवन—मूल्य, डॉ. सुरेन्द्र वर्मा, पृ. 26

¹¹⁸ उत्तराध्ययनसूत्र — 4/2

¹¹⁹ जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन—भाग-2, डॉ. सागरमल जैन, पृ.240

ईशावास्योपनिषद् में कहा है कि —“तुम त्याग बुद्धिपूर्वक भोग करो, इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं — धनार्जन में हमने हमारी शक्ति का जितना व्यय किया है, उसकी पूर्ति के लिए ही हमें भोग का अधिकार है। उससे अधिक नहीं। क्योंकि त्याग के बाद ही भोग सुखद लगता है।”¹²⁰ मल विसर्जन के बाद ही भोजन का आस्वाद का आनन्द आता है। दूसरे यह कि विश्व में जो साधन—सामग्री है, उस पर विश्व के समस्त प्राणियों का अधिकार है। अतः उस पर केवल अपना अधिकार मानकर उसका संचय करना या उपभोग करना सामाजिक, आध्यात्मिक और आर्थिक दृष्टि से अपराध ही है। इसीलिए जैनदर्शन में यह कहा गया है कि धन का अर्जन सांसारिक जीवन अनिवार्य भाव है, फिर भी उसकी एक मर्यादा भी होनी चाहिए। क्योंकि मर्यादा से अधिक संचय करना नैतिक एवं धार्मिक दृष्टि से अनुचित है।

धन के संचय से अभिप्राय जीवन के भौतिक साधनों से है। मनुष्य अधिकतम समय तक जीना चाहता है, स्वयं की सुरक्षा चाहता है, इसलिए साधनों को जुटाने में धनसंचय की प्रमुख भूमिका रहती है। धनार्जन स्वरक्षा की दृष्टि से व्यक्ति को आश्वस्त करता है। उसके द्वारा वह आवास, वस्त्र, अन्न, अस्त्र—शस्त्र आदि विभिन्न उपकरण जुटाकर अपने जीवन को मृत्युपर्यन्त निरापद एवं सुखी बनाना चाहता है। इसीलिए धनार्जन की प्रवृत्ति मानव में इतनी गहरी चली गई है कि इसके लिए वह उचित—अनुचित तरीकों का उपयोग करने में भी हिचकिचाता नहीं है।

धनार्जन और धनसंचय अपने आप में बुरे नहीं हैं। केवल धन के अर्जन और संचय के तौर—तरीके उचित और धर्म—संगत होना चाहिए। धन का संचय अधिक हो जाय तो उसका दान किया जाना चाहिए। अन्यथा वह हमें ही ले डूबता है। मनुष्य का अधिकार केवल उतने ही धन पर है जितने से उसकी भूख मिट जाए। अधिक संपत्ति का संग्रह दूसरे के हक पर डालने के समान है।

¹²⁰ ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विहृतम् ॥ — ईशावास्योपनिषद्, गाथा—1

भारतीय चिंतकों ने सदा से ही इस बात को माना है कि एक अच्छे उद्देश्य के लिए भी हम बुरे साधनों को जितना अपनाते हैं, तो उतना हमारा साध्य भी दूषित हो जाता है। अतः धन की उपलब्धि के लिए भी अनैतिक साधनों का उपयोग वर्जित किया गया है। “धन के उपार्जन के संदर्भ में नैतिक मूल्यों का अर्थ है कि —

(1) धनार्जन केवल व्यक्तिगत इच्छाओं की संतुष्टि के लिए ही न किया जाए, अपितु उसकी भागीदारी दूसरों के साथ भी हो। इसलिए ‘दान’ को महत्त्व दिया गया है।¹²¹

(2) केवल उतना ही धनोपार्जन किया जाए जो यथार्थ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक हो।¹²² क्योंकि महाभारत में तो स्पष्ट कहा गया है कि भौतिक दरिद्रता एक बुराई और पाप की अवस्था है।¹²³ मनुष्य के सभी अपने सद्गुण तभी चरितार्थ हो पाते हैं जब उसके पास धन होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि धर्म, सुख, साहस, ज्ञान और गौरव धन से ही निःसृत हैं।¹²⁴ तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपनी और अपने परिवार की मूल आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए धनोपार्जन आवश्यक है। यह धनोपार्जन उसे स्वयं अपने परिश्रम से और धर्मानुसार ही करना चाहिए। धन का संचय जीवित बना रहने में सहायक हो सकता है, लेकिन अच्छे जीवन के लिए धन को धर्मानुसार मर्यादित होना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि धन का अर्जन तो न्याय—नीतिपूर्वक करना चाहिए पर धन के संचय की परिसीमा या मर्यादा क्या होगी ? कितना धनसंचय रखना उचित माना जाएगा और कितन अनुचित ? धनसंचय की परिसीमा का निर्धारण कौन करेगा —व्यक्ति या समाज ? इन प्रश्नों को लेकर डॉ. कमलचन्द्र सोगानी ने अपने एक लेख में विचार किया है।¹²⁵ जैन आचार्यों ने इन प्रश्नों की मर्यादाओं को खुला छोड़ दिया था। उन्होंने यह मान लिया था कि व्यक्ति कितन

¹²¹ महाभारत , 12—121—22

¹²² भागवत, 7—14—6

¹²³ महाभारत, 12/8/14

¹²⁴ वही, 12/8/21

¹²⁵ देखें, तीर्थकर, मई—1977, पृ. 79

धन का संग्रह रखे और कितना त्याग दे यह उसकी आवश्यकता और उसके स्वविवेक पर निर्भर करेगा। क्योंकि प्रत्येक की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हैं। एक उद्योगपति की आवश्यकताएँ और एक प्रोफेसर की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। यही नहीं एक देश के नागरिक की आवश्यकताएँ दूसरे देश के नागरिक की आवश्यकताओं से भिन्न होंगीं। युग के आधार पर भी आवश्यकताएँ बदलती हैं। अतः धनसंचय की सीमा का निर्धारण देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति पर निर्भर होगा। आज अर्थशास्त्री भी इस बात को मानकर चलते हैं कि जो वस्तुएँ एक व्यक्ति के लिए आवश्यक हैं वे ही दूसरे के लिए विलासिता हो सकती हैं। एक कार डॉक्टर के लिए आवश्यक और विश्वविद्यालय के केम्पस में रहने वाले प्रोफेसर के लिए विलासिता की वस्तु होगी। अतः धनसंचय की मर्यादा का कोई सार्वभौम मापदण्ड संभव नहीं है।

भगवान् महावीर के समय के समाज की चर्चा करें तो उन्होंने जिस ब्रती समाज का निर्माण किया था, उसमें स्वामित्व और उपभोग दोनों का सीमाकरण था। स्वामित्व एवं मौलिक मनोवृत्ति है। मनोविज्ञान के संदर्भ में हम स्वामित्व की मीमांसा कर सकते हैं। मैकड्यूल आदि मानसशास्त्रियों ने मौलिक मनोवृत्तियों का एक वर्गीकरण किया। महावीर स्वामी ने मनोवृत्ति का स्वरूप बताते हुए कहा — मनुष्य की एक ही मनोवृत्ति है और वह है अधिकार की भावना, संग्रह की भावना। सब कुछ अधिकार की भावना से ही हो रहा है। दूसरी मनोवृत्तियाँ उसकी उपजीवी हैं। यह अधिकार की मनोवृत्ति मनुष्य में ही नहीं, छोटे से छोटे जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों में भी होती है। 'आचार्य मलयगिरि' ने इस ममत्व और अधिकार की भावना को समझाने के लिए अमरबेल का उदाहरण दिया।

“अमरबेल प्रारम्भ में किसी पेड़ का सहारा लेकर ऊपर चढ़ती है। फिर वह संपूर्ण पेड़ पर अपना आधिपत्य जमा लेती है, उस पर छा जाती है और धीरे-धीरे उसे खा जाती है। अधिकार की भावना मधुमक्खी में भी होती है, एक चींटी में भी

होती है और छोटे-बड़े सभी प्राणियों में होती है। छोटे से छोटा प्राणी भी अपने लिए संग्रह करता है। अधिकार की उसमें मौलिक मनोवृत्ति होती है।¹²⁶

इसलिए संग्रहवृत्ति का कोई सार्वभौम मापदण्ड सम्भव नहीं है। इसलिए इसे व्यक्ति के स्वविवेक पर खुला छोड़ दिया जाए। यदि व्यक्ति विवेकशील और संयमी है तब वह समाज के हित में निर्णय ले सकता है। और स्थिति यदि भिन्न है तो यह अधिकार समाज को दे देना चाहिए। व्यक्ति का मौलिक कर्तव्य भी यही कहता है कि धन का अर्जन नैतिक प्रकार से और धर्मनीति से युक्त हो और धन का संचय भी।

ममत्व वृत्ति का त्याग एवं समत्व वृत्ति का विकास —

यद्यपि परिग्रह-संज्ञा की उपस्थिति प्राणी मात्र में पाई जाती है, किन्तु परिग्रह-संज्ञा वस्तुतः आत्मा को पर से जोड़ने की प्रवृत्ति है। परिग्रह-संज्ञा के परिणाम स्वरूप व्यक्ति में ममत्व वृत्ति का विकास होता है। गीता में भी कहा गया कि —

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधऽभिजायते।।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। गीता -2/62-63

अर्थात् — परिग्रह संबंधी वस्तु का चिन्तन करने से उसके प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। उस आसक्ति के परिणाम स्वरूप वस्तुओं की कामना और इच्छा उत्पन्न होती है। कामनाओं की पूर्ति में व्यवधान आने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से विवेक शक्ति नष्ट हो जाती है, विवेक शक्ति नष्ट होने पर बुद्धिभ्रष्ट हो जाती है, और बुद्धि के भ्रष्ट होने से व्यक्ति का व्यक्तित्व ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार

¹²⁶ महावीर का अर्थशास्त्र, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 50

परिग्रह की बुद्धि, आसक्ति और ममत्व वृत्ति को जन्म देकर व्यक्तित्व को ही विद्रूपित करता है।

इससे यही फलित होता है कि जहाँ परिग्रह वृत्ति का विकास होता है, वहाँ पर-पदार्थों पर ममत्व का आरोपण होता है, और जहाँ पर-पदार्थों पर ममत्व का आरोपण होता है, वहाँ समत्व का भंग हो जाता है। समत्व से तात्पर्य आत्मा के स्वभाव से है। जैनदर्शन के अनुसार समत्व की उपलब्धि के लिए ममत्व का त्याग आवश्यक है। जब तक ममत्व को छोड़ा नहीं जाता, तब तक समत्व प्राप्त नहीं किया जा सकता। आचारांगसूत्र¹²⁷ में कहा गया है – “जो व्यक्ति ममत्व भाव का परित्याग करता है, वह स्वीकृत परिग्रह का त्याग कर सकता है। जिसके मन में ममत्व भाव नहीं है वही मोक्ष मार्ग का दृष्टा है। अतः जिसने परिग्रह के दुष्परिणाम को जानकर उसका त्याग कर दिया है, वह बुद्धिमान है।” जब तक ममत्व-बुद्धि का त्याग नहीं होता है तब तक समत्व का विकास नहीं हो सकता है। इसलिए सर्वप्रथम ममत्व का परित्याग आवश्यक है। ममत्व पर के प्रति अपनेपन या मेरेपन का भाव है। जो ममत्व से युक्त होता है वह पर में स्व का आरोपण करता है। और जो पर में स्वत्व या अपनेपन का आरोपण करता है, एक मिथ्या अवधारणा है। अतः आचारांग में कहा गया है कि जिस व्यक्ति में ममत्व बुद्धि नहीं है, वही मोक्ष मार्ग का ज्ञाता मुनि है। ममत्व के कारण व्यक्ति पर से जुड़ता है और स्व से विमुख होता है। अतः ममत्व-बुद्धि का परित्याग आवश्यक माना गया है।

ममत्व-बुद्धि के त्याग का मतलब यह नहीं है कि व्यक्ति उपयोग से वंचित हो, वह वस्तुओं का उपयोग कर सकता है। परन्तु उनके प्रति मेरेपन का भाव नहीं रख सकता है। ममत्व वृत्ति राग का ही एक रूप है, और जहाँ राग है, वहाँ चित्तवृत्ति विभावदशा को प्राप्त होती है। अतः विभाव से स्वभाव में आने के लिए ममत्व वृत्ति का त्याग आवश्यक है। 'सूत्रकृतांग के अनुसार- मनुष्य जब तक किसी

¹²⁷ जे ममाइयमइं जहाइ से चयइ ममाइयं,

से हु दिट्ठपहे मुणि जस्स नत्थि ममाइयं – आचारांगसूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध 2/6/99

भी प्रकार की आसक्ति/ममत्व रखता है, वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।¹²⁸ यदि हम अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो जैनदार्शनिकों की दृष्टि में ममत्ववृत्ति दुःख की पर्यायवाची है और यही परिग्रह का मूल है।¹²⁹

जैन आचार्यों ने जिस समत्व वृत्ति की चर्चा की है उसके मूल में ममत्ववृत्ति का त्याग ही प्रमुख है। यद्यपि ममत्ववृत्ति एक मानसिक तथ्य है, मन की ही एक वृत्ति है, तथापि उसका प्रकटन बाह्य है। अर्थात् उसका सीधा सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से है। वह सामाजिक जीवन को दूषित करती है। अतः ममत्व के प्रहाण के लिए व्यावहारिक रूप में परिग्रह का त्याग या उसकी मर्यादा आवश्यक है। “जो मनुष्य परिग्रह रूपी कीचड़ में फंसकर मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है, वह मूर्ख फूलों के बाणों से मानों मेरु पर्वत को खण्डित करना चाहता है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह में ममत्व बुद्धि रखने वाले व्यक्ति के द्वारा भी समत्व रूपी मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करना असम्भव है।¹³⁰ सुत्तनिपात में बुद्ध ने कहा है कि ममत्व रूपी आसक्ति ही बंधन है।¹³¹ जो भी दुःख होता है वह सब ममत्वबुद्धि (तृष्णा) के कारण ही होता है।¹³² आसक्त मनुष्य आसक्ति के कारण नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं।¹³³ ममत्व बुद्धि का क्षय ही दुःखों का क्षय है। जो व्यक्ति इस तृष्णा को वश में कर लेता है, उसके दुःख उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं, जैसे कमल पत्र पर रहा हुआ जल बिन्दु शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।¹³⁴ गीता में भी ममत्ववृत्ति के त्याग एवं समत्ववृत्ति के विकास को ही मुक्ति का मार्ग बताया गया है। — आसक्ति और लोभ नरक का कारण हैं।

¹²⁸ सूत्रकृतांग, 1/1/2

¹²⁹ दशवैकालिकसूत्र — 6/21

¹³⁰ यः संगपंकानिर्मग्नो ऽप्यपवर्गाय चेष्टते
स मूढः पुष्पनाराचैविभिन्धात्त्रिदशाचतम् ॥ — ज्ञानार्णव, परिग्रह दोष विचार, 838

¹³¹ सुत्तनिपात, 68/5

¹³² वही — 38/17

¹³³ शेरगाथा — 16/734

¹³⁴ धम्मपद, 336

कामभोगों में आसक्त मनुष्य ही नरक और अशुभ योनियों में जन्म लेता है।¹³⁵ सम्पूर्ण जगत् इसी आसक्ति एवं ममत्व वृत्ति के पाश में बंधा हुआ है और इच्छा और द्वेष में सम्मोहित होकर परिभ्रमण करता रहता है। गीताकार ने ममत्व वृत्ति के विसर्जन का एक उपाय बताया है वह यह है कि — सभी कुछ भगवान के चरणों में समर्पित कर कर्तृत्व भाव से मुक्त होकर जीवन जीना चाहिए। उसी प्रकार ममत्व के विसर्जन के लिए हृदय में संतोषवृत्ति का उदय होना चाहिए। जबकि व्यावहारिक रूप से ममत्व वृत्ति के त्याग के लिए जैनआचारदर्शन में परिग्रह की सीमा का निर्धारण करना आवश्यक माना गया है। जब ऐसी भावना और वृत्ति उत्पन्न होगी तभी समत्त्व वृत्ति का विकास संभव हो पाएगा।

ममत्व वृत्ति का त्याग क्यों ?

वस्तुतः यह सत्य है कि दुःखों का मूल कारण ममत्ववृत्ति या परिग्रह ही है। जब कोई व्यक्ति अपनी बीमारी को बीमारी के रूप में समझता है, तब उसे दूर करने के उपाय भी करता है और ऐसे व्यक्ति के निरोग हो जाने की सम्भावनाएं रहती हैं। परन्तु यदि कोई रोगी अपनी बीमारी को ही अपनी स्वस्थता समझने लगे तो फिर वह स्वास्थ्य प्राप्ति के उपाय क्यों करेगा ? तब उसे धन्वंतरि भी निरोग नहीं कर सकेंगे। परिग्रह के सम्बन्ध में हमारी धारणा भी ऐसी ही बन गई है। बड़प्पन या मान कषाय की रक्षा के लिए हमने परिग्रह की परिभाषा ही बदल ली है। उसे पापों की सूची से निकालकर हम उसे पुण्य का फल मानने लगे हैं।

“जो व्यक्ति ममत्व को छोड़कर निःस्पृह हो जाता है। वह चाहे जन से शून्य वन आदि में एकान्त स्थान में अवस्थित हो और चाहे जनसमुदाय से व्याप्त नगरादि

¹³⁵ गीता — 16/16

में हो, चाहे वह सुखद अवस्था में हो या दुःखद अवस्था में हो, वह किसी प्रकार के बन्ध से रहित होता है। वह सर्वत्र समत्वसुख का ही अनुभव करता है।¹³⁶

यह सब इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि परिग्रह हम सबको प्रिय लगता है। उसके प्रति हमारा ममत्व भाव जुड़ा है। आज उसे ही हमने अपने जीवन का आधार और अपनी महानताओं का मापदण्ड मान लिया है। जिसने जितना अधिक जोड़ रखा होगा उसे उतना ही ऊँचे आसन पर हम बिठाते हैं और उसे उतना ही सम्मान दिया जाता है। जो भी संग्रह किया जाता है उसके मूल में ममत्ववृत्ति ही कार्य करती है, ममत्व वृत्ति को पूर्ण करने के लिए बहुत से लोग पा के मार्ग अपनाने और अनैतिकता के कार्य को करने में भी हिचकिचाते नहीं हैं। अर्थात् जुआ, व्याभिचार, लूट-खसोट, डकैती, चोरी, राष्ट्रद्रोह, स्मगलिंग आदि पाप कार्यों को करते हैं और संग्रह करते जाते हैं। मात्र में और मेरेपन के भाव से जो संग्रह किया जाता है, वह संग्रह अधिक भी हो जाने पर उसे पुण्य का फल नहीं कह सकते।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ममत्व वृत्ति का त्याग जब तक नहीं होगा, तब तक समत्ववृत्ति का विकास नहीं हो सकता। जिस प्रकार थोड़ी सी आहट और खतरे की आवाज से कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार समत्ववृत्ति के विकास वाला व्यक्ति भी संसार के फैलाव को स्व में निहित कर लेता है और ममत्ववृत्ति का त्याग करता है। समयसार में भी कहा है कि --“परद्रव्य (परिग्रह) और आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी अज्ञान के कारण जो परद्रव्य में ममत्ववृत्ति रखता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि निश्चय से अणुमात्र भी मेरा नहीं है।¹³⁷

निष्कर्षतः वास्तविक सुख तो ममत्ववृत्ति के त्याग में ही है। क्योंकि इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषयों में व्याकुलता का परिहार करके निस्पृहता या निर्ममत्व को धारण

¹³⁶ विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थिते ऽपि वा ।

सर्वत्राप्रतिबद्धः स्यात्संयमी संगवर्जितः ॥ - ज्ञानार्णव, गाथा 854

¹³⁷ व्यवहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणति अविदिदत्था ।

जाणति णिच्छएण दु ण य मह परमाणुमित्तमवि किचि ॥ - समयसार, गाथा 324

करने वाला व्यक्ति ही वास्तव में समत्ववृत्ति का विकास कर सकता है और अपने साधना के शिखर पर पहुंच सकता है।

शोध प्रबंध के पंचम अध्याय में परिग्रह—संज्ञा की विस्तृत विवेचना में सर्वप्रथम इस बात को स्पष्ट किया गया है कि लोभ मोहनीय कर्म के उदय से सचित्ताचित्त और मिश्र द्रव्यों के संचयन करने की वृत्ति ही परिग्रह—संज्ञा है। या वस्तु के प्रति ममत्वबुद्धि, आसक्ति, मूर्च्छा आदि को भी परिग्रह—संज्ञा कहते हैं। साथ ही परिग्रह—संज्ञा की उत्पत्ति के प्रमुख चार कारण जो स्थानांगसूत्र में वर्णित हैं उनकी व्याख्या और विस्तृत विवेचना के साथ वर्तमान समय में उपभोक्ता संस्कृति के तीव्र विकास और मन को ललचाने एवं लुभानेवाले विज्ञापनों के माध्यम से जनता वस्तुओं के प्रति सम्मोहित हो रही है और अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करती चली जा रही है, और परिग्रह को बढ़ाती जा रही है। उपभोक्ता संस्कृति के कारण आर्थिक विषमता समाज में विकराल रूप से व्याप्त हो गई है। इस कारण गरीब और गरीब तथा अमीर और अमीर होता जा रहा है। साथ ही परिग्रह का स्वरूप, लक्षण और बाह्य—आभ्यंतर परिग्रह के प्रकारों का वर्णन किया गया है।

इसके पश्चात् अन्तरंग और बाह्य परिग्रह के बारे में बताते हुए कहा गया है कि अन्तरंग परिग्रह 14 प्रकार के हैं और बाह्य परिग्रह अनगिनत प्रकार के हैं। तत्पश्चात् संचयवृत्ति के दुष्परिणामों की व्याख्या में यह चर्चा प्रमुख रूप से ध्यान देने योग्य है कि संचयवृत्ति के कारण जीव नरकादि दुर्गतियों में चला जाता है। क्योंकि महारम्भ, महापरिग्रह, मांसाहार और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा या वध, इनमें से एक के होने पर जीव नरकायु उपाजित करता है और महापरिग्रह के पाश में फंसकर अपना पतन कर लेता है। जैसे मम्मण वणिक ने किया था। इसलिए स्व के उत्थान के लिए जैनदर्शन में परिग्रहवृत्ति के नियंत्रण के उपाय में परिग्रह—परिमाण व्रत की विवेचना के साथ परिग्रह की पांच भावनाओं का भी वर्णन किया गया है। इसमें यह बताने का प्रयास किया गया है कि श्रावक जीवन के लिए अर्थ उपयोगी है पर वह अर्थ कहीं अनर्थ रूप न हो जाय, इसलिए परिग्रह परिमाण—व्रत के अंकुश से श्रावक

परिग्रह को नियंत्रित रखते हुए साधना में आगे बढ़ सकता है। इसके साथ-साथ परिग्रहवृत्ति की विजय के संबंध में गांधी जी के 'ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त' की भी व्याख्या की गई है। अन्त में धनार्जन की वृत्ति एवं धनसंचय की वृत्ति में अंतर, ममत्ववृत्ति के त्याग तथा समत्व वृत्ति के विकास की विस्तृत व्याख्या की गई है।

परिग्रह-संज्ञा के विस्तृत विवेचन में एक चिन्तन यह भी किया गया है कि परिग्रह को यदि सीमित करना है तो सर्वप्रथम हमारी आवश्यकताओं, इच्छाओं और आकांक्षाओं को सीमित करना होगा। इसके लिए संतोषवृत्ति का विकास करना होगा। क्योंकि परिग्रह तभी बढ़ता है जब कोई वस्तु हमें अच्छी लगती है और हम उस पर अपना ममत्व आरोपित कर उसे अपने अधिकार में ले लेते हैं, चाहे वह आवश्यक हो या अनावश्यक। अर्थात् अच्छा लगना ही परिग्रह को बढ़ाता है। अतः इस परिग्रह से बचने के लिए हम यह प्रयास अवश्य कर सकते हैं कि जब भी अच्छी लगने वाली कोई वस्तु हम ग्रहण कर रहे हैं, उस समय यह सोचें कि क्या इस वस्तु के बिना भी काम चल सकता है ? अगर चल सकता है तो उसे कभी भी न खरीदें, क्योंकि यही अपरिग्रह का मूल है। संतोष अपरिग्रह का बीज है, और सुखी जीवन इसका फल।

-----000-----

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 6 क्रोध संज्ञा

1. क्रोध का स्वरूप एवं लक्षण
2. क्रोध के विभिन्न रूप
3. क्रोध के दुष्परिणाम
4. क्रोध पर विजय के उपाय
5. आधुनिक मनोविज्ञान में क्रोध-संवेग और आक्रामकता की मूलवृत्ति

अध्याय—6

क्रोध—संज्ञा {Instinct of Anger}

यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान में जिन्हें प्राणी की मूलप्रवृत्ति कहा जाता है, जैनदर्शन में उन्हें संज्ञा कहा गया है।¹ ए प्रवृत्तियाँ या संज्ञाएँ प्राणी में जन्मजात होती हैं। दूसरे, ए प्राणी के व्यवहार की प्रेरक या संचालक भी होती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से यदि हम विचार करें, तो संज्ञा को व्यवहार के प्रेरक—तत्त्व के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। स्थानांगसूत्र², प्रज्ञापनासूत्र³, और प्रवचनसारोद्धार⁴ में संज्ञा का जो दशविध वर्गीकरण उपलब्ध है, उसमें आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह—संज्ञाओं के साथ—साथ क्रोध, मान, माया, लोभ, लोक एवं ओघ संज्ञाओं को भी सम्मिलित किया है, क्योंकि ए सब प्राणी—व्यवहार की प्रेरक हैं और व्यवहार के रूप में ए अभिव्यक्त भी होती हैं। जैनदर्शन में चारों कषायों को भी जागतिक—व्यवहार की प्रेरक के रूप में माना गया है। प्रस्तुत प्रसंग में हम क्रोध—संज्ञा के स्वरूप एवं उसके लक्षणादि की विवेचना करेंगे।

क्रोध एक आवेगात्मक—अवस्था है, एक ऐसा मानसिक—मनोविकार है, जो व्यक्ति के शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक—संतुलन को विकृत करता है, साथ ही क्रोध एक कषाय, संवेग {Emotion} और प्रतिशोधात्मक—भाव है, जो व्यक्ति को अपनी वास्तविक स्थिति से विचलित कर देता है। क्रोध के आवेग में व्यक्ति विचारशून्य हो जाता है। वह अपने हिताहित का विवेक खोकर कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। विवेकशून्य आवेशात्मक—भाव को क्रोध—संज्ञा कहते हैं।⁵

¹ प्रवचनसारोद्धार, द्वार 144—147, साध्वी हेमप्रभाश्री, पृष्ठ 78—81

² स्थानांगसूत्र — 10/105

³ प्रज्ञापनासूत्र, पद—8

⁴ आहार भय परिग्रह मेहुण तह कोह माण माया य लोभो ह लोग सन्ना दस भेया सव्वजीवाणं ।। — प्रवचनसारोद्धार, द्वार 146

⁵ उत्तराध्ययनसूत्र, दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका महत्त्व — साध्वी डॉ विनितप्रज्ञा, पृ. 491

क्रोध मोहनीय-कर्म के उदय से होता है। इसमें प्राणी के मुख और शरीर में विकृति होना, नेत्र और मुख पर लालिमा और कठोरता आना, दांत किटकिटाना, होंठ फड़फड़ाना, आँखे लाल हो जाना, व्यवहार का आक्रामक हो जाना क्रोध-संज्ञा है।⁶ मन तथा इन्द्रियों के प्रतिकूल किसी भी परिस्थिति के निर्माण में जिस पदार्थ या व्यक्ति का हाथ होता है, उसके प्रति आक्रामक या आवेशात्मक हो जाना क्रोध-संज्ञा है।

क्रोध का स्वरूप एवं लक्षण -

योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने क्रोध का स्वरूप वर्णित किया है। वे लिखते हैं - क्रोध शरीर और मन को संताप देता है, क्रोध वैर का कारण है, क्रोध दुर्गति की पगडण्डी है, क्रोध मोक्ष-सुख में अर्गला के समान है।⁷

राजवार्तिक में कहा गया है - अपने और पर के उपघात आदि करने के क्रूर परिणाम क्रोध हैं।⁸

कुन्दकुन्दाचार्यविरचित समयसार में कहा गया है कि "शान्तात्मा से पृथग्भूत यह जो क्षमारहित भाव है, वह क्रोध है।"⁹ क्रोध की भयंकरता को उपमाओं के माध्यम से धर्माभूत (अनगार)¹⁰ में इस प्रकार बताया गया है - क्रोध कोई एक अपूर्व अग्नि है, क्योंकि अग्नि तो मात्र देह को जलाती है, पर क्रोध शरीर और मन -दोनों को जलाता है। क्रोध एक अपूर्व अंधकार है; क्योंकि अन्धकार मात्र बाह्य-पदार्थों को देखने में बाधक है, किन्तु क्रोध तो बाह्य और आंतरिक -दोनों चक्षुओं को बन्द कर

⁶ क) प्रवचनसारोद्धार -द्वार 146, सा. हेमप्रभाश्री, पृ. 80

ख) सण्णा : मूलवृत्तियों की जैन अवधारणा - एक लेख, डॉ. ऋषभचन्द्र जैन, शोधादर्श, जुलाई 2004, पृ. 53

⁷ योगशास्त्र - प्रकाश 4/गाथा 9

⁸ स्वपरोपघातनिरनुग्रहाहिकौर्य परिणामोऽमर्षः क्रोधः। - राजवार्तिक, 8/9

⁹ शान्तात्मतत्त्वात्पृथग्भूत एष अक्षमारूपो भावः क्रोधः - समयसार/ता.वृ./199/274/12

¹⁰ धर्माभूत अनगार / अ.6/श्लोक 4

देता है। क्रोध कोई एक भयंकर ग्रह या भूत है; क्योंकि भूत तो एक जन्म में अनिष्ट करता है, लेकिन क्रोध जन्म-जन्मांतर में अनिष्ट करता है।

क्रोध को हम बारुद के समान विस्फोटक और रासायनिक गैस की तरह अत्यन्त ज्वलनशील पदार्थ मान सकते हैं। जिस तरह लकड़ी में लगने वाली आग दूसरों को तो जलाती ही है, पर स्वयं लकड़ी को भी जलाती है, इसी तरह क्रोधी व्यक्ति दूसरों का तो अहित करता ही है, खुद अपना भी अहित कर लेता है। यदि व्यवहार से कहें, तो दूसरों की गलती की सजा स्वयं भुगतना ही क्रोध है। यदि किसी पर अंगार फेंका जाए, तो दूसरे के जलने के साथ-साथ फेंकने वाले का हाथ भी जलता है। इसी प्रकार क्रोध-संज्ञा के स्वरूप को भी समझना चाहिए। उस पर विजय प्राप्त करने वाला क्षमा-धर्म है।

उपासकाध्ययन में क्रोध को सब प्रकार की अग्नियों में प्रधान अग्नि कहा है, जिसको बुझाने के लिए यदि शीतल जल का प्रयोग किया जाए तब भी वह शान्त न होकर प्रज्वलित ही रहती है। प्रज्वलित क्रोधाग्नि आत्मा के सामान्य, असामान्य गुणों का नाश कर देती है और नाना प्रकार से आकुलताओं को जन्म देकर प्राणियों के जीवन और जीविका को नष्ट कर देती है। क्रोधरूपी अग्नि देहधारियों को नरक में पहुँचा देती है। अनेक प्रकार से दुःखों को उत्पन्न करने में क्रोध सहायक है। क्रोधी मानव पर का घात तो करता ही है, परन्तु साथ ही अपना घात स्वयं ही कर लेता है।¹¹ क्रोध आत्मा की वैभाविक-अवस्था है, अतः वह पर के साथ स्व का भी घात करता है, आत्मिक शांति भंग करता है।

क्रोध का मनोविकार यत्र-तत्र-सर्वत्र दिखाई देता है। जैन एवं जैनेतर ग्रंथों में क्रोध-कषाय से सम्बन्धित विवेचन प्राप्त होता है।

¹¹ कोपाग्निज्वलतिलोके महादुःखस्यकारणं ।
स्वपर सौख्यमाहन्ति दुःखराति च जीवानाम् ॥

महारिपुश्चकोपाग्नि जीवान्धरतिनार के ।
राति बहुविधं दुःख नारकगतिरावासे ॥ - उपासकाध्ययन - 1/269-270

गीता में श्रीकृष्ण ने काम, क्रोध तथा लोभ को आत्मा के मूल स्वभाव का नाश करने वाला नरक का द्वार बताया है।¹² क्रोधवृत्ति से होने वाली हानि की चर्चा करते हुए कहा गया है —“क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से विवेक-शक्ति और आत्म-सजगता नष्ट हो जाती है, आत्मसजगता (स्मृति) के अभाव में विवेक नष्ट हो जाता है, और विवेक-शक्ति के नाश से सर्वनाश हो जाता है।”¹³

क्रोध से संबंधित विवेचना और स्वरूप को बौद्धदर्शन में विस्तार से बताया गया है। इतिवृत्तक में महात्मा बुद्ध ने भिक्षुओं को उपदेश देते हुए कहा है —“जिस क्रोध से क्रोधी दुर्गति को प्राप्त होता है, योगी उस क्रोध को छोड़ देते हैं, अतः वे फिर कभी इस संसार में नहीं आते, इसलिए क्रोध को जड़ से उखाड़ कर फेंक देना चाहिए।”¹⁴ अंगुत्तरनिकाय में क्रोधी मनुष्य की उपमा सर्प से दी गई है।¹⁵ संयुत्तनिकाय¹⁶ में दो-तीन ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं, जिनमें तथागत को क्रोध करने का निमित्त प्राप्त हुआ, किन्तु उन्होंने क्रोध नहीं किया। भारद्वाज-गोत्रीय व्यक्ति क्रुद्ध होकर तथागत के पास आया और प्रश्न किया —

“किसका नाश कर व्यक्ति सुख से सोता है ?”

“किसका नाश कर शोक नहीं करता है ?”

“किस एक धर्म का वध करना — हे गौतम! आपको रुचता है ?”

तथागत बुद्ध ने प्रत्युत्तर दिया —

“क्रोध का नाशकर सुख से सोना, क्रोध का नाशकर शोकमुक्त होना, दुःख के मूल क्रोध का वध करना, हे ब्राह्मण ! मुझे बड़ा अच्छा लगता है।”

इसी प्रकार, एक क्रुद्ध व्यक्ति बुद्ध को कोसता हुआ गालियाँ देते जा रहा था। गालियाँ देने पर भी वे शान्त बने रहे और उस व्यक्ति को कहा — “भद्र! तुम किसी

¹² गीता, अध्याय 16/श्लोक 21

¹³ गीता, अध्याय 2, श्लोक 21

¹⁴ इतिवृत्तक, पहला निपात, पहला वर्ग, पृ.2

¹⁵ अंगुत्तरनिकाय, द्वितीय भाग, पृ. 108-109

¹⁶ संयुत्तनिकाय, पहला भाग, अनु. भिक्षु जगदीश काश्यप, भिक्षु धर्मरक्षित, संयुत 7, पृ. 129

के पास कोई वस्तु ले जाओ, यदि वह व्यक्ति उस वस्तु को स्वीकार न करे, तो वह वस्तु किसकी रहेगी?" उस क्रुद्ध व्यक्ति ने झुंझलाकर कहा; —"वह तो मरे पास ही रहेगी।" महात्मा बुद्ध ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया —"भद्र ! तुम्हारे द्वारा दी जाने वाली गालियाँ मैं स्वीकार नहीं करता हूँ, अतः वे तुम्हारे पास ही रहेंगी।" कहते हैं — शाप (आक्रोश—गाली) देने वाले के पास ही वापस लौट जाता है। बुद्ध ही नहीं, समस्त महापुरुषों ने क्षमा, समता, सहिष्णुता को अक्रोध की स्थिति कहा है। भगवान् महावीर ने साधना—काल में संगम के द्वारा दिए गए उपसर्गों, गोपालक द्वारा कानों में कीले डालने जैसे भयंकर कष्टों और अन्य अनेक कठोर परीषहों को भी समता एवं शान्त—भाव से सहन किया। कभी भी उन्होंने अपने शान्त स्वभाव को नहीं छोड़ा, सदैव करुणा और क्षमा भावों में रमण किया।

भारतीय मनोविज्ञान में क्रोध को संवेग {Emption} कहा गया है। संवेग शब्द का अर्थ है — उत्तेजित करना {To Excite} होता है। इस शाब्दिक—अर्थ को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि संवेग व्यक्ति की उत्तेजित—अवस्था का ही दूसरा नाम है। इसी अर्थ में मनोवैज्ञानिक गेल्डार्ड¹⁷ {Geldard, 1963} ने कहा है —"संवेग क्रियाओं का उत्तेजक है।" या "संवेग एक जटिल भाव की अवस्था होती है जिसमें कुछ खास—खास शारीरिक एवं ग्रन्थीय—क्रियाएं होती हैं।"¹⁸ क्रोध {Angry}, भय {Fear}, खुशी {Happiness} हमारे जीवन के प्रमुख संवेगों में से हैं।¹⁹

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में संवेद उत्पन्न होने की स्थिति में अनेक शारीरिक—परिवर्तन घटित होते हैं। भय, क्रोधावस्था में थाइराइड ग्लैंड {गवग्रन्थि} समुचित कार्य नहीं करती, जिससे स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।²⁰ स्वचालित तन्त्रिका—तन्त्र का अनुकम्पी—तन्त्र क्रोधावेश में हृदयगति, रक्त प्रवाह तथा नाड़ी की

¹⁷ "Emotions are inciters to action" – Geldard : Fundamentals of psychology, 1963, P.33

¹⁸ "Emotion is a complete feeling state accompanied by characteristic motor or glandular activities" — English & English : A comprehensive dictionary Psychological and psychoanalytic terms, 1958, P. 176

¹⁹ आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, अरुणकुमार सिंह, आशीषकुमार सिंह, पृ. 413

²⁰ शारीरिक—मनोविज्ञान, ओझा एवं भार्गव, पृ. 214

गति बढ़ा देता है। पाचक-क्रिया में विघ्न आता है, रुधिर का दबाव बढ़ता है तथा एड्रीनल ग्लैण्ड (अधिवृक्क ग्रंथि) को उत्तेजित करता है।²¹ क्रोध के प्रदीप्त होने पर शक्ति का हास होता है, ऊर्जा नष्ट होती है, बल क्षीण होता है। मनोविज्ञान की मान्यता है—तीन मिनट किया गया तीव्र क्रोध नौ घंटे कठिन परिश्रम करने जितनी शक्ति को समाप्त कर देता है। जैसे दिन भर चलने वाली हवा से घर में उतनी मिट्टी नहीं आती, जितनी धूल पांच मिनट की आँधी में आ जाती है, वैसे ही पूरे दिन भर की भावदशा में इतने कर्म-परमाणु आत्मा में नहीं आते, जितने पांच मिनट के क्रोध में आ जाते हैं।

“जो क्रोधी स्वभाव के होते हैं, उनका विवेक और धैर्य तो नष्ट होता ही है, स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है।”²² क्रोध से हमारे स्नायुओं [Nerves] पर बार-बार तनाव आता है, इससे हमारा स्नायविक-संस्थान [Nervous System] दुर्बल होता जाता है। कमजोरी क्रोध के प्रभाव से उत्पन्न होती है। अधिक समय तक भूखा रहने पर भी व्यक्ति चिड़चिड़ा और क्रोधी हो जाता है।

क्रोध का एक स्वरूप : प्रतिशोध —

कषाय और संवेग के रूप में हमने क्रोध की विस्तृत व्याख्या की, क्रोध का एक स्वरूप प्रतिशोध भी है। प्रतिशोध की उत्पत्ति क्रोध से होती है, किन्तु प्रतिशोध की भीषणता क्रोध से अधिक होती है। क्रोधी में वेग होता है, किन्तु क्षणिक होता है। प्रतिशोधी में धारण-शक्ति होती है और वह शक्ति सापेक्षिक रूप से स्थायी होती है। “यदि कोई व्यक्ति हमारा अहित करे, तो उसके हित को चोट पहुंचाने की तीव्र इच्छा हमारे मन में उठती है। अहित की इसी प्रेरक-भावना का नाम प्रतिशोध है।”²³ क्रोधावेश में प्राणी अहित करने के लिए आतुर होता है, किन्तु आवेश उतरते ही

²¹ सामान्य मनोविज्ञान की रूपरेखा — डॉ. रामनाथ शर्मा, पृ. 420-421

²² स्वास्थ्य रक्षक, रसवैद्य डॉ. प्रेमदत्त पाण्डेय, पृ. 32

²³ प्रकाशित मन पत्रिका, लेख-दयानन्द योगशास्त्री, अक्टूबर 1984, पृ. 69

आतुरता का स्थान पश्चात्ताप ले लेता है, किन्तु प्रतिशोध में प्रकटतः आवेश नहीं होता, अप्रकट रूप से जो प्रतिशोधात्मक-भाव होता है, वह स्थाई होता है। यह भाव व्यक्ति को तब तक क्रियाशील रखता है, जब तक वह निर्दिष्ट अहितकर कार्य सम्पन्न नहीं कर लेता। प्रतिशोध की भावना अन्य जीवों की अपेक्षा मानव में अधिक होती है, क्योंकि अन्य प्राणियों में मानव जैसी धारणा-शक्ति नहीं होती। अन्य प्राणी क्रुद्ध हो सकते हैं, क्रोधावेश में अपकार भी उनसे हो सकता है, किन्तु तत्काल अपकार के बदले में किया गया अपकार 'प्रतिशोध' नहीं कहलाता। 'प्रतिशोध' वह क्रोध है, जिसका हिसाब-किताब देर तक चलता रहे। प्रतिशोध रूपी क्रोध की भावना मानव-जाति के हर वर्ग में और हर युग में रही हुई है। राजनीतिक-क्षेत्र हो या सामाजिक, व्यावसायिक हो या धार्मिक, अपराध का हो या प्रेम का, हर जगह यह भावना विद्यमान है। हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।"²⁴ लेख में कहा है जिससे हमें दुःख पहुँचा है, उस पर यदि हमने क्रोध किया और यह क्रोध यदि हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है।

आग से आग कभी नहीं बुझती, आग को पानी से शान्त किया जाता है, उसी प्रकार प्रतिशोध-रूपी क्रोध-अग्नि को क्षमारूपी जल से शान्त कर सकते हैं।

जिस प्रकार गुरु का शिष्य के प्रति क्रोध और माता का बच्चों के प्रति क्रोध करना सकारात्मक पहलू हैं, क्योंकि क्रोध के द्वारा वे बच्चों के भविष्य को सुधारने का प्रयास कर रहे हैं, उसी प्रकार प्रतिशोध भी सकारात्मक रूप से निर्माणकारी स्वरूप में जब परिवर्तित होता है, तो वह व्यक्ति और समाज को विकास के क्षेत्र में आगे ले जाता है। ईर्ष्यालु और प्रतिशोध-भाव वाला व्यक्ति खींची गई लकीर को छोटा करने के लिए उसका कुछ भाग मिटाने के अतिरिक्त कुछ नहीं सोचता, जबकि यही प्रतिशोध यदि सकारात्मक हो जाए, तो छोटी लकीर के साथ ही एक उससे लम्बी लकीर खींचकर पहले वाली लकीर को छोटा साबित कर देता है।

²⁴ चिन्तामणि, "क्रोध", आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 138

प्रतिशोध—रूपी क्रोध का यह निर्माणकारी स्वरूप ही मानव—जाति का आदि—अवस्था से विकसित अवस्था तक पहुंचना —इस बात का प्रमाण है।

क्रोध के प्रकार²⁵ —

क्रोध के आवेग की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर क्रोध के चार भेद किए गए हैं, वे इस प्रकार हैं :—

1. अनन्तानुबन्धी—क्रोध (तीव्रतम क्रोध) —

अनन्तकाल से अनुबन्धित²⁶, अनन्त भवों तक संस्कार—रूप में संयुक्त,²⁷ अनन्त पदार्थों में धारणाजनित, अनन्त संसार का कारणरूप,²⁸ सम्यग्दर्शन का विघातक²⁹, अनन्तानुबन्धी (कषाय) क्रोध है। पत्थर में पड़ी दरार के समान क्रोध जो किसी के प्रति एक बार उत्पन्न होने पर जीवन पर्यन्त बना रहता है। अज्ञानावस्था में शरीर में अहंबुद्धि तथा पदार्थों में ममत्वबुद्धि होती है, शरीर, स्वजन, सम्पत्ति आदि में आसक्ति प्रगाढ़ होती है। प्रिय संयोगों की प्राप्ति में बाधक तत्त्व अप्रिय लगता है, स्वार्थ में ठेस लगने पर क्रोध पैदा होता है, यह अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

‘भावदीपिका’³⁰ में व्यावहारिक—स्तर पर इस क्रोध का स्वरूप बताया गया है। कहा गया है — क्रूर, हिंसक, निम्नतम, लोकाचार का उल्लंघन करने वाला, सत्यासत्य के विवेक से शून्य, देव—गुरु—धर्म पर अश्रद्धा रखने वाला व्यक्ति ‘अनन्तानुबन्धी क्रोध’ से युक्त होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध का काल

²⁵ क) जल—रेणु—पुढवि—पव्वय—राई—सरिसो चउव्विहो कोहो। — प्रथम कर्मबंध गाथा—19

ख) एवामेव चउव्विहे कोहे पण्णते तं जहा— पव्वयराइसमाणे, पुढविराइसमाणे, वालुयराइसमाणे, उदगराइसमाणे —स्थानांगसूत्र 4/3/311

²⁶ अनन्तान् भवाननुबद्धं —धवला/पु.6/अ.1/सू.23

²⁷ अणंतेसु भवेसु अणुबंध —वही

²⁸ अ) अणंतानुबंधो संसारा — वही

ब) अनन्तसंसार कारणत्वा —सर्वार्थसिद्धि/अ.8/सू.9

²⁹ पढमो दंसणघाई — गोम्मटसार जीवकाण्ड/गा. 283

³⁰ भावदीपिका/ पृ. 51

श्वेताम्बर-ग्रन्थों³¹ में जीवन पर्यंत एवं दिगम्बर ग्रन्थों³² में संख्यात्भव, असंख्यात्भव, अनन्तभव-पर्यन्त बताया गया है।

भगवान् महावीर को कष्ट देने से संगमदेव ने अनन्तानुबन्धी-क्रोध (कषाय) का बंध किया।

2. अप्रत्याख्यानी-क्रोध (तीव्रतर क्रोध) -

अप्रत्याख्यानी-क्रोध का जब उदय होता है तो क्रोधवश वह व्रत-ग्रहण में बाधक बनता है। आंशिक रूप में त्याग-विरतिपालन संभव नहीं हो पाता है।³³ सूखते हुए जलाशय की भूमि में पड़ी दरार जैसे आगामी वर्षा होते ही मिट जाती है, वैसे ही अप्रत्याख्यानी-क्रोध एक वर्ष से अधिक स्थाई नहीं रहता है, किसी के समझाने से शांत हो जाता है। सम्यग्दृष्टि को देव-गुरु-धर्म का राग होता है। अतः देवगुरुधर्म का अपमान करने वाले के प्रति आवेश आता है। वस्तुपाल महामन्त्री ने राजा के मामा द्वारा एक बाल मुनि को थप्पड़ मारने पर उसका हाथ कटवा दिया था। सरस्वती साध्वी का गर्दभिल्ल राजा द्वारा अपहरण होने पर कालिकाचार्य द्वारा वीर सैनिक का वेश धारण किया गया था। गर्दभिल्ल राजा की हत्या कर सरस्वती को कैद-मुक्त कर कालिकाचार्य ने प्रायश्चित्त लिया था। अप्रत्याख्यानी-क्रोधादि कषाय का उदयरूप अधिकतम काल श्वेताम्बर-ग्रन्थों के अनुसार³⁴ एक वर्ष एवं दिगम्बर-ग्रन्थों के अनुसार³⁵ छः मास वर्णित है। इससे अधिक काल यदि वह क्रोधादि कषाय का संस्कार बना रहा, तो अनन्तानुबन्धी कहलाता है। इस काल-मर्यादा को ध्यान में रखते हुए ही जैन-परम्परा में 'सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण' की व्यवस्था है।

³¹ जावज्जीवाणुगामिणो -- विशेषावश्यक भाष्य / गा. 2992

³² अ) जो सब्बेसिं संखेज्जासंखेज्जाणंतेहि -- कषायचूर्णि / अ 8 / गा 32 / सू 23
ब) गोम्मट क. / गा 46-47

³³ युदुदयादेशविरतिं कर्तुं न शक्नोति। - सर्वार्थसिद्धि / अ 8 / सू 9

³⁴ वच्छर - आचारांग / शीलांक, टीका / अ. 2 / उ. 1 / सू 190

³⁵ अ) छण्हं मासाणं - कषायचूर्णि / अ 8 / गा 85 / सू 22
ब) अप्रत्याख्यानावरणानां षणमासा - गोम्मट क. / गा 46

3. प्रत्याख्यानी क्रोध —

प्रत्याख्यानी क्रोध धूल में पड़ने वाली रेखा के समान कहा गया है। रेती में पड़ने वाली रेखा हवा के झोंको के साथ मिट जाती है, उसी प्रकार प्रत्याख्यानी क्रोध भी जल्दी मिट जाता है। धीरज से समझाने के साथ विवेक लौट आता है और क्रोध का शमन हो जाता है। प्रत्याख्यानी-क्रोध चार मास से अधिक स्थायी नहीं होता। आत्म-ज्ञान के पश्चात् साधक सांसारिक-कार्यों को संक्षिप्त करके श्रावक-जीवन के बारह व्रत स्वीकार करता है। साधना-मार्ग पर उसके चरण बढ़ते जाते हैं। उसके व्रतपालन में कोई बाधक बनता है, तो उसे क्रोध आने लगता है। महाशतक भगवान् महावीर के श्रावक थे। पौषधशाला में ध्यानावस्थित होने पर पत्नी रेवती द्वारा उन्हें विचलित करने का बार-बार प्रयास किया जाने लगा। अन्ततः, क्रुद्ध होकर वे बोल उठे — रेवती! तुम्हारा रूप का अभिमान टिकने वाला नहीं। सात दिनों बाद तुम देह त्यागकर नरक में उत्पन्न होने वाली हो। यह क्रोधोदय श्रावक, व्रतधारी तक सभी में होता है।

4. संज्वलन-क्रोध :-

शीघ्र ही मिट जाने वाली या पानी में पड़ने वाली रेखा के समान संज्वलन-क्रोध समता एवं विवेक के आगमन के साथ शमन को प्राप्त करता है। शुद्ध स्वरूप-प्राप्ति की साधना में रत मुनि को अपने दोष पर रोष होता है। श्रीमद् राजचन्द्र ने 'अपूर्व अवसर' में कहा है — अरणिक मुनि ने अपनी भूल के प्रायश्चित्त में अनशन धारण किया। क्रोध के प्रति ही क्रोध हो — वह संज्वलन-क्रोध है। याज्ञवल्क्योपनिषद् में भी इसी बात की पुष्टि की है — यदि तू अपकार करने वाले पर क्रोध करता है, तो क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं करता? जो सबसे अधिक अपकार करने वाला है।³⁶

³⁶ अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते ? — याज्ञवल्क्योपनिषद् / 29

बौद्धदर्शन में क्रोध के तीन प्रकार³⁷ —

बौद्धदर्शन में भी क्रोध को लेकर व्यक्तियों के तीन प्रकार माने गए हैं —

1. वे व्यक्ति, जिनका क्रोध पर्वत पर खींची हुई रेखा के समान चिरस्थायी होता है।
2. वे व्यक्ति, जिनका क्रोध पृथ्वी पर खींची रेखा के समान अल्प-स्थायी होता है।
3. वे व्यक्ति, जिनका क्रोध पानी पर खींची रेखा के समान अस्थायी होता है।³⁸

क्रोध की चार अवस्थाएं —

स्थानांगसूत्र³⁹ और प्रज्ञापनासूत्र⁴⁰ में क्रोध की चार अवस्थाओं का उल्लेख है—

- (1) आभोगनिवर्तित, (2) अनाभोगनिवर्तित, (3) उपशान्त, (4) अनुपशान्त

1. आभोगनिवर्तित-क्रोध —

स्थानांगसूत्र के वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने आभोग का अर्थ ज्ञान किया है।⁴¹ जो मनुष्य क्रोध के विपाक या दुष्परिणामों को जानते हुए भी क्रोध करता है उसका क्रोध आभोगनिवर्तित-क्रोध कहलाता है।

आचार्य मलयगिरि ने स्पष्ट करते हुए कहा है⁴² — क्रोध न आने पर भी अपराधी को सबक देने के लिए क्रोधपूर्ण मुद्रां बनाना आभोगनिवर्तित-क्रोध है, जैसे-बच्चे को भयभीत करने के लिए माँ क्रोध का अभिनय करती है।

³⁷ जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों पर तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1, पृ. 501, डॉ.सागरमल जैन

³⁸ अंगुत्तरनिकाय, 3/130

³⁹ स्थानांगसूत्र - 4/ उ 1/ सू. 88

⁴⁰ चउव्विहे कोहे पण्णते, तं जहा —

1.आभोगणिव्वत्तिए, 2.अणाभोगणिव्वत्तिए, 3. उवसंते, 4. अणुवसंते। — प्रज्ञापनासूत्र, पद 14, सू 962-963

⁴¹ अभोगो — ज्ञानं तेन निवर्तितो यज्जानम् कोपविपाकादि रुष्यति। — स्थानांगवृत्ति, पत्र 182

⁴² प्रज्ञापना पद 14, मलयगिरिवृत्ति पत्र 291

2. अनाभोगनिवर्तित-क्रोध –

क्रोध के दुष्परिणाम से अनजान होकर क्रोध करना अनाभोगनिवर्तित क्रोध है। आचार्य मलयगिरि के अनुसार, आदत से मजबूर होकर लाभ-हानि का विचार किए बिना अकारण/निष्प्रयोजन क्रोध करना अनाभोगनिवर्तित है।⁴³

3. अनुपशान्त-क्रोध –

उदय को प्राप्त क्रोध अनुपशान्त-क्रोध है अर्थात् क्रोध के उदय की स्थिति अनुपशान्त-क्रोध है।

4. उपशान्त-क्रोध –

सुप्त क्रोध-संस्कार उपशान्त-क्रोध है।

क्रोधोत्पत्ति के कारण –

क्रोध का मूल कारण व्यक्ति स्वयं होता है, किन्तु बाह्य-निमित्तों के आधार पर क्रोध की उत्पत्ति को दृष्टिगत रखकर भी आगमों में विचार किया गया है। स्थानांगसूत्र⁴⁴ में क्रोधोत्पत्ति के चार स्थान बताए गए हैं। स्थानांगसूत्र में क्रोध को चतुःप्रतिष्ठित कहा गया है। वे इस प्रकार हैं –

1. आत्मप्रतिष्ठित, 2. परप्रतिष्ठित 3. तदुभय-प्रतिष्ठित, 4. अप्रतिष्ठित

1. आत्मप्रतिष्ठित (स्व-विषयक) –

जो अपने ही निमित्त से उत्पन्न होता है, जैसे – हाथ से काँच की बनी हुई कोई वस्तु अपनी लापरवाही से नीचे गिरकर टूट जाने से मन क्षुब्ध हो जाता है, स्वयं को धिक्कारने लगते हैं, इस प्रकार का क्रोध आत्मप्रतिष्ठित होता है।

⁴³ यदा त्वेनमेवं तथाविधमुहुर्त्तवशाद् गुणदोषविचारणाशून्यः परवशीभूय क्रोधं कुरुते
तदा स क्रोपोऽनाभोगनिवर्तितः – वही

⁴⁴ चउपतिष्ठिते कोहे पण्णते तं जहा – 1. आतपतिष्ठिते, 2. परपतिष्ठिते, 3. तदुभयपतिष्ठिते, 4. अपतिष्ठिते – स्थानांगसूत्र 4/76

2. पर-प्रतिष्ठित (पर-विषयक) –

जब अन्य कोई क्रोधोत्पत्ति में कारणभूत हो, जैसे- नौकर के हाथ से घड़ी गिरने पर मालिक को क्रोध आना।

3. तदुभय प्रतिष्ठित (उभय विषयक) –

जो क्रोध स्व और पर –दोनों के निमित्त से उत्पन्न होता है, जैसे – कर्मचारी के हाथ से गिलास लेते-लेते छूट गया, गिर गया और टूट गया। कर्मचारी पर क्रोध इसलिए आया –मैंने ठीक से पकड़ा नहीं था और तुमने छोड़ दिया। अपने प्रति क्रोध इसलिए आया कि इतने गर्म दूध का गिलास हाथ में क्यों लेने लगा ? मेज पर क्यों नहीं रखवा दिया?

4. अप्रतिष्ठित –

वह क्रोध, जो केवल क्रोध-वेदनीय के उदय से उत्पन्न होता है, आक्रोश आदि बाह्य कारणों से उत्पन्न नहीं होता। इस क्रोध में स्वयमेव चित्त क्षुब्ध होता रहता है, उद्विग्नता-चंचलता बनी रहती है।

प्रज्ञापनासूत्र⁴⁵ और स्थानांगसूत्र में अन्यापेक्षा भी क्रोधोत्पत्ति के चार कारण बताए गए हैं।⁴⁶

(क) क्षेत्र – खेत, भूमि आदि के निमित्त से क्रोध करना।

(ख) वस्तु – घर, दुकान, फर्नीचर आदि के कारण से क्रोध करना।

(ग) शरीर – कुरूपता, रुग्णता आदि कारण से क्षुब्ध होना।

(घ) उपाधि – सामान्य साधन-सामग्री निमित्त कलह करना।

स्थानांगसूत्र में क्रोधोत्पत्ति के दस कारण बताए गए हैं।⁴⁷ जो निम्नोक्त हैं—

⁴⁵ प्रज्ञापनासूत्र, कषाय-पद-14, गाथा, 5, उवंगसुत्ताणि 4, पृ. 187

⁴⁶ चउहिं ठाणेहिं कोधुप्पत्ती सिता तं जहा – खेतं, पडुच्चा, वत्थुं, पडुच्चा। –स्थानांगसूत्र 4/80

⁴⁷ क) दसहिं ठाणेहिं कोधुप्पत्ती सिया – तं जहा- मणुण्णाइं। – स्थानांगसूत्र 10/ सू 6

ख) कषायः एक तुलनात्मक अध्ययन – सा.डॉ. हेमप्रज्ञा श्री, पृ. 22

1. मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध का अपहरण करने वाले के प्रति क्रोध
2. अमनोज्ञ शब्दादि विषयों का संयोग कराने वाले के प्रति क्रोध।
3. इष्ट विषयों का अपहरण दूसरों के द्वारा कराने वाले के प्रति क्रोध।
4. अनिष्ट विषयों का संयोग दूसरों के द्वारा कराने वाले के प्रति क्रोध।
5. प्रिय संयोगों के वियोग/अपहरण की संभावना जिसके द्वारा है, उसके प्रति क्रोध।
6. अप्रिय प्राणी/पदार्थों की प्राप्ति की आशंका जिसके द्वारा है, उसके प्रति क्रोध।
7. अतीत, आज या अनागत में मनोनुकूल संयोगों का अपहरण जिसके द्वारा है, उसके प्रति क्रोध।
8. भूत, वर्तमान या भविष्य में जिससे अमनोज्ञ संयोगों की प्राप्ति की संभावना हो, उसके प्रति क्रोध।
9. भूत, वर्तमान या भविष्य में मनपसन्द विषयों का अपहरण एवं नापसन्द विषयों की प्राप्ति में जो कारणभूत है, उसके प्रति क्रोध।
10. आचार्य, उपाध्याय के प्रति सम्यक्/उचित व्यवहार होने पर भी उनसे प्रतिकूलता प्राप्त होने पर क्रोध।

क्रोध एक कार्य है, उसके कारण हैं — मान, माया और लोभ। अभिमान को ठेस लगने पर, माया प्रकट होने पर अथवा लोभ/आकांक्षा पूर्ण न होने पर क्रोध—ज्वालाएँ भभकने लगती हैं। निमित्त रूप कोई भी पदार्थ या प्राणी हो, पर मूल कारण स्वयं आत्मा की अशुद्ध परिणति है।

क्रोध के विभिन्न रूप -

जैनदर्शन में शास्त्रकारों ने पाप के अटारह स्थान बताए हैं, जो आत्मा का पतन करते हैं। उनमें छठवां स्थान क्रोध का है। मोहनीयकर्म-प्रकृति होने के कारण जब इसका उदय होता है, तो कार्य-अकार्य का विवेक नहीं रहता। यह व्यक्ति की प्रकृति को क्रूर बना देता है। क्रोध के आवेश में आकर प्राणी अपने माता-पिता, भाई-भगिनी, पुत्र-पुत्री, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य आदि आत्मीयजनों को भी पीड़ा देने में संकोच नहीं करता है।⁴⁸ कदाचित्, अत्यन्त कुपित व्यक्ति आत्मघात भी कर बैठता है। इस कारण, क्रोध को चाण्डाल की उपमा दी गई है।

उत्तराध्ययनसूत्र⁴⁹ के तेइसवें अध्ययन में केशी स्वामी ने कहा है - संपज्जलिया घोरा अग्गी चिट्ठइ, गोयमा। अर्थात् हे गौतम! जलती हुई और भयंकर अग्नि हृदय में स्थित है, यह अग्नि और कोई नहीं, क्रोध की ही अग्नि है। जब यह आग भड़क उठती है, तो क्षमा, दया, शील, संतोष, तप, संयम, ज्ञान आदि उत्तमोत्तम गुणों को जलाकर भस्म कर देती है, उनका नाश हो जाता है,⁵⁰ चेतन पर मिथ्यात्व की कालिमा चढ़ा देती है।

जैन-विचार में सामान्यतया क्रोध के दो रूप माने गए हैं - 1. द्रव्य-क्रोध और 2. भाव-क्रोध।⁵¹

द्रव्य-क्रोध को आधुनिक मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से क्रोध का आंगिकपक्ष कहा जा सकता है, जिसके कारण क्रोध में होने वाले शारीरिक-परिवर्तन होते हैं। द्रव्य क्रोध के उत्पन्न होने पर शारीरिक, मानसिक-सन्तुलन बिगड़ जाता है। शरीर में अनेक परिवर्तन होते हैं; जैसे - चेहरे का तमतमाना, आँखें लाल होना, भृकुटि चढ़ना, होठ

⁴⁸ पासम्मि बहिणिमायं, सिसुपि हणेइ कोहंधो - वसुनन्दि श्रावकाचार, 66

⁴⁹ उत्तराध्ययनसूत्र, 23/50

⁵⁰ क्रुद्धो सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज। - प्रश्नव्याकरणसूत्र 2/2

⁵¹ 1) भगवतीसूत्र 12/5/2

2) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1, डॉ.सागरमल जैन, पृ. 500

फड़फड़ाना, नथुने फूलना, जिह्वा लड़खड़ाना, वाक्य-व्यवस्था स्खलित होना, शरीर असन्तुलित होना इत्यादि।

भावक्रोध क्रोध की मानसिक अवस्था है। क्रोध का अनुभूत्यात्मक पक्ष भाव क्रोध है, जबकि क्रोध का अभिव्यक्त्यात्मक या शरीरात्मक-पक्ष द्रव्य-क्रोध है।

क्रोध के विभिन्न रूप -

समवायांगसूत्र⁵² एवं भगवतीसूत्र⁵³ में क्रोध के दस रूप या समानार्थक नाम प्राप्त होते हैं -

1. क्रोध, 2. कोप, 3. रोष, 4. दोष, 5. अक्षमा, 6. संज्वलन, 7. कलह, 8. चाणिक्य, 9. मंडन, 10. विवाद।

कसायपाहुड⁵⁴ में भी क्रोध के दस रूपों का वर्णन है, जिसमें 'चाण्डिक्य' एवं 'मंडन' के स्थान पर 'वृद्धि' एवं 'झंझा' शब्द उपलब्ध होते हैं।

1. क्रोध - आवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था क्रोध है।

2. कोप -

क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चंचलता कोप है। कोप शब्द संस्कृत में 'कुप्' धातु से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय जुड़कर 'कोप' शब्द की सिद्धि होती है। अभिधानराजेन्द्रकोश में कोप को कामाग्नि से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति बताया गई है।⁵⁵ यह चित्तवृत्ति प्रणय और ईर्ष्या से उत्पन्न होती है। 'साहित्यदर्पण' के अनुसार, प्रेम की कुटिल गति से जो अकारण क्रुद्ध स्थिति होती है, वह कोप है। 'भगवतीवृत्ति'

⁵² तं जहा कोहे कोवे रोसे दोसे अखमा संजलणे, - समवायांगसूत्र 52/1

⁵³ भगवतीसूत्र, श. 12, उ 5, सू. 2

⁵⁴ कसायपाहुड चू. अ 9, गा. 86 का अनुवाद

⁵⁵ अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग 7, पृ. 106

के अनुवादक के अनुसार, क्रोध के उदय को अधिक अभिव्यक्त न करना कोप है।⁵⁶ सामान्यतः देखने में आता है कि कई व्यक्ति क्रोध आने पर वाचिक-प्रतिक्रिया नहीं करते हैं; पर चेहरे की स्तब्धता उनकी असामान्य स्थिति का बोध करा देती है, इसलिए बोलचाल की भाषा में कहते हैं – क्यों मुँह फुला रखा है ? मुँह क्यों चढ़ा रखा है ?

3. रोष –

शीघ्र शान्त नहीं होने वाला क्रोध रोष है।⁵⁷ रोष की अवस्था में व्यक्ति के चेहरे के हाव-भाव और क्रोधाभिव्यक्ति लम्बे समय तक बनी रहती है। इस अवस्था में आँखों की लालिमा से प्रकट होता है कि यह व्यक्ति क्रोध की अवस्था में है।

4. दोष –

स्वयं पर या दूसरे पर दोष थोपना।⁵⁸ कई व्यक्ति क्रोध की स्थिति में स्वयं पर दोष मढ़ते रहते हैं, जैसे – हाँ भाई, हम तो झूठ बोलते हैं, अथवा मैंने क्यों कहा? मुझे क्या पड़ी थी बीच में बोलने की?

5. अक्षमा –

दूसरों के अपराध को सहन न करना अक्षमा है,⁵⁹ या अपराध क्षमा नहीं करना अक्षमा है। इस स्थिति में इतनी असहिष्णुता होती है कि भूल पर तुरन्त दण्ड देने की प्रवृत्ति होती है, जैसे – बच्चे जूते-चप्पल बाहर न उतारकर मंदिर, घर तक ले आए तो तुरन्त थप्पड़/चाँटा मारने वाले कई अभिभावक होते हैं, जबकि यह बात प्रेम से भी समझाई जा सकती है।

⁵⁶ भगवतीसूत्र, अभयदेवसूरि वृत्ति, श. 12, उ. 5, सू. 2 .

⁵⁷ भगवतीसूत्र / अभयदेवसूरि वृत्ति / श. 12 / उ. 5 / सू. 2

⁵⁸ वही,

⁵⁹ वही,

6. संज्वलन —

जलन या ईर्ष्या की भावना संज्वलन है। क्रोध से बार-बार आगबबूला होना, संज्वलन है।⁶⁰ यहाँ 'संज्वलन' का अर्थ संज्वलन-कषाय से भिन्न है। कई लोग व्यतीत हो चुके क्षणों को, बीत चुके घटना-प्रसंगों को, किसी के बोले गए शब्दों को, बार-बार दोहराते रहते हैं और अपने को क्रोध से भरते रहते हैं।

7. कलह —

क्रोध में अत्यधिक अनुचित शब्द या अनुचित भाषण करना कलह कहलाता है। इसे सामान्य रूप से वाक्युद्ध कहा जाता है। सामान्य से प्रसंगों में भी अपने स्वार्थ की हानि होने पर क्रोधाविष्ट होकर कई व्यक्ति अविवेकपूर्ण, अनर्गल, उत्तेजक शब्दों में बोलना प्रारम्भ कर देते हैं — यह कलह है।

8. चाण्डिक्य —

क्रोध में उग्र-रूप धारण करना, सिर पीटना, बाल नोंचना, अंग-भंग करना, आत्महत्या करना, चाण्डिक्य-क्रोध की परिणतियाँ हैं।

9. मंडन —

दण्ड, शस्त्र आदि-से युद्ध करना मंडन है।⁶¹ चाण्डिक्य में क्रोधावस्था में स्वयं को कष्ट दिया जाता है एवं मंडन में दूसरों पर प्रहार होता है।

मुँहमांगा दहेज न लाने पर क्रोध में भरकर कई बहुओं को जला दिया जाता है। लूटपाट में बाधक बनने पर कई लोगों को लुटेरे गोली का निशाना बना देते हैं। कई बार क्रोधावेश में पति, पत्नी की हत्या कर देता है, आदि।

⁶⁰ वही

⁶¹ भगवतीसूत्र, अभयदेवसूरि वृत्ति, श. 12, उ.5, सू 2

10. विवाद –

परस्पर विरुद्ध वचनों का प्रयोग करना या पक्ष-विपक्ष में उत्तेजक वार्तालाप होना विवाद है।

'कसायपाहुड' में 'वृद्धि' एवं 'झंझा' आदि को क्रोध का पर्यायवाची बताया गया है।⁶²

वृद्धि – कलह, वैर आदि की वृद्धि करने वाली प्रवृत्ति/व्यवहार करना वृद्धि है, जैसे –अपने विरोधी को जानबूझकर चिढ़ाना आदि।

झंझा – तीव्र संक्लेश-परिणाम को झंझा कहा गया है। आचारांगसूत्र में 'झंझा' का प्रयोग 'व्याकुलता' के अर्थ में हुआ है।⁶³

साहित्यकार रामचन्द्र शुक्ल ने क्रोध के अन्य रूप भी बताए हैं।⁶⁴

(अ) **चिड़चिड़ाहट** – क्रोध का एक सामान्य रूप है— चिड़चिड़ाहट। चित्त व्यग्र होने पर, कार्य में विघ्न उपस्थित होने पर, मनोनुकूल सुविधा प्राप्त न होने पर झल्लाना, चिड़चिड़ाना क्रोध का रूप है।

(ब) **अमर्ष** – किसी अप्रिय स्थिति से न बच पाने पर क्षोभयुक्त, आवेगपूर्ण अनुभव अमर्ष है।

इसी प्रकार, क्रोध के अन्य अनेक रूप भी दृष्टिगोचर होते हैं। कई लोग क्रोध में भोजन छोड़ देते हैं, कई क्रोध में अधिक भोजन कर लेते हैं। कई लोग क्रोधावेश में त्वरित गति से कार्य करते हैं, तो कई चुपचाप एक कोने में बैठ जाते हैं। कई क्रोध में बोलना छोड़ देते हैं, चुप्पी धारण कर लेते हैं। कई बड़बड़ाना प्रारम्भ कर देते हैं। कई क्रोध में अपने हाथों को दीवार पर मारते हैं तो कई वस्तुओं को

⁶² कसायपाहुड चू., अ 9, गा 33 का अनुवाद

⁶³ आचारांगसूत्र, अ.3, उ. 3, सूत्र 69

⁶⁴ चिन्तामणि, भाग-2, पृ. 139

उठाकर फेंक देते हैं। अतः, उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि क्रोध—भाव एक है, किन्तु उसके रूप, परिणतियाँ विभिन्न दिखाई देती हैं।

क्रोध के दुष्परिणाम —

भगवतीसूत्र⁶⁵ में भगवान् से प्रश्न किया गया कि जीव किस प्रकार गुरुत्व या भारीपन को प्राप्त होता है ? तो प्रभु ने उत्तर दिया —पापों के सेवन से ही जीव गुरुत्व या भारीपन को प्राप्त करता है एवं नीच गति में जाने योग्य कर्मों का उपार्जन करता है। पापों का सेवन करने से ही जीव संसार को बढ़ाते हैं एवं बारम्बार भव—भ्रमण करते हैं। क्रोध का भी अठारह पापों में से छठवां स्थान होने से यह भी आत्मा को भारी बनाता है⁶⁶ एवं इसका त्याग करने से जीव हल्का होता है।

दशवैकालिकसूत्र⁶⁷ में कहा है — जब क्रोध उत्पन्न होता है, तो प्रीति नष्ट हो जाती है। जब प्रीति नष्ट होती है, तो क्रोध के दुष्परिणाम उत्पन्न होने लगते हैं। क्रोध के लिए कहा है — मुनि कुछ कम एक करोड़ पूर्व काल में जितना चारित्र्य उपार्जित करता है, उस समस्त चारित्र्य को वह क्रोधयुक्त बनकर एक मुहूर्त मात्र में नष्ट कर देता है। क्रोधी जमी हुई और बनी हुई बात को क्षणभर में बिगाड़ देता है। क्रोध के फलस्वरूप जीव कुरूप, सत्वहीन, अपयश का भागी और अनन्त जन्म—मरण करने वाला बन जाता है, इसलिए क्रोध हलाहल विष के समान है —ऐसा जानकर सन्त कदापि क्रोध से संतप्त नहीं होते हैं। वे सदैव शान्त एवं शीतल रहते हैं और दूसरों को भी शान्त—शीतल बनाते हैं।

उपासकाध्ययन में कहा है — “क्रोध से जिसका मन चलायमान हो गया है, वह सभी बुरे कार्यों को करता है। कोई भी पाप—कार्य शेष नहीं रह जाता। क्रोधी

⁶⁵ कहणं भन्ते ! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छति ? गोयमा पाणाइवाएणं मुसावाएणं आदिण्णादाणेणं, मेहुणेणं परिग्गहेणं कोह—माण माया लोभ — मिच्छदंसणसल्लेणं एवं खलु गोयमा जीव गरुयत्तं हव्वमागच्छंति ।।

— भगवतीसूत्र, 1 शतक, 9 उद्देशक, सूत्र—384

⁶⁶ सव्वं पाणाइवायं सव्वं कोहं माणं माय लोहे च राग दोसे य । — प्रवचनसारोद्धार, द्वार 237/गा. 1351—1353

⁶⁷ कोहो पीइं पणासेइ । — दशवैकालिकसूत्र 8/27

व्यक्ति धर्म की मर्यादा का नाश कर देता है और सदा पशु के समान अपना अविवेक पूर्वक आचरण करता है।⁶⁸

स्थानांगसूत्र में कहा है – पर्वत की दरार के समान जीवन में कभी नहीं मिटने वाला उग्र क्रोध आत्मा को नरक-गति की ओर ले जाता है।⁶⁹ जो मनुष्य क्रोधी, अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त है, वह संसार के प्रवाह में वैसे ही बह जाता है, जैसे जल के प्रवाह में काष्ठ।⁷⁰ क्रोध से मनुष्य का हृदय रौद्र बन जाता है। वह मनुष्य होने पर भी नारक जैसा, शैतान जैसा आचरण करने लगता है।⁷¹ क्योंकि क्रोधरूपी अग्नि जीवन-रस को जला देती है।⁷² क्रोध में मूढ़ (पागल) होकर वह मनुष्य अपने बड़ों (गुरु) को भी अपशब्द (गाली) कहना प्रारम्भ कर देता है।⁷³ क्रोध वह नशा है, जो शराब पिए बिना भी मनुष्य को उन्मत्त बनाए रखता है और जीवन की सुन्दरता और मधुरता दोनों को नष्ट कर देता है।

क्रोध के दुष्परिणाम निम्न हैं –

1. क्रोध विवेकहीन बनाता है –

क्रोधावस्था में विवेक पलायन कर जाता है। भले-बुरे की पहचान और बड़े-छोटे का भेद विस्मृत हो जाता है। क्रोध के मूल में प्रतिकार का भाव होता है। क्रोध में विवेक खोने के कारण व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। क्रोध के वशीभूत व्यक्ति ऐसा कृत्य भी कर डालता है, जिसका परिणाम बड़ा गम्भीर होता है। एक

⁶⁸ कोऽनर्थनिःशेषश्च कोपयुक्ताधमस्तां न करोति।

हन्ति धर्म मर्यादां पशुखि समाचरन्ति नित्यम्॥ – उपासकाध्ययन 1/275

⁶⁹ पव्वरयराइसमाणं कोहं अणुपविट्ठे जीवे।

कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति॥ – स्थानांगसूत्र 4/2

⁷⁰ जे य चंडे मिए थद्धे, दुब्बाई नियडी सढे।

वुज्जइ से अविणीयप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा॥ – दशवैकालिकसूत्र 9/2/3

⁷¹ रोसेण रूद्धिदओ, णारगसीलो णरो होदि – भगवतीआराधना 1366

⁷² यदग्निरापो अदहत्। – अथर्ववेद – 1/25/1

⁷³ क्रोद्धो हि संमूढः सन् गुरुं आक्रोशति – गीता, शांकरभाष्य, 2/63

लड़का, जिसे गुस्सा बहुत आता था, एक दिन उसके घर में किसी ने उसे टोक दिया। लड़के को गुस्सा आ गया। संयोग से, उस दिन उसे परीक्षा देने जाना था, किंतु गुस्से में भरकर उसने निर्णय ले लिया कि मैं परीक्षा देने नहीं जाऊंगा। सभी ने उसे समझाया, पर उसकी बुद्धि पर क्रोध के बादल मंडरा रहे थे, आवेश में आकर लिए गए निर्णय ने उसका पूरा वर्ष बेकार कर दिया।

2. क्रोध हिंसा को भड़काता है --

क्रोध के भाव में व्यक्ति हिंसक हो जाता है। क्रोध में व्यक्ति दो रूपों में हिंसक हो जाता है। कभी वह औरों को नुकसान पहुंचाता है, तो कभी स्वयं को। औरों को नुकसान पहुंचाने के लिए वह गाली-गलौच करता है, हाथापाई करता है, अथवा किसी पर शस्त्र से प्रहार भी कर देता है। क्रोधावस्था में मनुष्य राक्षस की तरह भयंकर बन जाता है,⁷⁴ लेकिन कई बार व्यक्ति इसका उल्टा भी कर लेता है। क्रोध में आकर वह अपना ही सिर दीवार से टकरा देता है, भोजन कर रहा है तो भोजन की थाली उठाकर फेंक देता है। अहमदाबाद के मोहल्ले में बनी हुई सत्य दुर्घटना — नल के पानी के लिए दो स्त्रियों के बीच झगड़ा हुआ। दोनों एक-दूसरे को अपशब्द बोलीं, मामला बिगड़ गया, एक स्त्री अपने पूरे शरीर पर घासलेट डालकर और आग स्वयं को आग लगाकर आ गई और स्वयं जलती हुई उस दूसरी स्त्री से लिपट गई तथा कहने लगी — मैं तो जल रही हूँ, लेकिन तुझे भी जलाकर जाऊँगी। दूसरी स्त्री ने छूटने का बहुत प्रयास किया, अंततः दोनों जलकर खाक हो गयीं।⁷⁵ वर्तमान में क्रोध और तदजन्य द्वेष के कारण राष्ट्र-राष्ट्रों में युद्ध और हमले हो रहे हैं। हिन्दू-मुसलमान छोटे-छोटे मामलों में भड़क उठते हैं और क्रोधातुर होकर हिंसा का ताण्डव समाज में फैलाते हैं।

⁷⁴ कोवेण रक्खसो वा, णराण भीमो णरो हवदि। — भगवती आराधना 1361

⁷⁵ दीप बुझा ज्योति जलाकर, सा. सुयशेन्द्राश्री जी, पृ. 83

3. क्रोध व्यक्ति के शारीरिक—स्वास्थ्य और मानसिक—शान्ति को भंग करता है —

तीव्र क्रोध स्वास्थ्य के लिए अहितकर है। क्रोध से यकृत, तिल्ली और गुर्दे विकृत होते हैं,⁷⁶ रक्तचाप बढ़ता है, आँतों में घाव होते हैं, पाचक रस अल्पमात्रा में बनता है। अमेरिका की 'लाइफ मेग्जीन' में एक सचित्र लेख था कि हृदय विकार (हार्ट ट्रबल), पेट सम्बन्धी रोग (स्टमक ट्रबल), ब्लडप्रेसर, अल्सर आदि रोगों का कारण क्रोध या आवेश है।⁷⁷ तीव्र आवेश से हृदय, फेफड़े, मस्तिष्क, स्नायु आदि के कार्यों में तीव्रता आती है। रक्त मस्तिष्क में अधिक मात्रा में प्रवाहित हो जाता है, साथ ही खून में विकार उत्पन्न होने लगते हैं, इसलिए क्रोधित महिला कभी शिशु को स्तनपान न कराए। क्रोध के कारण नाड़ी फट जाने से कई बार मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। क्रोध के कारण मानसिक—शान्ति का हास होता है।

4. क्रोध से सम्यक्त्व—गुण का नाश —

शास्त्रकार कहते हैं कि एक ही क्षण का क्रोध करोड़ों वर्षों के संयम और तप की साधना को निष्फल बना देता है। कपास के गोदाम में आग की एक चिंगारी काफी है, वैसे ही वर्षों की साधना को जलाने के लिए क्रोध की एक चिंगारी काफी है। क्रोध का आवेश एक वर्ष से ज्यादा स्थित रहे, तो वह अनंतानुबन्धी क्रोध बन जाता है⁷⁸ और आत्मा को सम्यक्त्व—गुण से भ्रष्ट करता है। हजारों जन्मों की साधना के बाद जो गुण—संपदा मिलती है; वह क्रोध के एक तूफान में पूरी नष्ट हो जाती है।

क्रोधवश लब्धाकारी कुरुट—उत्कुरुट मुनि सातवीं नरक में गए।

साधु भी चंडकौशिक सर्प बने।⁷⁹

⁷⁶ शारीरिक मनोविज्ञान, — ओझा एवं भार्गव, पृ. 214

⁷⁷ सामान्य मनोविज्ञान की रूपरेखा — पृ. 420—421

⁷⁸ प्रथम कर्मग्रंथ, गाथा, 18

⁷⁹ आचारांग / 1/3/2

क्रोधवश शय्यापालक के कानों में शीशा डलवाने से भगवान् महावीर स्वामी के कानों में भी कीलें ठोकी गईं।⁸⁰

गुणसेन—अग्निशर्मा की नौ भव तक वैर की परंपरा चली।⁸¹

कमठ भी द्वेष के कारण दस भवों तक भगवान् पार्श्व का वैरी बना और अन्त में दुर्गति को प्राप्त हुआ।⁸²

5. क्रोध के कारण आत्मदर्शन संभव नहीं —

दर्पण पर फूंक मारने पर वह धुंधला हो जाता है, फिर उसमें आप अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख सकते। यही स्थिति क्रोध के विषय में है। मन के दर्पण में क्रोध की फूंक मारने से आत्म—दर्शन संभव नहीं है। खौलते पानी में आप अपना प्रतिबिम्ब कैसे देख सकते हैं ? क्रोधी व्यक्ति आत्मदर्शन कैसे कर सकता है ? आत्मदर्शन, आत्मानुभूति, आत्म—साक्षात्कार समता—भाव में ही संभव है।

6. क्रोध से स्मरणशक्ति का नाश —

होठों की मुस्कान जहाँ हमारे चेहरे के सौन्दर्य को बढ़ाती है, वहीं क्रोध की रेखा सौन्दर्य को मिट्टी में मिला देती है। क्रोध हमारे दिमाग को कमजोर करने के साथ—साथ शरीर को भी कमजोर करता है। गुस्सा आदमी के शरीर रक्तचाप बढ़ा देता है। गीता⁸³ में भी कहा है—क्रोध से स्मृतिभ्रम होता है और उससे बुद्धि का नाश होता है। क्षुब्ध अवस्था में ज्ञान—तन्तु शिथिल हो जाते हैं। चैतन्य का ज्ञानक्षेत्र संकुचित हो जाता है।

⁸⁰ कल्पसूत्र से

⁸¹ समरादित्य चारित्र

⁸² कल्पसूत्र, हिन्दी अनुवाद श्री जिन आनन्दसागर सूरिश्वर जी, पृ. 234

⁸³ गीता, 2/63

7. क्रोध प्रीति का नाश करता है⁸⁴ —

क्रोधी व्यक्ति किसी से प्रेम नहीं कर सकता। कोई उसका मित्र नहीं बनना चाहता। प्रीति का रस मानव-जीवन को सहजतापूर्वक जीने के लिए अति आवश्यक है। जिसके जीवन में प्रीति का रस नहीं, उसका जीवन व्यर्थ है। जैसे वृक्ष पानी के सिंचन से हरा-भरा रहता है, वैसे ही मानव भी प्रीति के रस से प्रफुल्लित रहता है।

8. तामसिक-आहार से क्रोध के दुष्परिणाम —

कई बार तामसिक-आहार अथवा शारीरिक-दुर्बलता या बाह्य-परिस्थिति के अभाव में भी क्रोधोत्पत्ति होती है।⁸⁵ अन्तरंग में कषाय उदय होने पर व्यक्ति अकारण ही बरस पड़ता है। औचित्य-अनौचित्य का विवेक समाप्त हो जाता है। क्रोध सर्व संयोगों में, सर्व-स्थलों पर, सब प्रकार से अनिष्टकारी है; किन्तु कभी-कभी अन्याय के विरोध में, धर्मरक्षा के लिए, कर्त्तव्यपालन हेतु किया गया क्रोध क्षम्य मान लिया जाता है, जैसे -स्त्री के सतीत्व की रक्षा के लिए जो अन्याय हो रहा है, प्राचीन तीर्थ और धार्मिक-ग्रंथों की रक्षा के लिए तथा माता का पुत्र के प्रति, गुरु का शिष्य के प्रति जो क्रोध है, वह उपादेय है। अनेक बार ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित होती हैं कि यदि उनका प्रतिकार न किया जाए, तो दूरगामी परिणाम भयंकर होते हैं, किन्तु जैनदर्शन इसे उचित नहीं मानता। व्यवहार में दूसरों को दण्ड दिया जा सकता है, किन्तु हृदय में करुणाभाव आवश्यक है।

यह धारणा भी अनुपयुक्त है कि अधीनस्थ कार्यकरों को समुचित कार्य कराने हेतु क्रोध आवश्यक है। किसी को उचित प्रेरणा देने हेतु क्रोध नहीं, अपितु स्वयं का आचरण अपेक्षित होता है। उग्रता से उग्रता एवं मैत्री से आत्मीयता प्रकट होती है। क्रुद्ध भाषा सामने उपस्थित व्यक्ति को भी क्रोधित कर देती है, अतः क्रोध प्रत्येक दृष्टि से हानिकारक है।

⁸⁴ 'कोहो पीइं पणासेइं' — दशवैकालिक सूत्र 8/38

⁸⁵ स्थानांगसूत्र/4/1/80

क्रोध पर विजय के उपाय –

भारतीय-मनोविज्ञान के अनुसार, क्रोध हमारे भीतर उठने वाला एक ऐसा संवेग है, जो क्षण में उत्पन्न होता है और क्षण में शान्त हो जाता है। क्रोध के क्षण में मनुष्य अपने होश-हवास, विवेक और बुद्धि खोकर कुछ समय के लिए उपरोक्त विषम स्थिति में पहुँच जाता है। व्यक्ति क्रोध के वशीभूत होकर अपनों और परायों दोनों को नुकसान पहुँचाता है। इसे क्षणिक संवेग इसलिए कहा गया, क्योंकि कई बार एक क्षण के लिए व्यक्ति आवेश और आक्रोश में आकर कोई भी निर्णय या कार्य कर बैठता है, जिसके लिए उसे जीवनभर पछताना पड़ता है।

जिस प्रकार अग्नि थोड़े ही समय में रुई के ढेर को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार क्रोधाग्नि भी आत्मा के समस्त गुणों को भस्म कर देती है। क्रोध उत्पन्न होने पर मनुष्य आँखें होते हुए भी अंधा बन जाता है। शास्त्रों में कहा गया है कि वैर से वैर बढ़ता है एवं क्रोध करने से क्रोध अधिक बढ़ता जाता है पर इस दानवरूपी क्रोध पर हम विजय पा सकते हैं।

1. दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि क्रोध को उपशम से नष्ट करो,⁸⁶ अर्थात् समभाव से क्रोध को जीतो। हम उपशमभाव रखें, मौन रखें। मौन से बढ़कर क्रोध जीतने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। जब हम प्रतिवाद नहीं करेंगे, तो सामने वाला कितनी देर तक क्रोध करेगा ? अर्थात् कुछ समय बाद उसका क्रोध स्वतः ही शान्त हो जाएगा तथा हमारे मौन धारण करने से विवाद, कलह आदि नहीं होंगे। कहा भी है –

प्रबल क्रोध के रोग को, हर सकता है कौन।

उसका एक ईलाज है, मन में रखे मौन।।

2. यदि वाणी पर नियंत्रण न हो, तो क्षेत्र-परिवर्तन उचित है। जिस स्थान पर आप खड़े हैं, उस स्थान से ग्यारह कदम पीछे हट जाएँ। पीछे जगह न हो, तो दाएँ या बाएँ चले जाएँ, सामने कदापि न जाएँ। जहाँ क्रोध

⁸⁶ उवसमेण हणे कोहं । – दशवैकालिकसूत्र 8/39

आया है, वहाँ से उठकर अन्यत्र चले जाएँ, उस स्थान को, उस क्षेत्र को तत्क्षण छोड़ दें।

3. क्रोध में आकर व्यक्ति को इतना ख्याल आ जाए कि क्रोध आ रहा है, तो वह संभल सकता है। अगर इतना होश सध जाए कि क्रोध आ रहा है, तो फिर क्रोध आ ही नहीं सकता। क्रोध को बजाय दबाने के, उसे देखने और जानने का प्रयास करो। क्रोध एक प्रकार की बेहोशी है। बेहोशी में देख पाना कुछ कठिन-सा अवश्य है, लेकिन असंभव नहीं है। साधना से सब कुछ संभव है। साधना की जरूरत है।
4. चिन्तन प्रक्रिया से चित्त को चैतन्य बनाया जा सकता है। चैतन्य मनःस्थिति क्रोध की उपस्थिति में संभव नहीं। प्रशंसा के दो शब्द सुनकर व्यक्ति प्रसन्न हो जाता है और निंदा सुनकर दुःखी और उद्वेलित हो जाता है। स्वाभाविक है कि जिसे प्रशंसा प्रभावित कर सकती है, उसे निंदा भी प्रभावित करेगी। शब्दरूपेण ये पुद्गल-द्रव्य हैं, जो मेरे (निज आत्मा) के नहीं हो सकते, इस प्रकार का चिन्तन भी क्रोध पर विजय प्राप्त करा सकता है, अर्थात् कोई अपशब्द भी कहे, तो अपने स्वभाव में रमण कर क्रोधित न हों, क्योंकि शब्द भी पुद्गल हैं।
5. क्षमा मांगना क्रोध को शान्त और हृदय को जल की तरह शीतल बना देता है। अगर किसी कारणवश कभी झगड़ा भी हो जाए तो केवल विचारों के पारस्परिक-टकराव से ही क्रोध उत्पन्न होता है और फिर वह विकराल रूप ले लेता है, जीवन को प्रभावित भी करता है, इसलिए ऐसी स्थिति में क्षमा या सौरी कहते हैं, तो स्थिति तुरंत शांत हो जाती है। छोटी सी बात को झगड़े का रूप कभी न दें, क्योंकि कोई भी झगड़ा चिंगारी के रूप में शुरू होता है और दावानल बनकर समाप्त होता है। क्रोध को जीतने का मुख्य उपाय क्षमाभाव है।

6. क्रोध—विजय किसी जप के आलम्बन से भी संभव है। मंत्र को श्वासोच्छ्वास के साथ जोड़ा जा सकता है। व्यर्थ के विचारों से हटकर अन्तर्मुखी बनने की यह एक सरल प्रक्रिया है। अभ्यास—वृद्धि के साथ—साथ कल्पना के अन्तश्चक्षुओं के समक्ष मंत्राक्षरों को देखने का प्रयत्न करने से क्रोध, ईर्ष्या, आलोचना आदि दुष्प्रवृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं।
7. नाद—श्रवण में चित्त लीन होने पर सहज शान्ति का अनुभव होता है। जप में बाह्य—ध्वनि एवं नाद से अन्तर्ध्वनि का अवलम्बन लिया जाता है। नीरव स्थान में ध्यानमुद्रा में आँखें बन्द करके, कान के छेदों को दोनों हाथों की अंगुलियों से बन्द करके अन्तर्ध्वनि को सुनने का प्रयास करें। अभ्यास में प्रगति होने पर कभी घुंघरु, घंट, शंख, बांसुरी, मेघगर्जना आदि की ध्वनियों जैसी ध्वनि भी सुनाई दे सकती है।
8. त्राटक—ध्यान के माध्यम से भी क्रोध का शमन किया जा सकता है।
9. विचारों का श्वासोच्छ्वास से सीधा और गहरा सम्बन्ध है। श्वासोच्छ्वास की गति जितनी मन्द और लयबद्ध होगी, मन उतना शान्त होगा। क्रोधावस्था में श्वास की गति तीव्र और अनियमित हो जाती है, अतः चित्त स्थिति में परिवर्तन के लिए श्वास—गति को मन्द करने का प्रयास करना चाहिए।
10. विचार—प्रवास का निरीक्षण चित्त—शान्ति का एक सशक्त साधन है। क्रोध कैसे प्रारम्भ हुआ ? कहाँ से प्रारम्भ हुआ ? उसका मूल उद्गम स्रोत कौन—सा कषाय है ? ऐसे प्रश्नों के उत्तर ढूँढते जाने से मन पर परिस्थिति का प्रभाव समाप्त हो जाता है और विचारों में परिवर्तन स्वाध्याय, चिन्तन, अनुप्रेक्षा आदि के माध्यम से होता है।⁸⁷ इस प्रकार, हम

⁸⁷ कषाय : एक तुलनात्मक अध्ययन, साध्वी डॉ हेमप्रज्ञा श्री, पृ. 137

ध्यान—प्रक्रिया के माध्यम से क्रोध एवं अन्य कषायों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

11. व्यक्ति के अहंकार को जब चोट लगती है, तो उसे गुस्सा आता है। जब तक अहंकार शांत रहता है, हम सामने वाले से खुश ही रहते हैं, किन्तु अहंकार को चोट लगते ही हम गुस्सा कर बैठते हैं। अहंकार क्रोध का पिता है। क्रोध का एक कारण आलोचना है। यदि किसी ने विपरीत टिप्पणी कर दी, तो हम तत्काल गुस्सा कर बैठते हैं। इस परिस्थिति से विजय समताभाव से प्राप्त कर सकते हैं। जब समताभाव प्रबल होगा, तो अहंकार और आलोचना का प्रभाव मन—मस्तिष्क पर नहीं पड़ेगा और क्रोध समाप्त हो जाएगा।
12. क्रोध आ रहा है, तो थोड़ा विलम्ब करो। प्रतिक्रिया में शीघ्रता मत करो, क्योंकि क्रोध अशुभ है, क्रोध पाप है। भगवान् महावीर कहते हैं — शुभ करना है, तो तत्क्षण करो, लेकिन अगर अशुभ करना है, तो विलम्ब करो, उसे कल पर छोड़ दो। 'शुभस्य शीघ्रं' लोकोक्ति के अनुसार भी शुभ कार्य में देर मत करो। यदि अशुभ करना है, पाप करना है, क्रोध करना है, तो कल पर छोड़ दो। कुछ घन्टों बाद करूंगा —जब यह भाव मन में आता है तो विलम्बता के कारण वह कभी क्रोध कर ही नहीं पाता है। इस प्रकार, क्रोध के समय तत्काल प्रतिक्रिया न करके कल पर टाल देते हैं, तो क्रोध पर विजय प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि क्रोध क्षणिक आवेश मात्र होता है। आवेश उतर जाता है, तो चाहकर भी कुछ अशुभ नहीं कर सकते।
13. हम दोषी हैं, तो क्रोध का कारण ही नहीं है। यदि वर्तमान में हमारा दोष हमें दिखाई नहीं देता, तो कहीं अतीत में हमारी भूल रही होगी —ऐसा मानने पर दूसरे के अपमान, तिरस्कार आदि का प्रसंग नहीं बनेगा। दुःख देने वाला बाह्य—निमित्त है, अन्तरंग में हमारा कर्मोदय है। कर्म—विपाक को जानने या देखने वाला विश्व में सर्वत्र निष्पक्ष रूप से एक सुव्यवस्थित

न्याय-तन्त्र को देखता है। वह यह जानता है कि आज जो मेरा अपराधी है, पहले उसका मैं अपराधी रहा होगा। वर्तमान में मेरा असाता-वेदनीय अथवा अशुभ नामकर्म का उदय है तथा निमित्त बनने वाले का मोहनीय कर्म का उदय है—यह चिन्तन जब चलता है, तो क्रोध कभी नहीं आता।

14. महापुरुषों ने प्राणान्तक कष्टों के आने पर भी अपना सन्तुलन नहीं खोया, उनके जीवन से हम भी शिक्षा ग्रहण करें। भगवान् महावीर ने संगम, शूलपाणि, यक्ष आदि पर मैत्रीभाव रखा। ईसा मसीह ने सूली पर लटकते समय विरोधियों को भी क्षमा कर देने हेतु प्रभु से प्रार्थना की। दयानन्द सरस्वती ने भोजन में काँच पीसकर मिलाने वाले रसोइए के प्रति दुर्भाव नहीं किया।
15. क्रोध सहनशीलता के अभाव में आता है। जब व्यक्ति के अनुकूल न होकर प्रतिकूल विचार एवं कार्य होता है, तब क्रोध आता है। ऐसे अवसर पर 'मिती में सब्बभूएसु' सिद्धान्त को अपनाएं तो हर प्राणी के प्रति सहानुभूति बन जाएगी और स्नेह-प्रेम का वातावरण बन जाएगा।
16. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है।⁸⁸ अपने सुख-दुःख का कारण व्यक्ति स्वयं है, अन्य नहीं। अपने भले-बुरे किए हुए का अन्य पर आरोपण करने से क्षमा प्रकट नहीं होगी। दूसरों को अपनी इच्छा के अनुकूल परिणमन कराने की भावना मिथ्यात्व है एवं क्रोधोत्पत्ति का कारण है, अतः तत्त्वस्वरूप का चिन्तन करना चाहिए और यह मानना चाहिए कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है।
17. आस्रव, संवर एवं निर्जरा-भावना की अनुप्रेक्षा करना⁸⁹— नदी या समुद्र की अथाह जल-राशि पर तैरती नौका या जहाज में छिद्र होने पर पानी उसमें प्रविष्ट होने लगता है; वैसे ही क्रोधादि कषायरूपी छिद्र से आत्मा में

⁸⁸ छह ढाला।

⁸⁹ बारह भावना।

कर्म—प्रवेश होता है। नौका में हुए छिद्र को बंद करने पर जल—आगमन अवरुद्ध हो जाता है; उसी प्रकार क्षमा—भावपूरित आत्मा में कर्म—निरोध होता है। जिस प्रकार नाव में भरे जल को किसी पात्र से बाहर फेंक देने से नाव हल्की हो जाती है; उसी प्रकार क्षमारूपी यतिधर्म का पालन करने से आत्मा शुद्ध बनती है।

18. उत्तराध्ययनसूत्र⁹⁰ में कहा है — कोह विजएणं भंते! जीवे किं जाणयई? उत्तर— कोह विजएणं खंति जणयइ, अर्थात् — क्रोध पर विजय करने से क्या प्राप्त होता है ? उत्तर — क्रोध पर विजय करने से क्षमाभाव प्रगट होता है। क्षमा मोक्ष का द्वार है। क्षमा वीरों का भूषण है। सहज क्षमा ही क्षमा है, कषाय प्रेरित क्षमा, क्षमा नहीं है। क्षमा करने से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अकथनीय है। क्षमा से शत्रु भी हमेशा मित्र बन जाते हैं। क्षमा से ही शान्ति प्राप्त होती है तथा इहलोक एवं परलोक —दोनों सुखकारी बनते हैं। योगशास्त्र में कहा है —“उत्तम आत्मा को क्रोधरूपी अग्नि तत्काल शान्त करने के लिए एकमात्र क्षमा का ही आश्रय लेना चाहिए। क्षमा ही क्रोधाग्नि को शान्त कर सकती है। क्षमा संयमरूपी उद्यान को हरा—भरा बनाने के लिए क्यारी है।”⁹¹

इसके अलावा क्रोध—विजय के कुछ अन्य संक्षिप्त सूत्र इस प्रकार हैं —

1. क्रोध का निमित्त मिले, तब मौन हो जाएँ, या सौ से उलटी गिनती पढ़ना प्रारम्भ कर दें।
2. क्रोध की अवस्था में एक बार अपना चेहरा दर्पण में देख लें, तो आप क्रोध करना भूल जाएंगे।
3. क्रोध में एक गिलास ठंडा पानी पी लें और उसे थोड़े समय मुख में ही रखें।

⁹⁰ उत्तराध्ययनसूत्र — अ. 29, गा. 68

⁹¹ क्रोधवहेस्तदहाय शमनाय शुभात्सभिः ।

श्रयणीया क्षमैकैव संयमारामसारणिः ॥ — योगशास्त्र — 4/11

4. क्रोध में सामने वाला अगर अग्नि हो रहा हो, तो आप पानी बन जाएं।
उत्तराध्ययन में कहा है – अपने-आप पर भी कभी क्रोध मत करो।⁹²

क्रोध-प्रसंग मिलने पर क्रोध-विजय, क्रोध-शमन, क्रोध-नियंत्रण और क्रोध विफल करने की दिशा में उपर्युक्त सूत्रों में से कोई भी सूत्र का सही समय पर सही उपयोग किया जाए तो सफलता अवश्य मिलेगी, क्योंकि क्रोध को उत्पन्न करना जितना सरल है, उसे समेटना उतना ही कठिन है। हर पाप का, हर अपराध का श्री गणेश क्रोध से ही होता है, क्रोध की खुराक विवेक है। विवेक के अभाव में ही क्रोध अपना साम्राज्य स्थापित करता है। यदि क्रोध पर क्षमा का अंकुश और जाग्रति की लगाम रहे, तो क्रोध कभी भी अहितकर नहीं होगा।

आधुनिक मनोविज्ञान में क्रोध-संवेग [Emotion] और आक्रामकता की मूलवृत्ति –

आधुनिक मनोविज्ञान में क्रोध को एक संवेग और आक्रामकता को एक मूलप्रवृत्ति माना गया है। वस्तुतः, क्रोध का जन्म तब होता है, जब चार मूलभूत संज्ञाओं, अर्थात् आहार, भय, मैथुन और परिग्रह में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होती है। क्रोध की उत्पत्ति के साथ ही व्यक्ति में आक्रामकता की मूलवृत्ति अभिव्यक्त होती है। प्राथमिक स्थिति में आक्रामकता [Aggression] संरक्षणात्मक होती है, लेकिन कालान्तर में वह एक तरह से व्यक्ति के स्वभाव का अंग बन जाती है। मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से आक्रामकता क्रोध की अभिव्यक्ति का ही एक रूप है।

क्रोध में व्यक्ति स्वतः तनावग्रस्त बनता है और उसमें दैहिक और मानसिक परिवर्तन घटित होते हैं। इसमें पहले व्यक्ति सुरक्षात्मक उपाय को खोजता है, किन्तु शीघ्र ही वह आक्रामक-वृत्ति अपना लेता है। जब किसी प्राणी को यह ज्ञात होता है कि कोई दूसरा व्यक्ति या प्राणी उसके अस्तित्व के लिए खतरा उपस्थित कर रहा है, तो वह पहले अपनी सुरक्षा का प्रयत्न करता है और फिर उस सुरक्षा के लिए

⁹² उत्तराध्ययनसूत्र 29/40

दूसरों पर आक्रामक हो जाता है। अतः क्रोध के संवेग और आक्रामकता की मूलवृत्ति में कहीं न कहीं एक सहसम्बन्ध रहा हुआ है।

क्रोध मानसिक और दैहिक-असंतुलन को जन्म देता है और जिन्हें वह अपने हित-साधन में बाधक समझता है, उनके प्रति आक्रामक बन जाता है। क्रोध के दो पक्ष होते हैं — दैहिक और मानसिक। मानसिक-स्तर पर व्यक्ति तनावग्रस्त होता है और अपना मानसिक-संतुलन और विवेक-क्षमता खो बैठता है, तथा दैहिक-स्तर पर तात्कालिक-प्रक्रियाएँ करने लगता है। मानसिक-स्तर पर उसकी विवेकशीलता और विचार-क्षमता नष्ट हो जाती है।

बच्चों पर किए गए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि जब उन्हें लक्ष्य वस्तु {Goal object} तक पहुंचने से रोक दिया जाता है, तो उनमें एक तरह की कुण्ठा {Frustration} उत्पन्न होती है और उस कुण्ठा से फिर उनमें आक्रामक व्यवहार {Aggressive behaviour} का जन्म होता है, और वे लक्ष्य वस्तु की ओर आक्रामकता दिखलाने लगते हैं। गीता में भी कहा गया है —“वस्तु के प्रति आकर्षण से कामनाएँ उत्पन्न होती हैं और कामनाओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित होने पर स्वतः ही क्रोध का भाव आ जाता है।”⁹³

दैहिक-स्तर पर विचार करें, तो क्रोध में रक्तचाप बढ़ जाता है, होंठ भीच जाते हैं और आँखें फटी की फटी रह जाती हैं। मनोवैज्ञानिक प्रो. गिरधारीलाल श्रीवास्तव⁹⁴ ने कहा है —“भय क्रोधावस्था में थायराइड ग्लैण्ड [गलग्रन्थि] समुचित कार्य नहीं करती, जिससे स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।” स्वचालित तन्त्रिका-तन्त्र का अनुकम्पी-तन्त्र क्रोधावेश में हृदयगति, रक्त-प्रवाह तथा नाड़ी की

⁹³ ध्यायतो विषयान्पुंस संगस्तेषूपजायते।

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। — गीता, 2/62

⁹⁴ शिक्षा मनोविज्ञान, प्रो. गिरधारीलाल श्रीवास्तव, पृ. 181

गति बढ़ा देता है, जिससे पाचन-क्रिया में विघ्न आता है, रुधिर का दबाव बढ़ता है तथा एड्रिनल ग्लैण्ड {अधिवृक्क ग्रंथि} को उत्तेजित होती है।⁹⁵

क्रोध और आक्रामकता का संवेग जब प्रदीप्त होता है, तब शरीर की ऊर्जा नष्ट होती है, शरीर का हास होता है, बल क्षीण होता है। मनोविज्ञान की मान्यता है—तीन मिनट किया गया तीव्र क्रोध और आक्रामकता की अवस्था नौ घंटे कठोर परिश्रम करने जितनी शक्ति को समाप्त कर देता है।

दैहिक-हास के साथ-साथ जब क्रोध-संवेग के साथ आक्रामकता की वृत्ति जुड़ जाती है, तो व्यक्ति प्रतिपक्षी के अहित के लिए भी तत्पर हो जाता है और उसे शक्तिहीन बनाने का प्रयास करता है। क्रोध में जहाँ स्वयं के प्रति संरक्षणात्मक-वृत्ति होती है, वहीं दूसरों को अहित या चोट पैदा करने का भाव बन जाता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से क्रोध-संवेग और आक्रामकता की मूलवृत्ति एक दूसरे से जुड़ी हुई है। क्रोध जैसे-जैसे स्थाई रूप लेता है, आक्रामकता की वृत्ति भी सबल होती जाती है। क्रोध में व्यक्ति दूसरे का अहित करने के साथ-साथ अपना भी अहित कर लेता है, अपनी आत्मशक्ति को खो देता है, अतः विभिन्न धर्म-परम्पराओं में क्रोध से बचने का निर्देश दिया गया है, इसीलिए आध्यात्मिक-लोगों में क्रोध पर विजय पाने के लिए क्षमारूपी शस्त्र को अपनाने की बात कही गई है। गीता में एक प्रश्न पूछा गया था—“व्यक्ति पाप-प्रवृत्ति कैसे करता है ? उत्तर में कहा गया—“काम, क्रोध ही ऐसे तत्त्व हैं जो व्यक्ति को पाप-प्रवृत्ति में डालते हैं।”⁹⁶

सारांशतः जैनदर्शन का कहना है कि क्रोध एक कषाय है, वह आत्मा को पतन के गर्त में डालता है, उससे बचने का प्रयास करना चाहिए।

-----000-----

⁹⁵ सामान्य मनोविज्ञान की रूपरेखा, डॉ. रामनाथ शर्मा, पृ. 420-421

⁹⁶ अथ केन प्रयुक्तीडयं पापं चरति पुरुषः

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः । - गीता 3/36-37

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय -7 मान संज्ञा (अहंकार संज्ञा)

1. मान का स्वरूप एवं लक्षण
2. मान के विभिन्न रूप
3. मान के दुष्परिणाम
4. मान पर विजय के उपाय

अध्याय—7

मान (अहंकार)—संज्ञा {Instinct of Pride}

जैन-ग्रंथों में संज्ञाओं का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। सामान्यतया, संज्ञाओं के चतुर्विध वर्गीकरण¹, दशविध वर्गीकरण² और षोडशविध वर्गीकरण³ मिलते हैं। चतुर्विध वर्गीकरण में मुख्य रूप से उन संज्ञाओं का विवेचन है, जो संसारी-जीवों में मुख्यतया पाई जाती हैं। चार मूल संज्ञाएं — आहारादि तो शरीर-धर्म होने से केवली को छोड़कर सभी में पाई जाती हैं। दशविध वर्गीकरण में चार मूल संज्ञाएं, चार कषाय— क्रोध, मान, माया, लोभ, लोक और ओद्य ए संज्ञाएं भी प्रायः दसवें गुणस्थान के पूर्व के सभी जीवों में पाई जाती हैं। इन दस संज्ञाओं में कषायरूप जो चार संज्ञाएं हैं उनमें क्रोध—संज्ञा के बाद मान—संज्ञा का स्थान आता है। आगे की विवेचना में हम मान—संज्ञा की विस्तृत चर्चा करेंगे।

'मान' एक ऐसा मनोविकार है, जो स्वयं को उच्च एवं दूसरों को निम्न समझने से उत्पन्न होता है। सूत्रकृतांग⁴ में कहा गया है —“अभिमानी अहं में चूर होकर दूसरों को परछाई के समान तुच्छ मानता है।” डॉ. सागरमल जैन के अनुसार — मनुष्य में स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति है ही, परन्तु जब स्वाभिमान की वृत्ति दम्भ या प्रदर्शन का रूप ले लेती है, तब मनुष्य अपने गुणों एवं योग्यताओं को बढ़े-चढ़े रूप में प्रदर्शित करता है और इस प्रकार उसके अन्तःकरण में मानवृत्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। अभिमानी मनुष्य अपनी अहंवृत्ति का पोषण करता रहता है। उसे अपने से बढ़कर या अपनी बराबरी का गुणी व्यक्ति कोई दिखता ही नहीं।”⁵

¹ समवायांग — 4/4

² प्रज्ञापनासूत्र, पद-8

³ क) अभिधान राजेन्द्र, खण्ड — 7, पृ. 301

ख) आचारांगसूत्र — 1/2

⁴ अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं — सूत्रकृतांगसूत्र, अ 13, गा.8

⁵ जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन— भाग-1, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 501

धर्मामृत (अनगार)⁶ में उपमा के माध्यम से मान के विषय में कहा गया है—
‘जैसे सूर्य के अस्त होने पर अन्धकार व्याप्त हो जाता है और निशाचर (राक्षस) भ्रमण करने लगते हैं, उसी प्रकार विवेकरूपी सूर्य जब अहंकाररूपी अस्ताचल की ओट में लुप्त हो जाता है, तो मोहान्धकार व्याप्त हो जाता है। रागद्वेषरूपी निशाचर घूमने लगते हैं, चौर्य, व्यभिचार आदि पापकर्म पनपने लगते हैं। प्राणी दृष्टिहीन होकर स्वच्छन्दतापूर्वक उन्मार्ग में प्रवर्तित होने लगते हैं।’

मोक्षमार्ग—प्रकाशक⁷ में मान का स्वरूप बतलाया गया है कि अभिमानी व्यक्ति स्वयं को उच्च एवं अन्य को निम्न प्रदर्शित करने की इच्छा रखता है। परिणामस्वरूप, वह अन्य की निन्दा करता है, स्वप्रशंसा हेतु विवाहादि कार्यों में क्षमता से अधिक व्यय करता है। यदि उसकी इच्छा पूर्ण न हो, तो अंत्यन्त सन्तप्त होता है। सन्ताप की तीव्रता में कभी—कभी विष—भक्षण, अग्नि—स्नान आदि से आत्मघात भी कर लेता है।

मान—मोहनीयकर्म के उदय से अपने को विशेष समझना और अहंकार, दर्प, गर्व आदि के रूप में जीव की परिणति को मान—संज्ञा कहते हैं।⁸ अहंकार की मनोवृत्ति मान—संज्ञा कहलाती है।⁹ प्रवचनसारोद्धार में कहा गया है — मानकषाय के उदयजन्य गर्व की कारणभूत अवस्था या भाव मानसंज्ञा है।¹⁰ जीवात्मा में जीव अथवा अजीव (धन, सम्पत्ति) आदि के कारण अहंकारपूर्ण मनःस्थिति को मान—संज्ञा कहते हैं।¹¹

अर्थात्, मानसंज्ञा का जब उदय होता है, तब व्यक्ति यथार्थता को भूल जाता है तथा मदोन्मत्त होकर अनेक पापकार्य भी कर डालता है। यह स्वयं के लिए

⁶ धर्मामृत अनगार, अ.6/श्लो. 10

⁷ मोक्षमार्ग प्रकाशक, पं. टोडरमल, पृ. 53

⁸ प्रज्ञापनासूत्र — 8/725

⁹ उत्तराध्ययनसूत्र : दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका महत्व — सा.डॉ. विनीतप्रज्ञा, पृ.491

¹⁰ प्रवचनसारोद्धार, सा. हेमप्रभा, द्वारा 146 पृ. 80

¹¹ दण्डक प्रकरण, मुनि मनितप्रभसागर, पृ. 310

अनर्थकारी व दूसरों के लिए भी अकल्याणकारी होता है। जब मान होता है तब विनम्रता नष्ट हो जाती है। जीवन में सफलता के लिए विनय अति आवश्यक है। धन, सम्पत्ति, सुख, प्रसन्नता, ज्ञानसाधना आदि सभी क्षेत्रों में विनय के बिना प्रगति नहीं की जा सकती। जो झुकता है, वही आगे बढ़ता है। झुकना तो जीवन की पहचान है, जैसा कि उर्दू के एक विद्वान् ने कहा है —

झुकता वही है, जिसमें कुछ ज्ञान है।
अकड़पन तो खास, मुर्दे की पहचान है।

अभिमान करना अज्ञानी का लक्षण है।¹² जो अपनी प्रज्ञा के अहंकार में दूसरों की अवज्ञा करता है, वह मूर्खबुद्धि (बालप्रज्ञ) है।¹³ मान का प्रभाव इतना प्रबल है कि वह धर्म को भी अधर्म बना देता है। जैसे जहर पेय को अपेय बना देता है, वैसे ही अहंकार भी पुण्य को पाप, धर्म को अधर्म बना देता है। जप, तप, दान, दया आदि में जब यह मानरूपी पाप छा जाता है, तो इन क्रियाओं को निर्जरा—रूप फल प्राप्त नहीं हो सकता है। उमास्वातिजी महाराज ने ठीक कहा है —“जाति, कुल आदि किसी भी प्रकार के मद से उन्मत्त जीव पिशाच की तरह दुःखी होते हैं और परलोक में जाति आदि की हीनता निश्चित प्राप्त करते हैं।¹⁴

अहंकार पतन की निशानी है, कभी भी अभिमान लाभकर नहीं होता, दीपक जब बुझने की तैयारी में होता है, तब क्षणभर के लिए लौ ऊपर उठती है और बहुत तेज प्रकाश बिखेरती है, परंतु यह तो उसके बुझने की निशानी है। इसी प्रकार, तीव्र अभिमान भी नीचे गिरने की निशानी है। जब व्यक्ति अभिमान से भर जाता है, तो उसे हित—अहित का भान नहीं रहता। स्वयं का महत्त्व सर्वोपरि हो जाता है। व्यक्ति जो सोचता है, उसी को सही मानता है। मान के कारण हृदय से सब सद्गुण उसी प्रकार विदा होने लगते हैं, जिस प्रकार तालाब का पानी सूखने पर उसके तट पर

¹² बालजणो पगभई। — सूत्रकृतांगसूत्र 1/11/2

¹³ अन्नं जणं खिंसइ बालपन्ने। — वही, 1/13/14

¹⁴ जात्यादिमदोन्मतः पिशाचवद भवति दुखितश्चेह।

जात्यादि हीनता परभवे च निः संशय लभते ॥ — प्रशमरति, गाथा 198

रहने वाले पक्षी अन्यत्र चले जाते हैं। भारी चीज कभी ऊपर नहीं उठती है, नीचे ही गिरती है। ऊँचा उठने के लिए अहंकार के भार को कम करके मन के भावों को हल्का बनाना आवश्यक है।

मान के विभिन्न रूप —

मान जीवन को गहरे पतन-गर्त में धकेलने वाली एक मनोवृत्ति है। इस जगत् में देखा जाए तो एक से बढ़कर एक अभिमानी मिलते हैं। किसी को अपनी जाति कुल का अभिमान है, तो किसी को अपने रूप पर गर्व है। कोई अपने धन-वैभव पर इतराता है, तो कोई अपनी तपस्या का घमण्ड करता है। किसी को अपनी उपलब्धियों पर मान है, किसी को अपने ज्ञान का गर्व है, तो किसी को अपनी बुद्धि का मद है। मान अनेक रूपों में प्रगट होता है। भगवतीसूत्र¹⁵ में मान के बारह रूपों की चर्चा की गई है, वहीं समवायांगसूत्र¹⁶ में ग्यारह नामों का उल्लेख है। पुर्नाम को छोड़कर सभी समान हैं — 1. मान, 2. मद, 3. दर्प, 4. स्तम्भ, 5. गर्व, 6. आत्मोत्कर्ष, 7. परपरिवाद, 8. उत्कर्ष, 9. अपकर्ष, 10. उन्नतनाम, 11. उन्नत, 12. पुर्नाम।

श्री अभयदेवसूरि द्वारा भगवतीसूत्र के वृत्ति-अनुवाद में इन रूपों का अर्थ निरूपण निम्न प्रकारेण किया गया है —

1. मान — जिस कर्म के उदय से मान-भाव उत्पन्न होता है, वह कर्म ही मान है।¹⁷ अपने किसी गुण पर अहंवृत्ति करना, अथवा आत्मपूजा की आकांक्षा से उत्पन्न अहंकार मान है।¹⁸

2. मद — शक्ति का अहंकार मद कहलाता है।

¹⁵ माणे, मदे, दप्पे, शंभे, गळे, उच्चुक्कोसे, परपरिवाए, उक्कोसे, अवक्कोसे, उण्णते, उण्णामे, दुण्णामे — भगवतीसूत्र, श.12, उ.5, सू.104

¹⁶ माणे, मदे, दप्पे, थंभे | — समवायांगसूत्र, 52, सूत्र 1

¹⁷ भगवतीसूत्र, श.12, उ.5, सूत्र 3 की वृत्ति

¹⁸ सर्वदात्मपूजाऽऽकांक्षित्वात् मानः । — तत्त्वार्थसूत्राधिगम भाष्यवृत्ति 8/10 की टीका

स्थानांगसूत्र¹⁹ एवं समवायांगसूत्र²⁰ में मद के आठ प्रकार बताए गए हैं –

1. जातिमद, 2. कुलमद, 3. रूपमद, 4. बलमद, 5. श्रुतमद, 6. तपमद, 7. लाभमद, 8. ऐश्वर्यमद।²¹

जातिमद :-

मूल में आत्मा की कोई जाति नहीं होती है। समाज में वर्ण-व्यवस्था (जातियाँ) कर्म के आधार पर निर्मित हुई हैं। ए जातियाँ चार हैं— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। समाज में जाति के आधार पर लोग अपने को बड़ा समझते हैं। ब्राह्मण-जाति में उत्पन्न होने वाला श्रेष्ठ है, वहीं शूद्र जाति में उत्पन्न होना अश्रेष्ठ है —ऐसा भाव ही जातिमद है। वर्ण और जाति की व्यवस्था सिर्फ व्यवसाय के आधार पर हुई थी, न कि जाति के आधार पर। भगवान् ने भी कहा है — कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है, अतः जाति का अभिमान छोड़ने योग्य है।²² हरिकेशचाण्डाल ने पूर्वजन्म में ब्राह्मण-जाति में जन्म लेकर जातिमद के कारण ऐसा कर्मसंचय किया कि वर्तमान भव में चाण्डाल (शूद्र) जाति में उत्पन्न हुआ।²³

कुलमद :-

कुलमद, अर्थात् अच्छे खानदान में उत्पन्न होने का मद। अच्छे कुल में जन्म ले लेने से कोई व्यक्ति बड़ा नहीं हो जाता, बल्कि अपने सुकार्यों से बड़ा बनता है, जैसे हरिकेशी मुनि अपने सुकार्यों से ही महान् बने। जिस कुल में महान पुरुषों का जन्म होता है, वह कुल श्रेष्ठ कहलाता है। अज्ञान के कारण ही व्यक्ति कुल का मद करता है।

¹⁹ अद्भ मयद्वाणा पण्णत्ता, तं जहा —

जातिमए, कुलमए, बलमए, रूपमए, तपमए, सुतमए, लाभमए, इस्सरियमए — स्थानांगसूत्र 8/21

²⁰ समवायांगसूत्र, 8/1

²¹ योगशास्त्र, 4/13

²² कम्मणा बंभणो होइ, कम्मणा होइ खत्तिओ।

वइसो कम्मणा होइ, सुद्धो हवइ कम्मणा।।

— उत्तराध्ययनसूत्र 25/33

²³ उत्तराध्ययनसूत्र — 12/1

भगवान् महावीर का तीसरा भव मरीचि का था। उस समय मरीचि अहंकार से नाचने लगा, जब भरत चक्रवर्ती ने उसे वन्दन कर कहा – 'तुम भविष्य में वासुदेव, चक्रवर्ती एवं तीर्थकर— तीनों पद के भोक्ता बनोगे। मरीचि विचार करने लगा— 'मेरे दादा तीर्थकर, मेरे पिता चक्रवर्ती और मैं श्रेष्ठातिश्रेष्ठ तीन पदवी प्राप्त करूंगा। अहो! हमारा कुल कितना उत्तम है।' इस कुलमद के परिणामस्वरूप मरीचि को महावीर के भव में बयासी दिनों तक देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में रहना पड़ा।²⁴

रूपमद —

शारीरिक—वैभव मिलना अलग बात है और उस रूप की चकाचौंध में अन्धा न बनना अलग बात है। देह का लावण्य—सौन्दर्य ब्रह्मात्मा को मदोन्मत्त बना देता है और उस रूप की रोशनी में उसे सब कुछ सामान्य/निम्न दिखाई देता है।

सनत्कुमार चक्रवर्ती²⁵ के रूप की प्रशंसा इन्द्र ने जब सभा में की; तब दो देव रूप परिवर्तन कर धरा पर आए। सनत्कुमार स्नान हेतु समुपस्थित थे। आदेश प्राप्त कर ब्राह्मणद्वय सनत्कुमार की रूप—माधुरी का पान करके वाह—वाह कर इस प्रकार बोल उठे। —“राजन! देवराज इन्द्र से जैसा श्रवण किया था, उससे कहीं अधिक सुंदर है— आपका सौन्दर्य।”

ब्राह्मणों के इस कथन पर सनत्कुमार गर्वोन्मत्त हो उठे और बोले —“हे विप्रों! अभी क्या देखते हो ? जब वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर सभा में हमारा आगमन हो, तब इन आँखों को खुली रखना।” चक्रवर्ती रूपमद से छलछलाते जब राजसभा में प्रविष्ट हुए; तब दोनों ब्राह्मणों को देख गर्वभरी हंसी हंस पड़े — “कहो! आप मौन क्यों हैं ? ब्राह्मणरूपधारी देवों के चेहरे पर उदासी छा गई और उन्होंने सनत्कुमार से कहा —“राजन्! अब उस सुन्दरता में दीमक लग चुकी है। आपको विश्वास न हो, तो स्वर्णपात्र में थूककर देख लीजिए। कितने कीड़े कुलबुला रहे हैं ?” ऐसा सुनकर चक्रवर्ती देह—नश्वरता के चिन्तन में खो गए और वैराग्य के पथिक बने।

²⁴ श्री कल्पसूत्र, महावीर प्रभु के सत्ताइस भव

²⁵ योगशास्त्र, 4/13 व्याख्या

बलमद —

प्रत्येक मनुष्य की अपनी-अपनी शारीरिक-संरचना होती है। किसी की देह सुगठित, बलिष्ठ होती है, किसी की देह निर्बल। अपने शौर्य, पराक्रम का अहंकार करना बलमद है। इतिहास में अनेकों ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने अपने बल के मद में निर्दोष-निरपराधों पर अत्याचार किया।

सम्राट अशोक²⁶ ने कलिंग युद्ध में बस्तियों को श्मशान बना दिया था। रणक्षेत्र में लाशों के ढेर लगे थे, खून की नदियाँ बह चली थीं। अपनी विजय पर प्रसन्न बने सम्राट अशोक को जब भिक्षु उपगुप्त ने रणक्षेत्र का दृश्य दिखाया, तो उनका हृदय पश्चाताप से भर उठा। उनकी आँखें नम हो गई, सिर ग्लानि से झुक गया। उन्होंने अपने बल का उपयोग जनहानि नहीं, जनहित के लिए करने का संकल्प किया।

श्रुतमद —

ज्ञान विराट् है। इसका पार नहीं पाया जा सकता। ज्ञान का अभिमान ज्ञान को विषाक्त बना देता है। शास्त्रकारों ने कहा भी है —

“सुयलाभे न मज्जिज्जा”

अर्थात् श्रुत पाकर भी व्यक्ति को मद नहीं करना चाहिए। श्रुतज्ञान से मानव-जीवन में नम्रता, सहिष्णुता, क्षमा, विवेक आदि गुण आना चाहिए। इसके विपरीत यदि उद्वण्डता, अविवेक एवं मद आदि प्रवृत्ति आती है, तो वह ज्ञान व्यर्थ है। ज्ञानी को अपने ज्ञान पर घमण्ड न कर उस ज्ञान को दूसरों में बाँटना चाहिए। आत्मा अनन्त ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न है। प्रत्येक आत्मा में त्रिलोक एवं त्रिकालज्ञाता बनने की शक्ति छिपी है। इस आत्मशक्ति को विस्मृत कर जब अल्पज्ञान में अधिकता का बोध हो जाता है, तो मान को नष्ट करने में समर्थ ज्ञान ही मान का कारण बन जाता है, जैसे— मास्तुष मुनि²⁷ ने ज्ञान का मद किया था, तो उन्हें एक भी शब्द याद नहीं रहता था। उपाध्याय यशोविजयजी व्याकरण, साहित्य, न्यायशास्त्र आदि

²⁶ कथा—संग्रह

²⁷ कथा—संग्रह

सब शास्त्रों का अध्ययन कर षट्दर्शन के पारगामी बने। काशी में विद्याभ्यास कर उन्होंने पाँच सौ पण्डितों को वाद में पराजित किया। शब्द-विद्या की विशालता, बुद्धि की प्रबलता, तर्कशक्ति की प्रखरता, वक्तृत्वकला में वाचालता आदि अनेक बाह्य-शक्तियों का बल प्राप्त होने पर वे गर्विष्ठ बन गए। प्रवचन-सभा में वे अपने शक्ति-प्रदर्शनरूप पाँच-पाँच ध्वजा अपने समक्ष रखते थे। एक बहन ने वंदन कर उनसे पूछा — “उपाध्यायजी! गौतम स्वामी कितने विद्वान थे ?” यशोविजय जी गंभीर स्वर में कहने लगे — “वे तो महाविद्वान् थे। वे ज्ञान के सिन्धु थे, हम तो बिन्दु भी नहीं हैं।” बहन ने हाथ जोड़कर नम्र निवेदन किया — “प्रभो! फिर वे अपनी व्याख्यान सभा में कितनी ध्वजाएँ रखते थे ?” सहज भाषा में किए गए इस प्रश्न ने श्री यशोविजयजी को झकझोर दिया। उन्हें अपने अहंकार का बोध हुआ।

तपमद —

तप अपूर्व कल्पवृक्ष है, मोक्ष-सुख की प्राप्ति इसका फल है, पर तप का मद करना अच्छा नहीं है। कुछ तपस्याएँ करके व्यक्ति अपने को तपस्वी समझने लगता है, जो विकृति का कारण है। घमण्ड से तपस्या करने वालों की जो शारीरिक-शक्ति है, वह क्षणभर में ही समाप्त हो जाती है। करोड़ों की कीमत का माल कौड़ियों में बिक जाता है। तपस्वियों की निन्दा करना, आशातना करना भी तपमद की कोटि में आता है।

कुरगडु मुनि²⁸ को क्षुधावेदनीय-कर्म के उदय से वे भूख को सहन नहीं कर सकते थे। संवत्सरी जैसे पर्वदिवस में भी उन्होंने चावल का आहार लेकर मर्यादा के अनुसार सभी मुनियों को आहार के लिए निमन्त्रित किया। मासक्षमण तपस्वी मुनिवृन्द तपस्या के अहंकार से ग्रस्त था। एक मुनि ने क्रुद्ध होकर आहार पर थूकते हुए कहा— “धिक! संवत्सरी को भी खाने बैठ गए।” इस तिरस्कार से भी मुनि कुरगडु विचलित नहीं हुए, अपितु मुनि के थूक को घी मानकर चावल में मिला लिया। वे विचार करने लगे — ‘अहो! तपस्वी मुनि का प्रसाद प्राप्त हुआ है। मैं तो अधम,

²⁸ कथा संग्रह

पामर, तुच्छ प्राणी हूँ, आहारलुब्ध जीव हूँ, अतः एक दिन के लिए भी आहार-त्याग नहीं कर पाता।' समता के बल से मुनि उसी समय केवलज्ञानी बने।

लाभमद -

पुण्ययोग जब प्रबल होता है; तब पग-पग पर सफलता की विजयमाला मिलती है। अपने पुरुषार्थ से कमाए हुए लाभ पर व्यक्ति को गर्व होता है। कई बार अचानक लाभ हो जाने पर भी व्यक्ति घमण्डी हो जाता है, इस कारण वह दूसरों का अपमान भी कर देता है। लाभमद पतन का कारण है। लाभ का सदुपयोग हो, तो ही वृद्धि को प्राप्त होता है, वरना नष्ट हो जाता है, अतः लाभमद त्याज्य है। लाभ लोभ को बढ़ाता है। कहा भी है - लाहा लोहो पवड्ढई - उत्तराध्ययनसूत्र 8/17

सुभूम चक्रवर्ती²⁹ षट्खण्डाधिपति थे। चक्रवर्ती पदभोक्ता, चौदह रत्नों के स्वामी सुभूम को अतुल सम्पदा प्राप्त होने पर भी संतोष नहीं था। सप्तम खण्ड जीतने की उनकी भावना बलवती बनने लगी। देववाणी से इन्कार होने पर भी विजयोन्माद में उनके कदम बढ़ चले। अथाह जलराशि पर तैरता देवाधिष्ठित जलयान - अचानक एक देव के मन में विचार आया - यदि मैं कुछ क्षणों के लिए अपना स्थान छोड़ दूँ, तो क्या हानि हो ? यही विचार उन समस्त देवों के मन में उसी समय आया, जिन्होंने जहाज संभाला हुआ था। देवों के जहाज से हटते ही वह जलयान सागर की अतल गहराई में जा पहुंचा और सातवें खण्ड की विजय का स्वप्न लिए सुभूम चक्रवर्ती अगली जीवन-यात्रा पर चल पड़ा।

ऐश्वर्यमद -

धन, धान्य, जमीन, जायदाद आदि का मद करना ऐश्वर्यमद है। ए चीजें अस्थायी हैं; सदैव बनी नहीं रहती, अतः इनका मद नहीं करना चाहिए। सम्पत्ति व

²⁹ कथा-संग्रह

सत्ता का मोह व्यक्ति को भ्रान्त किए बिना नहीं रहता है, क्योंकि सम्पत्ति आसक्ति को एवं सत्ता अहंकार को जन्म देती है। इस संबंध में एक विद्वान् ने कहा है —

यौवनं धन—सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।

एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयः ॥

अर्थात्, युवावस्था हो, प्रचुर धनराशि हो, उस पर अपनी ही सत्ता हो और विवेक का अभाव हो —इन चारों में से एक भी अवगुण अनर्थकारी है, फिर चारों एक साथ हों, तो कहना ही क्या ? अर्थात् घोर अनर्थ होगा। मैं अतुल वैभवसम्पन्न हूँ —ऐसा अभिमान ऐश्वर्यमद कहलाता है।

भगवान् महावीर एक बार दशार्णपुर नगर के बाहर उद्यान में पधारे। राजा दशार्णभद्र³⁰ हाथी पर सवार होकर विशाल लाव—लश्कर से सुसज्जित चतुरंगिणी सेना, नाना प्रकार के नृत्यगान—वृंद एवं वाद्ययन्त्रों सहित ठाठ—बाट के साथ, सोना—चाँदी तथा रत्नों का दान देता हुआ प्रभु के पास पहुंचा और उनका वंदन किया। राजा को गर्व था कि जिस समृद्धि के साथ मैंने प्रभु को वंदन किया, ऐसा वन्दन करने को चक्रवर्ती तथा शक्रेन्द्र भी समर्थवान नहीं हैं। अवधिज्ञान से शक्रेन्द्र ने जब विशाल जुलूस के साथ गर्वोन्नत राजा को देखा, तब तत्काल इन्द्र अपनी पूर्ण व्यवस्था के साथ प्रभु के वंदन हेतु आए, इन्द्र के विमान को देख राजा विस्मय—मुग्ध हो गया —“कैसा अद्भुत विमान। हजारों हाथी, एक—एक ऐरावत हाथी की आठ—आठ सूँड। प्रत्येक सूँड पर विराट कमल। कमल की कर्णिकाओं पर नृत्य करती अप्सराएँ।” दशार्णभद्र का चेहरा निस्तेज हो गया। उसका अहंकार बर्फ की तरह गलने लगा, ऐश्वर्यमद बिखर गया। संयमरंग में उसका मन रंग गया और वह प्रभु चरणों में दीक्षित हो गया।

3. दर्प — बल से उत्पन्न अहंकार³¹ अथवा गर्व में चूर होकर दुष्टता का परिचय देना दर्प है।

³⁰ सामायिकसूत्र, गाथा 1

³¹ दर्पो बलकृतः । — तत्त्वार्थसूत्राधिगम, भाष्यवृत्ति 8/10 की टीका

4. स्तम्भ – नम्रता का अभाव, न झुकने की मनोवृत्ति स्तम्भ है।³² कषायपाहुड में अनर्गल या वचनालाप को स्तम्भ कहा गया है।
5. गर्व – शक्ति का अहंकार³³ या जाति आदि का अहंकार करना गर्व है।
6. आत्मोत्कर्ष – अपनी विद्वत्ता, विभूति या ख्याति की उच्चता का भाव आत्मोत्कर्ष है।
7. परपरिवाद – अहंकार की वह मनोदशा, जिसके वशीभूत मनुष्य दूसरों की हीनता प्रदर्शित करता है।
8. उत्कर्ष – उत्कृष्टता की भावना,³⁴ अथवा अपनी ऋद्धि का प्रदर्शन उत्कर्ष मान है।
9. अपकर्ष – अभिमानपूर्वक हिंसक प्रवृत्ति में संलग्न होना अथवा अन्य किसी को उस क्रिया में प्रवृत्त करना अपकर्ष है।
10. उन्नत – मानवश नीति का त्याग करके अनीति करना।
11. उन्नाम – वन्दनीय को वन्दन न करना, नमस्कार करने वाले को प्रति-नमस्कार नहीं करना।
12. दुर्नाम – दोषपूर्ण नमन, वन्दनीय को अभिमान, अनिच्छा एवं अविधि से वन्दन करना।

कषायपाहुडसूत्र³⁵ में मान के दस पर्याय उल्लेखित हैं – मान, मद, दर्प, स्तम्भ, उत्कर्ष, प्रकर्ष, समुत्कर्ष, आत्मोत्कर्ष, परिभव, उत्सिक्त। इन दस पर्यायों में चार पर्याय 'भगवतीसूत्र' में निर्दिष्ट पर्यायों से भिन्न हैं।

प्रकर्ष – अपनी विद्वत्ता, विभूति अथवा ख्याति को प्रकट करना।

³² स्तंभनात् स्तंभः अवनतेरभावात्।, तत्त्वार्थसूत्राभिगम, भाष्यवृत्ति 8/10 की टीका

³³ गर्वो जात्यादिः। – वही

³⁴ सूत्रकृतांग, 1/2/51

³⁵ कषाय घूर्णि/ अ 9/गाथा 87 का हिन्दी अनुवाद

समुत्कर्ष – उत्कर्ष और प्रकर्ष के लिए समुचित पुरुषार्थ करना।

परिभव – दूसरे का तिरस्कार या अपमान।

उत्सिक्त – आत्मोत्कर्ष से उद्धत या गर्वयुक्त होना।

अहंभाव की तीव्रता और मन्दता के अनुसार मान के चार भेद हैं³⁶ –

1. अनंतानुबन्धी-मान – अनंतानुबन्धी मान सबसे विकट है। यह पत्थर से बने स्तंभ के समान है। बहुत कोशिश करने से भी स्तंभ झुकता नहीं है, टूट जाता है, पर मुड़ता नहीं है, उसी प्रकार अनंतानुबन्धी मान से युक्त जीवात्मा कितने ही प्रयत्न किए जाने पर भी अभिमान नहीं छोड़ता है। वह प्राण न्यौछावर कर देता है, परन्तु समझने-झुकने और माफी मांगने को तैयार नहीं होता है। “पत्थर के खंभे के समान जीवन में कभी नहीं झुकने वाला अहंकार आत्मा को नरकगति की ओर ले जाता है।”³⁷

2. अप्रत्याख्यानी-मान – अप्रत्याख्यानी-मान अस्थि के समान कहा गया है। जिस प्रकार अस्थि बहुत सारे उपाय करने पर भी महा कष्ट एवं महा मुश्किल से मुड़ती है, उसी प्रकार अप्रत्याख्यानी-मान से युक्त जीवात्मा बहुत कठिनाई से समझता है, झुकता है।

3. प्रत्याख्यानी-मान – प्रत्याख्यानी-मान लकड़ी के समान है। नेतर की डंडी जल्दी मुड़ जाती है, परन्तु लकड़ी की डंडी जल्दी नहीं मुड़ती है, बहुत कोशिश करने पर मुड़ती है। ठीक उसी प्रकार प्रत्याख्यानी-मान वाला जीव जल्दी नहीं झुकता है।

4. संज्वलन-मान – मान व्यक्ति को नमने से रोकता है, खमने से टोकता है। चार प्रकार के मान में से संज्वलन मान नेतर की डंडी के समान कहा गया है। जिस

³⁶ क) तिनिशलता-काष्ठास्थिक-शैलस्तंभोवमो मानः – प्रथम कर्मग्रन्थ गा. 19

ख) चत्तारि थंमा पण्णत्ता तं जहा 1. सेलथंभे, 2. अट्ठिथंभे, 3. दारुथंभे, 4. तिणिसलाताथंभे – स्थानांगसूत्र 4/2/293

ग) समवायांगसूत्र 16/111

³⁷ स्थानांगसूत्र – 4/2

प्रकार नेतर की डंडी आसानी से मुड जाती है उसी प्रकार संज्वलन-मान वाला व्यक्ति भी आसानी से समझ जाता है और मद का त्याग कर देता है।

मानोत्पत्ति के कारण

स्थानांगसूत्र³⁸ और प्रज्ञापनासूत्र³⁹ में मानोत्पत्ति के चार कारण बताए गए हैं—

1. क्षेत्र के कारण — खेत, भूमि, आदि अधिक होने पर मान करना।
2. वास्तु के कारण — घर, दुकान, फर्नीचर आदि के कारण मान करना।
3. शरीर के कारण — शरीर की सुन्दरता, लावण्य, श्रेष्ठ स्वस्थ शरीर के प्राप्त होने पर मान करना।
4. उपधि के कारण — सामान्य साधन-सामग्री, कार, मोटर, वाहन, सुविधा आदि अनुकूल होने पर मान करना।

स्थानांगसूत्र⁴⁰ में मान-उत्पत्ति के आठ एवं दस स्थानों का भी उल्लेख है। निम्न दस कारणों से पुरुष अपने आपको 'मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ' ऐसा मानकर अभिमान करता है। मद के आठ प्रकारों में जाति, कुल, बल आदि श्रेष्ठ होने पर वे मानोत्पत्ति का कारण बनते हैं।

1. मेरी जाति सर्वश्रेष्ठ है — इस प्रकार जाति के मद से।
2. मेरा कुल सबसे श्रेष्ठ है — इस प्रकार कुल के मद से।
3. मैं सबसे अधिक बलवान् हूँ — इस प्रकार बल के मद से।
4. मैं सबसे अधिक रूपवान् हूँ — इस प्रकार रूप के मद से।
5. मेरा तप सबसे उत्कृष्ट है — इस प्रकार तप के मद से।

³⁸ चउहिं ठाणेहिं माणुप्पती सिता, तं जहा —खेतं, पडुच्चा, वत्थुं पडुच्चा,
सरीरं पडुच्चा, उवहि पडुच्चा। एवं णेरइपाणं जाव वेमाणियाणं। — स्थानांगसूत्र 4/1/81

³⁹ प्रज्ञापनासूत्र, पद 14, सूत्र 961

⁴⁰ दसहिं ठाणेहिं, अहमंतीति थंभिज्जा तं जहा — जातिमएण, वा, कुलमएण में अंतियं हव्वमागच्छंति,
पुरिसधम्मातो. वा मे उत्तरिए, आहोधिए, णाणदंसणे समुप्पणं। — स्थानांगसूत्र, 10/12

6. मैं श्रुत-पारंगत हूँ – इस प्रकार शास्त्रज्ञान के मद से।
7. मेरे पास सबसे अधिक लाभ के साधन हैं – इस प्रकार लाभ के मद से।
8. मेरा ऐश्वर्य सबसे बढ़ा-चढ़ा है – इस प्रकार ऐश्वर्य के मद से।
9. मेरे पास नागकुमार या स्वर्णकुमार देव दौड़कर आते हैं – इस प्रकार के भाव से।
10. मुझे सामान्यजनों की अपेक्षा विशिष्ट अवधिज्ञान और अवधिदर्शन उत्पन्न हुआ है – इस प्रकार के भाव से मान उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त प्रकार के भावों से मान उत्पन्न होता है।

मानोत्पत्ति के निम्न कारण भी हो सकते हैं –

1. दूसरों के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर अपने को महान् समझने की प्रवृत्ति होना।
2. भौतिक वस्तुओं व सुखों में विशेष ममत्व होना।
3. पूर्वसंचित मान-मोहनीय कर्मप्रकृति का उदय होना।
4. अनुकूल परिस्थितियों के हमेशा बनी रहने का मिथ्या भुलावा होना।
5. अपने से ऊँचे और बड़े गुणवानों के प्रति श्रद्धा व आदर का भाव न होना।

गौतम स्वामी ने पूछा – “हे प्रभो! मान किन-किन पर प्रतिष्ठित है, निर्भर है ?” प्रभु ने कहा – “मान चार बातों पर निर्भर है।” इसलिए उसके चार प्रकार हैं – आत्मप्रतिष्ठित, परप्रतिष्ठित, तदुभयप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित।⁴¹

1. आत्मप्रतिष्ठित – जो मान अपने किसी गुण पर या अपनी किसी वस्तु पर प्रतिष्ठित होता है, वह आत्मप्रतिष्ठित-मान कहलाता है, जैसे – ‘मैं कुशल वक्ता हूँ,

⁴¹ चउपतिष्ठिते माणे पण्णत्ते, तं जहा –

आतपडित्ते, परपतिष्ठिते, तदुभयपतिष्ठिते, अपतिष्ठिते। – स्थानांगसूत्र 4/1/77

मैं बहुत बड़ा कलाकार हूँ, मेरे पास नए-पुराने ग्रंथों की सुविशाल लायब्रेरी है, मेरे पास बस, हेलिकॉप्टर, हवाई-जहाज आदि हैं।

3. परिप्रतिष्ठित – जो मान दूसरों की हीनता पर टिका हो, वह परप्रतिष्ठित-मान होता है, जैसे – दूसरे लोग निम्न जाति में उत्पन्न हुए हैं, कमजोर हैं, निरक्षर हैं, निर्धन हैं, डरपोक हैं। उनसे विपरीत मैं उच्च जाति में उत्पन्न हुआ हूँ, बलवान हूँ।

3. तदुभयप्रतिष्ठित – जो मान अपनी उच्चता और दूसरों की हीनता पर एक साथ आधारित हो, वह तदुभयप्रतिष्ठित है, जैसे- वह पापी है, मैं पुण्यात्मा हूँ, वह हिंसक है, मैं अहिंसक हूँ, वह निर्दयी है, मैं दयालु हूँ आदि।

4. अप्रतिष्ठित – जो मान बिना किसी आधार के स्वाभाविक-सा हो, उसे अप्रतिष्ठित मान कहेंगे, जैसे कोई अपने-आपको सबसे बड़ा आदमी समझे, भले ही उसमें बड़प्पन के कोई गुण न हों। यह अविवेक की सीमा है, एक प्रकार का नशा है, बेहोशी की अवस्था है, जिसमें व्यक्ति को न अपने गुण-अवगुणों की समझ है न दूसरों के गुण-अवगुणों की। यह कहते अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अभिमान के कारण पागल बने व्यक्ति इसी श्रेणी में गिने जाते हैं।

यह चार प्रकार के मान नारक से लेकर वैमानिक तक के सभी जीवों में होते हैं।

मान के दुष्परिणाम –

अभिमान, गर्व, अहंकार ए सब मान शब्द के ही समानार्थी हैं। इस मानरूपी शत्रु को पहचानना इसलिए आवश्यक है कि इसके जीवन में प्रवेश होने पर भी हमें यह ख्याल नहीं रहता कि हममें मानरूपी शत्रु प्रवेश कर, हमारे आन्तरिक-परिणामों को दूषित कर रहा है। क्रोध संवेग को तो मानसिक अशांति और शारीरिक क्रियाकलापों से पहचान सकते हैं और शब्दों की अभिव्यक्ति के द्वारा क्रोध का वमन भी शीघ्र हो जाता है, परन्तु क्रोध से भी भयंकर मान है। मान का वमन शीघ्र नहीं होता, वह तो समय के साथ और पुष्ट होता जाता है और अभिमान में चूर होकर

दूसरों को परछाई के समान तुच्छ समझता है।⁴² ज्ञानार्णव में शुभचन्द्राचार्य का कथन है —“अभिमानि विनय का उल्लंघन करता है और स्वेच्छाचार में प्रवर्तन करता है।”⁴³

योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्य ने कहा है⁴⁴ —“मान विनय, श्रुत और सदाचार का हनन करने वाला है, धर्म, अर्थ और काम का घातक है, विवेकरूपी चक्षु को नष्ट करने वाला है।” मान का मोटा अर्थ “मैं” की भावना होना है। अहंकार से ही अभिमान, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि मानसिक दोष उत्पन्न होते हैं। अपने आपको दूसरों से श्रेष्ठ समझना और स्वयं को अधिक महत्त्व देना अहंकार होता है। यह बुद्धि और विवेक को नष्ट करता है तथा अपने मुकाबले दूसरों को तुच्छ समझने की भावना पैदा करता है। अज्ञानी जीव के जब पुण्य का उदय होता है, तब अनुकूल संयोगों की प्राप्ति में मान-मनोविकार का उदय विशेष रूप से होता है। उच्च-कुल, स्वस्थ शरीर, लावण्यवती स्त्री, प्रतिभाशाली सन्तान, सुख-सुविधा, समाज में सत्कार-सम्मान, कार्य में प्रशंसा, कलाकौशल में प्रवीणता आदि कारणों से अभिमान आकाश को छूने लगता है। तप, ज्ञान आदि शक्तियों की प्राप्ति अज्ञानावस्था में मदान्ध बना देती है। अभिमानि के पांव धरती पर नहीं टिकते। वह अपने समक्ष अन्य को तुच्छ मानता है। दर्प एवं दीनता —दोनों मान हैं। प्राप्ति में दर्प और अभाव में दीनता होती है। अपने आपको बड़ा या श्रेष्ठ मानने की भांति अपने आपको तुच्छ मानना भी अहंकार है।

अहंकारी स्वयं को ऊँचा प्रदर्शित करने हेतु अन्य व्यक्तियों का अवर्णवाद (निन्दा) करता है। अन्य व्यक्तियों का तिरस्कार कर उन्हें शत्रु बना लेता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि संसार में अपने समय की बड़ी से बड़ी हस्तियों का अहंकार भी समय आने पर चूर-चूर हुआ है, उन्हें अपमान और तिरस्कार सहन करना पड़ा। अहंकार का जब अतिरेक हो जाता है, तब दो और चार जैसी सीधी

⁴² अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं — सूत्रकृतांगसूत्र, अ.13, गाथा 8

⁴³ करोत्युद्धतधीर्मानाद्विनयाचारलघनम्, ज्ञानार्णव, सर्ग 19, गाथा 53

⁴⁴ विनय-श्रुत-शीलानां त्रिवर्गस्य च घातकः।

विवेक-लोचनं लुम्पन्, मानोऽन्धंकरणो नृणाम्।। — योगशास्त्र, 4/12

बात भी समझ में नहीं आती। प्रजापाल राजा ने अहंकार के कारण अपनी पुत्री मैनासुन्दरी का विवाह कोढ़ी पुरुष के साथ कर दिया।⁴⁵ मंत्री, रानी और सभाजनों—सभी ने मना किया, पर अहंकार के कारण उन्हें कोई समझा न सका। श्रीकृष्ण दुर्योधन जैसे अभिमानी को समझा नहीं सके थे। रावण को भी उसके भाई विभीषण ने और रानी मन्दोदरी ने बहुत समझाया था कि वह सीता को वापस लौटा दे, परन्तु रावण ने किसी की बात नहीं सुनी। खंदक ऋषि ने काचरे के छिलके निकलवाने पर अहंकार किया था, इस कारण उन्हें दूसरे भव में स्वयं की चमड़ी उतरवाना पड़ी। रामायण, महाभारत, आगमशास्त्र, इतिहास आदि के अवलोकन से ज्ञात होता है कि मानवृत्ति एवं अहंकार मानव विकास में सदा बाधक बनकर ही रहा है।

मान के दुष्परिणाम निम्न हैं —

1. मान से विनय—गुण नष्ट होता है —

दशवैकालिकसूत्र में कहा है —‘माणो विणय नासणो’⁴⁶, अर्थात् मान विनय—गुण का नाश करता है और विनय नष्ट होने पर व्यक्ति धर्म करने के लिए योग्य नहीं रहता है, क्योंकि धर्मरूपी महल में प्रवेश करने का द्वार विनय है। ‘विनय धम्मो मूलो’⁴⁷ धर्म का मूल विनय कहा गया है। कषाय—इन्द्रिय विनयनं विनयः⁴⁸— अर्थात् जिसके द्वारा कषाय एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखा जाए, वह विनय कहलाता है। जो साधक गर्व, क्रोध, माया और प्रमादवश गुरुदेव के समीप विनय नहीं सीखता, तो उसके अहंकारादि दुर्गुण उसके ज्ञानादि वैभव के विनाश का कारण बन जाते हैं;

⁴⁵ श्रीपालमयणा चरित्र

⁴⁶ दशवैकालिकसूत्र 8/38

⁴⁷ उत्तराध्ययनसूत्र

⁴⁸ उत्तराध्ययनसूत्रटीका —पत्र 16 (शान्त्याचार्य)

जैसे बांस का फल उसी के विनाश के लिए होता है। अतः मान के कारण मनुष्य साधना की ओर प्रगति नहीं कर सकता।⁴⁹

2. पाप का मूल अभिमान –

तुलसीदासजी ने कहा है – “दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान”, अभिमानी व्यक्ति स्वयं को सब कुछ समझता है। उसे अपने सामने अन्य सभी लोग बौने दिखाई देते हैं। अभिमानी जमाली ने भगवान महावीर स्वामी के सिद्धांतों को भी गलत माना और कहा कि वह जो कहता है, वही सच और सही है। कड़े-कड़े –यही सत्य है, परमात्मा का सिद्धान्त – ‘कड़ेमाणे कड़े’ झूठा है। जमाली अभिमान के अधीन बन गए और उनका पतन हो गया।⁵⁰ मद आते ही आत्मा पतन की ओर बढ़ती चली जाती है और अहंकार से चिकने धर्मों का बंध होता है।⁵¹

3. अभिमान से नीच गति की प्राप्ति –

जो अभिमान करता है, अपने कुल का मान करता है, उसे नीच गति की प्राप्ति होती है। भगवान् महावीर स्वामी ने मरीचि के भव में अभिमान किया था मेरे दादा प्रथम तीर्थंकर, मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती,मैं प्रथम वासुदेव बनूंगा, अहो! मेरा कुल उत्तम है। कुल के अभिमान के कारण मरीचि को महावीर के भव में देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में अवतरित होना पड़ा।⁵² उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा है— ‘माणेण अहमागई’⁵³ अर्थात् मान के कारण ही नीच गति प्राप्त होती है।

⁴⁹ उत्तराध्ययन सूत्र 9/1/1

⁵⁰ भगवतीसूत्र श.1/उ.1

⁵¹ ण बाहिरं परिभवे, अत्ताणं ण समुक्कसे
सुयलाभे ण मज्जिज्जा, जच्चा तवस्सिबुद्धिए – दशवैकालिकसूत्र 8/30

⁵² श्री कल्पसूत्र, महावीर प्रभु के सत्ताईस भव

⁵³ उत्तराध्ययन

4. मान गुणों का नाशक और तिरस्कार का पात्र बनाता है —

अहंकारी व्यक्ति सर्वत्र तिरस्कार का पात्र बनता है, उसे कोई नहीं चाहता है, क्योंकि वह स्वयं अपने को बड़ा मान बैठता है। अहंकार एक ऐसा विषवृक्ष है, जो बिना बोए ही उग जाता है और जीवन में रहने वाले सारे सद्गुणों के उद्यान को बर्बाद कर देता है। रावण एक हजार विद्याओं का जानकार था और प्रभु-भक्ति के कारण नामगोत्र का उपार्जन किया, पर सती सीता के अपहरण और अभिमान के कारण उसके सारे सद्गुणों का नाश हो गया और लोक में तिरस्कार का पात्र बना। दशवैकालिकसूत्र में कहा है —“क्रोध, मान, माया और लोभ दुर्गुण हैं, अतः इनका त्याग करो।”⁵⁴

5. दुःख का कारण मान —

कला, बुद्धि आदि जिस-जिस क्षेत्र में व्यक्ति अपने को निपुण समझने लगता है, उस-उस क्षेत्र में उसकी आगे बढ़ने की क्षमता घटने लगती है। ईर्ष्या, द्वेष, कलह, लालच, ममत्व आदि अनेक बुराईयाँ धीरे-धीरे बढ़ती रहती हैं, जिसके फलस्वरूप उत्तरोत्तर दुःख बढ़ता है।

6. मान मृत्यु का कारण भी बनता है —

अभिमानि व्यक्ति अपने-आपको महान और श्रेष्ठ समझता है। जब अभिमान का नशा चढ़ा हुआ रहता है, तो वह स्वजन-परिजनों को भी अनदेखा कर देता है। उसका मात्र उद्देश्य अपने स्तर {Status} को ऊँचा उठाना होता है और इस कारण वर्तमान समय में उधारी, जमाखोरी और रिश्वत जैसी बुराईयाँ अपने जीवन के स्तर को ऊपर उठाने के लिए ही की जा रही हैं। जब व्यक्ति उधारी को चुका नहीं पाता और रिश्वत लेते पकड़ा जाता है, तो अपने मान-सम्मान को ठेस न लगे इसलिए वह आत्महत्या जैसे कृत्य भी सहजता से कर लेता है। अहंकार व्यक्ति को अंधा बना देता है। ऐसा व्यक्ति तनाव-ग्रस्त रहता है, शक्ति तोले बिना चुनौती देकर जब

⁵⁴ दशवैकालिकसूत्र 8/38

परास्त होता है, तब मरण हेतु उद्यत होता है। अभिमानी दुर्गति को आमंत्रण देता है तथा कालान्तर में वह उस शक्ति से च्युत हो जाता है।

7. संघर्ष और युद्ध का कारण मान —

प्राचीन और वर्तमान समय में संघर्ष और युद्ध का एक कारण अहंकार और मान भी है। महाभारत का भीषण युद्ध अहंकार का ही परिणाम है। श्रीकृष्ण शान्ति स्थापित करने के लिए कौरवों को कहा कि मात्र पांच राज्य ही पाण्डवों को दे दो, तो प्राणनाश किए बिना ही शान्ति हो जाएगी। परन्तु अहंकार की अंतर्गजना से बहरे कानों में शान्ति—प्रस्ताव की शब्दावली प्रवेश ही नहीं कर पाई। दुर्योधन ने तिरस्कार रूपी शब्दों में कहा —“मैं पाण्डवों के लिए सुई की नोक जितनी धरती का भी परित्याग करने के लिए तैयार नहीं हूँ।”⁵⁵ अहंकार से भरे इस उत्तर के उपरान्त कुरुक्षेत्र के मैदान में जो घटित हुआ, उसे हम सब जानते हैं। वर्तमान समय में, अमेरिका और रूस अपने—अपने बल के अहंकार में कैसे—कैसे विनाशक अस्त्र—शस्त्रों का उत्पादन कर रहे हैं और युद्ध को प्रेरित कर रहे हैं।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि गुणों का गर्व व्यक्ति को अवगुणी बनाता है, धन का गर्व निर्धन बनाता है, रूप का गर्व कुरूप बनाता है। मेरे पास बहुत धन है, ऐश्वर्य है, मैं दिन को रात और रात को दिन बना सकता हूँ —ऐसी अहंकारी भाषा बोलने वाले को भी याद रखना चाहिए कि जब रावण, प्रजापालराजा, दुर्योधन, हिटलर आदि भी अपना अस्तित्व टिका न पाए, तो हमारी तो बात ही क्या ? अतः, अहंकार को विनम्रता से जीतने का प्रयास करना चाहिए। “अभिमान को जीत लेने से मृदुता (नम्रता) जाग्रत होती है,”⁵⁶ और “निरभिमानी मनुष्य जन और स्वजन सभी को सदा प्रिय लगता है। वह ज्ञान, यश और संपत्ति प्राप्त करता है तथा अपना प्रत्येक

⁵⁵ यावद्धि सूच्यातीक्ष्णाया विध्येदग्रेण माधव।

तावदप्यपरित्याज्यं भूमेनः पाण्डवान्प्रति ॥ — महाभारत 125/26

⁵⁶ माणविजए णं महवं जणयई। — उत्तराध्ययनसूत्र 29/68

कार्य सिद्ध कर सकता है।⁵⁷ अगले अध्याय में मान पर विजय किस प्रकार से प्राप्त की जाए—इस बात की विस्तृत व्याख्या करेंगे।

मान पर विजय के उपाय

फल-फूलों से लदा हुआ पेड़ जैसे सहज ही झुक जाता है, वैसे ही गुणों के भार से आत्मा विनम्र होती है, झुक जाती है, पर अहंकार इंसान की एक बहुत बड़ी कमजोरी है, इसी अहंकार के पोषण में इंसान सब कुछ समर्पित करने को तैयार हो जाता है। सत्ता, सम्पदा और शक्ति को पाकर भले ही हम अहंकार करने लगे, पर इसका स्थायित्व नहीं है। भारतीय-संस्कृति लघुता से प्रभुता पाने की संस्कृति है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि मान विनय का नाश करने वाला है,⁵⁸ अतः मान पर विजय मृदुता से प्राप्त की जा सकती है।⁵⁹ अनुदित मान का निरोध और उदय प्राप्त का विफलीकरण—यह मान-विजय है। मान-विजय से मान के कारण होने वाली हानियों से सहज ही बचा जा सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—“मानविजय से विनय गुण की प्राप्ति होती है, मान-वेदनीयकर्म नहीं बंधता है तथा पूर्व में बंधे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है।”⁶⁰

मान को जीतना एक दुष्कर कार्य है, फिर भी निम्न प्रकार से मान पर विजय प्राप्त कर सकते हैं :-

1. शरीर की स्वस्थता, सुन्दरता का गर्व होने पर अशुचि भावना का चिन्तन करना चाहिए। शरीर क्या है ? अस्थि, मज्जा, रक्त, मल-मूत्र इत्यादि दुर्गन्धमय

⁵⁷ सयणस्स जणस्स पिओ, णरो, अमाणी सदा हवदि लोए।

गाणं जसं च अत्थं, लभदि सकज्जं च साहेदि।। — भगवती आराधना, 1379

⁵⁸ माणो विणयणासणो —दशवैकालिक 8/38

⁵⁹ माणं मद्दवया जिणे —वही 8/39

⁶⁰ माणं विजएणं मद्दवं जणयइ, माण वेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ। — उत्तराध्ययनसूत्र 29/69

पदार्थों से निर्मित चमड़े की चादर से ढंकी यह देह है। श्रीमद् राजचन्द्र के शब्दों में⁶¹—

खाण मूत्र ने मल नी, रोग जरा नुं निवास नुं धाम।
काया एवी गणी ने, मान त्यजी ने कर सार्थक आम।।

न जाने कब आरोग्य बिगड़ जाए, सुरुपता कुरुपता में परिवर्तित हो जाए। राजा श्रेणिक ने राजगृही के राजपथ से गुजरते हुए नगर के बाहर तीव्र दुर्गन्ध का अनुभव किया। खोजबीन के पश्चात् ज्ञात हुआ — दुर्गन्धा नामक बाला की देह से यह गन्ध फैल रही थी। प्रभु महावीर के समक्ष इस घटना की चर्चा करने पर प्रभु ने कहा —“राजन! यह दुर्गन्धा कुछ ही समय में दुर्गन्ध से मुक्त होकर सौन्दर्य—प्रतिमा बनकर निखरेगी और भविष्य में तुम्हारी रानी बनेगी।” कुरुपता सुरुपता में और सुरुपता कुरुपता में परिवर्तित होती है। अथाह रूपराशिसम्पन्न राजकुमार चक्रवर्ती की देह कालान्तर में सोलह रोगों से ग्रस्त हो गई थी, अतः हे जीव! देह की सुन्दरता का क्या अभिमान करना।⁶²

2. सत्ता, सम्पत्ति, सुविधा, साधन, सत्कार, सम्मान, स्वजन, साथी, स्मृति आदि में अहंकार पुष्ट होने पर विचार करना चाहिए। हे आत्मन्! पुण्य—कर्म के उदय से तुझे ए सब अनुकूलताएँ प्राप्त हुई हैं। पाप—कर्म के उदय से प्रतिकूलताएँ मिलती हैं। पुण्य और पाप —दोनों कर्म हैं, जड़ तत्त्व हैं। जीव और जड़ सर्वथा भिन्न तत्त्व हैं। जड़ तत्त्व के आधार पर अपना मूल्यांकन करना अज्ञान है। “जीव सदा से शुद्ध और अरूपी है, परमाणुमात्र भी तीन काल में मेरा होता नहीं”⁶³ फिर बाह्य साधन के संग्रह और सत्कार से तू क्यों मान करता है।”

3. जहाँ मद (अहंकार) है, दूसरों से अपने को उच्च समझने का भाव है, वहाँ मृदुता नहीं जड़ता है। जहाँ जड़ता है, वहाँ कठोरता है, वहाँ हृदयहीनता है। ऐसे

⁶¹ तत्त्वज्ञान। पृ. 149

⁶² कषाय : एक तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. साध्वी हेमप्रज्ञा, पृ. 140

⁶³ समयसार, गाथा 38

व्यक्ति के हृदय में आत्मीयता या करुणा जग नहीं सकती है। इसके विपरीत, जहाँ निरभिमानता है, विनम्रता है, उसमें अपने को दूसरों से बड़ा समझने का भाव नहीं आता, दूसरों को भी अपने ही समान समझने का भाव जगता है। इसी प्रकार, मद का मर्दन करना ही मार्दव है, जो मद, मान, अहंकार के त्याग से ही संभव है। जैसा कि कहा गया है —“जो मनस्वी पुरुष, कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत और शील आदि के विषय में थोड़ा भी मद नहीं करता है, उसके मार्दवधर्म होता है,”⁶⁴ अथवा ‘मृदोर्भावो मार्दवम्’ अर्थात् मृदुभाव का होना मार्दव है। मान—विजय के लिए मार्दव धर्म का पालन सर्वश्रेष्ठ है।

4. स्वजन—परिजन आदि चेतन जगत् के संयोग में भी व्यक्ति अभिमान करता है। स्वजनों की योग्यता का गर्व होता है। पति के कमाऊ होने का गर्व पत्नी को, पत्नी की सुन्दरता का अभिमान पति को होता है। सन्तान की प्रतिभा का अहंकार माता—पिता करते हैं। संयोगों में मान की मनोवृत्ति होने पर अनित्य—भावना का चिन्तन करना चाहिए। संयोग कभी शाश्वत नहीं होता, संयोग का वियोग अवश्य होगा। सराय में आया पथिक जैसे प्रातः समय अपने गन्तव्य की ओर प्रयाण कर जाता है, संध्याकाल में वृक्ष पर आए पक्षी भोर होते ही दाना—पानी के लिए अपनी—अपनी दिशा में उड़ जाते हैं; उसी प्रकार आयुष्य क्षय होने पर सब जीव संयोग के धागे तोड़ कर अगली गति में प्रस्थान कर देते हैं। संयोगों में अभिमान कैसा ?

5. धन—सम्पत्ति आदि यदि बहुतायत में मिली है, तो उसका उपयोग दूसरों की सेवा—सहायता में निःस्वार्थ भाव से करने से मान और अहंकार का भाव समाप्त होता दिखाई देता है।

6. सभी प्राणियों को समान एवं आत्मवत् समझें। इससे मान की भावना समाप्त हो जाती है। जब सभी समान हैं, तो कौन छोटा एवं कौन बड़ा ? मूल में

⁶⁴ कुलरुवजादिबुद्धिसु तवसुदसीवेसु गारवं किंचि जो णवि कुब्बदि समणो
मादव—धम्मं हवे तस्स — भगवती आराधना 49/154

आत्मा अनन्तज्ञान, दर्शन, आदि गुणों से युक्त है, फिर अल्प ज्ञानादि में अहंकार कैसा ? बाहुबलीजी को अहंकार के कारण एक साल तक घोर साधना करने पर भी केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, ज्यों ही बहनों के वचन सुन मानरूपी गज से नीचे उतरे, केवलज्ञान प्रकट हो गया। कहा गया है —

मा बहुतु कोऽपि गर्व इह जगति पण्डितोऽहं चैव ।
आ सर्वज्ञो मतिः तरतमयोगेन मतिविभवाः ॥⁶⁵

अर्थात्, मैं पंडित हूँ —ऐसा गर्व कोई न करे, क्योंकि सर्वज्ञ के अलावा भी तरतम योग से मतियुक्त वैभववान् एक—से—बढ़कर—एक मिलेंगे, अतः ज्ञानमान, बड़े छोटे का मान त्यागने योग्य है।

7. आचारांगसूत्र में कहा है —“यह जीवात्मा अनेक बार उच्चगोत्र में जन्म ले चुका है और अनेक बार नीच गोत्र में, इस प्रकार विभिन्न गोत्रों में जन्म लेने से न कोई हीन होता है और न कोई महान् ॥”⁶⁶ इसलिए ऊँच—नीच, गोत्र के अभिमान का त्याग करना चाहिए और सभी को समान दृष्टि से देखने से मान—भाव पर विजय पा सकते हैं।

8. जमीन—जायदाद के स्वामित्व का गर्व किसका टिक पाया है ? “हसन्ति पृथ्वी नृपति नराणां..... ” पृथ्वी उन राजाओं, जागीरदारों पर हँसती हुई कहती है —“मैं कभी किसी के साथ गई नहीं, किन्तु मुझे मेरी—मेरी कहने वाले यहाँ सदा रहे नहीं। किसका गर्व ? और किसलिए गर्व ?

9. मान—जय हेतु विनय—गुण धारण करना चाहिए। योगशास्त्र में कहा है —“दोषरूपी शाखाओं को विस्तृत करने वाले और गुणरूपी मूल को नीचे ले जाने वाले मानसरूपी वृक्ष को मार्दव नम्रतारूपी नदी के वेग से जड़सहित उखाड़ फेंकना चाहिए ॥”⁶⁷

⁶⁵ पुष्प—पराग, मुनि श्री जयानन्दविजयजी, पृ. 156

⁶⁶ से असइं उच्चागोह, असहं नीआगोए ।

नी हीणे, नो अइरित्ते..... । — आचारांगसूत्र 1/2/3

⁶⁷ उत्सर्पयन् दोषशाखा गुणमूलान्यधो नयन् ।

उन्मूलनीयो मानद्रुस्तन्मार्दव—सरित्त्वैः ॥ — योगशास्त्र 4/14

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है – मान का प्रतिपक्षी गुण विनय है। विनय के अनेक भेद हैं— लोकोपचार, अथात् माता—पिता का विनय करना। लोकोत्तर, अर्थात् मोक्ष हेतु से विनय करना। भय, अर्थलिप्सा, या कामभोग आदि से किया गया विनय (नमन) उत्तम विनय नहीं है। विनय सहज हो, हर परिस्थिति में हो, तभी वह विनय मान पर विजय प्राप्त करा सकता है। 'चण्डरुद्राचार्य'⁶⁸ को कन्धे पर बैठाकर जंगल पार करते हुए नूतन मुनि ने गुरु के समस्त कर्कश वचनों एवं ताड़ना—तर्जना पर परमविनय रखा। उनके हृदय में एक भी असत् विकल्प उत्पन्न नहीं हुआ। मान—मर्दन होने पर और क्रोधादि मनोभावों का क्षय करते हुए मुनि ने केवलज्ञान का वरण किया।

द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण का प्रसिद्ध प्रसंग है – जीर्ण—शीर्ण वस्त्रों में सुदामा के आने पर भी विनम्र भाव से भावविभोर होकर श्रीकृष्ण पाँव धोने के लिए स्वयं बैठे। धूलि—धूसरित पाँवों का प्रक्षालन करने के लिए पानी लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी—

ऐसे बेहाल बिवाइन सों पग, कंटक जाल लगे पुनि जोए,
हाय महादुख पायो सखा तुम, आए, इतौ न कितै दिन खोए।
देखि सुदामा की दीन दसा, करुणा करि कै करुणानिधि रोए,
पानी परात को हाथ छुओ नहि, नैनन के जल सों पग धोए।।

सम्यग्दृष्टि से अधिक देश—विरत श्रावक एवं उससे अधिक संयत (मुनि) में मान मनोभाव की मन्दता होती है। भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य चौदह हजार श्रमणों के नायक गौतम गणधर एक श्रावक से क्षमा—याचना करने गए। क्षमा—प्रार्थना करने में अहंकार बाधक नहीं बना।

तन का झुकना ही विनय नहीं है, बल्कि मन का झुकना विनय है। आदर, सत्कार, मान, बड़ाई को छोड़ना बहुत दुष्कर है, किन्तु असंभव नहीं। यदि व्यक्ति मान के कारण होने वाली हानियों को समझे, तो इनको छोड़ सकता है। साधना में अहंकार जहर है, भले ही वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो। अहंकार के कारण

⁶⁸ उत्तराध्ययनसूत्र अ. 29, गा. 69

किया गया जप, तप, सामायिक, स्वाध्याय और ज्ञान निष्फल हो जाता है। अतः हम अहंकार को छोड़ विनय को अपनाएँ। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है –‘अपनी आत्मा को हित चाहता हुआ साधक अपने को विनय में स्थापित करे।’⁶⁹ जैसे हवा से भरे फुटबाल को खेल के मैदान में चारों ओर से पैरों की मार खाना पड़ती है, उसी प्रकार अभिमान से भरे जीव को भी कर्म की मार खाना पड़ती है। इसलिए मान का त्याग कर उस पर विजय प्राप्त कर मोक्ष-पथ पर अपने कदमों को बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए।

-----000-----

⁶⁹ विणए ठवेज्ज अप्पाणां, इच्छंतो हियमप्पणो । — उत्तराध्ययनसूत्र, 1/6

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 8 माया संज्ञा

1. माया का स्वरूप
2. माया के विभिन्न रूप
3. माया के दुष्परिणाम
4. माया पर विजय कैसे ?

अध्याय—8

माया—संज्ञा {Instinct of Deceit}

भारतीय और पाश्चात्य-मनोविज्ञान में संज्ञा शारीरिक-आवश्यकताओं एवं मनोभावों की वह मानसिक-संचेतना है, जो मानवीय-व्यवहार की प्रेरक बनती है। जैनदर्शन संज्ञा शब्द को मूलप्रवृत्ति का समानार्थक मानता है। आहारादि चार मूल प्रवृत्तियाँ सभी जीवों में न्यूनाधिक रूप से विद्यमान हैं। ये मूलप्रवृत्तियाँ शरीरजन्य होने से सभी जीवों में पाई जाती हैं। केवली भगवान् को छोड़कर जो शरीरधारी जीव हैं, उनमें ये मूलप्रवृत्तियाँ रहती हैं। जैनागमों में संज्ञा का वर्गीकरण अनेक प्रकार से मिलता है, जिनमें संज्ञा के दशविध वर्गीकरण¹ के अन्तर्गत आहारादि चार मूल संज्ञाओं के साथ-साथ क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय-रूप संज्ञाएँ और लोक एवं ओघ संज्ञा प्रमुख रूप से उल्लेखित हैं। कषायरूप संज्ञाएँ मानसिक विकारों के कारण उत्पन्न होती हैं और प्राणीय-व्यवहार की प्रेरक बनती हैं। क्रोध-संज्ञा एवं मान-संज्ञा की विस्तृत व्याख्या के पश्चात् अब हम माया-संज्ञा की विवेचना करेंगे, जिसमें माया-संज्ञा, अर्थात् कपटवृत्ति का स्वरूप, भेद एवं दुष्परिणामों के साथ-साथ, कपटवृत्ति पर विजय किस प्रकार से प्राप्त की जाए, यह भी बताने का प्रयास करेंगे।

माया शब्द मा+या से बना है। 'या' का अर्थ 'जो' तथा 'मा' का अर्थ 'नहीं' है। इस प्रकार, जो नहीं है, उसको प्रस्तुत करना माया है, इसे दूसरे शब्दों में कपटाचार भी कहा जा सकता है। माया-संज्ञा से तात्पर्य कपटवृत्ति से है। मुख्यतः, हृदय की वक्रता का नाम माया है। "माया मोहनीयकर्म के उदय से अशुभ-अध्यवसायपूर्वक मिथ्याभाषण आदि रूप कुटिल वाग्व्यापार की प्रवृत्ति को माया-संज्ञा कहते हैं।"² प्रवचनसारोद्धार में कहा है — मायाकषायजन्य, संक्लेशपूर्वक

¹ प्रज्ञापनासूत्र, 8/725

² वही, 8/725

असत्यभाषण आदि करना माया-संज्ञा है।³ जीव की माया-कपट रूप मनःस्थिति को माया-संज्ञा कहते हैं।⁴ अभिधानराजेन्द्रकोश के अनुसार मोहनीयकर्म के माया नामक उपकर्मप्रकृति के उदय से असत्यवचनादिरूप जो क्रियाएं होती हैं, उन्हें माया नामक संज्ञा से अभिहित किया जाता है।⁵

माया का स्वरूप -

मुख्यतः हृदय की वक्रता का नाम माया है। जैसे बंजरभूमि में बोया बीज निष्फल हो जाता है, मलिन चादर पर चढ़ाया केसरिया रंग व्यर्थ हो जाता है और नमक लगे बर्तन में दूध विकृत हो जाता है; ठीक वैसे ही माया-बुद्धि से किया गया धर्म-कार्य भी सफल नहीं हो पाता है। अणगार-धर्माभूत में मायावी का निम्न स्वरूप बताया गया है - 'जो मन में होता है, वह कहता नहीं है, जो कहता है, वह करता नहीं है, वह मायावी होता है।'⁶ आचारांगसूत्र में कहा गया है - मायावी और प्रमादी बार-बार जन्म लेता है, उसका संसार-परिश्रमण कभी समाप्त नहीं होता। कितनी भी साधना हो, पर यदि माया-रूपी मनोभाव कृश नहीं हुए, तो सम्पूर्ण साधना निरर्थक है।⁷ वस्तुतः, मायावी शहद लगी छुरी के समान होता है, जो मृदु व्यवहार से विश्वास जगाकर विश्वासघात करता है। वह स्वार्थसिद्धि में चतुर, छल-कपट का आश्रय लेकर विश्वासघात करता है। क्रोध और मान तो खुलकर प्रहार करते हैं, परंतु माया छिपकर घात करती है। वह व्यक्ति की आध्यात्मिक-प्रगति में बाधा डालती है और उन्नति के मार्ग को अवरुद्ध करती है।⁸ माया गति को ही नहीं माया सौभाग्य को भी नष्ट दुर्भाग्य को जन्म देती है।⁹ दूसरों के साथ माया करके हम थोड़ी देर के लिए

³ प्रवचनसारोद्धार, भाग-2, द्वार-146, साध्वी हेमप्रभाश्री, पृ.80

⁴ दण्डकप्रकरण गाथा-12

⁵ मायोदयेनाशुभसंकेत्शादनृतसंभाषणादिक्रियैव, संज्ञायतेऽनयेति माया संज्ञा - अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग 6/255

⁶ यो वाचा स्वमपि स्वान्तं - धर्माभूत, अ 6, गा. 19

⁷ माई पमाई पुण एइ गब्भं - आचारांगसूत्र 1/3/1

⁸ माया गइपडिग्घाओ। - उत्तराध्ययनसूत्र

⁹ दुर्भाग्यजननी माया, माया दुर्गतिकारणम्।। - विवेकविलास

थोड़ा-सा लाभ भले ही प्राप्त कर लें, परंतु सत्य बात मालूम होते ही भयंकर हानि उठाना पड़ती है। मित्रता का आधार विश्वास है और “माया इसी विश्वास को मिटाकर मित्रों की संख्या घटा देती है।”¹⁰

सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में आत्मा के कुटिल भाव को माया कहा गया है।¹¹

राजवार्त्तिक में दूसरे को ठगने के लिए जो कुटिलता या छल आदि किए जाते हैं, वे माया हैं¹² यह बताया गया है।

धवला के अनुसार —‘अपने हृदय के विचारों को छुपाने की जो चेष्टा की जाती है, उसे माया कहते हैं।’¹³

अभिधानराजेन्द्रकोष में माया की जो अनेक परिभाषाएं दी गई हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं और वे माया के स्वरूप को स्पष्ट कर देती हैं —

1. ‘सर्वत्र स्ववीर्यनिगूहने’¹⁴ —

अर्थात्, सब जगह अपनी शक्ति को छिपाना माया है। आलस्य एवं बीमारी आदि का बहाना बनाकर सामर्थ्य होते हुए भी किसी कार्य को करने से इंकार कर देना माया है। आलस्य तो मनुष्य के शरीर में रहने वाला महान् शत्रु है।

आलस्य हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः ॥

यह आलस्य ही हमें मायाप्रवृत्ति करने के लिए प्रेरित करता है और हमें मायावी बनाता है। वस्तुतः, कभी व्यक्ति में किसी कार्य को करने का सामर्थ्य नहीं होता है तो वह आलस्य और बीमारी का बहाना बनाकर मायाचार करता है, और अपनी शक्ति को छिपाता है।

¹⁰ माया मित्ताणि नासेइ । — दशवैकालिक, 8/38

¹¹ आत्मनः कुटिलभावी माया ..। — सर्वार्थसिद्धि, 6/16/334/2

¹² परातिसंघानतयोपहितकौटिल्यप्रायः प्रणिधिर्माया ..। — राजवार्त्तिक 8/9/5/574/31

¹³ स्वहृदयप्रच्छादार्थमनुष्ठानं माया ।— धवला, 12/4

¹⁴ अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग-6, पृ. 251

2. शठतया मनोक्कायप्रवर्तने¹⁵ –

“धूर्त्तापूर्वक की गई मन-वचन-काया की प्रवृत्ति ही माया है। मन की प्रवृत्ति चिन्तन है, वचन की प्रवृत्ति भाषण है और काया की प्रवृत्ति विविध कार्यकलाप हैं। हर समय कोई-न-कोई प्रवृत्ति चलती ही रहती है, परन्तु जब इस प्रवृत्ति में धूर्त्ता का मिश्रण हो जाता है, तब वह माया बन जाती है। व्यक्ति जब न्याय-अन्याय की परवाह न करके अपने अनुचित स्वार्थ की सिद्धि के लिए मन-वचन-काया की कपटरूप प्रवृत्ति करता है, तब वह मायावी कहलाता है।

3. स्व-परव्यामोहोत्पादके वचसि¹⁶ –

अपने को और दूसरों को भ्रम में डालने वाले कथन माया हैं। मोक्ष के लिए केवलज्ञान, केवलज्ञान के लिए कर्मक्षय और कर्मक्षय के लिए जिस त्याग, तप और कायोत्सर्ग-ध्यान की साधना आवश्यक है, उससे बचने के लिए कुतर्क का सहारा लेकर मोक्ष के स्वरूप का ही खण्डन करने का प्रयास करते हुए कहना कि मोक्ष में अथवा सिद्धशिला पर ऐसा क्या है, जो देखने और जानने योग्य हो? यदि नहीं है, तो फिर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनने से क्या लाभ ? सुख वहीं मिल सकता है, जहाँ सुख के साधन हों, फिल्म, टीवी, वीडियो, गेम्स, कवि सम्मेलन आदि मनोरंजन के साधन जो संसार में हैं, वे सिद्धशिला पर नहीं हैं, इस प्रकार जहाँ सुख के साधन ही नहीं हैं, वहाँ सुख कैसे हो सकता है ? जहाँ सुख नहीं उस मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न क्यों किया जाए ? इस प्रकार अपने को और दूसरों को भ्रम में डालने वाले, गुमराह करने वाले कथन करना माया है।

समयसार¹⁷ और शक्रस्तव¹⁸ में जिस 'सिद्धगति' नामक स्थान के लिए ध्रुव, अचल, अनुपम, शिव, अरुज, अनन्त, अव्याबाध और अपुनरावृत्ति जैसे विशेषणों का

¹⁵ अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग-6, पृ. 251

¹⁶ वही

¹⁷ वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ...। – समयसार, गाथा-1

¹⁸ सिवमयलमरू अमणन्त मक्खयमव्वाबाहमपुणराविति सिद्धिगइ नामधेयं ठाणं – शक्रस्तव पाठ

प्रयोग किया गया हो, जहाँ स्थित विशुद्ध जीव सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा अनन्त शाश्वत सुख का अनुभव करनेवाला हो, उसके विषय में ऐसी भ्रामक बातें करना माया है।

4. परवञ्चनाभिप्रायेण शरीराकारनेपथ्यमनोवाक्काय कौटिल्यकरणे¹⁹ —

“दूसरों को ठगने की इच्छा से शरीर के आकार, वेशभूषा, मन, वचन, काया को कुटिल बनाना माया है।”

दूसरों को ठगने के लिए लोग मुंह पर नकाब लगा लेते हैं। विभिन्न देशों—प्रान्तों की वेषभूषा धारण कर अपने को किसी प्रदेश—विशेष का निवासी बताना, मन चंचल भले हो, परन्तु सरल और सहज बताना, अपनी मातृभाषा छोड़कर किसी अन्य प्रदेश की भाषा बोलना, जिससे सुनने वाले लोग उसे अपने प्रदेश का निवासी समझने लगें, काया को कुटिल बनाना, अर्थात् लंगड़ाकर चलना, दोनों आँखें इस तरह रखना जिससे लोग अंधा समझें और दयावश भीख देने लगें, ये सारे कार्य माया के अन्तर्गत आते हैं। संक्षेप में कहें, तो दूसरों को ठगने के लिए या धोखा देने के लिए जो कार्य किए जाते हैं—ऐसे प्रत्येक कार्य माया हैं।

दिखावा, ढोंग, पाखण्ड, आडम्बर, धूर्तता, छल, धोखा, कपट, माया आदि शब्द एक ही अर्थ को सूचित करते हैं। दर्शन से दूर रहकर लोग केवल प्रदर्शन करना चाहते हैं, उनकी यही वृत्ति माया है। दूसरों को ठगकर, धोखा देकर हम भले ही थोड़ी देर के लिए आनंदित हो जाएं और अपने—आपको समझदार मानने लगें, किन्तु हम दूसरों को भले ही छलें, लेकिन छाले तो अपनी आत्मा में ही पड़ेगे। बालक का व्यवहार एकदम निच्छल होता है, किन्तु वही बालक जब पालक बनता है, तो उसका मन चालाक बन जाता है। कहते हैं, जब मन में राग—द्वेष, विषय—कषाय आदि की गांठ पड़ना प्रारंभ हो जाए तो समझ लेना चाहिए कि बचपन खत्म हो गया। सर्प बाहर कितना ही लहराकर टेढ़ा—मेढ़ा चले, किन्तु जब भी वह बिल में प्रवेश करता है, तो उसे सरल और सीधा होना पड़ता है, उसी प्रकार हमारा जीवन संसार में

¹⁹ अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग—6, पृ. 251

कितना ही टेड़ा-मेढ़ा हो, किन्तु अपने आत्मगृह में आने के लिए एकदम सीधा-सरल होना ही पड़ेगा।

माया के विभिन्न रूप —

वस्तुतः, माया की प्रवृत्ति सभी प्राणियों में पाई जाती है। प्रत्येक प्राणी अपने स्वार्थ और लाभ के लिए माया का सहारा लेता है। माया का अर्थ ही है —दूसरों को ठगने का मानसिक परिणाम। दूसरों को ठगने के लिए जो माया करता है, वह परमार्थ से अपने-आपको ही ठगता है। राजा हो या रंक, ब्राह्मण हो या वणिक, सुनार हो या सन्यासी, दम्पति हो या वेश्या, शिकारी हो या चाण्डाल —सभी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए माया के विभिन्न रूपों का प्रयोग करते हैं, जैसे —

- राजा कूटनीति, षड्यंत्र, जासूसी और गुप्त प्रयोगों द्वारा कपटपूर्वक विश्वस्त व्यक्ति का घात करके धन के लोभ से दूसरों को ठगते हैं।
- ब्राह्मण मस्तक पर तिलक लगाकर, हाथ आदि की विविध मुद्राओं का प्रदर्शन करके, मंत्रजाप कर तथा दूसरों की कमजोरी का लाभ उठाकर हृदयशून्य होकर बाह्य-दिखावा करके लोगों को ठग लेते हैं।
- वणिकजन गलत नापतौल करके कपट-क्रिया करते हैं तथा सामान को कम तौलकर भोले-भाले लोगों को ठगते हैं।
- सुनार सोने-चांदी में अन्य धातुओं का मिश्रण कर लोगों को ठगते हैं। कई लोग सिर पर जटा धारण कर, मस्तक मुंडाकर या लम्बी-लम्बी शिखा-चोटी रखवाकर, भस्म रमाकर, भगवा वस्त्र पहनकर या नग्न रहकर, ऊपर से पाखंड रचकर भद्र एवं श्रद्धालु यजमानों को ठग लेते हैं।
- स्नेहरहित वेश्याएं अपने हाव-भाव, विलास, मस्तानी चाल दिखाकर अथवा कटाक्ष करके या अन्य कई तरह के नृत्य, गीत आदि से कामी पुरुषों को क्षणभर में आकर्षित करके ठग लेती हैं।

- जुआरी झूठी सौगन्ध खाकर, झूठी कौड़ी और पासे बनाकर धनवानों से रुपए ऎंठ लेते हैं। महाभारत में दुर्योधन के मामा शकुनि ने मायावी पासों से पाण्डवों को चौपड़ में हराया था और द्रोपदी के साथ ही हस्तिनापुर सहित सब कुछ जीत लिया था।²⁰
- दम्पति, माता-पिता, सगे भाई, मित्र, स्वजन, सेठ, नौकर तथा अन्य लोग परस्पर एक दूसरे को ठगने में नहीं चूकते। धनलोलुप पुरुष निर्लज्ज होकर खुशामद करने वाले चोर से तो हमेशा सावधान रहता है, किन्तु प्रमादी को ठग लेता है।
- कारीगर और चांडाल अपने पुरखों से प्रचलित व्यापार-धन्धे से अपनी आजीविका चलाते हैं, मगर छल से शपथ खाकर अच्छे-अच्छे सज्जनों को ठग लेते हैं।
- क्रूर व्यन्तरदेव, अर्थात् भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस आदि मनुष्यों और पशुओं को प्रमादी जानकर प्रायः अनेक प्रकार से हैरान करते हैं।
- ठगने में चतुर शिकारी मायावी-जाल बिछाकर थोड़े से मांस और दाने का लोभ देकर प्राणियों को पकड़ते हैं।

माया के बहुतेरे रंग और ढंग होते हैं। समवायांगसूत्र में माया के सत्रह पर्यायवाची बताए हैं²¹। ये हैं - माया, उपधि, निकृति, वलय, गहन, न्यवम, कल्क, कुरुक, दम्भ, कूट, जिम्ह, किल्विषिता, अनाचरणता, गूहनता, वंचनता, परिकुंचनता और सातियोग।

²⁰ महाभारत कथा से -

²¹ माया उ वही नियडो वलए। - समवायांगसूत्र, 52/1

भगवतीसूत्र में माया के पन्द्रह समानार्थक नाम दिए गए हैं।²² 'समवायांगसूत्र' में दिए सत्रह पर्यायों में से दम्भ एवं कूट को 'भगवतीसूत्र' में नहीं लिया गया है।²³ इन पर्यायों का अर्थ निम्नोक्त है —

1. माया — कपटाचार, माया का भाव उत्पन्न करने वाला कर्म।
2. उपधि — ठगने के उद्देश्य से व्यक्ति के निकट जाना।
3. निकृति — आदर—सत्कार से विश्वास जमाकर विश्वासघात करना।
4. वलय — वक्रतापूर्वक वचन और व्यवहार में वलय के समान वक्रता हो।
5. गहन — ठगने के लिए अत्यन्त गूढ़ भाषण करना।
6. न्यवम — नीचता का आश्रय लेकर ठगना।
7. कल्क — हिंसादि पाप—भावों से ठगना।
8. कुरुक — निन्दित व्यवहार करना।
9. दम्भ — शक्ति के अभाव में स्वयं को शक्तिमान् मानना।
10. कूट — असत्य को सत्य बताना।
11. जिम्ह — ठगी के अभिप्राय से कुटिलता का आलम्बन।
12. किल्विषि — माया प्रेरित होकर किल्विषी जैसी निम्न प्रवृत्ति करना।
13. अनाचरणता — ठगने के लिए विविध क्रियाएं करना। भगवतीसूत्र में अनाचरण के स्थान पर आदरणता शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ अनिच्छित कार्य भी अपनाना है।
14. गूहनता — मुखौटा लगाकर ठगना।
15. वंचनता — छल—प्रपंच करना।

²² भगवतीसूत्र, श.12, उ.5, सू 4

²³ 1 से 8, एवं 9 से 13 भगवतीसूत्र, श. 12, उ. 5, सू 4 के हिन्दी अनुवाद से लिए गए हैं।

16. परिकुंचनता/प्रतिकुंचनता – किसी के सहज उच्चारित शब्दों का खण्डन करना, विपरीत अर्थ लगाना, या अनर्थ करना।²⁴

17. सातियोग – उत्तम पदार्थ में हीन पदार्थ का संयोग करना, जिसे वर्तमान भाषा में मिलावट कहा जाता है।

कसायपाहुड²⁵ में भी माया के ग्यारह पर्यायों में से कुछ समवायांग समान हैं एवं कुछ भिन्न हैं। भिन्न पर्यायवाची नाम निम्न हैं –

1. अनृजुता – वक्रतापूर्वक वचनों को कहना।
2. ग्रहण – अन्य के मनोनुकूल पदार्थों को स्वयं ग्रहण कर लेना।
3. मनोज्ञमार्गण – किसी के गुप्त अभिप्राय को जानने की चेष्टा करना।
4. कुहक – किसी की गुप्त बात को जानना।
5. छत्र – गुप्त प्रयोगों अथवा विश्वासघात करने का प्रयास करना।

माया के विभिन्न रूपों की चर्चा में यह स्पष्ट होता है कि जिसमें दूसरों को ठगने के लिए षड्यंत्र रचे जाते हैं। माया से जो जगत् को ठगता है, वास्तव में वह अपनी आत्मा को ही ठगता है। अपने पापकार्यों को छिपाने की वृत्तिवाला वह व्यक्ति बगुले के समान मायारूप पापकर्म करता है। जैसे बगुला मछली आदि को धोखा देने के लिए ध्यान-चेष्टा करता है, उसी तरह मायावी जगत् को ठगता है और वह अपनी माया को छिपाता फिरता है। जिस प्रकार ऊबड़-खाबड़ दीवार पर चित्र के विभिन्न रंग व चित्र ठीक प्रकार से नहीं उभरता, उसी प्रकार मायावी का किया गया धर्म-कार्य भी सफल नहीं हो पाता है।

²⁵ कसायपाहुड, 9/88

माया के चार प्रकार²⁶ –

1. अनंतानुबन्धी--माया (तीव्रतम कपटाचार)

अनंतानुबन्धी माया कठिन बांस के मूल के समान कही गई है। जिस प्रकार वन में उत्पन्न हुए मजबूत बांस का मूल भाग अत्यधिक वक्र एवं मजबूत होने से अनेक बार खींचने पर भी खिसकता नहीं है, वह टूट जाता है, पर वक्रता का त्याग नहीं करता, उसी प्रकार अनंतानुबन्धी-माया के मलिन परिणामों से युक्त जीवात्मा अपने जीवन को मृत्यु के यज्ञ में होमने के लिए तैयार हो जाता है, परन्तु अपनी वक्रता को किसी भी कीमत पर नहीं छोड़ता है।

2. अप्रत्याख्यानी--माया (तीव्रतर कपटाचार)

अप्रत्याख्यानी-माया भैंस के सींग के समान कुटिल कही गई है। भैंस का सींग वक्र होता है, वह वक्रता अत्यधिक परिश्रम करने पर ही समाप्त होती है, उसी प्रकार अप्रत्याख्यानी मायावी जीवात्मा की वक्रता अति परिश्रम के बाद ही समाप्त होती है।

3. प्रत्याख्यानी माया (तीव्र कपटाचार)

प्रत्याख्यानी-माया गोमूत्रिका के समान कही गई है, वह धारा वक्र और टेढ़ी-मेढ़ी होती है, परन्तु हवा से उड़ती मिट्टी अथवा पिछले पांव से उड़ती धूल से जिस प्रकार वह वक्रता शीघ्र नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार प्रत्याख्यानी माया से युक्त जीवात्मा की वक्रता भी कुछ समय पश्चात् समाप्त हो जाती है।

4. संज्वलन माया (अल्प कपटाचार)

संज्वलन माया बांस की छाल के समान है। जिस प्रकार वह मुड़ जाती है और सीधी भी हो जाती है, उसी प्रकार संज्वलन मायायुक्त जीव शीघ्र ही माया या प्रपंच का त्याग कर देता है और सरलता धारण कर लेता है।

²⁶ क) प्रथम कर्मग्रंथ – गाथा, 19-20

ख) चउखिधा माया पण्णता, तं जहा.....अणंतानुबन्धीन माया, अपच्चक्खाणकसाया। -स्थानांगसूत्र 4/1/86

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है – “ऋजुभूत—सरल व्यक्ति की ही शुद्धि होती है और सरल हृदय में ही धर्मरूपी पवित्र वस्तु ठहरती है –ऐसा विचार कर हृदय को सरल बनाने का प्रयत्न निरन्तर करते रहना चाहिए।”²⁷ व्यवहार में दूसरों को ठगना निश्चय में अपने—आपको ठगना है। छिपकर किए जाने वाले पाप सर्वज्ञ तो जानते ही हैं, प्रकृति भी उसका बदला लेती है – यह सोचकर मायारूपी पाप से बचना चाहिए।

मायोत्पत्ति के कारण –

स्थानांगसूत्र²⁸ में माया की उत्पत्ति के चार प्रमुख कारण बताए गए हैं –

1. क्षेत्र के कारण – खेत, भूमि आदि को प्राप्त करने के लिए कूटनीति का प्रयोग करना।
2. वास्तु के कारण – घर, दुकान, फर्नीचर आदि कारणों से माया उत्पन्न होना।
3. शरीर के कारण – कुरूपता, रुग्णता आदि कारणों से भी मायावी व्यक्ति द्वारा मुखौटा लगाकर अपने—आपको सुंदर या बीमार दिखाने का बहाना कर माया का सेवन करना।
4. उपधि के कारण – सामान्य साधन—सामग्री को प्राप्त करने के लिए माया की प्रवृत्ति करना।

माया की उत्पत्ति में उक्त चार कारण सभी जीवों में विद्यमान रहते हैं। वस्तुतः, उपर्युक्त चार प्रकार के अलावा माया के निम्न कारण भी हो सकते हैं –

1. माया के लिए माया – व्यापार में झूठ, ठगवाई, अत्यधिक मुनाफा, मिलावट, करों की चोरी, विश्वासघातादि सारे कुकृत्य, धन (माया) कमाने की भावना से ही

²⁷ सोही उज्जय भयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिड्डी – उत्तराध्ययनसूत्र 3/12

²⁸ चउहिं ठाणेहिं माणुप्पत्ती सिता – तं जहा – खेतं पडुच्चा – स्थानांगसूत्र 4/1/81

किए जाते हैं और यह मान लिया जाता है कि धनार्जन में नैतिकता आवश्यक नहीं है।

2. भविष्य की हानि का विचार न होने से — झूठ, चोरी, ठगी आदि कुकृत्य मेरे समाज अथवा राज्य में उजागर न हो जाएं, इससे बचने के लिए व्यक्ति द्वारा मायापूर्वक व्यवहार किया जाता है और पुलिस एवं राज्यों को धोखा देकर वह अपना स्वार्थ सिद्ध करता है।

3. मान के लिए माया — व्यक्ति अपनी मान-प्रतिष्ठा, अहंकारादि के पोषण के लिए एवं अपने दुर्गुणों को छिपाकर गुणी कहलाने के लिए भी माया का प्रयोग करता है।

4. पूर्व संस्कारों से — कई जन्तु, जैसे — छिपकली, बिल्ली, चीता, बगुला तथा कई मानव पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण जन्म एवं स्वभाव से ही कपटी होते हैं।

5. दूसरों को गुमराह करने के लिए — अपनी स्थिति चाहे वह धन-संबंधी हो, स्वभाव-संबंधी, दुर्गुण-संबंधी अथवा ज्ञान-संबंधी, वह दूसरों को मालूम न पड़ जाए, इस कारण असली स्थिति को छिपाकर झूठा दिखावा किया जाता है।

वर्तमान समय में विज्ञापनों के द्वारा लोगों को सम्मोहित किया जाता है। वस्तु की गुणवत्ता का झूठा बखान कर जनता को ठगा जाता है। 'अंदर कुछ और बाहर कुछ' का प्रदर्शनादि सभी मायाचार को उत्पन्न करते हैं और भोली-भाली जनता को ठगते हैं।

आध्यात्मसार में यशोविजय जी कहते हैं²⁹ — "रस के प्रति आसक्ति का त्याग करना सरल है, देह के आभूषण का भी सरलता से त्याग कर सकते हैं। कामभोगों का भी त्याग करना सरल है, किन्तु दंभ-सेवन (माया) अर्थात् जीवन में दोहरेपन का त्याग करना बहुत मुश्किल है।"

²⁹ सुत्यजं रसलाम्पटयं सुत्यजं देहभूषणम्।

सुत्यजा कामभोगाश्च दुस्त्यजं दंभसेवनम्।। — अध्यात्मसार, अध्याय-3, गाथा-59

माया के दुष्परिणाम —

कुटिलता का अपर पर्याय माया है। मायाचारी सोचता कुछ है, बोलता कुछ है और करता कुछ है। मायावी के त्रियोग में एकरूपता नहीं होती। उसके भावों में मलिनता, वचनों में मधुरता, क्रिया में विश्वासघात होता है। वह छल-कपट द्वारा कार्यसिद्धि चाहता है। आज प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में माया का सेवन कर रहा है। विद्यार्थी छल-प्रपंच कर परीक्षा में पास होने का प्रयास करता है, व्यापारी माप-तौल में कपट करते हैं। वस्तु में मिलावट करते हैं, खराब वस्तु को अच्छी बताकर बेचते हैं। यह अनेक प्रकार के बहाने बनाना दायित्व से बचने का प्रयास है। ऐसे व्यक्ति सामने प्रशंसा करते हैं, पीछे निन्दा-आलोचना करते हैं और 'मुख में राम-बगल में छुरी' की कहावत को चरितार्थ करते हैं। कई व्यक्ति धर्मस्थान में धार्मिक होने का ढोंग करते हैं लेकिन बाकी समय छल-कपट करने में लगे रहते हैं। इस तरह, व्यक्ति के अन्तरहृदय में स्थित मायासंज्ञा का प्रसार सर्वत्र दिखाई देता है।

सूत्रकृतांग में माया से होने वाले दुष्परिणामों का दिग्दर्शन कराया गया है। उसमें कहा गया है --“जो माया-कषाय से युक्त है, वह भले ही नग्न (निर्वस्त्र) रहे, घोर तप से कृश होकर विचरण करे, एक-एक मास का लगातार उपवास करे, तो भी अनन्तकाल तक वह गर्भवास में आता है, अर्थात् उसका जन्म-मरण समाप्त नहीं होता।”³⁰

मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है इस माया से वशीभूत हुआ जीव नानाविध कपट-वचन बोलता है, प्राणान्तक संभावना होने पर भी छल करता है और छल द्वारा कार्यसिद्धि न हो, तो स्वयं बहुत संतप्त होता है। माया महादोष है, इससे निवृत्ति का उपाय दूढ़ना चाहिए।³¹

³⁰ जे इह मायाए मिज्जइ, आगंता गब्भाय णंत सो ! —सूत्रकृतांगसूत्र अ.2, उ.1, गा.9

³¹ मोक्षमार्ग प्रकाशक, पं. टोडरमल, पृ. 23

ज्ञानार्णव के अनुसार "यह माया अविद्या की भूमि, अपयश का घर, पापकर्म का विशाल गर्त तथा मोक्षमार्ग की अवरोधक है।³²

माया के दुष्परिणाम निम्न हैं :-

1. माया मैत्री की नाशक -

दशवैकालिकसूत्र में कहा है - माया से मित्रता तथा अच्छे सम्बन्धों का नाश होता है,³³ क्योंकि मित्रता का आधार ही विश्वास है और यदि कोई अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए विश्वासघात करता है, तो वह हमेशा के लिए मित्रों को खो देता है। कहते हैं - 'काष्ठ की हांडी दो बार नहीं चढाई जाती।'³⁴ काष्ठ की हंडिया यदि दाल या भात रांधने के लिए चूल्हे पर चढ़ा दी जाए, तो वह पहली बार में ही जलकर राख बन जाएगी, इसलिए उसे दूसरी बार चढ़ाने का सवाल ही पैदा नहीं होता। जो मित्र एक बार ठगा जाता है, वह सावधान हो जाता है, दूसरी बार वह चक्कर में नहीं आता है।

2. माया स्त्रीवेद का बन्ध कराती है -

धर्मक्रिया में थोड़ी भी माया करने से स्त्रीवेद का बन्ध हो जाता है, जैसे -माया के सेवन से महाबल मुनि को स्त्रीरूप में मल्ली बनना पड़ा।³⁵

3. तिर्यञ्च-गति का बन्ध -

स्थानांगसूत्र में तिर्यचायुबन्ध के चार कारणों में माया और गूढ़ माया को प्रमुख कारण बताया गया है।³⁶

³² ज्ञानार्णव, सर्ग-19

³³ दशवैकालिकसूत्र, 8/38

³⁴ काष्ठपात्र्यामेकदैव, पदार्थः खलु रध्यते।। - नीतिवाक्यामृत

³⁵ 1) कल्पसूत्र - मल्लिनाथ चरित्र।

2) दंभ लेशोऽपि मल्लयादेः स्त्री त्वानर्थनिबंधनम्,
अतस्तत्परिहाराय यतित्त्यं महात्मना। -अध्यात्मसार, गाथा 3/22

³⁶ स्थानांगसूत्र 4, उ.4, सू 629

तत्त्वार्थसूत्र में माया को तिर्यचगति का कारण कहा गया है।³⁷ चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में जो कुटिल भाव पैदा होता है, उससे व्यक्ति तिर्यचगति का बंध कर लेता है। माया, यह भव तो बिगाड़ती ही है, इससे अगला भव भी बिगड़ जाता है, इसलिए शुभचन्द्राचार्य ने कहा है —“दोनों लोकों को बिगाड़ने वाली माया के प्रपंच में मत पड़ो।”³⁸

4. माया असत्य—अनर्थ की जननी एवं दुर्गुणों की खान —

योगशास्त्र में कहा गया है कि माया असत्य की जननी है, वह शील अर्थात् सच्चारित्ररूपी वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी के समान है। यह मिथ्यात्व एवं अज्ञान की जन्मभूमि है और दुर्गति का कारण है।³⁹ माया के वशीभूत होकर मानव मृषावाद का सेवन करता है। वह अपनी गलतियों को छिपाकर, असत्य भाषण करता है। वास्तव में देखा जाए तो माया के बिना झूठ ठहर नहीं सकता। झूठ, चोरी, करचोरी, जमाखोरी, विश्वासघात, देश, समाज और परिजनों के साथ गदारी आदि अनेक दुर्गुण माया के कारण उत्पन्न होते हैं। मायावी व्यक्ति अंदर से कुछ और बाहर से कुछ और दिखाई देता है। जलते अंगारे की अपेक्षा राख में छिपे अंगारों की भयंकरता अधिक होती है। जो शत्रु है, उससे हम सावधान रह सकते हैं, पर जो मित्र बनकर शत्रु का कार्य करता है, उससे बचना कठिन हो जाता है। जैसे— बगुले और कौए के बारे में एक कवि ने कहा है —

तन उजला मन सांवला, बगुला कपटी भेख।

यासूँ तो कागा भला, भीतर बाहर एक।।

5. मायाचार से अहंकार पुष्ट होता है —

व्यक्ति जब किसी को ठगता है, धोखा देता है और सफल हो जाता है, तब इतना प्रसन्न होता है, मानों कोई पुरस्कार प्राप्त हुआ हो और उस सफलता से प्रेरित

³⁷ माया तैर्यग्योनस्य.....।— तत्त्वार्थसूत्र, अ.6, सू. 17

³⁸ अलं माया प्रपंचेन, लोकद्वयविरोधिना — ज्ञानार्णव/गा. 996

³⁹ असूनृतस्य जननी, परशुः शीलशाखिनः
जन्मभूमिरविद्यानां माया दुर्गतिकारणम् — योगशास्त्र 4/15

होकर वह अधिक लाभ के लिए बड़ी ठगी करता है, धोखा देता है और अपने अहंकार को पुष्ट करता है। यह सिलसिला कभी रुकता नहीं है। यह रुकता तभी है, जब उसकी पोल खुलती है, या पकड़ा जाता है। वर्तमान समय में भ्रष्ट नेता देश के साथ मायाचार और भ्रष्टाचार के माध्यम से देश को दीमक की तरह खोखला कर रहे हैं और अपने-आपको महान् समझ रहे हैं।

6. माया साधना में बाधक है -

जिस कार्य से दूसरों का दुःख बढ़ता हो, वह धर्म नहीं हो सकता। धर्म वह होता है, जिससे अपना भी और दूसरों का भी सुख बढ़े और दुःख घटे। दगा किसी का सगा नहीं होता। वह जीवन-साधना में बाधक बनता है। छल करने वालों का मन मैला हो जाता है। जिस प्रकार गंदले जल में प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार मैले मन में आत्मा के दर्शन नहीं हो सकते, इसलिए ज्ञानी पुरुषों ने मन को निर्मल करने की बात कही है। तन से आप पद्मासन लगाकर बैठ गए, परन्तु मन यदि भटकता रहा, तो साधना कैसे सफल हो सकती है ? यों तो बगुला भी एक टांग पर खड़ा होकर एकाग्रता से ध्यान करता है, परन्तु वह वास्तव में उसका ध्यान नहीं, दुर्ध्यान है। उसका सारा ध्यान सिर्फ मछली पकड़ने के लिए है, इसलिए यह धर्म नहीं हो सकता -

तन का तो आसन जमा, मन के कटे न पाँख।

बगुला तो ध्यानी बना, पर मछली पर आँख।⁴⁰

7. माया से स्वयं को भी हानि -

नीतिकारों का कथन है कि, आचार्य, नट, धूर्त, वैद्य और बहुश्रुत - इनसे कुटिलता, मायाचार कभी नहीं करना चाहिए⁴¹, क्योंकि इनके साथ कुटिलता करने पर हमारी अपनी ही हानि होती है।

⁴⁰ जयन्त प्रवचन परिमल, पृ. 90

⁴¹ आचार्ये च नटे धूर्ते, वैद्य-वेश्या-बहुश्रुते, कौटिल्यं नैव कर्तव्यम्। - नीतिशास्त्र

आचार्य के सामने यदि अपने अपराध हम सरलतापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं, तो उनके द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त से आत्मशुद्धि हो सकती है, परन्तु यदि अपराध छिपा लेते हैं तो भीतर ही भीतर अपराध करने का शल्य बना रहेगा और आत्मशुद्धि कभी नहीं होगी। शास्त्रों में लक्ष्मणा साध्वी एवं रुक्मणी साध्वी के उदाहरण प्राप्त होते हैं। उनकी सामान्य सी माया भी उनके भवभ्रमण का हेतु बन गई।

लक्ष्मणा साध्वी⁴² – लक्ष्मणा साध्वी ने एक बार चक्रवाक एवं चक्रवाकी की प्रणय-क्रिया को कुछ क्षणों तक ध्यान से देखा। उनके हृदय में वासना के सुप्त संस्कार जाग्रत हो गए। उनका मन विकार-भावों में बहता रहा। कुछ देर में विचारों से उबरने के बाद उनके मन को एक झटका लगा – अहो ! मैं कहाँ खो गई थी। संयमी जीवन में ऐसा विचार क्या शोभास्पद है ? मुझसे कितना जघन्य अपराध हुआ है। क्यों न मैं प्रायश्चित्त की अग्नि में आत्मदेव को पवित्र कर लूँ ?

गुरु-चरणों में विनम्र अंजलिबद्ध प्रणाम के उपरान्त लक्ष्मणा ने मन्द स्वर में प्रश्न किया – “हे पूज्या! किसी पक्षी-युगल की वासनात्मक-क्रिया देखकर यदि विकार-परिणाम आएँ, तो क्या प्रायश्चित्त करना चाहिए ?” गुरुजी ने गंभीरता से प्रतिप्रश्न किया – “यह प्रायश्चित्त किसे लेना है ?” लक्ष्मणा के माथे पर पसीने की बूंदें झिलमिला उठी। पाप को स्वीकार करने का साहस वह जुटा नहीं पाई। सहसा मुख से बोल फूट पड़े – “किसी ने यह प्रश्न करने के लिए मुझे कहा था।” बस, सब समाप्त हो गया। माया ने प्रायश्चित्त करने की भावना के उपरान्त भी प्रायश्चित्त नहीं करने दिया। उसकी दीर्घकालिक तपस्या भी पाप के दाग को धो नहीं पाई और वह माया संसार-परिभ्रमण का कारण बन गई।

रुक्मी⁴³ – कई श्रमण-श्रमणियाँ आचार्यश्री से अपने पापों की आलोचनारूप प्रायश्चित्त ग्रहण कर रहे थे। अचानक आचार्यश्री ने रुक्मी साध्वी पर दृष्टिपात किया और पूछा – “हे आर्या! आपको प्रायश्चित्त लेना है ?” रुक्मी ने सहज-सौम्यता से

⁴² कषाय : एक तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. साध्वी हेमप्रभाश्री, पृ. 32

⁴³ कथा-संग्रह

कहा — “नहीं भगवन्!” पर आचार्यश्री ने कहा — “अतीत में जब तुम राजकुमारी थी तो तुमने एक राजकुमार को विकारमय दृष्टि से देखा था।” रुक्मी चौंक पड़ी — ‘ओ हो! क्या वही राजकुमार ये आचार्य हैं?’ उसके पाँवों तले धरती खिसकने लगी। माया ने अपना आँचल फैलाया, क्योंकि रुक्मी साध्वी के अखण्ड ब्रह्मचर्य की ख्याति दूर-सुदूर व्याप्त थी। रुक्मी ने सहज होने का प्रयास करते हुए कहा — “भगवन्! वह कटाक्ष मात्र आपकी परीक्षा हेतु था।” आचार्य मौन हो गए, पर शास्त्र कहते हैं — रुक्मी साध्वी का पाप माफ नहीं हुआ। माया ने उस पाप को इतना गहरा कर दिया कि जन्म-जन्मांतर में उसे उखाड़ना कठिन हो गया।

नट, धूर्त और वैद्य के साथ कपट करने से ईंट का जवाब पत्थर से मिलेगा। डॉक्टर या वैद्य को यदि रोग का खुलासा ठीक तरह से नहीं करेंगे, तो वे चिकित्सा भी ठीक प्रकार से नहीं कर पाएंगे। इसी प्रकार, बहुश्रुत विद्वान्, ज्ञानी के सामने भी अपनी शंकाएं छिपा लेंगे, तो अज्ञानता किस प्रकार से दूर होगी? इस प्रकार की माया स्वयं को नुकसान पहुंचाती है।

8. माया-मृषावाद एक पाप है —

अठारह पापस्थानकों में माया एवं मृषावाद —दोनों स्वतंत्र भेद रूप में वर्णित हैं। दोनों का संयुक्त रूप माया-मृषावाद भी एक पापस्थानक है। माया के बिना असत्य भाषण संभव नहीं होता है। असत्य की जननी ही माया है। यह पाप-स्थान मायावी ही सेवन कर सकता है। असत्य को सत्य रूप दे देना, पाप को छिपा लेना, गलत होते हुए भी अच्छे होने का ढोंग करना माया मृषावादी का कार्य है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है — माया सहस्त्रों सत्य को नष्ट कर डालती है।⁴⁴ माया-मृषावाद से लोभ बढ़ता है,⁴⁵ अतः इससे बचना चाहिए।⁴⁶

⁴⁴ उत्तराध्ययनसूत्र 32/30

⁴⁵ दशवैकालिक 8/37

⁴⁶ उत्तराध्ययनसूत्र 19/45

मायावी अविश्वासपात्र होता है -

मायाचार से युक्त व्यक्ति मीठा बोलकर लोगों का विश्वास जीतते हैं, फिर पीठ में छुरा घोंप देते हैं। जैसे पहाड़ दूर से कितने सुन्दर दिखाई देते हैं, किन्तु निकट जाने पर बड़ी-बड़ी गुफाएँ, विशाल चट्टानें, कांटेदार सूखे पेड़, साँप, बिच्छू, सिंह, भालू आदि भयंकर वस्तुओं और हिंसक प्राणियों के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार चाणक्य ने कहा है - "अधिक शिष्टाचार शंका के योग्य होता है।"⁴⁷ पहले जो व्यक्ति दूर-दूर रहता था, सामने आने पर नमस्कार तक नहीं करता था, वह यदि चरण छूने में लगा रहता है, तो समझ लेना चाहिए कि अवश्य कोई बड़ा धोखा देने वाला है। नमस्कार-नमस्कार में अंतर होता है, सभी नमस्कार समान नहीं होते, क्योंकि धोखेबाज व्यक्ति दोगुना झुकता है। जैसे - चीता, चोर और कमान।

नमन-नमन में फर्क है, सब समान मत मान।

दगाबाज दुगुना नमें, चीता, चोर, कमान।।

माया का फैलाव सारे संसार में समाया हुआ है। अशुभाशय से सत्य को असत्य बताना, छल-कपट करना, अपने अकृत्य को अन्य पर आरोपित करना, तपस्वी न होते हुए भी अपने को तपस्वी बताना - यह सभी माया है। यह सत्य है कि माया कभी फलीभूत नहीं हो सकती है। दूसरों को धोखा देना स्वयं को बहुत बड़ा धोखा देना है, इसलिए जीवन के उत्थान के लिए हमारा जीवन सम्यक् रूप से निश्चल और सरल होना चाहिए। हमारी प्रीति और कृत्य निःस्वार्थ होने चाहिए। जिस दिन यह सरलता और सहजता हमारे हृदय में आ जाएगी, उसी दिन से हमारा जीवन माया रहित होकर, जीवन में धर्म का आनंद बरसने लगेगा। इस आनंद को प्राप्त करने के लिए, माया पर विजय प्राप्त कैसे करें, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

⁴⁷ अत्युपचारः शडिकतव्य, - चाणक्यनीति

माया पर विजय कैसे ?

माया-विजय के निम्न उपाय हैं -

1. "सोही उज्ज्यू भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिद्धई"⁴⁸ - उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ऋजुभूत-सरल व्यक्ति की ही शुद्धि होती है और सरल हृदय में ही धर्म रूपी पवित्र वस्तु ठहरती है -ऐसा विचार कर हृदय को सरल बनाने का प्रयत्न निरन्तर करते रहना चाहिए।

सरलता धर्म की जननी है। सरलता बिना मुक्ति संभव नहीं है। सुई में प्रवेश लेने हेतु धागे को सीधा होना होता है, सरल नरम साफ-सुथरी जमीन में ही बीज बोया जाता है, उसी प्रकार सरल हृदय में सम्यक्त्वरूपी बीज-वपन होता है।

2. मान-विजय के लिए यह निरन्तर चिंतन करते रहना चाहिए कि कार्यसिद्धि छल-प्रपंच से नहीं पुण्योदय से होती है। असफलता का योग होने पर छल-माया भी सिद्धि में सहायक नहीं बनती।

3. व्यवहार में दूसरों को ठगना निश्चय में अपने-आपको ठगना है -ऐसा विचार बार-बार करते रहना चाहिए।

4. सच्चाई और सरलता मानव-जीवन का सार है, यह समझकर जीवन में इनका आचरण करना चाहिए।

5. छिपकर किए जाने वाले पाप सर्वज्ञ तो जानते ही हैं, प्रकृति भी उसका बदला लेती है, यह सोचकर माया के पापों से बचना चाहिए।

6. प्रतिदिन शाम को दिन भर में की गई प्रवृत्तियों में कहाँ-कहाँ, कितनी-कितनी माया, दिखावा, ठगाई, प्रवंचना आदि का सेवन किया, उसको याद कर भविष्य में ऐसा न करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिए।

⁴⁸ उत्तराध्ययनसूत्र - 3/12

7. माया और असत्य एक सिक्के के दो पहलू हैं। सरल—व्यक्ति को असत्य का आश्रय नहीं लेना पड़ता, गढ़े—गढ़ाए, बने—बनाए को याद नहीं रखना पड़ता। सरल आदमी तनाव में नहीं, अपितु मस्ती में जीता है।

8. कभी—कभी मायावी व्यक्ति अपने ही शब्द—जाल में फँस जाता है, इसलिए कपट—प्रवृत्ति को छोड़कर सीधे—सरल शब्दों का प्रयोग करने का प्रयास करना चाहिए।

9. यह विचार करना चाहिए कि माया—कषाय अनन्त दुःखों का कारण है, तिर्यच—गति का हेतु है।⁴⁹

10. मायावी पुरुष यद्यपि अपराध नहीं करता, तथापि वह अपने मायावी स्वभाव के दोष के कारण सर्प के समान प्रत्येक के लिए अविश्वसनीय होता है, इसलिए माया का प्रतिपक्ष धर्म सरलता धर्म है। जो कि अमृत के समान कहा गया है।⁵⁰ जगत् के लोगों के लिए आरोग्यदायिनी प्रीतिविशेष ऋजुता (आर्जव) है, जो कपट—भाव के त्यागपूर्वक मायाकषाय पर विजय प्राप्त कराकर मुक्ति का कारण बनती है।

कुटिलता की कील से जकड़ा हुआ क्लिष्टचित्त एवं ठगने में शिकारी के समान दक्ष मनुष्य स्वप्न में भी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। भले ही मनुष्य समग्र कलाओं में चतुर हो, समस्त विद्याओं में पारंगत हो, लेकिन बालक जैसी सरलता न हो, कपटरहित हृदय न हो, तो साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

गणधर गौतमस्वामी श्रुतसमुद्र में पारंगत थे। पचास हजार शिष्यों के गुरु, फिर भी आश्चर्य है कि वे नवदीक्षित के समान सरलता के धनी बनकर भगवद्वचन सुनते थे।

कितने ही दुष्कर्म किए हों, लेकिन सरलता से जो अपने कृत दुष्कर्मों की आलोचना कर लेता है, वह समस्त कर्मों का क्षय कर देता है, परन्तु यदि लक्ष्मणा

⁴⁹ माया तिर्यग्योनस्य — तत्त्वार्थसूत्र अ.6, सू. 17

⁵⁰ तदारजवमहौषध्या जगदानन्दहेतुना।

जयेज्जगद्द्रोहकरीं मायां विषधरीमिव॥ —योगशास्त्र 4/17

साध्वी की तरह कपट रखकर दम्भपूर्वक आलोचना की, तो उसका पाप अल्पमात्र होते हुए भी वह संसारवृद्धि का कारण बनेगा। मोक्ष और साधना में सफलता उसे ही मिलती है, जिसकी आत्मा में सब प्रकार की सरलता हो। जिसके मन, वाणी और कर्म (काया) में कुटिलता भरी है, उसकी मुक्ति किसी प्रकार भी नहीं होती, अतः विवेकबुद्धि से सरलभाव का आश्रय लेकर माया पर विजय प्राप्त की जा सकती है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा है —“माया—विजय से सरलता आती है, माया—वेदनीय का बन्ध नहीं होता तथा पूर्वबद्ध माया की निर्जरा हो जाती है।”⁵¹

प्रमादवश हुए कपट—आचरण के प्रति आलोचना करके जो सरल हृदय हो जाता है, वह धर्म का आराधक है। जब तक मन निष्कपट और मायारहित नहीं बनता, साधना सफल नहीं हो सकती। कहा भी है — मन चंगा, तो कठौती में गंगा। भक्त ने गुरु से पूछा — “गुरुदेव! स्वर्ग (मोक्ष) पहुंचने का सरल मार्ग क्या है ?” गुरु ने कहा — “वत्स! सरल बन जाओ, स्वर्ग मिल जायगा।”

आचार्य हरिभद्रसूरि का एक सुप्रसिद्ध ग्रंथ है — ललितविस्तरा। यह शक्रस्तव की एक पाण्डित्यपूर्ण दार्शनिक—विवेचना है। इस ग्रंथ में माया की तुलना ‘माता’ से की गई है —

दोषाच्छादकत्वात् संसारिजन्महेतुत्पाद् वा मातेव माया।⁵²

जिस प्रकार माता अपने पुत्र के दोषों को ढंकती है, उसी प्रकार माया से भी मनुष्य अपने दोषों को ढंकने का प्रयास करता है। दूसरे अर्थ, में माता जिस प्रकार प्राणियों के जन्म का हेतु बनती है, उसी प्रकार माया भी प्राणियों के संसार में जन्म लेने का हेतु बनती है।

वस्तुतः, अपने दोषों को मिटाने का, हटाने का, दूर करने का प्रयास अच्छा है, परंतु उन दोषों पर परदा डालने का प्रयास बुरा है।

⁵¹ माया—विजयणं अज्जवं जणयइ माया —

वेयणिज्जं कम्मं च बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

— उत्तराध्ययनसूत्र 29/70

⁵² ललितविस्तरा, आ. हरिभद्रसूरि, विवेचनकार पू. प. श्री भानुविजयजी, पृ. 10

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 9 लोभ संज्ञा

1. लोभ का स्वरूप एवं लक्षण
2. लोभ के विभिन्न रूप
3. लोभ के दुष्परिणाम
4. लोभ पर विजय कैसे ?

अध्याय—9

लोभ—संज्ञा {Instinct of Greed}

संज्ञाओं के दशविध और षोडशविध वर्गीकरण में आठवीं संज्ञा लोभ—संज्ञा के नाम से जानी जाती है। वैसे संज्ञा के चतुर्विध वर्गीकरण में चतुर्थ परिग्रहसंज्ञा भी है, जिसका मूल कारण लोभ ही है। यहाँ यह विचारणीय है कि लोभ और परिग्रह में क्या अंतर है ? सामान्य दृष्टि से संग्रह की वृत्ति लोभ है और संग्रह की प्रवृत्ति परिग्रह है। संग्रहवृत्ति की बाह्य अभिव्यक्ति परिग्रह है और आन्तरिक स्थिति ही लोभ है। लोभ एक मनोदशा है और परिग्रह उसी लोभ का बाह्य—परिणाम है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोभ हेतु है और परिग्रह उसका परिणाम है। लोभ को कषाय कहा गया है और परिग्रह को संज्ञा, फिर भी व्यावहारिक—दृष्टि से दोनों में किसी सीमा तक समरूपता भी है। लोभ बढ़ने से संचयवृत्ति बढ़ती है और संचयवृत्ति से लोभ बढ़ता है। कहा भी है — ‘जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्डइ’¹, अर्थात् ज्यों—ज्यों लाभ बढ़ता है, त्यों—त्यों लोभ बढ़ता जाता है। लाभ से लोभ घटता नहीं, प्रत्युत बढ़ता ही है।

‘लोभ’ शब्द लुम् + घञ् के संयोग से बना है, जिसका अर्थ लोलुपता, लालसा, लालच, अतितृष्णा आदि² हैं। धन आदि की तीव्र आकांक्षा या गृद्धि लोभ है।³ बाह्य—पदार्थों में जो ‘यह मेरा है’ —इस प्रकार की अनुरागरूप बुद्धि का होना लोभ कहलाता है।⁴ योग्य स्थान पर धन को व्यय नहीं करना भी लोभ है।⁵ धवला में

¹ उत्तराध्ययनसूत्र, 8/17

² संस्कृत हिन्दी कोश, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, पृ. 886

³ अनुग्रहप्रवणद्रव्याद्यभिकाङ्क्षावेशो लोभः। — राजवार्तिक, 8/9/5/574/32

⁴ ब्राह्मार्थेषु ममेदं बुद्धिर्लोभः। — धवला, 12/4

⁵ युक्तस्थले धनव्ययाभावो लोभः। — नियमसार, ता.वृ. 112

आकांक्षा या अपेक्षा को लोभ कहा गया है।⁶ लोभ एक ऐसी मनोवृत्ति है, जिसके वशीभूत होकर पापों के दलदल में पांव रखने के लिए भी व्यक्ति तैयार हो जाता है।

लोभ-संज्ञा — “लोभ के उदय से चित्त में पदार्थों की प्राप्ति के लिए जो वासना उत्पन्न होती है, वही लोभ-संज्ञा है।”⁷

‘लोभ वेदनीयकर्म के उदय से सचितचित पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा है, जो कषाय के उदय के कारण उत्पन्न होती है। इसे ही लोभसंज्ञा कहते हैं।⁸ प्रज्ञापनासूत्र में भी सचितचित वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा को लोभ-संज्ञा कहा गया है।⁹ भगवतीसूत्र में लालसापूर्वक द्रव्य के ग्रहण और संग्रह की अभिलाषा को लोभसंज्ञा कहा गया है।¹⁰

प्रवचनसारोद्धार में — ‘लालसा रखते हुए सचित या अचित द्रव्यों की प्रार्थना करना लोभ-संज्ञा है, जो लोककषायजन्य है।’¹¹

अतः, स्पष्ट है कि लोभमोहनीय-कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होनेवाली तृष्णा, इच्छा, लालसा लोभसंज्ञा कहलाती है। जीव की लालची मनःस्थिति को भी लोभ-संज्ञा कहते हैं।¹² पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मेकड्यूगल ने जिन चौदह मूलप्रवृत्तियों¹³ की चर्चा की, उनमें संग्रहवृत्ति के रूप में लोभ का भी समावेश कर लिया गया, क्योंकि संग्रहवृत्ति लोभभावना के कारण ही संभव हो सकती है। जितनी लोभ की प्रवृत्ति बढ़ेगी, संग्रह की वृत्ति उतनी ही अधिक बढ़ती चली जाएगी।

⁶ गर्हा काङ्क्षा लोभः। — धवला 1/1

⁷ लोभोदयात्प्रधानभवकारणाभिएवंगपूर्विकासचित्तेतरद्रव्योत्पादनाक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति। —अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग-6, पृ. 755

⁸ लोभवेदनीयोदयतो लालसत्त्वेन लोभोदयाल्लोभसत्त्वान्विता सचित्तेतद्रव्यप्रार्थनैव संज्ञायतेऽनयेति लोभसंज्ञा — स्थानांगसूत्र, 10/105

⁹ सचित्द्रव्यप्रार्थनायाम् — प्रज्ञापना, 8/725

¹⁰ भगवतीसूत्र, भाग-2, आचार्य महाप्रज्ञ, श.7, उ.8,

¹¹ प्रवचनसारोद्धार, सा. हेमप्रभाश्री, द्वार 146, गा. 924, पृ. 80

¹² दण्डकप्रकरण, गा.12

¹³ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1, डॉ. सागरमल जैन, पृ.462

बौद्धदर्शन में भी बावन चैतसिक-धर्मों की चर्चा की गई है। चैतसिक धर्म वे तथ्य हैं, जो चित्त की प्रवृत्ति के हेतु हैं। उनमें भी लोभ, द्वेष और मोह को अकुशल चित्त के प्रेरक कहा गया है।

गीता में कहा गया है कि आसक्ति का तत्त्व ही व्यक्ति को संग्रह और भोगवासना के लिए प्रेरित करता है। कहा गया है —“आसक्ति के बन्धन में बंधा हुआ व्यक्ति कामभोग की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक अर्थ-संग्रह करता है।”¹⁴ यहाँ कामभोग की लालसा का अर्थ लोभवृत्ति से है। गीता के अनुसार, आसक्ति और लोभ नरक का कारण है। कामभोगों में आसक्ति मनुष्य ही नरक और अशुभ योनियों में जन्म लेता है।¹⁵

अतः, जैनदर्शन में वर्णित लोभसंज्ञा, बौद्धदर्शन का लोभ नामक चैतसिक धर्म, गीता की आसक्ति और मनोविज्ञान की संग्रहवृत्ति में नाम से चाहे असमानता दिखाई देती है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से ए सभी एकरूप हैं।

लोभ का स्वरूप एवं लक्षण —

लोभ, अर्थात् लालच का अर्थ अधिक पाने की लालसा है। यह लालसा व्यक्ति में अनेक दुर्गुणों को जन्म देती है। जब लोभ का भूत मन में सवार हो जाता है, तब व्यक्ति कर्तव्याकर्तव्य, हिताहित, अच्छाई-बुराई, न्याय-अन्याय एवं सत्यासत्य को भी भूल जाता है। उसका विवेक कुण्ठित हो जाता है, क्योंकि उसका एकमात्र उद्देश्य अधिकाधिक लाभ कमाना ही होता है, चाहे वह उचित तरीके से हो, या अनुचित तरीके से। उसका सारा ध्यान लाभ कमाने में ही लगा रहता है। इस लोभ के कारण वह भूख-प्यास तक की भी परवाह नहीं करता है।

¹⁴ गीता, 16/12

¹⁵ वही, 16/16

स्थानांगसूत्र में¹⁶ लोभ को आमिषावर्त्त कहा गया है। जिस प्रकार मांस के लिए गिद्ध आदि पक्षी चक्कर काटते हैं, उसी प्रकार लोभी मनुष्य इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए उद्यमशील रहता है।

आचारांगसूत्र में वर्णन है¹⁷ – सुख की कामना करने वाला लोभी बार-बार दुःख को प्राप्त करता है।

प्रशमरति में¹⁸ लोभ को सब विनाशों का आधार, सब व्यसनों का राजमार्ग बताया है।

सूत्रकृतांग में¹⁹ उल्लेख है – यह मेरा है, वह मेरा है, इस ममत्वबुद्धि के कारण ही बाल जीव विलुप्त होते हैं। आगे कहा है – यथावसर संचित धन को तो दूसरे उड़ा लेते हैं और संग्रही को अपने पापकर्मों का दुष्फल भोगना पड़ता है।²⁰ क्योंकि लोभ मुक्ति-मार्ग का बाधक है।²¹

ज्ञानार्णव में लोभ को अनर्थ का मूल, पाप का बाप कहा गया है। इस लोभ से पीड़ित हुआ पुरुष अपने मालिक, गुरु, बन्धु (हितैषी), वृद्ध, स्त्री, बालक तथा क्षीण, दुर्बल, अनाथ, दीनादिकों को भी निःशंकता से मारकर धन को ग्रहण करता है।²²

मनुष्य तब तक ही मित्रता का पालन करता है, चारित्र-बल में वृद्धि करता है, आश्रितों का सम्यक् रीति से पोषण करता है, जब तक वह इस लोभ के वशीभूत न हो, क्योंकि लोभ से ग्रस्त व्यक्ति को कुछ भान ही नहीं होता। वह अपनी मस्ती में मस्त बना रहता है।

¹⁶ आमिषावतसमाणे लोभे। – स्थानांगसूत्र, 4, उ.4, सू. 653

¹⁷ सुहृदो लालप्पभाणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति। आचारांगसूत्र अ.2, उ.6, सू. 151

¹⁸ सर्वं विनाशाश्रायिण। – प्रशमरति, गा. 29

¹⁹ ममाई लुप्पई बाले। – सूत्रकृतांग 1/1/1/4

²⁰ अन्ने हरति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहि किच्चती – वही, 1/9/4

²¹ इच्छालोभिते मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू। – स्थानांगसूत्र 6/3

²² स्वामिगुरुबन्धुवृद्धनबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन्।

व्यापाद्य विगतरांको लोभार्तो वित्तमादत्ते।। – ज्ञानार्णव, सर्ग 9/गा.70

चाणक्यनीति में कहा है — “एक जन्म से अन्धा होता है, उसे दिखाई नहीं देता, कामान्ध को कुछ भी नहीं दिखता, जो नशा करके मदोन्मत्त हो जाए, उसे भी कुछ दिखाई नहीं देता और जो किसी स्वार्थ के लोभ से अन्धा हो जाता है, उसे भी किसी काम में कोई दोष दिखाई नहीं देता।”²³

हितोपदेश में लोभ को सब पापों की जड़ कहा गया है— “लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है, लोभ से ही कामना उत्पन्न होती है, लोभ से ही मोह पैदा होता है तथा लोभ से ही नाश होता है।, इसलिए लोभ को पाप का हेतु (कारण) समझा गया है।”²⁴

श्रीमद्भगवद् गीता में काम, क्रोध और लोभ को नरक का द्वार बताया गया है, जो आत्मा को अधोगति प्रदान करते हैं, अतः इन तीनों का ही त्याग करना चाहिए।²⁵ लोभ के स्वरूप को बतलाते हुए हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में स्पष्ट कहा है — “जैसे लोहा आदि सब धातुओं का उत्पत्तिस्थान खान है, वैसे ही प्राणातिपात आदि समस्त दोषों की खान लोभ है। यह समस्त गुणों को निगल जाने वाला राक्षस है, आफत (दुःख) रूपी बेलों का कन्द (मूल) है। वस्तुतः, लोभ धर्म—अर्थ—काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थों में बाधक है।²⁶ अतः लोभ दुर्जेय है।

जैसे सभी पापों में हिंसा बड़ा पाप है, सभी कर्मों में मिथ्यात्व महान् है और समस्त रोगों में क्षयरोग भयानक है, वैसे ही सब अवगुणों में लोभ महान् अवगुण है। वस्तुतः ऐसा कहते हैं कि लोभ पापों का मूल है। लोभी व्यक्ति को सम्पूर्ण संसार की

²³ न पश्यति च जन्मान्धः, कामान्धो नैव पश्यति।

न पश्यति मदोन्मत्तो, ह्यर्थो दोषान् न पश्यति।। — चाणक्यनीति 6/7

²⁴ लोभात्क्रोधः प्रभवति, लोभात्कामः प्रजायते।

लोभान्मोहश्च नाशश्च, लोभः पापस्य कारणम्।। — हितोपदेशमित्र 26

²⁵ त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। — गीता, 16/21

²⁶ आकरः सर्वदोषाणां गुणग्रसनराक्षसः।

कन्दो व्यसनवल्लीनां, लोभः सर्वार्थबाधकः।। — योगशास्त्र 4/18

सम्पत्ति भी क्यों न मिल जाए, फिर भी उसकी तृप्ति नहीं होती। वह सदैव अतृप्त ही बना रहता है।

निर्धन मनुष्य सौ रुपए की अभिलाषा करता है, सौ पाने वाला हजार की इच्छा करता है और हजार रुपयों का स्वामी लाख रुपए पाना चाहता है। लक्षाधिपति करोड़ की लालसा करता है, और कोटिपति राजा बनने का स्वप्न देखता है, राजा को चक्रवर्ती बनने की धुन सवार होती है, और चक्रवर्ती को देव बनने की लालसा जागती है। देव भी इन्द्रपद प्राप्त करना चाहता है, मगर इन्द्रपद प्राप्त होने पर भी तो इच्छा का अन्त नहीं होता है, अतः प्रारम्भ में थोड़ा-सा लोभ होता है, वही बाद में शैतान की तरह बढ़ता जाता है।²⁷ वर्तमान में आदमी कितने वर्ष तक जीवित रह सकता है ? अधिक-से-अधिक सौ वर्ष तक जीवन रह सकता है, परन्तु वह तैयारी करता है, हजारों वर्षों की। सौ वर्ष तक जीवित रहने वाला व्यक्ति हजार वर्ष की सामग्री संचय करने के लिए आकाश-पाताल एक करके, दुःखमूलक प्रवृत्तियों का सहारा ले, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म का सहारा लेकर और लोभ के वशीभूत होकर संचय करता है। जिस प्रकार बिल्ली चूहा मारने में, नेवला सर्प मारने में और सिंह हिरण को मारने में पाप नहीं मानता, उसी प्रकार असंतोषी लोभी जीव संग्रह में भी पाप नहीं मानता। आध्यात्मयोगी श्री आनन्दघनजी ने लोभ (तृष्णा) का स्वरूप बताते हुए कहा है —“अढ़ाई द्वीप को चारपाई बना दिया जाय, आकाश को तकिया व धरती को ओढ़ने की चादर बना दी जाए, तब भी असन्तोषी मनुष्य यही कहेगा कि मेरे पैर तो बाहर ही रहते हैं।”

पूँजी लाख रुपए की होने पर भी यदि रत्ती भर भी सुख न मिले, तो इसका कारण तृष्णा और असन्तोष ही है। चक्रवर्ती जैसी ऋद्धि-सिद्धि मिलने पर भी लोभ

²⁷ 1) धनहीनः शतमेकं सहस्रं शतवानपि ।
सहस्राधिपतिर्लक्षं, कोटिं लक्षश्वरोऽपि च ॥

2) कोटीश्वरो नरेन्द्रत्वं नरेन्द्रश्चक्रवर्तिताम् ।
चक्रवर्ती च देवत्वं, देवोऽपीन्द्रत्वमिच्छति ॥

3) इन्द्रत्वेऽपि हि सम्प्राप्ते, यदीच्छा न निवर्तते ।
मूल लघीयांस्तल्लोभः, सराव इव वर्धते ॥ — योगशास्त्र 4/19-21 तक

प्रवृत्ति ज्यों की त्यों रहे, तो मन सदा बैचेन बना रहता है। जिसके जीवन में पुण्य अधिक एवं लोभ कम होता है, वह व्यक्ति सुखी होता है और जिसके जीवन में लोभ अधिक एवं पुण्य कम होता है, वह अत्यन्त दुःखी होता है। कदम-कदम पर उसके सामने दुःख के कांटे ही बिछे रहते हैं। दुःख का कारण लोभ है। जिसमें लोभ नहीं होता, उसका दुःख नष्ट हो जाता है।²⁸ दुनिया में जितने भी बंधन हैं, उसमें जकड़ने वाला लोभ ही है। बंधन कोई नहीं चाहता, क्योंकि बंधन परतन्त्रता है, सुख स्वतंत्रता है।

लक्षण —

लोभ के लक्षण के संदर्भ में चर्चा करें, तो वस्तुतः लोभ एक आन्तरिक-मनोभाव है। बाह्य स्वरूप से हम नहीं दर्शा सकते कि यह व्यक्ति लोभी है, परन्तु उसके क्रियाकलापों के माध्यम से उसके लोभी होने का पता चलता है। असंतोषवृत्ति, इच्छा, आकांक्षा, तृष्णा, धन के प्रति अत्यधिक आसक्ति, कंजूस प्रवृत्ति और थोड़े से लाभ के लिए असत्यभाषण का प्रयोग करना लोभी व्यक्ति के प्रमुख लक्षण हैं। चिन्तामणि में 'लोभ' से संबंधित विचारात्मक निबन्ध में उद्धृत लोभ के दो उग्र लक्षण बताए हैं²⁹ — 1. असंतोष और 2. अन्य वृत्तियों का दास।

जब लोभ बहुत बढ़ जाता है, तब प्राप्त में सन्तोष नहीं होता और अधिक पाने की चाह बनी रहती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति मान-अपमान, करुणा-दया, न्याय-अन्याय तो भूल ही जाता है; किन्तु कई बार क्षुधा-तृषा, निद्रा-विश्राम, सुख-भोग की इच्छा भी दबा लेता है। लोभ की प्रवृत्ति एकेन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक सभी जीवों में सुषुप्त और जाग्रत अवस्था में पाई जाती है।

इस भूमण्डल पर लोभ का एकछत्र साम्राज्य है। लोभ के कारण ही एकेन्द्रिय पेड़-पौधे भी धन मिलने पर उसे अपनी जड़ में दबाकर, पकड़कर ढके रखते हैं।

²⁸ दुःखं हयं जस्स न होइ लोहो। — उत्तराध्ययन 32/8

²⁹ चिन्तामणि, भाग-2, पृ. 83

धन के लोभ में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव भी अपने गाड़े हुए निधान पर मूर्च्छापूर्वक जगह बनाकर रहते हैं। सर्प, गोह, नेवले, चूहे आदि पंचेन्द्रिय जीव धन के लोभ से निधान वाली जगह पर आसक्तिवश बैठे रहते हैं। पिशाच, मुद्गल, भूत, प्रेत, यक्ष आदि अपने या दूसरे के धन पर लोभ व मूर्च्छावश निवास करते हैं। आभूषण, उद्यान, बावड़ी आदि पर मूर्च्छाग्रस्त होकर देवता भी च्यव कर पृथ्वीकायादि योनि में उत्पन्न होते हैं। साधु भी उपशान्तमोह-गुणस्थान तक पहुंचकर क्रोधादि पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी एकमात्र अल्पलोभ के दोष के कारण नीचे के गुणस्थानों में आ गिरते हैं। माँस के टुकड़े के लिए जैसे कुत्ते आपस में लड़ते हैं, वैसे ही एक माता के उदर में जन्मे हुए सगे भाई भी थोड़े-से धन के लिए परस्पर लड़ते हैं। लोभाविष्ट मनुष्य राज्य, गाँव, पर्वत एवं वन की सीमा पर अधिकार जमाने के लिए सहृदयता को तिलांजलि देकर ग्रामवासी, राज्याधिकारी, देशवासी और शासकों में परस्पर फूट डालकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। लोभ के कारण मनुष्य मालिक के आगे नट की तरह नाचता है, उसका प्रेमभाजन बनने का नाटक करता है और स्वार्थ सिद्ध होने पर उस ओर देखना भी पसंद नहीं करता। स्थानांगसूत्र में चार स्थान ऐसे हैं, जो कभी नहीं भरते, अर्थात् पूर्ण नहीं होते, हमेशा अपूर्ण ही रहते हैं, जैसे – समुद्र, श्मशान, पेट और तृष्णा।

1. समुद्र – समुद्र में अनेक नदियाँ आकर मिलती हैं, फिर भी समुद्र कभी पूरा नहीं भरता, उसमें फिर भी नदियों का जल समा लेने की क्षमता बनी रहती है।
2. श्मशान – श्मशान में करोड़ों बाल, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष के शव जलाए जाते हैं, किन्तु फिर भी वह खाली ही रहता है।
3. पेट – पेट में सुबह, दोपहर और शाम कुछ न कुछ डालते रहते हैं, फिर भी वह खाली-का-खाली ही रहता है।
4. तृष्णा – तृष्णा एक विराट गड्ढा है, उसे सुमेरु पर्वत से भी नहीं भरा जा सकता। वह हमेशा खाली ही रहता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है –“सोने एवं चाँदी के कैलाश पर्वत की तरह असंख्य पर्वत भी किसी लोभी मनुष्य को दे दिए जाएं, तो भी उसके लिए तो वे अपर्याप्त ही होंगे, क्योंकि इच्छाएँ तो आकाश के समान अनन्त हैं।”³⁰

लोभाविष्ट प्राणी धनार्जन के अनेक तरीके अपनाता है। वह सामग्री में मिलावट करता है, तौल-माप में गड़बड़ी करता है, यदि नौकरी पर है, तो रिश्वत लेकर अनियमित कार्य भी कर देता है। अधिक धन के लालच में तस्करी, हत्या आदि घृणित कार्य भी नहीं छोड़ता। एक बार जिसके मन में लोभ बस जाता है; समझो वह दुर्गुणों के दलदल में फँसता ही चला जाता है। लोभी व्यक्ति कम देकर अधिक लेना चाहता है। उसके अन्दर से आत्मीयता एवं करुणा समाप्त हो जाती है, फिर भी लोभ का अंश कम नहीं होता। यदि लोभ छोड़ दिया गया है, तो तप आदि की साधना का क्या प्रयोजन और अगर लोभ नहीं छोड़ा है, तो भी तप से क्या प्रयोजन ? समस्त शास्त्रों के परमार्थ का मन्थन कर यह कह सकते हैं कि साधक को लोभ को नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

लोभ के विभिन्न रूप –

लोभ-प्रवृत्ति व्यक्ति की इच्छाओं और तृष्णाओं पर आश्रित होती है। जितनी अधिक लोभ की प्रवृत्ति व्यक्ति के अन्तरंग में व्याप्त होती है, उसकी पूर्ति के लिए वह निरन्तर उद्यम करता है। चाहे वह उद्यम उचित हो या अनुचित, सत्य हो या असत्य, सम्यक् हो या असम्यक्, उन सबकी चिन्ता किए बिना अपनी लोभप्रवृत्ति की पूर्ति के लिए वह प्रयत्नशील दिखाई देता है।

वस्तुतः, पाँचों इन्द्रियों के विषय एवं मान-कषाय जब पुष्ट होते हैं, तो लोभ अपने पाँव जमाना प्रारंभ कर देता है। वस्तु-विनिमय का एक साधन धन है और विषयभोग के साधनों की प्राप्ति धन द्वारा होती है, अतः व्यक्ति अपनी लोभ-प्रवृत्ति

³⁰ सुवर्ण-रूपस्स उ पव्वया भवे, सिया हु कैलाससमा असंख्या ।

नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ।। – उत्तराध्ययनसूत्र 9/48

की पूर्ति के लिए रात-दिन दौड़ लगाता है, वहाँ उसकी आवश्यकताएँ गौण होकर लोभ प्रवृत्ति प्रमुख हो जाती है। भगवतीसूत्र³¹ में लोभ के सोलह पर्यायवाची शब्दों की तथा समवायांगसूत्र³² में चौदह पर्यायवाची की चर्चा की गई है।

समवायांगसूत्र में लोभ के निम्न चौदह पर्याय बताए हैं – लोभ, इच्छा, मूर्च्छा, कांक्षा, गृद्धि, तृष्णा, भिध्या, अभिध्या, कामाशा, भोगाशा, जीविताशा, मरणाशा, नन्दि एवं राग।

भगवतीसूत्र में इन चौदह पर्यायों के अतिरिक्त तीन अन्य पर्याय भी दिए हैं जो इस प्रकार हैं – आशंसन, प्रार्थन, लालपन। 'समवायांगसूत्र' में नन्दी एवं राग को भिन्न-भिन्न रूपों में परिगणित किया गया है एवं 'भगवतीसूत्र' में नन्दीराग को एक ही पर्यायवाची बताया गया है।

भगवतीसूत्र की अभयदेवसूरि वृत्ति के अनुसार इन पर्यायवाचियों की व्याख्या निम्न है –

1. लोभ – मोहनीयकर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली संग्रह करने की वृत्ति लोभ है।
2. इच्छा – इष्ट प्राप्ति की भावना, अभिलाषा इच्छा है। इच्छा का संबंध किसी वस्तु या विषय से होता है। वह व्यक्ति को पर से जोड़ती है। परद्रव्यों की चाह ही इच्छा है, तीन लोक को पाने की भावना इच्छा है।³³
3. मूर्च्छा – तीव्र संग्रह-वृत्ति मूर्च्छा कहलाती है, या पदार्थ के संरक्षण में होने वाला अनुबंध, प्रकृष्ट मोहवृत्ति मूर्च्छा है।³⁴

³¹ अहं भंते। लोभे इच्छा, मुच्छा, कांखा, गेही, तण्हा, विज्झा, अभिज्झा, आसासणया, पत्थणया, लालप्पणया, कामासा, भोगासा, जीवियासा, मरणासा, नन्दिरागे ...। – भगवतीसूत्र श.12, उ.5, सूत्र 106

³² लोभे इच्छा मुच्छा कांखा। – समवायांगसूत्र 52/सू.1

³³ इच्छामिलाषस्त्रैलोक्यविषयः। – तत्त्वार्थसूत्र भाष्यवृत्ति 8/10

³⁴ मूर्च्छा प्रकर्षप्राप्ता मोहवृद्धिः। – तत्त्वार्थसूत्र भाष्यवृत्ति 8/10

4. कांक्षा – अप्राप्त पदार्थ की आशंसा, जो नहीं है, भविष्य में उसे पाने की इच्छा कांक्षा है।³⁵ कांक्षा और इच्छा में सूक्ष्म अन्तर यही है कि कांक्षा want है, तो इच्छा will है। सूक्ष्म दृष्टि से कहें, तो आकांक्षा इच्छा की जनक है।
5. गृद्धि – प्राप्त पदार्थ में होने वाली आसक्ति, प्राप्त इष्ट वस्तुओं में अभिरक्षण की प्रवृत्ति गृद्धि कहलाती है। दूसरे शब्दों में कहें, तो अपनी वस्तु में आसक्ति रखना गृद्धि है।
6. तृष्णा – प्राप्त पदार्थ का व्यय न हो, –इस प्रकार की इच्छा तृष्णा है। जो वस्तु अपने अधिकार में है, उस वस्तु के प्रति व्यय न करने की इच्छा तृष्णा है।
7. मिध्या – विषयों के प्रति होने वाली सघन एकाग्रता अर्थात् इष्ट वस्तु पर अपनी दृष्टि सदा जमाए रखना। वह कहीं इधर-उधर न चली जाए और कोई ले न जाए, इस प्रकार की इच्छा ही मिध्या है।
8. अभिध्या – विषयों के प्रति होने वाली विरल एकाग्रता, चंचलता या निश्चय से डिग जाना।
9. आशंसना – इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए दिया जाने वाला आशीर्वाद।
10. प्रार्थना – प्रार्थना करना, याचना करना, मांगना आदि, अर्थात् सम्पत्ति, धन, इच्छित वस्तु की याचना करना प्रार्थना है।
11. लालपनता – इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए बार-बार प्रार्थना करना और जब तक वस्तु प्राप्त न हो जाए, तब तक प्रार्थना करते रहना।
12. कामाशा – काम की इच्छा, शब्द, रूप आदि को पाने की इच्छा कामाशा है।
13. भोगाशा – गंध, रस आदि पदार्थों को भोगने की कामना भोगाशा है। मधुर स्वर, सुंदर रूप, षट् रस भोजन, सुरभी गंध और मुलायम वस्त्रादि को भोगने की इच्छा भोगाशा होती है।

³⁵ भविष्यत्कालोपादानविषयाकांक्षा – वही

14. जीविताशा — जीवित रहने की इच्छा। जीव की सबसे प्रथम इच्छा जिजीविषा (जीने की प्रबल इच्छा) है और वह अन्त तक रहती है। आचारांग में भी कहा है — 'सत्वे पाणा पिआउआ',³⁶ सभी प्राणियों को अपनी जिंदगी प्यारी है और जीवित रहने की इच्छा ही जीविताशा है।

15. मरणाशा — मरने की इच्छा। दुःख, निराशा, मान सम्मान में हानि के भय से, व्यापार में नुकसान या किसी के वियोग के कारण मृत्यु की इच्छा ही मरणाशा है।

16. नंदिराग — प्राप्त समृद्धि में होने वाली प्रसन्नता, रंजनात्मक—मनोवृत्ति नंदिराग है। व्यक्ति की प्रसन्नता उसकी सम्पत्ति और धनादि को देखकर और बढ़ती है और उन वस्तुओं को देखने से मिलने वाली खुशी ही नंदिराग है।³⁷

कसायपाहुड में लोभ के बीस रूपों की व्याख्या की गई है³⁸ — काम, राग, निदान, छन्द, स्तव, प्रेय, दोष, स्नेह, अनुराग, आशा, इच्छा, मूर्च्छा, गृद्धि, साशता, प्रार्थना, लालसा, अविरति, तृष्णा, विद्या, जिह्वा।

समवायांग एवं भगवतीसूत्र में दिए लोभ के पर्याय एवं कसायपाहुड में दिए पर्यायों में तीन—चार पर्यायों में साम्यता है, अन्य भिन्न हैं।

कसायपाहुड में उल्लेखित पर्यायों की निम्न व्याख्या है —

1. काम — स्त्री, पुरुष आदि की अभिलाषा।
2. राग — विषयासक्ति।
3. निदान — जन्मजन्मांतर संबंधी संकल्प।
4. छन्द — मनोनुकूल वेशभूषा में विचरना।
5. स्तव — विविध विषयों की अभिलाषारूप चिन्तन।

³⁶ आचारांगसूत्र 1/2/3

³⁷ लोभे त्ति सामान्यं इच्छा नंदिराग। — भगवतीवृत्ति 12/106

³⁸ कामो राग पिदाणो । — कषायचूर्णि, अ.9, गा. 89

6. प्रेय – प्रिय वस्तु की प्राप्ति हेतु तीव्र भाव।
7. दोष – ईर्ष्याग्रस्त होकर परिग्रह-बहुलता की इच्छा। दूसरों को नीचा दिखाने के लिए परिग्रह का संचय कर अपने-आपको महान् बताने की इच्छा।
8. स्नेह – प्रिय वस्तु या व्यक्ति के विचार में एकाग्रता।
9. अनुराग – अत्यधिक स्नेहाधिक्यता रखना, अर्थात् वस्तु या व्यक्ति के प्रति अति लगाव रखना।
10. आशा – अविद्यमान पदार्थ की आकांक्षा।
11. इच्छा – परिग्रह-अभिलाषा।
12. मूर्च्छा – संग्रह में गाढ़ आसक्ति।
13. गृद्धि – परिग्रह-वृद्धि हेतु अति तृष्णा।
14. साशता – प्रतिस्पर्धा।
15. प्रार्थना – धनप्राप्ति की अतीव कामना।
16. लालसा – अभीप्सित संयोग हेतु चाहना।
17. अविरति – परिग्रह-त्याग के भाव का अभाव।
18. तृष्णा – विषय-पिपासा, वस्तुओं की इच्छा।
19. विद्या – पूर्व संस्कारवश जिसका निरन्तर अनुभव हो।
20. जिह्वा – उत्तमोत्तम भोगोपभोग सामग्री के लिए जिह्वा लपलपाना, रसदार फल, मिष्ठान्न, सुन्दर परिधान, आभूषण आदि के लिए इच्छा करना।

उपर्युक्त भेद लोभ मनोभाव के हैं। जब भी किसी वस्तु या व्यक्ति आदि को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होती है और उसके लिए जीव जब उचित और अनुचित साधन-सामग्री का उपयोग करने का उद्यम करता है, वह लोभ है। लोभ की आगमानुसार रूप-भेद विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि साधन-सामग्री के संग्रह

करने की जो-जो आकांक्षा जीव में उत्पन्न होती हैं वे सभी लोभ की ही पर्याय कहलाती हैं।

लोभ के चार भेद³⁹ -

- | | |
|-----------------------|-----------------------|
| 1. अनन्तानुबन्धी-लोभ, | 2. अप्रत्याख्यानी-लोभ |
| 3. प्रत्याख्यानी-लोभ | 4. संज्वलन-लोभ |

1. अनन्तानुबन्धी-लोभ -

अनन्तानुबन्धी-लोभ को किरमिची के रंग की उपमा दी गई है। वस्त्र फट जाता है, पर किरमिची का पक्का रंग नहीं छूटता, उसी प्रकार, अनन्तानुबन्धी लोभ से संकिलष्ट परिणामों वाला जीव किसी भी उपाय से लोभ नहीं छोड़ता है। जिजीविषा, स्वस्थता, संयोग-प्राप्ति का लोभ अनन्तानुबन्धी-लोभ है। जब जीव देह को 'मैं' स्वरूप मानता है, तब वह जीने की आकांक्षा, आरोग्य की वांछा, इष्ट पदार्थों के संयोग की कामना, प्रिय व्यक्तियों से सम्बन्ध बनाने की भावना रखता है। वह मम्मण सेठ की भांति कभी भी तृप्ति और संतोष धारण नहीं करता है। यह सम्यक्त्व से जीव को दूर रखता है और नरक-गति का कारण बनता है।

2. अप्रत्याख्यानी-लोभ -

अप्रत्याख्यानी-लोभ को काजल के काले दाग की उपमा दी गई है। जिस प्रकार काजल के काले धब्बे अत्यधिक परिश्रम से मिटते हैं, उसी प्रकार बहुत प्रयत्न करने पर एवं दिन-रात समझाने से ही अप्रत्याख्यानी-लोभ हृदय से दूर होता है। अप्रत्याख्यानी-लोभ व्रत-नियम में बाधा उत्पन्न करता है। क्षायिक-सम्यक्त्वी वासुदेव श्रीकृष्ण ने अपने राज्य में घोषणा की थी, 'जो भी नगरवासी प्रभु नेमिनाथ के चरणों में संयम ग्रहण करे, उसके कुटुम्ब-पालन का दायित्व मेरा है। वे अपने निकटस्थ

³⁹ क) भगवतीसूत्र 15/5/5

ख) प्रथम कर्मग्रंथ, गाथा 20

ग) स्थानांगसूत्र, 4/87

प्रत्येक व्यक्ति को प्रव्रज्या—अंगीकार हेतु प्रेरणा देते थे। क्योंकि उनको अप्रत्याख्यानी का उदय चल रहा था, इसलिए वह व्रतादि नहीं ले सकते थे।

3. प्रत्याख्यानी—लोभ —

प्रत्याख्यानी—लोभ को कीचड़ के रंग की उपमा दी गई है। कपड़े पर लगा कीचड़ का मैला रंग आसानी से नहीं छूटता है, उसी प्रकार प्रत्याख्यानी—लोभ भी मेहनतपूर्वक मिटता है। यह सर्वविरति में बाधक बनता है। इसकी स्थिति मात्र चार मास तक रहती है। साधना—क्षेत्र में त्वरित गति से अग्रगामी होने की भावना, बारह व्रत ग्रहण कर प्रतिमाएं धारण करने की इच्छा इस लोभ में होती है।

4. संज्वलन—लोभ —

संज्वलन—लोभ को हल्दी के रंग की उपमा दी गई है। जिस प्रकार वस्त्र पर पड़ा हल्दी का रंग साबुन से धोकर धूप में सुखाने से उड़ जाता है, उसी प्रकार शास्त्र—वाचन, प्रवचन—श्रवण, सद्गुरु के संयोग आदि कारणों से जो लोभ शीघ्र नष्ट हो जाता है, वह संज्वलन—लोभ है। शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति का आनन्द मिले, यह चाह भी संज्वलन—लोभ है। गजसुकुमार ने नेमीनाथ प्रभु के चरणों में दीक्षा स्वीकार करके सर्वप्रथम यह प्रश्न किया था —“प्रभो! मुझे जल्दी से जल्दी मुक्ति कैसे प्राप्त हो ?”

पूर्ववर्ती अध्यायों में क्रोध, मान, माया और लोभ के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं।

वस्तुतः, क्रोध से अप्रीति का जन्म होता है और क्रोध की आग में जब विवेक भस्मीभूत हो जाता है, तब व्यक्ति छोटे—बड़े, अपने—पराए को अनदेखा करके कुछ भी बोल जाता है, जिससे संबंधों में दरार आ जाती है, अतः क्रोध की तीव्रता—मंदता को प्रदर्शित करने के लिए दरार (रेखा) का सहारा लिया गया है।

अभिमान विनय और नम्रता का हरण करता है। अभिमानी व्यक्ति झुक नहीं पाता है, अतः उसे रेखांकित करने के लिए डंडे का सहारा लिया गया है।

माया से ऋजुता—सरलता का विनाश होता है, इसका स्वभाव वक्रता एवं कुटिलता है। छाल वक्र होने से उसके आधार पर चार दृष्टांत किए गए हैं।

लोभ व्यक्ति से हिंसक, अधार्मिक क्रियाएं करवाता है। उन संकिलष्ट अध्यवसायों के कारण आत्मा दूषित (रंजित) होती है, अतः लोभी व्यक्ति की मनःस्थिति को रंगों के द्वारा परिभाषित किया गया है।

इस प्रकार, संज्वलन, प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी और अनन्तानुबंधी क्रोध—संज्ञा, मान—संज्ञा, माया—संज्ञा और लोभ—संज्ञा क्रमशः मन्द, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम है।

लोभोत्पत्ति के कारण —

स्थानांगसूत्र में लोभोत्पत्ति के चार कारणों का उल्लेख मिलता है —

1. क्षेत्र के कारण,
2. वस्तु के कारण,
3. शरीर के कारण,
4. उपधि के कारण।

नारकों से लेकर वैमानिक—देवों तक के सभी जीवों में इन चार कारणों से लोभ की उत्पत्ति होती है।

1. क्षेत्र के कारण —

खेत, भूमि आदि को प्राप्त करने के लिए प्रयास करना। यह क्षेत्र, खेत और भूमि मेरी हो जाए और जब तक वह अपने अधिकार में नहीं होती, लोभ की प्रवृत्ति बढ़ती ही है। एक खेत का स्वामी बन जाने पर हृदय में दूसरे खेत खरीदने का लालच उत्पन्न हो जाता है। कहा गया है —“यदि किसी एक व्यक्ति को

धन-धान्यादि से परिपूर्ण यह सम्पूर्ण विश्व दे दिया जाए तो भी वह उससे संतुष्ट नहीं होता, इतनी दुष्पूर है यह लोभात्मा।⁴⁰

2. वस्तु के कारण –

घर, मकान, फर्नीचर आदि भौतिक-वस्तुओं के प्रति रागभाव रखने से लोभ की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और इस लोभ-प्रवृत्ति के कारण संग्रहवृत्ति बढ़ती चली जाती है। वस्तु तो जड़ पदार्थ है, वह कुछ भी नहीं करती, परंतु बाजार से निकलते समय वस्तु को देखकर जीव की लोभ-संज्ञा जाग्रत हो जाती है, जो परिग्रह का कारण बनती है।

3. शरीर के कारण –

शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है। इसके लिए शुद्ध और सात्विक आहार अतिआवश्यक है। लोभी व्यक्ति शरीर का ख्याल नहीं रखकर आहार आदि में कंजूसी करता है और स्वास्थ्य को खराब करता है। एक आदमी बीमार पड़ा, उसने वैद्य से पूछा – “मेरे ईलाज में कितना खर्च होगा ?” वैद्य ने कहा – “एक हजार।”

“अगर मैं मर जाऊंगा तो जलाने (अग्निसंस्कार) में कितना खर्च होगा ?”, तीस रुपए।

तब सेठ बोले – “इससे तो मरना ही अच्छा है, लेकिन इतनी मंहगी दवाई कभी नहीं लूंगा।”

रुपए सहस्र इलाज में, दाह क्रिया में तीस।

मरना ही अच्छा रहा, तब तो वीसवासीस।।

⁴⁰ 1) चउहिं ठाणेहि लोभुप्पती सिता जहा – खेत्तं पडुच्चा, वत्थुं पडुच्चा, सरीरं पडुच्चा, उवहिं पडुच्चा एवं णेरयाणं जाव वेमाणियाणं। – स्थानांगसूत्र 4/83

2) कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्करस।
तेणावि से उन स तुरसे, इह दुष्पूरण इमे आया।। – उत्तराध्ययन, 9/16

4. उपधि के कारण –

उपधि, अर्थात् सामान्य साधन-सामग्री। चेतना का जब भौतिक-जगत् से सम्बन्ध होता है, तो उसे अनेक वस्तुएं अपने प्राणमय जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। यही आवश्यकता जब आसक्ति में बदल जाती है, तो एक ओर संग्रह होता जाता है, दूसरी ओर संग्रह की लालसा बढ़ती जाती है, इसलिए उपधि अर्थात् भोग-उपभोग की साधन-सामग्री भी लोभ को उकसाने में निमित्त बनती है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त निम्न कारणों से भी लोभ उत्पन्न होता है –

- पूर्वकृत लोभ-मोहनीय नामक कर्म-प्रकृति के उदय से लोभ उत्पन्न होता है।
- जीवन की अस्थिरता, धन की चंचलता, कर्मफल आदि आध्यात्मिक-विचारों के नित्य चिन्तन-मनन के अभाव से लोभ-प्रवृत्ति बढ़ती है।
- अपने से नीचे वालों की तरफ कभी दृष्टि नहीं डालने और अपने से ऊपर के स्तर के लोगों की धन-सम्पदा देखकर भी लोभ उत्पन्न होता है।
- संतोष के सही स्वरूप व उसके लाभ को नहीं समझने से लोभ बढ़ता है।
- समाज में इज्जत या प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए लोभी व्यक्ति निरंतर साधन-सामग्री के संग्रह के चिन्तन में डूबा रहता है।
- अपने से ज्यादा धन या भौतिक-पदार्थ वाले को सुखी समझने से लोभ बढ़ता है।
- धन या भौतिक-पदार्थों को ही सुख का कारण समझने-रूप अज्ञान से लोभ उत्पन्न होता है।

लोभ चार प्रकार का होता है —

स्थानांगसूत्र⁴¹ तथा प्रज्ञापनासूत्र⁴² में लोभ के चार प्रकार निम्न हैं —

आभोगनिवर्तित, अनाभोगनिवर्तित, उपशान्त और अनुपशान्त।

1. आभोगनिवर्तित—लोभ —

वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि ने 'आभोग' का अर्थ ज्ञान किया है।⁴³ लोभ के दुष्परिणामों को जानते हुए भी लोभ करना आभोगनिवर्तित लोभ कहलाता है। व्यक्ति जानता है कि लोभ करने से संग्रहवृत्ति और कर्मबंध होता है, पर फिर भी धन कमाने के लिए वह दिन-रात मेहनत करता रहता है।

2. अनाभोगनिवर्तित—लोभ —

लोभ के दुष्परिणाम से अनजान होकर लोभ करना अनाभोगनिवर्तित—लोभ है। आदत से मजबूर होकर लाभ-हानि का विचार किए बिना अकारण या निष्प्रयोजन लोभ करना अनाभोगनिवर्तित है, जैसे— मम्मण सेठ के पास धन की कोई कमी नहीं थी, फिर भी आदत के कारण वह धन का लोभी था।

3. उपशान्त—लोभ —

सुप्त लोभ—संस्कार उपशान्त—लोभ हैं।

4. अनुपशान्त—लोभ —

उदय को प्राप्त लोभ अनुपशान्त—लोभ है। पूर्वकृत लोभ—मोहनीयकर्म का जब उदय होता है, वस्तु आदि पदार्थ को प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत होती है, यह अनुपशान्त—लोभ है।

⁴¹ चउव्विहे लोभे पण्णते, तं जहा —1. आभोगणिव्वत्तिते, 2. अणाभोगणिव्वत्तिते,
3. उवसंते, 4. अणवसंते एवं —णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। — स्थानांगसूत्र 4/91

⁴² प्रज्ञापनासूत्र

⁴³ आभोगो—ज्ञानं तेन निर्वर्तितो। — स्थानांगवृत्ति, पत्र 182

लोभ के प्रकार की चर्चा के साथ-साथ लोभ के चार प्रतिष्ठान भी स्थानांगसूत्र⁴⁴ में बताए गए हैं -

1. आत्म-प्रतिष्ठित।
2. पर-प्रतिष्ठित।
3. तदुभय-प्रतिष्ठित।
4. अप्रतिष्ठित।

यह चारों प्रकार का लोभ नारकों से लेकर वैमानिक देवों तक के सभी जीवों में होता है।

1. आत्म-प्रतिष्ठित {स्व-निमित्त} -

जिस लोभोत्पत्ति में कारण स्वयं ही हो, जैसे- लाटरी का टिकट स्वयं ने खरीदा और लाटरी खुली ही नहीं, इस कारण दूसरी बार सफलता पाने के लालच में और टिकट खरीदना और लोभ की भावनाओं का बढ़ना आत्मप्रतिष्ठित-लोभ है।

2. पर-प्रतिष्ठित {पर-निमित्त} -

दूसरों के निमित्त होने पर अपने धन का व्यय नहीं करना। स्वयं के लिए खर्च करना पर, दूसरों पर एक टका भी खर्च नहीं करना पर-प्रतिष्ठित लोभ है, जैसे -मित्रों के साथ होटल में गए, भोजन किया पर पैसों का भुगतान स्वयं नहीं किया, बिल का भुगतान अन्य से करवाना पर-प्रतिष्ठित लोभ के अन्तर्गत आता है।

3. तदुभय-प्रतिष्ठित -

जिस लोभ के कारण स्व तथा पर -दोनों हों, जैसे -यात्रा का आनन्द लेने के लिए मित्रों सहित प्रोग्राम बनाना और उसे तीर्थयात्रा का नाम देकर उसका भुगतान अन्य व्यक्तियों या संस्थाओं से करवाना।

⁴⁴ चउपत्तिद्धिते लोभे पण्णते, तं जहा -

आपपत्तिद्धिते, परपत्तिद्धिते, तदुभयपत्तिद्धिते, अपत्तिद्धिते एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। -स्थानांगसूत्र 4/79

4. अप्रतिष्ठित –

बाह्य-निमित्त नहीं होने पर अन्तरंग में लोभ-मोहनीयकर्म के उदय से इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए जो उद्विग्नता-चंचलता बनी रहती है, वह अप्रतिष्ठित-लोभ है। अप्रतिष्ठित-लोभ में व्यक्ति का एकमात्र उद्देश्य धन का संचय होता है। जैसे –स्वास्थ्य लाभ के लिए मंहगी औषधि नहीं खरीदना, भले ही मृत्यु हो जाए, पर धन खर्च नहीं करना, इसीलिए यह कहावत प्रसिद्ध है – ‘चमड़ी जाए पर दमड़ी न जाए’। आगे हम लोभ के दुष्परिणामों की और लोभ-विजय के उपायों की चर्चा करेंगे।

लोभ के दुष्परिणाम –

दशवैकालिकसूत्र के आठवें अध्ययन में कहा गया है –“क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान (अहंकार) विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है।”⁴⁵ यहाँ लोभ को सर्व सद्गुण-विनाशक कहा गया है। लोभ-प्रवृत्ति से वर्तमान और आगामी दोनों जीवन नष्ट होते हैं, क्योंकि लोभ के कारण ही तृष्णा उत्पन्न होती है। तृष्णा में अंधा बना व्यक्ति क्या उचित है, क्या अनुचित है – इसका विवेक खोकर दुष्कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। लोभ के कारण आकुल-व्याकुल बना मन कामनाओं की पूर्ति के लिए सब कुछ कर गुजरने का मानस बना लेता है, भले ही वे सत्ता, सम्पत्ति, सुन्दरी आदि किसी से भी सम्बन्धित हों। लोभ की पूर्ति न होने पर वह हत्या और आत्महत्या के स्तर तक पहुंच जाता है। सूत्रकृतांग में कहा है –“निर्भय अकेला विचरने वाला सिंह भी मांस के लोभ से जाल में फंस जाता है, उसी प्रकार आसक्तिवश मनुष्य भी लोभ में फंसकर अपना विनाश कर लेता है।”⁴⁶

⁴⁵ कोहो पीइं पण्णसेइ माणो विणय णासणो।

माया भित्ताणि णासेइ, लोभो सब्बाविणासणो।। – दशवैकालिकसूत्र, 8/38

⁴⁶ सीहं जहा व कुणिमेणं, निब्भयमेगं चरंति पासेणं। – सूत्रकृतांगसूत्र 1/4/1/8

लोभ के दुष्परिणाम निम्नलिखित हैं –

1. संग्रहवृत्ति –

लोभ संग्रहवृत्ति का प्रथम सोपान है। लोभ के कारण ही व्यक्ति में लालसा उत्पन्न होती है। आवश्यकता न होने पर भी लोभ-प्रवृत्ति के कारण वह धन का संचय करता है। धनसंचय देश, समाज और व्यक्तियों में वर्गभेद, संघर्ष, हिंसा, तनाव आदि सामाजिक-विषमताओं का कारण बनता है। चेतना का जब भौतिक-जगत से संबंध होता है, तो उसे अनेक वस्तुएँ अपने प्राणमय जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। यही आवश्यकता जब आसक्ति में बदल जाती है, तो एक ओर संग्रह बढ़ता है, तो दूसरी ओर संग्रह की लालसा बढ़ती जाती है। परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में आर्थिक-विषमता बढ़ती जाती है। ऋग्वेद में कहा है – “जिसके पास संपत्ति का एक भाग है, वह दो भाग वाले पथ पर चलता है, दो भाग वाला तीन भाग वाले का अनुकरण करता है, अतः कामनाओं का दण्ड निरन्तर बढ़ता रहता है और ये कामनाएँ संग्रहवृत्ति को प्रेरित करती हैं।⁴⁷ उत्तराध्ययनसूत्र में प्रभु महावीर ने यही कहा है – “जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लाहो पवड्डइ”⁴⁸ अर्थात् लाभ के साथ-साथ लोभ बढ़ता रहता है। शब्द बदलकर यही बात संत तुलसीदास ने यो कही है –

“जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।”

पाश्चात्य-विचारक ने भी इन्हीं शब्दों को इस प्रकार कहा है –

'The more they get, the more they want'

वे जितना अधिक प्राप्त करते हैं, उतना ही अधिक चाहते हैं। वस्तुओं के संग्रह की इच्छा ही लोभ है, जो सुख की नाशक है। दशवैकालिकसूत्र में बताया है

⁴⁷ ऋग्वेद – 10/117/8

⁴⁸ 1) उत्तराध्ययनसूत्र – 9/17

2) जे सया सन्मिही कामे, गिही पवड्डइ ण से – दशवैकालिक सूत्र-6/19

— "जो सदा संग्रह करने की इच्छा मन में रखता है, वह गृहस्थ ही है, प्रव्रजित (साधु) नहीं। जितनी लोभवृत्ति या तृष्णा बढ़ती है, उतनी ही संग्रहवृत्ति बढ़ती जाती है और जितनी संग्रहवृत्ति में वृद्धि होती है, उतना ही दुःख में वृद्धि होती है।"⁴⁹

2. लोभ एक सामाजिक—हिंसा —

लोभवृत्ति एक सामाजिक—हिंसा है। लोभवृत्ति के कारण ही संग्रह की भावना प्रबल होती है। वस्तुतः, यह स्पष्ट है कि 'संग्रह' हिंसा से ही प्रत्युत्पन्न होता है, क्योंकि बिना शोषण के संग्रह असम्भव है। व्यक्ति संग्रह के द्वारा दूसरों के हितों का हनन करता है। समाज में उत्पन्न दहेजप्रथा लोभ का ही एक रूप है। लोभ से ग्रस्त वर—पक्ष वधू—पक्ष से धन (दहेज) की याचना करता है, यदि धनपूर्ति नहीं हुई तो वधु को शब्दों के बाणों से प्रताड़ित किया जाता है, उससे मारपीट की जाती है और कई बार तो केरोसीन डालकर जिंदा जला दिया भी जाता है। समाज में उत्पन्न इस कुप्रथा का मूल यदि देखें, तो वह लोभ ही है। लोभ जब तक समाज में व्याप्त रहेगा, तब तक हिंसा का साम्राज्य समाज में सदा बढ़ेगा। लोभान्ध व्यक्ति स्वार्थ की सिद्धि के लिए, धन की प्राप्ति के लिए क्रूर बनकर किसी की भी हत्या कर डालता है, चाहे वह माता हो, पिता हो, पुत्र हो, बहिन हो, मित्र हो, मालिक हो, या सगा भाई⁵⁰। धन के लिए आतुर रहने वाले तो अपने गुरुदेव तक की परवाह नहीं करते हैं।⁵¹ यथावसर संचित धन को तो दूसरे उड़ा लेते हैं और संग्रही को अपने पापकर्मों का दुष्कर फल भोगना पड़ता है।⁵²

⁴⁹ ये तण्हं बड्ढेन्ति ते उपधिं वड्ढेन्ति।

ये उपधिं वड्ढेन्ति ते दुक्ख वड्ढेन्ति॥

— संयुत्तनिकाय 2/12/66

⁵⁰ मातरं पितरं भ्रातरं, स्वसारं वा सुहरं।

लोभाविष्टो नरो हन्ति, स्वामिनं वा सहोदरम्॥ — भोजप्रबन्धः।

⁵¹ अर्थातुराणां न गुरुर्न बन्धुः।

⁵² अन्ने हरन्ति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहि किच्चती। — सूत्रकृतांग 1/9/4

3. तृष्णा का मूल लोभ है —

इच्छा, स्पृहा, वासना और तृष्णा यद्यपि पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं, परन्तु इनमें सूक्ष्म अंतर भी है। वस्तु का चाहना— इच्छा है। अत्यावश्यक वस्तु की इच्छा— स्पृहा है। प्राप्त वस्तु को टिकाए रखने की स्पृहा — वासना है और टिकी वस्तु को बढ़ाने की वासना— तृष्णा है। जो तृष्णा का गुलाम हो जाता है, वह जीवनभर दौड़-धूप करता रहता है। कभी शांति या सुख का अनुभव उसे नहीं हो पाता। धन ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है, परन्तु जीवनभर परिश्रम करके इकट्ठे किए गए समस्त धन को वह यहीं छोड़ जाता है। अंतिम सांस छूटते ही धन भी छूट जाता है, परन्तु तृष्णा तरुणी बनी रहती है।⁵³

आगाह अपनी मौत से, कोई बशर नहीं।
सामान सौ बरसों का है पल की खबर नहीं।।

यह तृष्णा व्यक्ति को कर्तव्य से विमुख कर देती है, धर्म के मार्ग से दूर ले जाती है, असंतोष के समुन्दर में डुबो देती है और अशांति के जंगल में भटका देती है। उत्तराध्ययनसूत्र में 'कपिल ब्राह्मण'⁵⁴ का उदाहरण प्रसिद्ध है —उसने दो माशा स्वर्ण की प्राप्ति की इच्छा राजा के समक्ष प्रकट की। राजा ने प्रसन्न होकर कहा — "हे विप्र! दो माशा ही नहीं, तुम्हारी इच्छानुसार धन (स्वर्ण) तुम्हें प्राप्त होगा। कहो! कितना चाहिए?"

कपिल क्षणभर स्तब्ध रह गया। उसके मन में तृष्णा की तरंगें तीव्र वेग से उठने लगीं। कितना मांगना ? दो माशा, नहीं। सौ स्वर्णमुद्रा ? नहीं। एक हजार स्वर्णमुद्रा ? नहीं। एक लाख स्वर्ण मुद्रा ? नहीं, नहीं। आधा राज्य ? नहीं। क्या सम्पूर्ण राज्य ? हाँ—हाँ यही ठीक है। तुरन्त विवेक ने लोभ को थप्पड़ लगाया। ओ हो! कैसा मेरा लोभ ? कैसी मेरी तृष्णा ? मन तत्त्व—चिन्तन की श्रेणी पर आरुढ़ हो गया। यह तृष्णा तो एक विष—लता के समान है, जो भयंकर है और भयंकर फल

⁵³ तृष्णां न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।

⁵⁴ उत्तराध्ययनसूत्र अ. 8

पैदा करने वाली है,⁵⁵ और ऐसा चिन्तन करते हुए उसने समस्त कर्मों का क्षय कर लिया, कैवल्य को प्राप्त कर बिना कुछ मांगे चल दिया।

इसी प्रकार, मम्मण सेठ⁵⁶ का उदाहरण भी प्राप्त होता है – “लोभ और तृष्णा के कारण अर्द्धरात्रि में उफनती नदी से लकड़ियाँ बाहर लाते देखकर श्रेणिक महाराजा दयार्द्र हो उठे और कहा – “जो चाहिए मांग लो।”

“राजन केवल एक बैल चाहिए।”

नृपति ने आदेश दिया – “इन्हें गोशाला में ले जाओ और जो बैल ये लेना चाहे, इन्हें दे दिया जाए, पर मम्मण सेठ को कोई बैल पसन्द नहीं आया। “राजन! मेरे बैल जैसा आपके पास एक बैल भी नहीं”, मम्मण के ये शब्द सुनकर राजा चौंक गए। “ऐसा बैल हमारी गोशाला में नहीं है, तो हम तुम्हारा बैल देखने जरूर आएंगे”, महाराजा श्रेणिक ने कहा।

महारानी चेलना एवं मंत्री परिवार के साथ सम्राट मम्मण सेठ के यहां पहुंचे। सम्राट ने गृहांगण में प्रवेश किया। लेकिन बैल दिखा नहीं। मम्मण अभ्यागतों को तल-कक्ष में ले गए और वहां परदा हटाया। भीतर का दृश्य देखते ही सबकी आँखें विस्फारित हो गईं। रत्नजटित स्वर्ण निर्मित बलद जोड़ी थी। एक बैल का एक सींग अभी रत्नजडित होना शेष था। राजा ने दाँतों तले अंगुली दबा ली, और सोचने लगा – इतना धन और फिर भी इतना परिश्रम? इतनी तृष्णा ? धन्यवाद है –तेरे इस लोभ को।

4. असंतोष –

लोभ का जन्म असंतोष से होता है और आसक्ति के कारण मनुष्य की असंतोष-वृत्ति प्रबल होती जाती है। मनोहर, आकर्षक पदार्थों को देखकर मनुष्य की

⁵⁵ भवत्तण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया।

– उत्तराध्ययन 32/48

⁵⁶ कथा संग्रह

भोगोपभोग की भावना बलवान होती है। सुभूम चक्रवर्ती⁵⁷ षट्खण्डाधिपति थे। चक्रवर्ती पदभोक्ता, चौदह रत्नों के स्वामी सुभूम को अतुल सम्पदा प्राप्त होने पर भी संतोष नहीं था। सप्तम खण्ड विजय की भावना बलवती बनने लगी। देववाणी से इन्कार होने पर भी विजयोन्माद में कदम बढ़ चले। अथाह जलराशि पर तैरता देवाधिष्ठित जलयान — अचानक एक देव के मन में विचार आया — यदि मैं कुछ क्षणों के लिए अपना स्थान छोड़ दूँ, तो क्या हानि है ? यही विचार उन समस्त देवों के मन में उसी समय आया, जिन्होंने जहाज संभाला हुआ था। देवों के जहाज से हटते ही वह जलयान सागर की अतल गहराई में जा पहुंचा और सातवें खण्ड की विजय का स्वप्न लिए सुभूम चक्रवर्ती अगली जीवन-यात्रा पर चल पड़ा।

5. लोभ पाप का बाप —

लोभ दुःख एवं पापों का मूल है। लोभी व्यक्ति को सम्पूर्ण संसार की सम्पत्ति भी क्यों न मिल जाए, फिर भी उसकी तृप्ति नहीं होती। लोभ के कारण व्यक्ति कितना गिर सकता है। एक राजस्थानी कहावत है — 'मीठा रै लालच में ऐंठो खावे', अर्थात् मीठी चीज के लोभ में पड़कर किसी का जूठा तक खाने को व्यक्ति तैयार हो जाता है। 'राज्य के लोभ में दुर्योधन ने पाण्डवों और कुन्ती को जलाने के लिए लाक्षागृह बनवाया।'⁵⁸ राज्य के लोभ में विभीषण ने राम को लंका के सारे भेद बता दिए, जिससे रावण को अपनी सुविशाल सेना के बावजूद भी हारना पड़ा।⁵⁹ राज्य के लोभ से ही औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहाँ को कैद किया और अपने भाइयों को मरवा दिया। नन्दराजा के पास स्वर्ण के ढेर थे, फिर भी उन्हें शान्ति नहीं थी। लोभ पर पाप प्रतिष्ठित है। लोभ ही पाप की माता है और राग-द्वेष को उत्पन्न करने

⁵⁷ कथा संग्रह

⁵⁸ महाभारत कथा।

⁵⁹ रामायण कथा।

वाला लोभ ही पाप का मूल कारण है।⁶⁰ लोभी मनुष्य धन को देखता है, किन्तु उससे उत्पन्न होने वाले दुःख को नहीं देखता है। बिल्ली दूध को देखती है, किन्तु लाठी के प्रहार को नहीं देखती। लौकिक-कथा में पाप का बाप लोभ को ही बताया है।

6. लोभ मुक्ति-मार्ग का बाधक है -

साधना-मार्ग में स्थिर होना हो, तो लोभ-कषाय का शमन कर ही मुक्ति-मार्ग में अग्रसर हो सकते हैं, परंतु लोभ की प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति सम्पत्ति-अर्जन में ही लगा रहता है और उसका उपभोग भी नहीं कर पाता। स्थानांगसूत्र⁶¹ में कहा है - "इच्छा लोभि ते मुक्तिमग्गस्स पलिमंथू" अर्थात् लोभ मुक्ति-मार्ग का बाधक है। लोभी व्यक्ति मुक्ति-मार्ग की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। मम्मण सेठ ने अति लोभ के फलस्वरूप नरक-आयु का बन्ध किया।

7. लोभ ईर्ष्या को बढ़ाता है -

लोभ-प्रवृत्ति के कारण ईर्ष्या उत्पन्न होती है। व्यक्ति की यह मानसिक-प्रवृत्ति होती है कि वह दूसरों को बढ़ता देखता है, तो उसके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है और उससे आगे बढ़ने के लिए वह प्रतिस्पर्धा प्रारंभ कर देता है। वह ईर्ष्यारूप प्रतिस्पर्धा, चाहे धनसंचय, विद्याध्ययन, कलात्मक व्यवसाय के क्षेत्र में हो, यदि उनके मूल में देखें, तो लोभ ही इन सबका संपादक है।

8. समाज में जुआ और भ्रष्टाचार का कारण लोभ -

बिना परिश्रम के विराट् सम्पत्ति प्राप्त करने की तीव्र इच्छा, लालसा जुआ है। यह लालसा भूत की तरह मानव के सत्त्व को चूस लेती है। जिसको यह लत लग जाती है, वह मृग-मरीचिका की तरह धन-प्राप्ति की अभिलाषा से अधिक-से-

⁶⁰ लोभ प्रतिष्ठा पापस्य, प्रसूतिर्लोभ एव च
द्वेष-क्रोधादिजनको, लोभः पापस्य कारणम्।। - भोजप्रबन्ध

⁶¹ स्थानांगसूत्र

अधिक धन बाजी पर लगाता चला जाता है और सारा धन नष्ट हो जाता है। ऋग्वेद में द्यूत-क्रीड़ा को त्याज्य माना है।⁶² सूत्रकृतांग में भी चौपड़ या शतरंज के रूप में जुआ खेलने का निषेध किया गया है, क्योंकि हारा जुआरी लोभ के कारण दोगुना खेलता है।⁶³ एक पाश्चात्य-चिन्तक ने भी लिखा है – जुआ लोभ का बच्चा है और फिजूलखर्ची का पिता है।⁶⁴ जुए में आसक्त व्यक्ति धन का नाश करता है।⁶⁵ एच.डब्ल्यू.वीचर का अभिमत है – “जुआ, चाहे वह ताश के पत्तों के रूप में खेला जाता हो या घुड़दौड़, अथवा द्वन्द्व-युद्ध या सट्टे के रूप में, सभी में बिना परिश्रम किए धन प्राप्त करने की इच्छा निहित है।⁶⁶ आँखों से अंधा मनुष्य आँख के सिवाय बाकी सब इंद्रियों से जानता है, किन्तु जुए में अंधा हुआ मनुष्य सब इंद्रियां होने पर भी कुछ नहीं जान पाता।⁶⁷

समाज में भ्रष्टाचार, कालाबाजार, रिश्वतखोरी, मिलावट, अन्याय, अनीति, शोषण, मैच-फिक्सिंग – ये सभी अपराध लोभ के कारण ही होते हैं।

चोरी का केन्द्र : लोभ –

चोरी का वास्तविक अर्थ है, –जिस वस्तु पर अपना अधिकार न हो, उसके मालिक की बिना अनुज्ञा या अनुमति के उस पर अधिकार कर लेना। चोरी का मूल केन्द्र लोभ है। लोभ के कारण मनुष्य दूसरों की वस्तु को हथियाने, या उसे अपने अधिकार में करने का प्रयास करता है। भगवान् महावीर ने कहा है – “बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ग्रहण न करो।⁶⁸ यहाँ तक कि दाँत कुरेदने के लिए एक तिनका

⁶² अक्षैर्मा दिव्यः । – ऋग्वेद 10/34/13

⁶³ अट्टाए न सिक्खेज्जा – सूत्रकृतांगसूत्र 9/10

⁶⁴ Gambling is the child of avarice, but the parent of prodiyality.

⁶⁵ जुए पसतस्स धणस्स नासो । – गौतम कुलक

⁶⁶ Gambling with cards, or dice or strokes in all is one thing, it is getting money without giving an equivalent for it.

⁶⁷ अक्खेहि णरो रहियो, ण मुणइ सेसिंदएहि वेएइ ।

जूयंघो ण य केण वि, जाणइ संपुण्णकरणो वि ।। – वसुनन्दि श्रावकाचार, 66

⁶⁸ अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा

– सूत्रकृतांगसूत्र 10/2

भी न लो।⁶⁹ कोई भी चीज आज्ञा लेकर ग्रहण करना चाहिए।⁷⁰ वैदिक-धर्म में भी चोरी का स्पष्ट निषेध है।⁷¹ किसी की भी कोई चीज ग्रहण न करें। महात्मा ईसा ने भी कहा —“तुम्हें चोरी नहीं करना चाहिए।”⁷²

चोरी एक लोभजन्य वासना है, जो एक बार लग जाने पर छूटती नहीं है, जिससे मानव के दया, अहिंसा, क्षमा, सत्त्व आदि सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। चोरी से प्राप्त धन, जीवन में शान्ति नहीं देता।

वस्तुतः, लोभसंज्ञा के दुष्परिणाम और प्रभाव से संसार का कोई प्राणी अपरिचित अथवा अप्रभावित नहीं है; किन्तु उसे दुःख और अनीति का कारण मानने वाले लोग विरल हैं। इस लोभवृत्ति को समझकर इसका शमन करें, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

लोभ पर विजय कैसे ?

उत्तराध्ययनसूत्र में पूछा गया है —“लोभ के विजय से जीव को कौन-सा लाभ होता है ?” प्रभु ने उत्तर दिया —“लोभ विजय से संतोष उत्पन्न होता है। लोभ-वेदनीयकर्म का बंधन नहीं होता तथा पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा होती है।”⁷³

योगशास्त्र में कहा है —“लोभरूपी समुद्र को पार करना अत्यन्त कठिन है। उसके बढ़ते हुए ज्वार को रोकना दुष्कर है, अतः महाबुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि संतोषरूपी बाँध बांधकर उसे आगे बढ़ने से रोक लें।”⁷⁴

⁶⁹ दन्तसोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं — उत्तराध्ययनसूत्र 19/28

⁷⁰ अणुन्नविय गेण्हियव्व । — प्रश्नव्याकरणसूत्र 2/3

⁷¹ कस्यचित् किंमपि नो हरणीयम् । — यजुर्वेद, 36/22

⁷² Thous shall not steal — Bible

⁷³ लोभविजयेणं भंते! जीवे किं जणयइ ?
लोभविजयेणं संतोसिभावं जणयइ, लोभवेयणिज्जं कम्मं ने बन्धइ, पुब्बबद्धं च कम्मं निज्जरेइ..... । — उत्तराध्ययन 29/70

⁷⁴ लोभ सागर मुद्वेलमतिवेलं महामतिः ।
संतोषसेतुबन्धेन, प्रसरन्तं निवारयेत् ।। — योगशास्त्र 4/22

1. जैसे जल को रोकने के लिए बाँध बांधा जाता है, उसी प्रकार लोभ पर विजय पाने के लिए संतोषरूपी बाँध बांधा जाना चाहिए। धन बुरा नहीं है, किन्तु धन का लोभ बुरा है। जो अपनी आवश्यकताओं पर अंकुश रखता है और ईमानदारी से कमाए हुए धन से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, वही संतुष्ट रहता है, सुखी रहता है।
2. सांसारिक-भोगों में सुखाभास होता है, सुख नहीं। पर-पदार्थों से या पर-द्रव्यों से कभी शाश्वत सुख नहीं मिल सकता है।

मंथन करे दिन रात जब, घृत हाथ में आवे नहीं,
रज रेत पिले रात दिन, पर तेल जो पावे नहीं,
सद्भाग्य बिन जो संपदा, मिलती नहीं व्यापार में,
निज आत्मा के भाव बिन, त्यों सुख नहीं संसार में।⁷⁵

3. समाज में इज्जत या नाम भी लोभ से इकट्ठे किए गए धन से प्राप्त नहीं होती। सच्ची इज्जत तो क्षमा, परोपकार, सरलता आदि सद्गुणों से ही मिलती है।
4. इच्छा मात्र कर्म-बन्ध और लोभ का कारण है। जन्म-मरण के चक्र में निमित्त इच्छा है। लोभ से ही इच्छा उत्पन्न होती है, अतः सम्मान की अभिलाषा, पद की कामना, इन्द्रिय-विषयों की अभीप्सा, जीवन-सुरक्षा की चाहना, स्वस्थता की आकांक्षा को कम करने का प्रयास करना चाहिए।
5. भौतिक सुविधा-साधन भी लोभ से नहीं, पुण्य से प्राप्त होते हैं। जहां लोभ है, वहां व्याकुलता है। प्राप्त पदार्थों के संरक्षण की चिन्ता, वियोग का भय बना रहता है।
6. लोभजय के लिए इच्छाओं को अल्प करना, स्व-स्त्री, स्व-धन में संतोष धारण करना तथा बाह्य-परिग्रह त्यागकर आभ्यन्तर परिग्रह-ग्रन्थियों को तोड़ने का पुरुषार्थ करना चाहिए।
7. लोभ-विजय के लिए साधक विचारणा-स्तर पर बारह-भावना का चिन्तन एवं आचरण-स्तर पर बारह तप का अवलम्बन ग्रहण करना चाहिए।

⁷⁵ पं. हुकुमचंद भारिल्ल।

लोभी व्यक्ति मरते दम तक भी संतप्त रहता है, जबकि संतोषी मृत्यु के समय भी हंसता रहता है। बादशाह सिकन्दर जब अपनी अंतिम सांसें ले रहा था, तो उसकी आँखों से आंसू बह निकले। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि सिकन्दर महान् होकर भी क्यों रो रहा है ? सिकन्दर ने कहा – “जिस दौलत के लिए मेरे हाथ आजीवन युद्ध करते रहे हैं, वे ही हाथ आज खाली हो गए हैं।”

आया था जो सिकन्दर, दुनिया से ले गया क्या ?
थे दोनों हाथ खाली, बाहर कफन से निकले।

लोभी लोभ में ही मर जाता है, परन्तु सन्तोषी मरकर भी अमर हो जाता है। सूत्रकृतांगसूत्र में भगवान ने कहा है – “संतोसिणो नो पकरंति पावं”, अर्थात् संतोषी कभी पाप नहीं करता। सुप्रसिद्ध विचारक सुकरात का कथन है – “संतोष प्राकृतिक धनाढ्यता है और ऐश्वर्य कृत्रिम निर्धनता है।”

जिसके पास संतोष है, वह तो स्वभाव से ही धनवान् है और जिसके पास केवल धन है, धन का लोभ है, वह बनावटी गरीब है। गरीब न होते हुए भी उसने अपने ऊपर गरीबी ओढ़ रखी है। ऐसा व्यक्ति कभी सुखी हो ही नहीं सकता।

सन्त तुकाराम का कहना है – “संतोष ही सुख है, शेष सब दुःख, इसलिए सदा संतुष्ट रहो। यह संतोष तेरा उद्धार कर देगा।”

वह संतोष ही है, जो व्यक्ति को शक्तिशाली बनाता है, क्षमाशील बनाता है, सहिष्णु बनाता है और सबसे बढ़कर उसे सुखी बनाता है, इसीलिए उसे सर्वश्रेष्ठ धन माना जाता है –

‘संतोषः परमं धनम्।’

नींव के बिना इमारत नहीं, बीज के बिना वृक्ष नहीं, तन्तु के बिना वस्त्र नहीं, उसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ – इन कषाय-संज्ञाओं के बिना संसार-परिभ्रमण संभव नहीं है। संसार का आधारस्तम्भ ये चार कषायरूपी संज्ञा हैं।

दशवैकालिकसूत्र⁷⁶ में चारों काषायिक—प्रवृत्तियों के जय के उपाय बतलाए गए हैं — क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता (विनयभाव) से, माया को सरलता से जीतें और लोभ को संतोष से जीतें।

नियमसार⁷⁷ और योगशास्त्र⁷⁸ में भी इसी प्रकार कहा गया है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने इसी आशय से कहा है कि — जब तक ए काषायिक प्रवृत्तियों का क्षय नहीं होगा, उन पर जय प्राप्त नहीं होगी, तब तक मुक्ति संभव नहीं।

नासाम्बरत्वे, न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे,
न पक्षसेवाश्रएण मुक्ति, कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव।⁷⁹

“न दिगम्बर होने से, श्वेताम्बर होने से, न तर्कवाद से, न तत्त्व—चर्चा से, न पक्ष की सेवा से मुक्ति है, वस्तुतः, कषायमुक्ति ही मुक्ति है।” लोभ सभी कषायों का राजा है, उस पर विजय प्राप्त कर लेने पर सभी कषायों पर विजय प्राप्त हो जाती है, अतः संतोष से लोभ पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

—————000—————

⁷⁶ उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्वया जिणे।

मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे।। — दशवैकालिकसूत्र 8/39

⁷⁷ कोहं खमया माणं समद्वेणज्जवेण मायं च।

संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए।। — नियमसार, गाथा 115

⁷⁸ क्षान्त्या क्रोधो, मृदुत्वेन मानो, मायाऽऽर्जवेन च

लोभश्चानीहया, जेयाः कषायाः इति संग्रहः।। — योगशास्त्र 4/23

⁷⁹ सम्बोध सप्तवर्तिका — गाथा 2

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 10 लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा

1. लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा का स्वरूप
2. लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा में समानता और भेद
3. ओघ संज्ञा की उपादेयता और लोक संज्ञा की हेयता का प्रश्न
4. लोक संज्ञा पर विजय कैसे ?
5. ओघ संज्ञा पर विजय कैसे ?

अध्याय—10

लोक—संज्ञा और ओघ—संज्ञा के विभिन्न अर्थ

संज्ञा जैन—मनोविज्ञान का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण शब्द है। जैनदर्शन में संज्ञी और संज्ञा—इन दोनों शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। संज्ञी शब्द विवेकशीलता का वाचक है। अन्य दृष्टि से वह व्यवहार का प्रेरक भी माना जाता है। नन्दीसूत्र में तीन प्रकार के संज्ञी बताए गए हैं—1.कालिकोपदेश, 2.हेतूपदेश, 3.दृष्टिवादोपदेश¹ इन संज्ञी के आधार पर हम संज्ञाओं के भी तीन प्रकार कर सकते हैं—1.कालिकोपदेशिकी, 2. हेतूपदेशिकी, 3.दृष्टिवादोपदेशिकी। इसका अर्थ इस प्रकार से है कि कालिक सूत्रों के अध्ययन से, हेतु के उपदेश से और दृष्टिवाद के अध्ययन से व्यवहार से जो प्रेरणा मिलती है, वही इन संज्ञाओं का अर्थ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में संज्ञाओं के दो पक्ष हैं— एक ज्ञानात्मक और दूसरा संवेगात्मक। संवेगात्मक—संज्ञाओं को हम वासनात्मक भी कह सकते हैं। यहाँ वासनात्मक अर्थ व्यापक अर्थ में गृहीत है, सैद्धान्तिक—दृष्टि से ज्ञानावरण, दर्शनावरण के क्षयोपशम से जो चैतसिक—स्थिति बनती है, वह ज्ञानात्मक—संज्ञा है और वेदनीय और मोहनीय—कर्म के उदय से जो संज्ञाएं उत्पन्न होती हैं, वे संवेगात्मक और वासनात्मक—संज्ञा है। भगवतीसूत्र के भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ ने ओघ—संज्ञा का अर्थ दर्शनोपयोग और लोक—संज्ञा का अर्थ ज्ञानोपयोग किया है।²

संज्ञाओं का जो दशविध वर्गीकरण³ किया जाता है उसमें नौवें और दसवें क्रम पर लोकसंज्ञा और ओघसंज्ञा को स्थान दिया गया है। यद्यपि संज्ञाओं के वर्गीकरण

¹ नन्दीसूत्र — 61

² भगवई, आचार्य महाप्रज्ञ, जैनविश्वभारती, लाडनू, श.7, उ.8,सू.161, पृ. 382

³ 1) स्थानांगसूत्र — 10/105, 2) प्रज्ञापनासूत्र, पद—8,
3) प्रवचनसारोद्धार, साध्वी हेमप्रभाश्री, द्वार 146, गा. 924, पृ. 80

में दोनों को अलग-अलग स्थान दिया गया है, किन्तु यदि हम गहराई से विचार करें, तो लोकसंज्ञा और ओघसंज्ञा का संबंध सामान्य {Generality} से है। इस दृष्टि से सामान्य धर्म की बात करते हैं। किसी व्यक्ति-विशेष के लिए जो नियम और साधना होती है, वह विशेष कही जाती है, जबकि सभी के लिए जो नियम और साधनाएं बताई जाती हैं, वे सामान्य होती हैं।

अभिधानराजेन्द्रकोष⁴ में ओघ शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है – ओघ शब्द सामान्य का सूचक है। निशीथचूर्णि के आधार पर भी यह कहा गया है कि शास्त्र का जो सामान्य अभिधान होता है, वह ओघ कहा जाता है। उसी में ओघ को दो प्रकार से विभाजित किया गया है – द्रव्य-ओघ और भाव-ओघ। आध्यात्मिक को भाव-ओघ और परंपरागत उपदेशों को द्रव्य-ओघ कहा गया है। जो शब्द संक्षेप में भी व्यापक अर्थ का बोधक होता है, उसे भी ओघ कहते हैं। इस प्रकार ओघ शब्द सामान्य सिद्धांतों के संक्षेप में किए गए विवेचन ओघ-संज्ञा के नाम से जाना जाता है। “प्राणीमात्र में रहने वाली सामान्य अनुकरण की वृत्ति या सामुदायिकता की भावना ओघ-संज्ञा है, अर्थात् अपनी जाति, वर्ग आदि के अनुकरण की वृत्ति ओघसंज्ञा है।⁵ प्रज्ञापनासूत्र में – “मतिज्ञानावरणीय-कर्म के क्षयोपशम से संसार के सुन्दर रुचिकर पदार्थों या लोकप्रचलित शब्दों के अनुरूप पदार्थों (अर्थों) को सामान्य रूप से जानने की अभिलाषा ओघसंज्ञा है।⁶ प्रवचनसारोद्धार के अनुसार – मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से शब्दादि का सामान्य ज्ञान होना, ओघसंज्ञा है।⁷ स्थानांगवृत्ति में भी ओघ-संज्ञा का अर्थ सामान्य अवबोध-क्रिया, दर्शनोपयोग या सामान्य प्रवृत्ति-क्रिया है।⁸

⁴ अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग-3, पृ. 86

⁵ उत्तराध्ययनसूत्र, दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका महत्त्व, – साध्वी डॉ. विनीतप्रज्ञा, पृ. 491

⁶ “मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमत् शब्दाद्यर्थगोचर सामान्यवबोधक्रियायाम्” – प्रज्ञापनासूत्र, पद-8

⁷ प्रवचनसारोद्धार, – साध्वी हेमप्रभाश्री, द्वार-146, गा.924, पृ. 80

⁸ मतिज्ञानाघावरणक्षयोपशमाच्छब्दाद्य गोचर सामान्यावबोधक्रियैव संज्ञायतेऽनयेत्योघसंज्ञा। – स्थानांगवृत्ति, पत्र 479

वस्तुतः, ओघ-संज्ञा इन्द्रिय और मन से पृथक्, चेतना की एक स्वतंत्र क्रिया है। पेड़ पर लताओं का चढ़ना, बैठे-बैठे पैर हिलाना, तिनके तोड़ना, बिना सोचे-विचारे किसी कार्य को करने की धुन या सनक को ओघ-संज्ञा कहते हैं। स्पर्श-रसादि के विभाग के बिना जो साधारण ज्ञान होता है, वह ओघ-संज्ञा है। भूकंप या तूफान आने से पहले पशु-पक्षी उसका आभास पाकर अपने बिलों, घोंसलों या अन्य सुरक्षित स्थानों में पहुंच जाते हैं। कई मछलियाँ देख नहीं सकती, परन्तु सूक्ष्म विद्युत-धाराओं के जरिए पानी में उपस्थित रुकावटों का ज्ञान कर संचार करती हैं। यह सब ओघ-संज्ञा ही है। वर्तमान के वैज्ञानिक आजकल छठवीं इन्द्री की कल्पना कर रहे हैं, उसकी तुलना ओघसंज्ञा से की जा सकती है।⁹

जैन-परम्परा में जो निर्युक्तियां उपलब्ध हैं, उनमें दशवैकालिकसूत्र¹⁰ पर ओघ-निर्युक्ति का उल्लेख मिलता है, ऐसा माना जाता है कि दशवैकालिकसूत्र पर जो निर्युक्ति लिखी गई है, उसमें पिंडनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति प्रमुख हैं। उनमें पिंड-निर्युक्ति का संबंध साधु की भिक्षाचर्या से है और ओघनिर्युक्ति का संबंध साधु के अन्य आचार-नियमों से है। यद्यपि निर्युक्ति का कर्ता भद्रबाहुस्वामी को माना जाता है, किन्तु ऐसा लगता है कि ओघनिर्युक्ति परवर्तीकालीन जैन-आचार्यों ने लिखी है, क्योंकि आचार्य भद्रबाहुकृत जिन निर्युक्तियों का उल्लेख मिलता है, उनमें ओघनिर्युक्ति और पिंडनिर्युक्ति का कहीं नाम-उल्लेख नहीं है। सामान्यतः ओघनिर्युक्ति में साधु के सामान्याचार का ही वर्णन है। इस सामान्य विवेचन में पिंडनिर्युक्ति के अनेक विषयों को भी सम्मिलित किया गया है।

ओघनिर्युक्ति को आवश्यकनिर्युक्ति का ही पूरक ग्रंथ माना जाता है। पूर्णविजयजी के संग्रह में ओघनिर्युक्ति के वृहद्भाष्य की एक हस्तलिखित प्रति का भी उल्लेख मिलता है, इसमें साधु के सामान्य आचार के संदर्भ में षडावश्यक, दशविधसामाचारी आदि का भी उल्लेख हुआ है। सामान्यतः, यह निर्युक्ति

⁹ नवभारत टाइम्स (मुंबई) 24 मई 1970, उद्धृत -ठाणसूत्र, मुनिनथमल, जैनविश्वभारती, लाडनू, पृ.999

¹⁰ ओघनिर्युक्ति - 2

साधु-आचार से सम्बन्धित है इसलिए निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि इसमें चरणकरणानुयोग का विवेचन किया गया है, अतः यह ग्रंथ मूलतः साधु के सामान्य आचार से संबंधित है। जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया है कि षडावश्यक, दशविध-सामाचारी, दस श्रमणधर्म, पंच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति आदि साधु के सामान्य आचारों का आधार लेकर यह निर्युक्ति लिखी गई है। इसके विषयवस्तु की चर्चा करते हुए कहा गया है कि प्रतिलेखन, पिंड, उपधि, परिमाण, अनायतन, प्रतिसेवन, आलोचन, विशुद्धि, आभोगमार्गणा, गवेषणा आदि का विवेचन ही इस निर्युक्ति में हुआ है।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ओघसंज्ञा का मूलतः संबंध आचार के सामान्य नियमों से ही है। यद्यपि ओघनिर्युक्ति की विषयवस्तु की दृष्टि से विचार करें, तो हमें कहना होगा कि साधु के सामान्य आचार-नियमों का संबंध ही ओघ-संज्ञा है।

जहां तक लोक-संज्ञा का प्रश्न है, वह ओघसंज्ञा की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ की सूचक है। जहां ओघ-संज्ञा साधु के सामान्य आचार की बात करती है, वहां लोक-संज्ञा जनसामान्य की सामान्य प्रवृत्तियों की चर्चा करती है। इस प्रकार जहां ओघसंज्ञा साधु के सामान्य आचारों की चर्चा करती है, वहीं लोक-संज्ञा जनसामान्य के सामान्य अवबोध और सामान्य प्रवृत्तियों की चर्चा करती है। वह लौकिक-आचरण से संबंधित है, जैसे -श्वान यक्षरूप है, विप्र को देव मानना, कौए को पितामह मानना -ऐसी जो लोक-प्रवृत्तियाँ हैं उनकी चर्चा लोक-संज्ञा का विषय है। 'मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से संसार के सुन्दर, रुचिकर पदार्थों को विशेष रूप से जानने की तीव्र अभिलाषा लोक-संज्ञा है।¹¹ यही बात स्थानांगवृत्ति में भी कही गई है।¹² सामान्यतः, जैन-परम्परा में उन्हीं के आचारों को लोकोत्तर आचार कहा

¹¹ प्रज्ञापनासूत्र, पद 8

¹² मतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमाच्छन्दाद्यगोचर तद्विशेषावषोधक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति लोकसंज्ञा। - स्थानांगवृत्ति, पत्र 479

जाता है, पर जन-सामान्य के आचारों को लोकाचार के नाम से जाना जाता है। गतानुगतिक या कालक्रम से चली आई प्रवृत्तियों का अनुसरण करना लोकसंज्ञा है।

सामान्यतः जैन-परम्परा में यह माना गया है कि मुनिजनों को लोकसंज्ञा का अनुसरण नहीं करना चाहिए, किन्तु जहाँ तक गृहस्थों का प्रश्न है, उनके लिए यह माना गया है कि उन्हें लोक-परम्परा का निर्वाह करना चाहिए। दिगम्बर-परम्परा के सोमचन्द्रदेव का कथन है —“जिससे सम्यक्त्व की हानि न हो, आचार का विरोध न हो, वह लोकाचार भी गृहस्थ के द्वारा मान्य होता है।”¹³ लोकसंज्ञा को लोक-रीति कहा गया है।

बजां कहे आलम उसे बजहा समझो
आवाज खल्क करें, नक्कारए खुदा समझो।

जिसको दुनिया उचित समझती है, उसे उचित मानना चाहिए, क्योंकि जनसामान्य की आवाज ईश्वर की आवाज है, किन्तु जैन-परम्परा इसे मान्य नहीं करती। वह स्पष्ट रूप से कहती है कि लोकसंज्ञा अनुश्रोत है, जो संसार-परिभ्रमण का कारण है। साधक को प्रतिश्रोत का आचरण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार, जैन-परम्परा में लोकसंज्ञा को उपेक्षा का विषय माना गया है। आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध¹⁴ में स्पष्ट रूप से कहा गया है —“मुनि को लोकसंज्ञा का त्याग करना चाहिए, क्योंकि यह जनसाधारण की भोग-प्रवृत्ति को सूचित करती है।”

लोक और ओघसंज्ञा में समानता और भेद —

ओघ-संज्ञा और लोक-संज्ञा —दोनों ही सामान्य आचार और व्यवहार की वाचक है। इस दृष्टि से दोनों में समानता परिलक्षित होती है, किन्तु जैन-परंपरा में ओघ-संज्ञा को सामान्य मुनि-आचार माना गया है, जबकि लोक-संज्ञा को सामान्य

¹³ यत्र सम्यक्त्वनहानि न व्रतदूषणं..... लौकिकोविधि। — सोमदेव

¹⁴ तं परिणाय मेहावी विज्ञता लोगं, वंता लोगस्सणं से मइमं परक्कमिज्जासित्तिबेमि — आचारांगसूत्र 3/1/178

प्राणी व्यवहार का वाचक माना गया है। इस आधार पर विचार करें, तो ओघ—संज्ञा का संबंध आचार के सामान्य सिद्धांत से है, जबकि लोक—संज्ञा का संबंध प्राणी व्यवहार की सामान्य प्रवृत्तियों से है। ओघ—संज्ञा निवृत्तिपरक सामान्य आचार की बात करती है, वहीं लोक—संज्ञा प्रवृत्तिपरक आचार की बात करती है। जैन—परम्परा में संज्ञाओं के चुतुर्विध वर्गीकरण में आहार, भय, मैथुन और परिग्रह —इन चार संज्ञाओं को प्राणी—व्यवहार का आधार माना गया है। सामान्य दृष्टि से यह चारों संज्ञाएं लोक—संज्ञा में समाहित हो जाती हैं। इसी प्रकार, संज्ञाओं के दशविध वर्गीकरण में जो चार कषाय—रूपी संज्ञा अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ की चर्चा की गई है, वह भी सामान्य दृष्टि से प्राणीय व्यवहार की प्रेरक होने से लोक—संज्ञा में समाहित हो जाती है। इस प्रकार, लोकसंज्ञा के अन्तर्गत सामान्य प्राणी—व्यवहार के मूल प्रेरक तत्त्व समाहित होते हैं, किन्तु यह लोक—संज्ञा सांसारिक—प्रवृत्ति की वाचक है। जैसा कि कहा गया है —

‘आहार निद्रा भय मैथुनं, सामान्यमेतद् पशुभिः नराणाम्।
ज्ञानो हि तेषामधिको विशेषो, ज्ञानेनहीना नर पशुभिः समाना।।’¹⁵

उक्त श्लोक के प्रारंभिक चार तत्त्व आहार, निद्रा, भय और मैथुन का संबंध लोकसंज्ञा से है, जबकि ओघ—संज्ञा का संबंध जैन—आचार्यों ने धर्म के सामान्य नियमों से माना है। इस प्रकार लोक—संज्ञा और ओघ—संज्ञा में अन्तर है। जैन आचार्यों की दृष्टि में ओघ—संज्ञा निवृत्तिपरक मुनिजीवन के सामान्य नियमों की चर्चा करती है, इस दृष्टि से वह उपादेय मानी गई है, जबकि लोक—संज्ञा को जैन आचार में सदैव उपेक्षणीय और त्याज्य है। इस प्रकार, जैन धर्मदर्शन के क्षेत्र में लोक—संज्ञा हेय है और ओघ—संज्ञा उपादेय है।

ओघ—संज्ञा की उपादेयता और लोक—संज्ञा की हेयता का प्रश्न —

यहां सामान्य रूप से यह प्रश्न खड़ा होता है कि यदि ओघ—संज्ञा और लोक—संज्ञा सामान्य आचार की वाचक है, तो एक को उपादेय और दूसरे को हेय

¹⁵ जैन धर्म—दर्शन एवं संस्कृति भाग—1, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 163

क्यों कहा जाता है ? यह सत्य है कि प्राणी-जीवन प्रवृत्ति और निवृत्ति -दोनों के आधार पर खड़ा हुआ है, फिर भी दार्शनिक-दृष्टि से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि आखिर इन दोनों संज्ञाओं में ओघ-संज्ञा को उपादेय और हेय क्यों माना गया है, जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है कि ओघ-संज्ञा निवृत्तिपरक है और ओघ-संज्ञा प्रवृत्तिपरक है।

जैनधर्म मूलतः निवृत्तिपरक धर्म है, क्योंकि वह श्रमण-परम्परा का अनुसरण करता है। श्रमण-परम्परा को आध्यात्मिक-विकास में सहायक तत्त्वों को उपादेय और बाधक तत्त्वों को हेय माना गया है। ओघ-संज्ञा सामान्य मुनि-आचार की बात करती है। अधिक व्यापक रूप से कहें तो यह सामान्य विवेकयुक्त मानवीय-मूल्यों की बात करती है, जबकि लोकसंज्ञा सामान्य प्राणी-व्यवहार की बात करती है। जैन-धर्मदर्शन का कहना है कि मनुष्य और सामान्य प्राणियों में जो पाशविक प्रवृत्तियाँ हैं वे तो समान ही हैं, मनुष्य की विशेषता इन पाशविक-प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर मानवीय-मूल्यों के विकास में है। यही कारण है कि जैन-दर्शन में ओघ-संज्ञा को उपादेय और लोक-संज्ञा को हेय माना गया है। यह सत्य है कि मनुष्य और पशुजीवन में कुछ बातें समान हैं, लेकिन मनुष्य की विशेषता उन सामान्य वासनात्मक-तत्त्वों के आधार पर न होकर विवेक और धर्म को प्रधानता देते हुए पाशविक-जीवन में ऊपर उठने में ही है, अतः जैनधर्म-दर्शन की दृष्टि में लोक-संज्ञा हेय और ओघ-संज्ञा उपादेय है।

ओघ-संज्ञा और लोक-संज्ञा में भेद -

ओघ-संज्ञा और लोक-संज्ञा के भेद को स्पष्ट करते हुए भगवतीसूत्र के भाष्य¹⁶ में आचार्य महाप्रज्ञजी ने स्पष्ट किया है कि ओघ-संज्ञा का अर्थ दर्शनोपयोग और लोक-संज्ञा का अर्थ ज्ञानोपयोग किया गया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह विचारणीय है कि आचार्य महाप्रज्ञजी ने भी इसे विमर्शनीय माना है। सिद्धसेन गणी

¹⁶ भगवतीसूत्र (भगवई) भाग-2, आचार्य महाप्रज्ञ, जैनविश्वभारती लाडनू, श.7/उ.8/सू. 161 पृ. 382

ने 'ओघ-संज्ञा' का अर्थ अनिन्द्रिय-ज्ञान किया है। उनके अनुसार जो ज्ञान इन्द्रिय और मन के बिना सामान्य चेतना से होता है, वह ओघ-संज्ञा है।¹⁷ ऐसा ज्ञान पेड़-पौधों और छोटे जीव-जन्तुओं में भी होता है। वे प्रकम्पनों और संवेदनों के आधार पर भावी घटनाओं को भी जान लेते हैं, जबकि लोक-संज्ञा वंश-परम्परा से होनेवाला ज्ञान है। वृत्तिकार ने लिखा है कि ये संज्ञाएं स्पष्ट रूप में पंचेन्द्रिय जीवों में होती हैं, एकेन्द्रिय आदि जीवों में केवल कर्मोदयरूप होती है।¹⁸ वर्तमान वैज्ञानिकों ने यन्त्रों के माध्यम से पेड़-पौधों में इन संज्ञाओं का अध्ययन किया है, इसलिए एकेन्द्रिय आदि जीवों में यह स्पष्ट विज्ञात होती है। वस्तुतः स्थानांग-टीका¹⁹ में ओघसंज्ञा दर्शनोपयोगरूप है तथा लोकसंज्ञा ज्ञानोपयोगरूप है। आचारांग की टीका²⁰, प्रवचनसारोद्धार²¹, प्रशमरति²², प्रज्ञापनासूत्र²³ में भी मतिज्ञानावरण-कर्म के क्षयोपशम से शब्दार्थविषयक सामान्य बोध होता है, उसका नाम है - ओघसंज्ञा और विशेष बोध प्राप्ति को लोक-संज्ञा कहते हैं। आचारांगसूत्र टीका में कहा गया है - पेड़ पर लता का चढ़ना, पेड़ से लिपटना ओघ-संज्ञा का सूचक है। इसे अव्यक्त संज्ञा भी कहते हैं। रात पड़ने पर कमल पुष्प का संकुचित होना, निःसंतान की गति नहीं होती, मयूरपंख की हवा से गर्भधारण होता है, कुत्ते यक्षरूप हैं, कौए पितामह हैं, ब्राह्मण देव हैं, इत्यादि सब लोक-संज्ञा कही जाती है।

जैन परम्परा में ओघ-संज्ञा और लोक-संज्ञा को जिस प्रकार से भिन्न रूप में देखा गया है, उस प्रकार से हम यह मान सकते हैं कि ओघ-संज्ञा ज्ञानरूप है और लोक-संज्ञा वासना रूप है। दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग ओघ-संज्ञा का परिणाम है,

¹⁷ ओघ :- सामान्य अप्रविभक्तरूपं यत्र न स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि तानि मनोनिमित्तिभाश्रीयन्ते, केवलं मत्यावरणीयक्षयोपशम एव तस्य ज्ञानास्योत्पत्तौ निमित्तम्, यथा वल्लयादीनां नीत्राघशिसर्पणज्ञानं न स्पर्शन निमित्तं न मनोनिमित्तमिति, तस्मात् तत्र मत्यज्ञानावरण-क्षयोपशम एव केवलो निमित्तीक्रियते ओघज्ञानस्य! - तत्त्वार्थसूत्राधिगम भाष्यवृत्ति 1/14, पृ. 78

¹⁸ भगवतीवृत्ति - 7/161

¹⁹ स्थानांग टीका

²⁰ आचारांग की टीका

²¹ प्रवचनसारोद्धार, 146 द्वार, साध्वी हेमप्रभाश्री, पृ. 80-81

²² प्रशमरति, भाग-2, भद्रगुप्तविजयजी, पृ. 285

²³ प्रज्ञापनासूत्र, संज्ञापद, 8/625

जबकि वासनात्मक, अनुभूत्यात्मक संवेदनाएं, लोक-संज्ञा का परिणाम है, क्योंकि ये संज्ञाएँ मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से होती हैं, क्योंकि आगमों के अनुसार लोक-संज्ञा सभी जीवों में पाई जाती है। साररूप में कहें, तो ओघ-संज्ञा ज्ञानरूप है और लोक-संज्ञा वासनारूप है। एक अन्य अपेक्षा से ऐसा भी माना गया है कि सामान्य प्रवृत्ति ओघ-संज्ञा है और विशेष प्रवृत्ति लोक-संज्ञा है। अतः यह निर्णय ही समुचित प्रतीत होता है कि ओघ-संज्ञा विवेक जन्य है और लोक-संज्ञा वासनाजन्य है। इसलिए जैन आचार्यों ने ओघ-संज्ञा को ग्राह्य और लोक-संज्ञा को त्याज्य माना है।

यद्यपि आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने संज्ञाओं का जो दशविध विवेचन किया है, उसमें संज्ञाओं को ज्ञानात्मक और संवेगात्मक -दोनों माना है किन्तु कौन सी संज्ञा किस कर्म के उदय से होती है, इसे निम्न रूप से वर्गीकृत किया गया है ²⁴—

संज्ञा	कर्म	शारीरिक-मानसिक क्रिया और परिवर्तन
1. आहार	क्षुधावेदनीय का उदय	हाथ से कौर लेना, मुख का संचलन, आहार की खोज आदि
2. भय	भयमोहनीय का उदय	उद्भ्रान्त दृष्टि, वचनविकार, रोमांच आदि
3. मैथुन	वेदमोहनीय का उदय	अंगों का अवलोकन, स्पर्श, कंपन आदि
4. परिग्रह	लोभमोहनीय का उदय	आसक्तिपूर्वक द्रव्यों का ग्रहण और संग्रह
5. क्रोध	क्रोधवेदनीय का उदय	नैत्रों की रुक्षता, दांत और होठों की फड़कन आदि
6. मान	मानवेदनीय का उदय	अहंकारपूर्वक शरीर की अकड़न
7. माया	मायावेदनीय का उदय	संक्लेशपूर्वक मिथ्या भाषण, छिपाने आदि की क्रिया।
8. लोभ	लोभवेदनीय का उदय	लोभपूर्वक द्रव्य के ग्रहण और संग्रह की अभिलाषा।
9. लोक	मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम	विशेष अवबोध की क्रिया
10. ओघ	मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम	सामान्य अवबोध की क्रिया

²⁴ भगवई, आ.महाप्रज्ञ, जैनविश्वभारती, लाडनू, श.7, उ.8.सू.161, पृ. 382

इस आधार पर हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि प्रथम चार संज्ञाएं—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह तथा चार कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये सब मोहनीय—कर्म के उदय से माने गये हैं। इसमें भी मात्र आहार—संज्ञा क्षुधावेदनीय का उदय माना है, शेष को मोहनीयकर्म के विभिन्न रूपों का ही उदय माना है, अतः हमारा यह निर्णय अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि लोक—संज्ञा वासनात्मक है और ओघ—संज्ञा ज्ञानात्मक है। जैसा कि भाष्य में माना गया है कि हम विशेष अवबोध नहीं कर सकते, पर उसमें विशेष और सामान्य दोनों कह सकते हैं।

लोक—संज्ञा पर विजय कैसे ?

यह सत्य है कि लोकसंज्ञा और ओघसंज्ञा मानवीय—जीवन में व्यवहार के प्रेरक तत्त्व के रूप में कार्य करती हैं। लेकिन जैसा कि हमने पूर्व में कहा है कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन की जो सामान्य प्रवृत्तियां पशुजगत् एवं मनुष्यजगत् में पायी जाती हैं, उनमें मनुष्य की उपादेयता यही है कि वह इन पाशिवक प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखते हुए विवेक के माध्यम से इन्हें परिशोधित करें क्योंकि मानवतावादी—दर्शन में मनुष्य एवं पशु—दोनों में तीन बातों में अंतर माना गया है —

1. मनुष्य का व्यवहार विवेकशीलता के आधार पर होता है, जबकि पशु का व्यवहार उसकी मूल प्रवृत्तियों के आधार पर होता है। यह सत्य है कि पशु और मनुष्य—दोनों को आहार चाहिए, किन्तु पशु अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के आधार पर अपने आहार का चयन करता है, जबकि मनुष्य में विवेकशीलता का गुण होने से वह अपने आहार के चयन में स्वतंत्र होता है। मनुष्य यह विचार कर सकता है कि उसे कब, कितना और क्या खाना है और क्या नहीं खाना है ? जबकि पशु प्रकृति से निर्धारित है। वह अपनी प्रकृति के आधार पर ही चयन करता है। पशु में चयन की यह स्वतंत्रता नहीं होती, जो मनुष्य में है। वह अपनी प्रकृति के आधार पर ही अपने आहार को ग्रहण करता है।

इस प्रकार, आहार का प्रेरक-तत्त्व समान होने पर भी आहार के प्रति सामान्य प्राणी व्यवहार और मानवीय-व्यवहार में अंतर होता है।

2. मनुष्य की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें आत्मसजगता होती है। वह क्या कर रहा है ? वह यह जान सकता है, विचार कर सकता है, जबकि पशु में आत्मचेतना न होकर भी वह अपनी प्राणीय-प्रकृति के आधार पर व्यवहार करता है। उसका व्यवहार अंधप्रवृत्ति है, जबकि मनुष्य की प्रवृत्ति में आत्मसजगता होती है। इस प्रकार, प्राणीय-व्यवहार अंधप्रवृत्ति है, जबकि मानवीय-व्यवहार आत्म-सजगता पर आधारित होता है। यदि मनुष्य अपनी आत्म-सजगता और विवेकशीलता का आधार नहीं लेता है, तो उसका आचरण या व्यवहार भी हेय की कोटि में चला जाता है।
3. मनुष्य और पशु-जीवन के अंतर का तीसरा आधार संयम की शक्ति है। मनुष्य द्वारा आत्मनियंत्रण संभव है, परन्तु पशु में आत्मनियंत्रण की प्रवृत्ति नहीं होती है। मनुष्य जीवन-मूल्यों में हेय का त्याग और उपादेय को ग्रहण कर सकता है। वह विवेक और शांति के आधार पर उनके लिए क्या श्रेयः है और क्या श्रेयः नहीं है —यह निर्णय लेने में समर्थ होता है, जबकि पशु में ऐसे संयम के सामर्थ्य का अभाव होता है।

इस प्रकार, उपर्युक्त तीन गुणों के आधार पर मनुष्य लोक-संज्ञा पर विजय प्राप्त कर सकता है और अपने आचार एवं व्यवहार को, उपादेय को प्रासंगिक बना सकता है।

आचारांगसूत्र²⁵ में कहा गया है कि मुनि को लोक-संज्ञा का सर्वदा त्याग करना चाहिए। उसी बात का समर्थन करते हुए उपाध्याय श्री यशोविजयजी द्वारा विरचित ज्ञानसार²⁶ में अष्टक के माध्यम से लोक-संज्ञा को त्याज्य बताया है। लोक-संज्ञा पर विजय प्राप्त करने के लिए निम्न संकेत दिए हैं।

²⁵ आचारांगसूत्र 3/1/178

²⁶ ज्ञानसार, विवेचनकार श्री भद्रगुप्तविजयजी गणीवर, गाथा, 177-184, पृ. 330

प्राप्तः षष्ठं गुणस्थानं भवदुर्गाद्रिलङ्घनम् ।
लोक-संज्ञारतो न प्यान्मुनिर्लोकोत्तरस्थितिः ॥१॥

संसार की विषम पर्वतमालाओं को लांघने जैसा छठवां गुणस्थान प्राप्त लोकोत्तर स्थित मुनि लोकसंज्ञा में रत नहीं होता।

उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है कि मुनि का मार्ग लोक-मार्ग नहीं है। लोकोत्तर-मार्ग है। लोकमार्ग और लोकोत्तर मार्ग में जमीन-आसमान का अंतर है। लोकमार्ग मिथ्या धारणाओं पर चलता है, जबकि लोकोत्तर-मार्ग केवलज्ञानी वीतराग भगवंत द्वारा निर्देशित निर्भय मार्ग है, अतः मुनि को लोकोत्तर मार्ग का परित्याग कर लौकिक-मार्ग को कदापि नहीं अपनाना चाहिए। क्योंकि लोक-संज्ञा दुबारा संसार के विषम पहाड़ों पर चढ़ाई करने वाली है। मुनि यह संकल्प करे—मैं तो अपना छठवां गुणस्थान ही कायम रखूंगा और सातवें-आठवें गुणस्थान पर पहुंचने के लिए प्रयत्न करता रहूंगा। इस प्रकार, मुनि लोकसंज्ञा से अपने पतन को बचा सकता है।

यथा चिंतामणिं दत्ते बढरो बदरीकलैः ।
हहा जहाति सद्धर्म तथैव जनरंजनैः ॥२॥

जिस तरह कोई मूर्ख बेर के बदले में चिन्तामणि रत्न देता है, ठीक उसी तरह कोई मूढ़ लोक-रंजनार्थ अपने सद्धर्म को तज देता है।

अर्थात्, यदि तुम सद्धर्म के माध्यम से लोक-प्रशंसा पाना चाहते हो, तो वह कृत्य चिंतामणि रत्न के बदले बेर खरीदने जैसा है, क्योंकि सद्धर्म का फल लोक-प्रशंसा नहीं है, बल्कि आत्मा को परमात्मा बनाना है।

लोक-संज्ञामहानद्यामनुस्त्रोतोऽनुगा न के ।
प्रतिस्त्रोतोऽनुगस्त्वेको राजहंसो महामुनिः ॥३॥

लोक-संज्ञारूपी महानदी के प्रवाह के अनुयायी (प्रवाह की दिशा में बहने वाले) कौन नहीं होते ? अर्थात् अनेक होते हैं, किन्तु विपरीत प्रवाह का अनुयायी (प्रवाह के विपरीत तैरने वाला) राजहंस जैसे मात्र मुनिश्वर ही होते हैं।

लोक-संज्ञा रूपी नदी के प्रवाह में बहना, प्रवास करना कोई बड़ी बात नहीं है। खाना, पीना, ओढ़ना, पहनना, विकथाएं करना, परिग्रह इकट्ठा करना, भोगोपभोग का आनन्द लूटना, गगनचुम्बी भवन-निर्माण करना, तन को साफ-सुथरा रखना, सजाना-संवारना, वस्त्राभूषण धारण करना आदि समस्त क्रियाएं सहज स्वाभाविक हैं। इनमें कोई विशेषता नहीं और न ही आश्चर्य करने जैसी बात है। मुनि को चाहिए कि वह इन आदर्श-पद्धति, परम्परा और लोकसंज्ञा के रीति-रिवाज से दूर रहे।

लोकमालम्ब्य कर्त्तव्यं, कृतं बहुभिरेव चेत्।
तथा मिथ्यादशां धर्मो, न त्याज्यः स्यात् कदाचन ॥४॥

यदि लोकावलम्बन के आधार से बहुसंख्य मनुष्यों द्वारा की जाने वाली क्रिया करने योग्य हो, तो फिर मिथ्यादृष्टियों का धर्म कदापि त्याग करने योग्य नहीं होगा। (क्योंकि संसार में मिथ्यादृष्टि ही अधिक हैं, सम्यक्दृष्टि अत्यल्प हैं।)

वस्तुतः, जो दुर्गति में जाते जीवों का बचा न सके, वह धर्म कैसा ? आत्मा पर रहे कर्मों के बंधनों को छिन्न-भिन्न न कर सके, उसे धर्म कैसे कहा जाए ? भगवान् महावीर के समय भी गोशालक का अपना अनुयायी-वर्ग बहुत बड़ा था। उससे क्या गोशालक का मत स्वीकार्य हो सकता है ? वास्तव में, 'बहुमत से जो आचरण किया जाए, उसका ही आचरण करना चाहिए', -यह मान्यता अज्ञानमूलक है। इसलिए लोकसंज्ञा के अनुसरण का भगवान् ने निषेध किया है। सिर्फ उसी बात का अनुसरण करना श्रेयस्कर है, जिससे आत्महित और लोकहित --दोनों संभव हो।

श्रेयोऽर्थिनो हि भूयांसो लोके लोकोत्तरे न च।
स्तोका हि रत्नवणिजः स्तोकाश्च स्वात्मसाधका ॥५॥

वास्तव में देखा जाए तो लोकमार्ग और लोकोत्तरमार्ग में मोक्षार्थियों की संख्या नगण्य ही है, क्योंकि जैसे रत्न की परख करने वाले जौहरी बहुत कम होते हैं, वैसे ही, आत्मोन्नति हेतु प्रयत्न करने वालों की संख्या भी न्यून ही होती है।

मोक्ष के अर्थी, अर्थात् सर्व कर्मक्षय के इच्छुक। आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था की प्राप्ति के अभिलाषी इस संसार में न्यून ही होते हैं, -नहींवत्। जिनकी गणना

अंगुली पर की जा सकती है, उसी प्रकार रत्न की परख करने वाले जौहरी और आत्मसिद्धि के साधक भी दुनिया में अल्प हैं।

लोक—संज्ञाहता हन्त नीचैर्गमनदर्शनैः।
शंसयति स्वसत्यांगमर्मघातमहाव्यथाम् ॥6॥

खेद का विषय है कि लोकसंज्ञा से व्याकुल नतमस्तक होकर धीमी (मन्थर) गति से चलते हुए अपने सत्य—व्रतरूप अंग में हुए मर्म प्रहार की महावेदना को प्रगट करते हैं।

उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्य, मुनि लोकसंज्ञा के वशीभूत होकर अपने लक्ष्य से न भटके, दिखावे और प्रदर्शनरूपी धर्म का त्याग करे, सत्यधर्म और सम्यक्धर्म का अनुसरण जब करेगा, तो साधक का मस्तक सदा ऊँचा और गति सदा तीव्र रहेगी।

आत्मसाक्षिकसद्धर्मसिद्धौ किं लोकयात्रया।
तत्र प्रसन्नचन्द्रश्च भरतश्च निदर्शने ॥7॥

अर्थात्, आत्मा के साक्षीभावरूप धर्म ही सत्धर्म है, इसलिए इसकी सिद्धि में लोगों के सामने दिखावा करने का क्या प्रयोजन है, अर्थात् ऐसा करने से कोई लाभ नहीं है। इस प्रसंग में प्रसन्नचंद्र राजर्षि और सम्राट भरत के उदाहरण यथोचित हैं।

चक्रवर्ती भरत बाह्य—दृष्टि से आरम्भ—समारम्भ से युक्त संसार—रसिक दृष्टिगोचर होते थे, लेकिन आत्म—साक्षी से निर्लिप्त पूर्ण योगीश्वर थे। किसी ने ठीक ही कहा है —“भरतजी मन में ही वैरागी,” जबकि प्रसन्नचंद्र राजर्षि बाह्यदृष्टि से घोर तपस्वी, आरम्भ—समारम्भरहित, मोक्षमार्ग के पथिक थे, लेकिन आत्म—साक्षी से युद्धप्रिय बाह्य—भावों में लिप्त थे। श्री ‘महानिशीथ सूत्र’ में कहा गया है —

धम्मो अप्पसक्खिओ।

धर्म आत्म—साक्षिक है। यदि हम आत्मसाक्षी से धार्मिक—वृत्ति के हैं, तो फिर लोक—व्यवहार से क्या मतलब ?

लोकसंज्ञोन्मिद्धवः साधुः, परब्रह्मसमाधिमान् ।
सुखमास्ते गतद्रोहममतामत्सरज्वरः ॥४॥

लोकसंज्ञा से रहित, शुद्धात्म-स्वरूप में लीन तथा जिसका द्रोह, ममता और गुणदोषरूपी ज्वर उतर गया है, नष्ट हो गया है – ऐसा साधु सुख में (आनन्द में) रहता है।

उपर्युक्त अष्टक की विवेचना का उद्देश्य लोकसंज्ञा पर साधक विजय किस प्रकार से करे। वस्तुतः, लोकरंजनार्थ लोक-प्रशंसा प्राप्त करने हेतु लोकरुचि का अनुसरण किया जाता है, जिसे लोकसंज्ञा कहते हैं, जो मुनि और साधक-जन के लिए निषिद्ध है। साधक को सदा स्मरण रखना चाहिए कि द्रोह, ममता और मत्सर – ये पतन में गिराने वाली गहरी खाईयाँ हैं, लोग भले ही उनमें मस्त बनें पर तुम्हें उनका शिकार नहीं बनना है। कीचड़ में, गंदे-पानी के प्रवाह में सूअर लोटता है, हंस नहीं। मुनि राजहंस के समान है, अतः मुनि को लोक-संज्ञा का परित्याग श्रेयस्कर बताया है।

ओघ-संज्ञा पर विजय –

ओघ-संज्ञा वस्तुतः आचार और व्यवहार के सामान्य निर्देश से संबंधित है। उन निर्देशों का पालन करना ही ओघ-संज्ञा पर विजय प्राप्त करना है। ओघ-संज्ञा पर विजय प्राप्त करने के उपायों की चर्चा करते हुए श्वेतांबर-परम्परा में ओघनिर्युक्ति नामक ग्रंथ लिखा गया है। इसमें मुख्य रूप से साधु-जीवन के आचारों का प्रतिपादन है।

इसमें वर्णित विषय इस प्रकार हैं – 1. प्रतिलेखन, 2. पिंडग्रहण, 3. उपधि-परिमाण, 4. अनायतन-वर्जन, 5. प्रतिसेवन, 6. आलोचन, 7. विशुद्धि। ओघनिर्युक्ति इन सात विषयों का विस्तृत विवेचन है।²⁷ इससे यह स्पष्ट है कि मुनि-जीवन के

²⁷ 1. पडिलेहणं, 2. च पिंड, 3. उवहिपमाणं, 4. अणाययणवज्जं,

5. पडिसेवण, 6. मालोअण, 7. जह य विसोही सुविहआणं ॥ – ओघनिर्युक्ति-2, गाथा-2

क्या करणीय हैं और क्या अकरणीय है और इसके साथ-साथ विस्तार से चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि प्रतिलेखन आदि किन-किन नियमों के अनुसार करना चाहिए, साथ ही यह भी बताया गया है कि साधु-साध्वी को कौन-कौनसी सामग्री रखना चाहिए, या कितने परिमाण में होना चाहिए। अनायतन-वर्जन में इस बात की चर्चा की गई है कि किन-किन स्थानों पर ठहरना चाहिए। इस प्रकार, किन-किन नियमों का पालन करना चाहिए और किन-किन की आलोचना करना चाहिए। इसकी भी विशेष चर्चा है। आभोगमार्गणा के अंतर्गत यह भी चर्चा की है कि साधु-साध्वी के लिए क्या-क्या बातें निषिद्ध हैं। इस प्रकार, ओघ-संज्ञा में संज्ञा शब्द वासना या सामान्य प्रवृत्ति का वाचक न होकर विशेष प्रवृत्ति का वाचक है, इसलिए ओघनिर्युक्ति में यही बताया गया है कि साधु-साध्वी को अपनी सामान्य प्रवृत्ति किस प्रकार करना चाहिए। उसके लिए क्या निषिद्ध हैं - इसकी चर्चा के साथ-साथ इसमें यह भी बताया गया है कि जो करणीय है, उसे कैसे किया जाता है ? इस प्रकार, ओघ-संज्ञा का अर्थ सामान्य प्रवृत्ति न होकर विवेकयुक्त प्रवृत्ति माना जाना चाहिए। यशोविजयजी ने 'अध्यात्मसार'²⁸ में ओघसंज्ञा का अर्थ ज्ञान और विवेक किया है। इस प्रकार ओघ-संज्ञा वस्तुतः विवेकयुक्त आचरण का ही प्रतिपादन करती है।

²⁸ अध्यात्माभ्यासकालेऽपि क्रिया काप्येवमस्ति हि

शुभौघसंज्ञानुगतं ज्ञानमप्यस्ति किंचन - अध्यात्मसार, अध्याय 2, गाथा 28

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 11 सुख संज्ञा और दुःख संज्ञा

1. सुख और दुःख का अर्थ तथा उनकी सापेक्षता
2. सुख व्यवहार के प्रेरक के रूप में और दुःख व्यवहार के निवर्तक के रूप में
3. सुखवाद की अवधारणा और उसकी समीक्षा
4. सुख और आनंद का अन्तर

अध्याय-11

सुख-संज्ञा और दुःख-संज्ञा

संज्ञा के षोडशविध वर्गीकरण में सुख-संज्ञा और दुःख-संज्ञा का क्रम ग्यारहवाँ और बारहवाँ है। सातावेदनीय-कर्म के उदय से होने वाली सुखद अनुभूति सुखसंज्ञा है और असातावेदनीय-कर्म के उदय से होने वाली दुःखद अनुभूति दुःखसंज्ञा है।¹ आधुनिक मनोविज्ञान में यह भी बताया है कि सुख सदैव अनुकूल इसलिए होता है कि उसका जीवनी-शक्ति को बनाए रखने की दृष्टि से मूल्य है और दुःख प्रतिकूल होता है, क्योंकि वह जीवनी-शक्ति का ह्रास करता है। यही सुख-दुःख का नियम समस्त व्यवहार का चालक है। जैन-दार्शनिक भी प्राणीय-व्यवहार के चालक के रूप में इसी सुख-दुःख के नियम को स्वीकार करते हैं। अनुकूल के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल के प्रति विकर्षण—यह प्राणीय स्वभाव है। आचारांगसूत्र में कहा गया है—“सभी प्राणियों को सुख प्रिय है, अनुकूल है और दुःख अप्रिय है प्रतिकूल है।”² प्राणी सुख प्राप्त करना चाहते हैं और दुःख से बचना चाहते हैं।³ उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—“संसार में जन्म का दुःख है जरा, रोग और मृत्यु का दुःख है, चारों ओर दुःख-ही-दुःख है। अतएव वहाँ प्राणी निरंतर दुःख ही पाते रहते हैं।”⁴ प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—“जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह पराश्रित, बाधासहित, विच्छिन्न, बंध का कारण तथा विषम होने से वस्तुतः सुख नहीं, दुःख ही है।”⁴

¹ प्रवचन-सारोद्धार, द्वार 146, साध्वी हेमप्रभाश्री, पृ. 925

² सव्वे पाणा पिआउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला ।- आचारांगसूत्र - 1/2/3

³ जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतुणो ॥ - उत्तराध्ययनसूत्र 19/16

⁴ सपरं वाधासहियं, विविच्छण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इन्दियहि लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥ - प्रवचनसार 1/16

इसका आशय यह है कि जैनदर्शन भौतिक एवं ऐन्द्रिक-सुखों को सुख रूप नहीं मानता है, क्योंकि वे क्षणिक एवं वियोग-धर्मा हैं। वस्तुतः, संसार में वीतरागता ही सुख है।⁵ जो पराधीन है, वह सब दुःखद है और जो स्वाधीन है, वह सब सुख है।⁶ विष्णुपुराण में कहा है -सुख-दुःख वस्तुतः मन के ही विकार हैं।⁷ सुख के भीतर दुःख और दुःख के भीतर सुख सर्वदा वर्तमान रहता है, ये दोनों ही जल और कीचड़ के समान परस्पर मिले हुए रहते हैं।⁸ दूसरों ने जिसे सुख कहा है, आर्यों ने उसे दुःख कहा है। आर्यों ने जिसे दुःख कहा है, दूसरों ने उसे सुख कहा है।⁹ दुःखी सुख की इच्छा करता है, सुखी और अधिक सुख चाहता है, किन्तु सांसारिक-दुःख सुख में उपेक्षाभाव रखना ही वस्तुतः सुख है।¹⁰

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि सुख-दुःख-संज्ञा व्यक्ति की अनुभूति-मात्र है। जब व्यक्ति विकारों और विकृतियों से युक्त होता है, तो वह दुःखी होता है, व्याकुल होता है और जब ये विकृतियाँ और विकार समाप्त हो जाते हैं, तो सुख का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। सुख सब चाहते हैं और इसकी तलाश भी सब करते हैं, परन्तु सुख की तलाश में अधिकतर मिलता है-दुःख, क्योंकि तलाश ही दुःख है। जहाँ तलाश है, चाह है, कामना है, वहीं दुःख है।

जब हमारी तलाश, चाह, कामना, इच्छा, आकांक्षा, आशा की पूर्ति होती है तो हम कुछ देर के लिए 'सुखी' महसूस करते हैं। परन्तु तत्काल ही दुःखी भी महसूस करते हैं, क्योंकि एक इच्छा की पूर्ति होते ही अनगिनत नई इच्छाओं का जन्म हो

⁵ सुखा विरागता लोके - सुत्तपिटक, उदान- 2/1

⁶ सर्वं परवसं दुक्खं, सर्वं इस्सरियं सुखं। - वही- 2/9

⁷ मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणाः। - विष्णुपुराण - 2/6/47

⁸ सुखमध्ये स्थितं दुखं दुःखमध्ये स्थितं सुखम्।
द्वयमन्योऽन्यसंयुक्तं प्रोच्यते जलपंकवत्॥ - आध्यात्मरामायण, अयोध्याकाण्ड 1/23

⁹ अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खं
पियेहि विप्योगो दुक्खं। - संयुत्तनिकाय -54/2/1

¹⁰ दुक्खी सुखं पत्थयति, सुखी भिय्योपि इच्छति।
उपेक्खा पन सन्तत्ता, सुखमिच्चेव भासिता॥ - विसुद्धिमग्ग 1/238

जाता है। इच्छाओं को आकाश के समान अनन्त कहा गया है।¹¹ जितनी इच्छाओं की पूर्ति होंगी, नई इच्छाएं द्विगुणित एवं त्रिगुणित रूप से बढ़ती जाएंगी और व्यक्ति अधिक दुःखी होता जाएगा।

प्रसंगानुसार, एक राजा बहुत बीमार हो गया। कुशल वैद्यों के इलाज से भी ठीक नहीं हुआ। अन्त में, एक वैद्य ने इलाज बताया कि ऐसे आदमी की कमीज लाओ, जो अत्यन्त खुश हो। परंतु दूर-दूर तक दूत व संदेशवाहक भेजे गए, पर सफलता नहीं मिली। एक दिन एक व्यक्ति हंसी से लोट-पोट होते मिला, तो राजा के सैनिक उसे पकड़कर राजा के पास ले गए। राजा ने जब उसकी कमीज मांगी तो उसने जवाब दिया— “यदि मेरे पास कमीज या कोई भी वस्तु होती, तो क्या मैं कभी सुखी हो सकता था ? राजन्! मेरे पास कुछ नहीं है, और न पाने की इच्छा है, इसीलिए मैं सुखी व प्रसन्न हूँ।”

उसकी खुशी का राज यही था कि उसके पास कोई वस्तु नहीं थी, अर्थात् वह निष्काम और अपरिग्रही था। वास्तविक दुःख या रोग कामना और वस्तुओं की चाह का है। इनसे ही व्यक्ति दुःखी होता है। वस्तु, व्यक्ति और कीर्ति की कामना के समाप्त होते ही आदमी सुखी हो जाता है।

सुख और दुःख का अर्थ तथा उनकी सापेक्षता —

सुख शब्द ‘सुख्+अच्’ धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है प्रसन्न, आनन्दित, खुश आदि।¹² अंग्रेजी में इसे प्लेज़र [Pleasure] कहते हैं। जिसका अर्थ विषय सुख, आनन्द, संतोष आदि है।¹³

दुःख शब्द मूलतः संस्कृत भाषा का दुःखं शब्द है। यह शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ‘दुष्टानि खानि यस्मिन् या दुष्टं खनति यः स दुःखं’ जिसका अर्थ

¹¹ इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

— उत्तराध्ययनसूत्र 9/48

¹² संस्कृत—हिन्दी कोश, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 1114

¹³ Bhargava's Standard Illustrated Dictionary of the English Language – P.N. 629

है —जो पीड़ा देता है, वह दुःख है, अतः जो पीड़ाकारक या अरुचिकर है, वह दुःख है। कठिनता से प्राप्त, बैचेनी, खेद रंज, विषाद, वेदना और कष्ट देने वाला दुःख है।¹⁴

सुख—दुःख का लक्षण —

दुःख का लक्षण बताते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं कि —‘सदसेद्धेद्योदयेऽन्तरङ्गहेतौ सति बाह्यद्रव्यादिपरिपाकनिमित्तवशादुत्पद्यमानः प्रीतिपरितापरूपः परिणामः सुखदुःखमित्याख्यायते।¹⁵

अर्थात् ‘सातावेदनीय और असातावेदनीय के उदयरूप अन्तरंग हेतु के रहते हुए बाह्यद्रव्यादि के परिपाक के निमित्त से जो प्रीति और परितापरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे क्रमशः सुख और दुःख कहे जाते हैं।’ दूसरे शब्दों में, पीड़ा रूप आत्मा का परिणाम दुःख है और इसके विपरीत सुख है।

वीरसेनाचार्य लिखते हैं —‘अणिट्ठत्थसमागमो इगोत्थवियो च दुक्खं नाम।’¹⁶ अर्थात्, अनिष्ट अर्थ के समांगम और इष्ट अर्थ के वियोग का नाम दुःख है और विषय—सेवन की तृष्णा (लालसा) से इन्द्रियों का निवृत्त हो जाना ही वास्तविक सुख है।¹⁷

सुख—दुःख के भेद —

इस संसार में सुख—दुःख के आधार पर प्रवृत्ति एवं निवृत्ति सर्वत्र दिखाई देती है। वर्तमान समय में सुख की परिभाषा के रूप में सामान्यतः व्यक्ति भौतिक—सामग्री के भोग—उपभोग की सुविधा को सुख मानता है तथा भौतिक—सामग्री के अभाव या

¹⁴ वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत—हिन्दी कोश, पृष्ठ —462

¹⁵ सर्वाथसिद्धि, 5/20

¹⁶ सर्वाथसिद्धि, 6/11

¹⁷ गीता, शंकर भाष्य — 2/66

अनुपलब्धि को दुःख मानता है। वास्तव में सुख क्या है ? इस प्रश्न का सबसे संक्षिप्त और सरल उत्तर यही है कि वह सब सुख है, जिसमें मन की आकुलता, व्याकुलता, चाह-चिन्ता, आशा-अभिलाषा व अभाव मिटे तथा मन निर्मलता शान्ति, समभाव और आनन्द से भर जाए। सुख का उपाय है, -सद्भाव की जिन्दगी जीना, जो है, उसका आनंद लेना। जितना प्राप्त है, उतने में संतोष रखना ही सुख है। आचारांग में कहा है का अरई के आणंदे ?¹⁸ अर्थात्, "ज्ञानी के लिए क्या दुःख, क्या सुख? कुछ भी नहीं, अर्थात् ज्ञानी उसे ही कहा गया है, जो संतोषी हो। जो संतोषी है, वही सुखी है।"

सुख का अभाव ही दुःख है। अन्तकरण या मन में उद्भूत होने वाले विभिन्न भावों में सुख और दुःख के भाव ही प्रमुख हैं। सुख अनुकूल-वेदनीय होता है अर्थात् इसकी अनुभूति अनुकूल प्रतीत होती है। दुःख प्रतिकूल-वेदनीय होता है, अर्थात् इसकी अनुभूति प्रतिकूल प्रतीत होती है। दूसरे शब्दों में सुख अच्छा लगता है और दुःख बुरा लगता है। वांछित या प्रिय के प्रति किसी रूप से सम्बद्धता का भाव सुखात्मक, सुखरूप या सुखद होता है और अप्रिय के प्रति सम्बद्धता का भाव दुःखात्मक, दुःखरूप या दुःखद होता है।

सामान्य अर्थ में सुख-दुःख सापेक्ष शब्द हैं, एक विकल्पात्मक-स्थिति है। दुःख के विपरीत जो है, उसकी अनुभूति सुख है, या सुख दुःख का अभाव है। जैनदर्शन 'निर्वाण' में जिस अनन्त सौख्य की कल्पना करता है, वह निर्विकल्प सुख है।¹⁹

सुख के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि जैन विचारकों की दृष्टि में 'सुख' शब्द का क्या अर्थ अभिप्रेत है। वस्तुतः जैनागमों की भाषा प्राकृत है। प्राकृत में 'सुह' शब्द के संस्कृत भाषा में 'सुख' और शुभ -ऐसे दो

¹⁸ का अरई के आणंदे ? - आचारांगसूत्र, 1-3-3

¹⁹ बृहत्कल्पभाष्य, 57/7

रूप बनते हैं। जैनागमों में सुह शब्द विभिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैनाचार्यों ने 'सुख' दस प्रकार के कहे हैं -²⁰

1. आरोग्यसुख, 2. दीर्घायुष्यसुख, 3. सम्पत्तिसुख, 4. कामसुख, 5. भोगसुख, 6. सन्तोषसुख, 7. अस्तित्वसुख, 8. शुभभोगसुख, 9. निष्क्रमणसुख और 10. अनाबाधसुख।

सम्पत्ति या अर्थ गार्हस्थिक-जीवन के लिए आवश्यक है और सांसारिक सुखों के लिए कारणभूत होने से उसे 'सुख' कहा गया है।²¹

दुःख के भेदों को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं - 'आगन्तुक मानसिकं सहजं सारीरियं चत्वारि दुक्खाइं।'²² अर्थात् दुःख चार प्रकार का होता है - आगन्तुक, मानसिक, स्वाभाविक तथा शारीरिक। अचानक बिजली आदि गिरने से अथवा अचानक कोई दुर्घटना आदि से जो दुःख प्राप्त होता है, उसे 'आगन्तुक दुःख' कहते हैं। प्रिय जनों के दुर्व्यवहार आदि से तथा इष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने के कारण जो दुःख प्राप्त होता है, उसे 'मानसिक दुःख' कहते हैं। जीव के निज स्वभाव से उत्पन्न होने वाले दुःख को 'स्वाभाविक दुःख' कहते हैं। जैसे किसी का स्वभाव क्रोधी, चिड़चिड़ा या लड़ाकू हो, आदि इससे भी व्यक्ति दुःखी होता है। जिसका शरीर मोटा हो, छोटा हो, नाटा हो, पतला हो, काला हो, अधिक लम्बा हो या शारीरिक बीमारियों से ग्रस्त हो- ये सब दुःख शारीरिक-दुःख हैं।

स्वामी कार्तिकेय दुःख के पाँच भेद बताते हुए लिखते हैं -

असुरोदरीयि दुःखं सारीरं माणसं तहा विविहं
खित्तुम्भवं च तित्वं अण्णोण्णकयं च पंचविहं।²³

²⁰ सूत्रकृतांग, 737

²¹ अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड-7, पृ. 1018

²² भावपाहुड, गाथा-11

²³ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा -35

अर्थात्, पहला असुरकुमारों के द्वारा नारक जीवों को दिया जाने वाला दुःख, दूसरा शारीरिक-दुःख, तीसरा मानसिक-दुःख, चौथा क्षेत्र से उत्पन्न होने वाला दुःख और पांचवाँ परस्पर दिया जाने वाला दुःख।

सांख्यकारिका में दुःख के तीन प्रकार बताए हैं – आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक।²⁴

1. आध्यात्मिक-दुःख – व्यक्ति के आन्तरिक, शारीरिक और मानसिक-कारणों से अभिव्यक्त या उत्पन्न होने वाले दुःखों को आध्यात्मिक-दुःख कहा जाता है। आध्यात्मिक-दुःख दो प्रकार के होते हैं, शारीरिक और मानसिक। वात, पित्त और कफ की विषमता आदि से उत्पन्न होने वाला दुःख मानसिक-दुःख है, जैसे – प्रियजन के वियोगादि से उत्पन्न दुःख।

2. आधिभौतिक-दुःख – आधिभौतिक-दुःख वह है जो विभिन्न प्राणियों जैसे, मनुष्य, पशु, सर्प, खटमल, मच्छर आदि के द्वारा जो कष्ट (दुःख) उत्पन्न होता है। इसमें सर्दी, गर्मी, वृक्ष, पर्वत, नदियां आदि के द्वारा जो दुःख होता है वह भी आधिभौतिक-दुःख है।

3. आधिदैविक-दुःख – देव, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत एवं ग्रह आदि के आवेश के कारण एवं दुष्ट ग्रह आदि के दुष्ट प्रभाव से होने वाला दुःख आधिदैविक-दुःख कहलाता है। “आधिदैविकं शीतोष्णवातवर्षीसन्यवश्या यावेशनिमित्तम्।”²⁵

मूलतः, ये ही त्रिविध दुःख हैं तथा प्रतिकूल और वेदनीय होने से तीनों ही तिरस्कार करने योग्य हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है – जन्म दुःखरूप है, जरावस्था दुःखरूप है, रोग और मरण भी दुःखरूप है। वस्तुतः, तो यह समूचा संसार ही दुःखमय है, क्योंकि संसार में जन्म, जरा और मृत्यु लगे हुए हैं, जिससे प्राणी बार-बार पीड़ित होता है।²⁶

²⁴ दुःखत्रयाभिघातात् – सांख्यकारिका – 1

²⁵ सांख्यकारिका, डॉ. रविकान्त मणि, पृ. 62

²⁶ उत्तराध्ययनसूत्र – 19/16

उत्तराध्ययनसूत्र में चारों गतियों, अर्थात् नरक, तिर्यच, मनुष्य एवं देव को दुःखरूप ही माना गया है,²⁷ क्योंकि सभी में मरण का दुःख लगा हुआ है। इन दैहिक दुःखों के अतिरिक्त मानसिक दुःख भी है जिनका उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र में मिलता है।²⁸ वस्तुतः दैहिक-दुःखों का कारण भी मानसिक-दुःख है, क्योंकि जैनाचार्यों की दृष्टि में सुख एवं दुःख -दोनों ही वस्तुगत {Objective} न होकर मनोगत विषयगत {Subjective} होते हैं। वस्तुएं तो उन सुख या दुःख के भावों की निमित्त मात्र हैं। अनेक बार यह देखा जाता है कि एक ही वस्तु दो भिन्न मानसिक स्थितियों में कभी सुखरूप होती हैं और कभी दुःखरूप। सुख और दुःख की अनुभूति में मन की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी गई है। वस्तुतः, जब तक चित्त आसक्त है, इच्छाओं और आकांक्षाओं से जुड़ा हुआ है, तब तक दुःखों से निवृत्ति सम्भव नहीं है। इच्छा और आकांक्षा, जो मनोजन्य है, वही यथार्थ दुःख है, क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जहाँ इच्छा या आकांक्षा है, वहाँ अपूर्णता है और जहाँ अपूर्णता है, वहाँ दुःख है।²⁹

औपनिषदिक-ऋषियों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो अल्प है, अपूर्ण है, वह सुख नहीं है।³⁰ वास्तविक सुख आत्मपूर्णता में है और जब तक व्यक्ति में इच्छाएं और आकांक्षाएं हैं, तब तक आत्मिक-आनन्द या आत्मपूर्णता सम्भव नहीं है।

²⁷ वही - 19/10

²⁸ उत्तराध्ययन, 19/45

²⁹ वही- 32/94

³⁰ उपनिषद् - 7/13/1 - {छन्दोग्योपनिषद् पृ. 785}

सुख व्यवहार के प्रेरक के रूप में और दुःख व्यवहार के निवर्तक के रूप में—

सभी परिस्थितियां सुख और दुःख से युक्त होती हैं, फिर भी सुख को व्यवहार के प्रेरक के रूप में और दुःख को व्यवहार के निवर्तक के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः, यह सनातन सत्य है कि सभी व्यक्तियों और प्राणियों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। 'संसार के प्रत्येक प्राणधारी का एकमात्र लक्ष्य है सुख। सभी प्राणी, जीव, भूत, एवं सत्त्व सुख-साता चाहते हैं, दुःख उनको अप्रिय है।³¹ यदि गहराई से विचार करें, तो सुख कर्मबंधन का कारण है और दुःख मुक्ति का। कर्मग्रंथ के अनुसार, पुण्य के उदय से व्यक्ति भौतिक सुख को प्राप्त करता है और उस सुख को भोगता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है³² —“यदि अन्य निमित्त से सुख मानते हैं तो भ्रम है, जिस वस्तु को सुख का कारण मानते हैं, वह ही वस्तु कालान्तर में (कुछ समय बाद) दुःख का कारण हो जाती है।” भौतिक सुख सुविधाओं में व्यस्त होकर व्यक्ति प्रमादी बन जाता है और अपने पुण्य को समाप्त करता रहता है। प्रमाद के कारण नए कर्मों का बंधन करता चला जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति दुःखी है, वह सदा जागृत अवस्था में रहता है। अपने कार्य के प्रति सजग रहता है और दुःख से मुक्त होने के लिए प्रयास करता है। इस प्रकार दुःख व्यक्ति को ऊपर उठाता है और उत्थान की ओर ले जाता है। कहते हैं —प्रभु का नाम भी दुःख के क्षणों में अधिक लिया जाता है। कबीर ने भी कहा है —

**दुःख में सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय
जो सुख में सुमिरन करे दुःख आवे न कोय**

“नरक-गति के जीव अत्यन्त दुःख और वेदना को सहन करते हैं, इसलिए मरने के बाद सदा तिर्यच और मनुष्य-गति में ही उनका जन्म होता है। इसके विपरीत देवगति के जीव सुख और भोग में मस्त रहते हैं, इसलिए मरने के बाद

³¹ सव्वे पाणा, सव्वे जीवा, सव्वे भूआ, सव्वे सत्ता सुहसाया, दुक्खपडिकूला ।

³² कार्तिकेयानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा, गाथा 61

उनका जन्म भी तिर्यच और मनुष्य-गति में होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नारक के जीव दुःख को सहन करने में अपना उत्थान कर लेते हैं और देवतागण सुखभोग के कारण अपना पतन कर लेते हैं।”

सुख और सुखाभास—दोनों व्यक्ति के व्यवहार के प्रेरक बनते हैं। व्यक्ति के सभी कार्यों का लक्ष्य सुख को प्राप्त करना है। चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, राजा हो या रंक, मनुष्य हो या पशु, सैनिक हो या साहुकार—सभी के व्यवहार का प्रेरक मात्र सुख को प्राप्त करना है। सुख प्राप्त हो, सुख की अनुभूति हो, इसीलिए वे कुछ करते भी हैं।

साधु और संन्यासी अपनी साधना आत्मिक-सुख को प्राप्त करने के लिए करते हैं। गृहस्थ अपने परिवार को सुखी रखने के लिए—रोटी, कपड़ा और मकान के साथ-साथ अन्य आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति के लिए प्रयास करता है। राजा राज्य की खुशहाली के लिए और प्रजा को सुखी और प्रसन्न रखने के लिए प्रयास करता है। रंक अपने जीवनोपयोगी वस्तुओं की प्राप्ति में अपने-आपको सुखी समझता है। आचारांगसूत्र में कहा है—“सभी जीवों को प्राण प्यारे हैं, मरना कोई नहीं चाहता, सभी सुख को प्राप्त करना चाहते हैं,” इसीलिए पक्षीजगत् के प्राणी भी जीवन को सुरक्षित रखने के लिए घोंसला बनाते हैं और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सुखपूर्वक रहते हैं। सैनिक देश को खुशहाल और समृद्ध बनाने के लिए दिन-रात सरहदों पर तैनात रहते हैं ताकि देश सुखी व सुरक्षित रह सके। साहूकार-व्यापारीगणों का उद्देश्य उत्तम वस्तुओं विनिमय के द्वारा जनसामान्य को लाभान्वित करना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि संसार के लगभग सभी कार्य सुख और प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए किए जाते हैं। न्यायशास्त्र में यह उक्ति प्रसिद्ध है—“बिना उद्देश्य के मूर्ख व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं करता। उसी प्रकार यह कहने में भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि व्यक्ति का मुख्य उद्देश्य सुख प्राप्त करना ही है। बिना सुख-प्राप्ति के लिए कोई व्यक्ति प्रयास नहीं करता। पुनः, यह प्रश्न

उत्पन्न होता है कि सुख कैसा हो ? क्षणिक या सदाकालीन, शाश्वत्, क्योंकि सुख की धारणा सभी प्राणियों में अलग-अलग होती है, कोई किसी वस्तु में सुख मानता है, तो किसी को अन्य वस्तु में सुख की अनुभूति होती है। प्रत्येक प्राणी की रुचि-प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न है।

इस दृष्टि से, प्राणियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम-भवाभिनन्दी और दूसरा -मोक्षाभिनन्दी। भवाभिनन्दी जीव भौतिक-सुखों की इच्छा करते हैं, उनकी प्राप्ति में ही सुख मानते हैं और उनका वियोग होते ही दुःखी हो जाते हैं। सभी अविकसित प्राणी इसी कोटि के हैं। किन्तु मानव जो विकसित प्राणी है, उनमें से अधिकांश भी इसी कोटि के हैं, वे भी भौतिक सुखों की ओर लालायित रहते हैं। अभिधानराजेन्द्रकोष³³ में सुख को आनन्दरूप तथा दुःख को असातावेदनीयकर्मरूप माना है। आनन्दस्वरूप भौतिक सुख अनेक प्रकार के हैं। उपाध्याय केवलमुनि ने तत्त्वार्थसूत्र³⁴ के प्रारंभ में भौतिक सुखों को सुविधा की दृष्टि से नौ वर्गों में वर्गीकृत किया है -

1. ज्ञानानन्द - ज्ञान से अभिप्राय यहाँ भौतिक ज्ञान है। बहुत से वैज्ञानिक नई-नई खोज/शोध करने में ही आनन्द मानते हैं। कुछ लोग शक्ति प्राप्त करके दूसरों का अहित करते हैं और आनन्द मानते हैं। कुछ लोग नित नए घातक शस्त्र, संहारक सामग्री के आविष्कार में ही जीवन लगा देते हैं। इसी प्रकार, बहुत से मानव बौद्धिक-शक्ति प्राप्त करके दूसरों को टगते हैं, धोखा देते हैं, जासूसी करते हैं और इसी प्रकार वे अपने प्राप्त ज्ञान में आनन्द मानते हैं।
2. प्रेमानन्द - मानव चाहता है कि सभी उससे प्रेम करे। जब तक माता-पिता, पति-पत्नी तथा समाज के अन्य व्यक्ति उससे प्रेम करते हैं, तब तक वह

³³ सुखमानन्दरूपं दुःखमसातोदयरूपमिति ताभ्यां समान्वितो युक्तः। -अभिधानराजेन्द्रकोष भाग-7, पृ. 1019

³⁴ तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन सहित), उपाध्याय श्री केवलमुनि, पृ.1

अपने को सुखी मानता है। यदि इसमें थोड़ी भी कमी हुई तो दुःखी हो जाता है।

3. **जीवनानंद** — व्यक्ति जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं का उपभोग करके आनंद मनाता है। वह चाहता है कि सुख-सुविधा के सभी साधन उसे उपलब्ध हों। इसमें कमी आते ही वह हीन भावना से ग्रस्त होकर संसार का सबसे सर्वाधिक दुःखी व्यक्ति अपने को मानता है।
4. **विनोदानंद** — कुछ व्यक्तियों को खेलकूद, मनोरंजन, हास-परिहास आदि में आनंद आता है। जब विनोद के लिए व्यक्ति ताश, चौपड़, जुआ आदि खेलता है, तो हार जाने पर स्वयं दुःखी होता है और यह विनोद व्यसन बन गया, तो संपूर्ण जीवन ही दुःखी हो जाता है, बर्बाद हो जाता है और ऐसा व्यक्ति पतन के गर्त में गिर जाता है।
5. **रौद्रानंद** — रौद्रानंद तब होता है, जब व्यक्ति दूसरे प्राणियों को दुःख देकर सुख मनाता है।
6. **महत्त्वानंद** — प्रत्येक मानव की भावना होती है कि समाज के, परिवार के, जाति के और यहाँ तक कि संसार के सभी लोग उसे महत्त्वपूर्ण माने, उसका आदर करें, उसकी आज्ञा का पालन करें, सभी उसकी प्रशंसा करें। यदि किसी ने उसकी आज्ञा की अवहेलना कर दी, तो वह दुःखी हो जाता है।
7. **विषयानंद** — विषयानंद का अभिप्राय है — पांचों इन्द्रियों और मन के सुखों को सुख मानना, इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति की अभिलाषा। इस आनंद का दायरा इतना विस्तृत है कि सभी प्रकार के भौतिक सुख इसमें समा जाते हैं, किन्तु इस सुख की प्राप्ति के लिए सबल शरीर, इन्द्रिय, धन आदि आवश्यक हैं। यही कारण है कि आज के युग में धन के लिए आपाधापी मची हुई है। आज का मानव बेतहाशा इन्द्रिय-सुखों के पीछे भाग रहा है।
8. **स्वतंत्रतानंद** — मानव ही नहीं, पशु भी स्वतंत्रता चाहता है और इसी में आनंद मनाता है। वह किसी भी प्रकार का बंधन-मर्यादा नहीं चाहता। बंधन उसे

दुःखदायी लगता है, किन्तु यह सभी सुख वास्तविक सुख नहीं है, सुखाभास हैं। दुःख के बीज इसमें छिपे हैं। इसका परिणाम दुःख, कष्ट और पीड़ा ही है।

9. संतोषानंद — इसे आत्मानंद भी कह सकते हैं। प्रायः वस्तुओं को त्यागकर जो साधना-मार्ग की ओर बढ़ जाते हैं, आत्मचिंतन, प्रभु-भजन, स्वाध्याय आदि में सुख तथा आनंद की अनुभूति कर वे संसार की लालसा से मुक्त होते हैं। ऐसे व्यक्ति बहुत विरले होते हैं। इनका लक्ष्य मोक्षाभिमुखी होता है। प्राणीमात्र का जितना भी प्रयास है, जितना भी पुरुषार्थ वह करता है, उसकी दो ही दिशाएं हैं— काम अथवा मोक्ष। कामनापूर्ति पतन का मार्ग है और कामना आदि से मुक्ति पाने का प्रयास उन्नति का मार्ग है, विशुद्धि का मार्ग है, सिद्धि का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग है और शाश्वत सुख का मार्ग है, इसलिए सुख को व्यवहार के प्रेरक के रूप में व्याख्यायित किया गया है।

दुःख व्यवहार के निवर्तक के रूप में —

वस्तुतः, ज्ञानियों ने दुःख को मुक्ति का कारण माना है। क्योंकि दुःख से निवृत्ति होने पर ही सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए दुःख को व्यवहार के निवर्तक के रूप में माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में जन्म, जरा, रोग और मृत्यु को दुःखरूप माना है और संपूर्ण संसार को ही दुःखमय कहा है। पंचसूत्र³⁵ के प्रथम अध्याय में कहा गया है —यह संसार, जन्म, जरा, मरण, संयोग, वियोग, रोग, शोक आदि दुःखस्वरूप हैं। परिणाम में भी जन्म-मरणादि दुःख उत्पन्न करने वाला है और दुःख की परम्परा का जनक है, अर्थात् इसके आगे भी भवभ्रमण एवं दुःखों का प्रवाह चालू ही रहता है। दुःख के निवर्तक के लिए सर्वप्रथम दुःख की उत्पत्ति के कारणों को समझकर ही दुःख से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।³⁶

³⁵ दुःखरूपे, दुःखफले, दुःखाणुबंधे।

— पंचसूत्र, गा. 1/2

³⁶ समुपपायमजाणंता, कंहं नायंति संवरं ?

— सूत्रकृतांगसूत्र 1/1/3/10

दुःख का कारण —

दुःख का मूल कारण क्या है ? इसका उद्गम—स्थल कौनसा है ? इन प्रश्नों को ज्ञानियों ने अनेक प्रकार से वर्णित किया है। आचारांगसूत्र में सभी दुःखों का मूल स्रोत —“आरंभ हिंसाजन्य प्रवृत्ति है। प्रमादी व्यक्ति कषायों के वश होकर आरम्भ हिंसा करता है और परिणामस्वरूप अशुभ कर्मों का बंध करके नरक, तिर्यच आदि दुर्गतियों में नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है तथा जन्म, जरा और मरण को प्राप्त करता रहता है।”³⁷ सूत्रकृतांगसूत्र³⁸ में दुःख का कारण संसार में किए दुष्कृत—पाप हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में दुःख के कारण अविद्या, मोह, कामना, आसक्ति एवं राग—द्वेष आदि हैं। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं —इस जड़ शरीर में आत्मबुद्धि का होना ही संसार के दुःखों का कारण है, इसलिए शरीर में आत्मत्व की मिथ्या कल्पना को छोड़कर बाह्यविषयों में इन्द्रियों को रोकता हुआ अन्तरंग में प्रवेश करे।³⁹ आचार्य गुणभद्र लिखते हैं —“सर्वप्रथम शरीर उत्पन्न होता है, इस शरीर से दुष्ट इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। वे अपने विषयों को चाहती हैं और वे विषय मान हानि, परिश्रम, भय, पाप एवं दुर्गति को देने वाले हैं। इस प्रकार से समस्त अनर्थों की परम्परा का मूल कारण शरीर ही है।⁴⁰ आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि — “इस संसार से जो—जो भी दुःख जीवों को सहने पड़ते हैं, वे सब इस शरीर के ग्रहण के कारण ही सहने पड़ते हैं। इस शरीर से निवृत्त होने पर फिर कोई भी दुःख नहीं है।”⁴¹ बौद्धग्रंथ महासतिपट्टान में तृष्णा को ही दुःख का कारण माना गया है।⁴² उत्तराध्ययनसूत्र में

³⁷ आरंभजं दुक्खमिणाति णच्चा, माई पमाई पुण— एइ गब्यं.....। आचारांगसूत्र प्रथमश्रुतस्कंध, 3/1/172

³⁸ सूत्रकृतांगसूत्र — 5/1/315

³⁹ मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः॥ — समाधिशतक, श्लोक—15

⁴⁰ आदौ तनोर्जनमत्र हतेन्द्रियाणि काङ्क्षन्ति तानि विषयान्विषयाश्च मान
हानिप्रयासभयपाप कुयोनिदाः स्युर्मूलं ततस्तनुरनर्थपरं पराणाम्॥ —आत्मानुशासन, श्लो.195

⁴¹ भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम्॥ — ज्ञानार्णव, अधिकार—7, दोहक 11

⁴² महासतिपट्टान,

स्पष्ट कहा गया है कि तृष्णा से पराजित व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, जिससे वह दुःख से मुक्ति नहीं पा सकता।

दुःख की प्रक्रिया का क्रम निम्न है — जहाँ आसक्ति है, वहाँ राग है, जहाँ राग है, वहाँ कर्म है, जहाँ कर्म है, वहाँ बन्धन है और बन्धन स्वयं दुःख है। वस्तुतः दुःख का मूल कारण ममत्त्व, राग-भाव या आसक्ति है। यह राग या आसक्ति तृष्णा जन्य है और तृष्णा मोह-जन्य है। मोह ही अज्ञान है, यद्यपि अज्ञान (मोह) और ममत्त्व में कौन प्रथम है, यह कहना कठिन है। इन दोनों में पहले मुर्गी या अण्डे के समान किसी की भी पूर्वापरता स्थापित करना असंभव है।⁴³

दुःखमुक्ति के उपाय —

भारतीय-दर्शनों में जैन, बौद्ध, सांख्य आदि दर्शनों के चिन्तन का आरम्भिक सोपान भले ही दुःख रहा हो, किन्तु उसकी अन्तिम परिणति तो पूर्ण दुःखविमुक्ति या निर्वाण की प्राप्ति में है। भारतीय-दर्शन का मूलमंत्र— 'अंधकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर अग्रसर होता है।'

समाधिशतक में दुःखमुक्ति के उपाय को बताते हुए कहा गया है — "भेद विज्ञान के द्वारा जो पुरुष आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उसके सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं।"⁴⁴ आत्मानुशासन में कहा है — "इष्ट वस्तु की हानि से शोक और फिर उससे दुःख होता है तथा फिर उसके लाभ से राग तथा फिर उससे सुख होता है, इसलिए बुद्धिमान पुरुष को इष्ट की हानि में शोक से रहित होकर सदा सुखी रहना चाहिए।"⁴⁵

⁴³ उत्तराध्ययनसूत्र 32/6,7,8

उद्धृत (उत्तराध्ययनसूत्र दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका महत्व) — साध्वी डॉ. विनीतप्रज्ञा

⁴⁴ आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।

नायतास्तत्र निर्वाणं कृत्वापि परमं तपः।। — समाधिशतक, श्लोक 41

⁴⁵ आत्मानुशासन, श्लोक— 186—187

बौद्धदर्शन के चार आर्यसत्यों में दुःख के कारण की विवेचना के साथ-साथ दुःख-निवारण की स्वीकृति और दुःख-निवारण के उपायो की चर्चा भी की गई है।

जैनदर्शन दुःख-विमुक्ति को मोक्ष के रूप में स्वीकार करता है। सांख्यदर्शन आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधि-दैविक दुःखों की विवेचना के साथ पुरुष एवं प्रकृति के भेदज्ञान को दुःख-निवृत्ति का उपाय बतलाता है, अर्थात् जब तक पुरुष अपने-आपको प्रकृति से भिन्न नहीं समझ लेता, उसे दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसी प्रकार, गीता निष्काम कर्म को दुःख-मुक्ति का साधन मानती है।⁴⁶

उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा है कि सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन, अज्ञान एवं मोह के विसर्जन तथा राग और द्वेष के उन्मूलन से एकान्त सुखरूप मोक्ष की उपलब्धि होती है।⁴⁷ राग-द्वेष और मोह की समाप्ति होने पर ही दुःख समाप्त होता है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि दुःख निवर्तक के रूप में स्वीकार किया गया है। जब तक अज्ञान, मोह, ममत्व, कषाय भाव का विसर्जन नहीं करेंगे, सुख की उपलब्धता प्राप्त नहीं हो सकती। संक्षेप में कहें, तो दुःख-विमुक्ति के लिए वीतराग या अनासक्त जीवन-दृष्टि का निर्माण आवश्यक है। वीतरागता की उपलब्धि तभी सम्भव है, जब व्यक्ति स्पष्ट रूप से जान ले कि सांसारिक-सुख वस्तुतः सुख न होकर मात्र सुखाभास है।

वस्तुतः, जीवों को जो भी सुख या दुःख मिलते हैं, उन्हें न तो ईश्वर देता है, न ही कोई देवी-देवता की शक्ति या मानव दे सकता है। जो भी सुख या दुःख के रूप में फल मिलता है, वे सब अपने ही द्वारा इस भव में या पूर्वभव में पहले किए हुए साता-असातावेदनीयरूप कर्मबीज के फल हैं।

सुख के बीज बोने पर जीवन की वाटिका सुख-शान्ति के सुगन्धित पुष्पों से महकती मिलती है और दुःखों के बीज बोने पर दुःख, शोक, अशान्ति, चिन्ता,

⁴⁶ गीता - 2/39

⁴⁷ उत्तराध्ययनसूत्र- 32/2

अस्वस्थता, तनाव आदि असातावेदनीयकर्म के फल प्राप्त होते हैं, अतः जो मनुष्य सुखों के झूले पर झूलना चाहता है, उसे खेद खिन्न, पीडित, दुःखी और अशान्त जीवों के दुःखों को अपना दुःख समझकर सुखों के बीज बोना चाहिए, दुःखों के बीज हर्गिज नहीं बोना चाहिए, तभी मनुष्य सुखानुभव कर सकता है और दुःख से बच सकता है तथा अपने और दूसरों के जीवन को सन्तुष्ट, सुखी और शान्त बना सकता है।⁴⁸

⁴⁸ ज्ञान का अमृत से भावांशग्रहण, पृ. 277 (उद्धृत - कर्मविज्ञान, आचार्य देवेन्द्रमुनि, पृ. 292)

सुखवाद की अवधारणा और उसकी समीक्षा –

'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'⁴⁹ अर्थात् प्रयोजन के बिना मूर्ख या अल्पबुद्धि वाला व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। इसी प्रकार, मनुष्य भी कर्म इसलिए ही करता है कि उसे सुख प्राप्त हो। बिना सुख मिले कोई कर्म नहीं करता, बल्कि सुख मिलने पर ही करता है, अतः सुख की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए।⁵⁰ सुखवाद के अनुसार, कर्म का साध्य सुख की प्राप्ति अथवा तृप्ति है। वही कर्म शुभ है, जो हमारी इन्द्रियपरता (वासनाओं) को संतुष्ट करता है। वह कर्म अशुभ है, जिससे वासनाओं की पूर्ति अथवा सुख की प्राप्ति नहीं होती। सुखवाद के अनुसार, सुख ही परम मंगल है, सुख ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है, क्योंकि दुःख से सभी उद्विग्न होते हैं और सुख सभी को अभीष्ट है।⁵¹ चाणक्य-नीति में भी कहा है – "प्रत्येक मनुष्य को अपने सभी कर्मों का लक्ष्य केवल अधिक से अधिक सुख के उपभोग को बनाना चाहिए। सुख का तात्पर्य वर्तमान क्षण का सुख है; अतीत और अनागत सुख नहीं।"⁵² चार्वाक भी सुखवादी है, उनका कहना है— "जब तक जीवन है, तब तक सुख से जीना चाहिए, ऋण लेकर घी पीना चाहिए, क्योंकि मृत्यु के बाद फिर शरीर न रहेगा और इस कारण उपभोग के अवसर नहीं मिलेंगे।"⁵³ यजुर्वेद के शान्तिपाठ में कहा गया है – 'सभी सुखी हों, सभी निरोग हों, सभी शुभ का दर्शन करे और कोई दुःखी न हो।'⁵⁴ जैन-आचारदर्शन भी यह मानता है कि समस्त प्राणीवर्ग स्वभाव से ही सुखाभिलाषी है। दशवैकालिकसूत्र स्पष्ट रूप से प्राणीवर्ग को

⁴⁹ प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1/1 सूत्र विवेचना से उद्धृत

⁵⁰ यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति
सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। – छान्दोग्य उपनिषद् – 7/22/1

⁵¹ दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्। – महाभारत, शान्तिपर्व, 139/69

⁵² गते शोको न कर्त्तव्यो भविष्यं नैवं चिन्तयेत्।
वर्तमान कालेन वर्तयन्ति विचक्षणाः।। – चाणक्यनीति, 13/2

⁵³ यावज्जीवं सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

⁵⁴ सर्वे सन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्रानि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।। – यजुर्वेद, शान्तिपाठ

परम (सुख) धर्मी मानता है।⁵⁵ टीकाकारों ने परम शब्द का अर्थ सुख करते हुए इस प्रकार व्याख्या की है — पृथ्वी आदि स्थावर प्राणी और द्वीन्द्रिय आदि त्रस-प्राणी — इस प्रकार सर्व प्राणी परम अर्थात् सुखधर्मी हैं, सुखाभिलाषी हैं।⁵⁶ सुख की अभिलाषा करना प्राणियों का नैसर्गिक स्वभाव है। आचारांगसूत्र में भी कहा है — “सभी प्राणियों को सुख प्रिय है, अनुकूल है और दुःख अप्रिय है, प्रतिकूल है।”⁵⁷

वस्तुतः, सुखवाद की चर्चा प्रायः सभी भारतीय एवं पाश्चात्य-चिन्तकों ने की है। सुखवादियों के अनेक उपसम्प्रदाय हैं, उनमें मनोवैज्ञानिक-सुखवाद और नैतिक-सुखवाद प्रमुख हैं। मनोवैज्ञानिक-सुखवाद एक तथ्यपरक सिद्धान्त है, जिसके अनुसार यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि व्यक्ति सदैव सुख के लिए प्रयास करता है, जबकि नैतिक-सुखवाद की विचारधारा यह मानकर चलती है कि सुख का अनुसरण करना चाहिए या सुख ही वांछनीय है। नैतिक-सुखवाद के विचारकों में मिल प्रभृति कुछ विचारक नैतिक-सुखवाद को मनोवैज्ञानिक-सुखवाद पर आधारित करते हैं। मिल का कहना है कि कोई वस्तु या विषय काम्य है — इसका प्रमाण यह है कि लोग वस्तुतः उसकी कामना करते हैं। सामान्य सुख काम्य है, इसके लिए इसे छोड़कर कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य सुख की कामना करता है,⁵⁸ लेकिन सुखवाद को मनोवैज्ञानिक-आधार पर खड़ा करने का मिल का यह प्रयास तार्किक-दृष्टि से ठीक नहीं है। यदि सभी मनुष्य स्वभावतः सुख की कामना करते हैं, तो फिर, ‘सुख की कामना करना चाहिए’ इस कथन का कोई अर्थ नहीं रह जाता, जबकि नैतिक-आदेश के लिए ‘चाहिए’ आवश्यक है, लेकिन मनोवैज्ञानिक-सुखवाद इस ‘चाहिए’ के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ता। इसी कारण, सिजविक

⁵⁵ सव्वेपाणा परमाहम्मिआ — दशवैकालिकसूत्र 4/9

⁵⁶ दशवैकालिक टीका, पृ. 46

⁵⁷ सव्वे सुहसाया दुक्खडिकला। — आचारांगसूत्र 1/2/3/81

⁵⁸ 1) नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ. 161 पर उद्धृत

2) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1, डॉ. सागरमल जैन, पृ.122

तथा समकालीन विचारकों में ड्यूरेट ड्रेक आदि ने सुखवाद को विशुद्ध नैतिक आधार पर खड़ा किया है।⁵⁹

नैतिक सुखवादी-विचारधारा की दूसरी मान्यता यह भी है कि वस्तुतः जो सुख काम्य है, वह वैयक्तिक नहीं, वरन् सामान्य सुख है। यह धारणा उपयोगितावाद के नाम से भी जानी जाती है। जैन-आचारदर्शन में नैतिक-सुखवाद के समर्थक कुछ तथ्य मिलते हैं। महावीर ने कई बार यह कहा है –“जिससे सुख हो वह करो।”⁶⁰ इस कथन के आधार पर यह फलित निकाला जा सकता है कि महावीर नैतिक-सुखवाद के समर्थक थे।

यदि हम जैन-नैतिकता को किसी विशेष अर्थ में सुखवाद के नाम से पुकारना उचित समझें, तो उसके नैतिक-आचरण का चरमादर्श अनाबाध सुख की उपलब्धि ही है –यही मानना होगा। अनाबाध सुख वस्तुतः आध्यात्मिक-आनन्द की वह अवस्था है, जिसमें हम शुद्ध एवं पूर्ण आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करते हैं। दुःख का कारण तनाव है और तनाव का कारण रागद्वेष है। जब आत्मा रागद्वेषरूप तनाव को समाप्त कर देती है और अर्हत् या वीतराग-अवस्था को प्राप्त कर लेती है, तो उसे इस वास्तविक सुख का लाभ होता है, जो वासनात्मक-सुखों की अपेक्षा अनन्त गुना अधिक है। जैनागमों में कहा गया है कि वासनाओं की पूर्ति से प्राप्त होने वाले लौकिक-सुख वीतराग के सुख का अनन्तवां भाग भी नहीं होते, अर्थात् वीतराग के सुख की तुलना में लौकिक-सुख कुछ भी नहीं है।⁶¹

सुखवाद के अनुसार भी सुख मन या चित्त की शान्त अवस्था है। यह जितनी प्रगाढ़ चिरकालीन तथा निरन्तर हो, उतना ही सुख अधिक होता है। वैराग्य (वीतरागदशा) मनुष्य की ऐसी ही प्रगाढ़ चिरकालीन और निरन्तर शान्तवृत्ति है। यह वृत्ति कर्म करने से नहीं, वरन् कर्म का परिपालन करके एकान्त में चित्त को एकाग्र

⁵⁹ कण्टेम्पररि एथिकल थ्योरीज, पृ. 196

⁶⁰ अहासुहं देवाणुपियं। – उपासकदशांगसूत्र 1/2

⁶¹ अध्यात्मतत्त्वालोक, पृ. 630

करने से आती है, अतएव सुखवाद की तार्किक-पराकाष्ठा यह है कि वैराग्य (वीतरागदशा) ही एकमात्र श्रेय है।⁶²

महाभारत में भी वासनामूलक एवं ऐन्द्रिक-सुखों को अत्यन्त निम्न कोटि का सुख कहा गया है। यही नहीं, महर्षि वेदव्यास कहते हैं –“बिना त्याग किए सुख नहीं मिलता, बिना त्याग के परमतत्त्व की उपलब्धि भी नहीं होती। बिना त्याग के अभय की प्राप्ति भी नहीं होती, अतः सब कुछ त्याग करके सुखी हो जाओ।”⁶³ इस प्रकार, हम देखते हैं कि न केवल जैन परम्परा में वरन् बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में भी सुख को अपने एक विशिष्ट अर्थ में ही नैतिक-जीवन का साध्य माना गया है। अतः कहा जा सकता है कि जैन-विचारणा और सामान्य रूप से अन्य सभी भारतीय-विचारणाओं में नैतिक-साध्य के रूप में सुख को स्वीकार किया गया है।

पाश्चात्य-सुखवाद की अवधारणा –

पाश्चात्य-विचारकों में सुखवाद के सर्वप्रथम प्रवर्तक एरिस्टिप्यस थे। एरिस्टिप्यस के अनुसार, जीवन का चरम लक्ष्य भोग ही है। ज्ञान और सामाजिक संस्कृति की उपादेयता उनके द्वारा भोग-प्राप्ति पर ही अवलम्बित है। वे कहते हैं कि जीवन को शान्तिमय और सुखमय बनाने के लिए दर्शन के अध्ययन पर अत्यधिक बल दिया जाना चाहिए।⁶⁴ उनके अनुसार, दर्शन मानव-कल्याण का उपाय है, साधन है।⁶⁴

डॉ. सागरमल जैन ने अपने शोध प्रबन्ध में कहा है कि पाश्चात्य-विचारकों में अरस्तु का नाम अग्रगण्य है। अरस्तु के नैतिक-दर्शन में शुभ का प्रतिमान 'स्वर्णिम माध्य (Golden Mean) माना गया है। अरस्तु के अनुसार, प्रत्येक गुण अपनी मध्यावस्था में ही नैतिक-शुभ होता है। उसने सद्गुण और दुर्गुण की कसौटी के रूप में इसी 'स्वर्णिम माध्य' को स्वीकार किया है। सद्मार्ग मध्यममार्ग है, अर्थात्

⁶² 1) नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ. 231

2) उद्धृत – जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1, डॉ. सागरमल जैन पृ. 126

⁶³ महाभारत, शान्तिपर्व, 6583

⁶⁴ नीतिशास्त्र, डॉ. एस.एन.एल. श्रीवास्तव पृष्ठ 37-39

सांसारिक—सुखों में अत्यधिक भोग—विलास और विरक्ति के रूप में तपमार्ग या देह—दण्डन —दोनों अनुचित हैं। संयम दोनों की मध्यावस्था के रूप में सद्गुण है।⁶⁵

जैनदर्शन में अरस्तु के इस मात्रात्मक मानक दृष्टिकोण का समर्थन आचार्य गुणभद्र के आत्मानुशासन नामक ग्रन्थ में भी मिलता है। वे लिखते हैं कि सुख का अनुभव करना बुरा नहीं है, लेकिन उसके पीछे जो वासना है, वह बुरी है। सुख—भोग से कोई पाप नहीं होता, पाप होता है— सुख—भोग की वासना के कारण, क्योंकि यह वासना सम्यक् दृष्टिकोण की घातक है। वासना से सम्यक्त्व का नाश होता है, जबकि सम्यक्त्व सुख का हेतु है। वासना मात्रातिक्रमण की ओर ले जाती है और यही मात्रातिक्रमण पाप है। आचार्य इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए मिठाई का उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं कि 'अजीर्ण' मिष्ठान—भोजन से नहीं होता, वह होता है, उसकी मात्रा का अतिक्रमण करने से।⁶⁶ इस प्रकार, जैनदर्शन में भी अरस्तु के समान मात्रा के मानक का विचार उपलब्ध है।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि जैन, बौद्ध, वैदिक और पाश्चात्य—दर्शनों में सुखवाद को अलग—अलग प्रकार से बताया गया है, पर मूल में देखें, तो मन की शान्ति, चित्त की प्रसन्नता और सुविधापूर्ण जीवन ही सुखवाद का समर्थन करता है। सुखवाद की समीक्षा करते हुए डॉ. सागरमल जैन ने लिखा है कि सुखवाद की जैनदर्शन के अनुसार प्रमुख आलोचना यह है कि वह सुख को ही एकमात्र साध्य मानता है, जबकि चेतना के अन्य पक्ष भी समान रूप से नैतिक साध्य बनने की अपेक्षा रखते हैं। सुखवाद चेतना के मात्र अनुभूत्यात्मक—पक्ष को स्वीकार करता है और उसके बौद्धिक—पक्ष की अवहेलना करता है, यही उसका एकांगीपन है।

जैन—दार्शनिक सुखवाद को स्वीकार करते हुए भी बौद्धिक एवं ज्ञानात्मक पक्ष की अवहेलना नहीं करते और इस रूप में वे सुखवादी विचारणा के तत्त्वों को स्वीकार करते हुए भी आलोचना के पात्र नहीं बनते हैं।⁶⁷

⁶⁵ जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 128

⁶⁶ आत्मानुशासन — 28

⁶⁷ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 128

सुख और आनन्द का अन्तर -

पराधीनता व अभाव दुःख है, भौतिक-पदार्थों की प्राप्ति सुख है तथा विकारों से विमुक्ति ही आनन्द है। जहाँ विकार नहीं, वहाँ आनन्द-ही-आनन्द है। आनन्द कभी आकाश से नहीं गिरता और न ही पाताल से प्रकट होता है। वह तो आत्मा से प्रादुर्भूत सहज उपलब्धि है। सुख का आधार सत्ता नहीं, सत्य है। नीत्से ने सुख का आधार सत्ता को माना। फ्रायड की दृष्टि में सुख का मूल कारण 'काम' है। मार्क्स का अभिमत है कि 'अर्थ' के अभाव में सत्ता और काम -दोनों का कोई अस्तित्व नहीं है। इस संदर्भ में भगवान् महावीर ने कहा है - सुख न सत्ता में है, न काम में और न अर्थ में। सुख तो आत्मा में है, अपने-आप में है। जैसे फूल की सुगन्ध फूल में है, शकर की मिठास शकर में है, दीपक का प्रकाश दीपक में है, वैसे ही आत्मा का सुख आत्मा में है और आत्मा का सुख ही आनन्द है। आत्मा आनन्द का अनंत सागर है, सुख का अक्षय भण्डार है तथा निराकुलता व शान्ति का असीम कोष है।

लेकिन, आज परिस्थितियाँ इससे एकदम विपरीत हैं, जो जीवन आनन्द का कोष है, वह आज दुःख/पीड़ा का महासागर बन गया है, क्योंकि मनुष्य अभाव में जी रहा है। जो उसके पास है, वह उसका आनन्द नहीं उठाता और जो नहीं है उसके पीछे हमेशा भागता रहता है, जो अनुपलब्ध है, उसका दुःख सदा भोगता है। गीता शंकर भाष्य में कहा है - "विषय-सेवन की तृष्णा (लालसा) से इन्द्रियों का निवृत्त हो जाना ही वास्तविक सुख है।"⁶⁸ बौद्धदर्शन के उदान में कहा गया है- छोटे-बड़े सभी प्राणियों के प्रति संयम और मित्रभाव का होना ही वास्तविक आनन्द है।⁶⁹ जो इस लोक में कामसुख है और जो परलोक में स्वर्ग के सुख हैं - वे सब तृष्णा के क्षय से होने वाले आध्यात्मिक-सुख की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं

⁶⁸ इन्द्रियाणां विषयसेवातृष्णातो निवृत्तिः या तत् सुखम्। - गीता (शंकरभाष्य) 2/63

⁶⁹ अब्यापज्जं सुखं लोकं प्राणभूतेसु संयमो, - उदान 2/1

हैं।⁷⁰ अतः मानव अपने आप को यदि निग्रह करे तभी वह आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

सुख और आनन्द में अंतर –

1. वस्तुतः, सुख व्यक्ति को भौतिक-पदार्थों से प्राप्त होता है, पर आनन्द व्यक्ति की आत्मानुभूति है। जब चित्त शान्त, प्रशान्त और प्रसन्न होता है, तो आनन्द का झरना हृदय से स्फुटित होता है।
2. सुख भौतिक है और आनन्द आध्यात्मिक। भौतिक सुख बाह्य वस्तुओं के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है, अच्छी गाड़ी व लाड़ी से व्यक्ति बाह्य-रूप से सुखी हो सकता है, परन्तु वास्तविक सुख आत्मिक आनन्द है जो कि मात्र अनुभव का विषय है।
3. सुख सहजता से प्राप्त किया जा सकता है, जैसे कोई भूख के कारण, प्यास के कारण, अथवा धन के अभाव से दुःखी है तो भोजन, पानी और धन की उपलब्धता उसे सुखी बना देगी, लेकिन आनन्द की प्राप्ति आकांक्षा की समाप्ति पर ही होती है।
4. जो नहीं चाहने पर भी आ जाता है, वह दुःख है, जो चाहते हुए भी नहीं रहता, वह सुख है, जो सदाकाल बना रहता है, वह आनन्द है।
5. सुख संग्रह में है, आनन्द त्याग में है।
6. सुख दुःख को प्रशम (दबा) कर देता है। आनन्द दुःख का क्षय (खत्म) कर देता है।
7. विषय-सुख प्रतिक्षण क्षीण होकर नीरसता में परिणत होता है। इसके साथ अभाव, अशान्ति, पराधीनता, चिन्ता, जड़ता, भय आदि अगणित दुःख लगे रहते

⁷⁰ यं च कामसुखं लोके, यंचिदं दिवियं सुखं
तण्हक्खयसुखस्तेते, कलं नाग्घन्ति सोलसिं

– वही, 2/2

हैं, परन्तु आनन्द जब प्रकट होता है, तो वह उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और अन्ततः भुक्ति के सोपान तक पहुंचा देता है। वस्तुतः, सम्यक् आनन्द वही है, जो आत्मा के स्वरूप को प्रकट करने में सहायक बने।

कन्हैयालाल लोढ़ा ने अपनी पुस्तक 'दुःखरहित सुख'⁷¹ में सुख को विषय-सुख और आनन्द को आध्यात्मिकसुख कहा है। उन्होंने विषय-सुख और आध्यात्मिक-सुख की तुलना की है, जिसमें कुछ तथ्य इस प्रकार हैं -

विषय-सुख (सुख)

आध्यात्मिक-सुख (आनन्द)

- | | |
|---|--|
| 1. विषयसुख क्षीण होता है। भोग्य सामग्री व भोक्ता -दोनों के बने रहने पर भी प्रतिक्षण क्षीण होता है और क्षीण होते-होते अंत में समाप्त हो जाता है। | 1 आध्यात्मिकसुख अक्षय होता है। विषय-विकार के त्याग से जितना सुख प्रकट हुआ है, उस अवस्था के बने रहते उस सुख में क्षीणता नहीं आती। |
| 2 विषयभोग के सुख का अंत नीरसता में होता है। | 2 इसमें सदा सरसता बनी रहती है। |
| 3 यह अभावयुक्त होता है। | 3 इसमें अभाव का अभाव होता है, अर्थात् यह वैभव (संपन्नता) युक्त होता है। |
| 4 यह जड़ता लाता है। | 4 यह चिन्मय बनाता है। |
| 5 यह प्रमाद उत्पन्न करता है। | 5 यह जागरूक बनाता है। |
| 6 इसके फलस्वरूप दुःख मिलता है। | 6 यह सदा ही सुखमय रहता है। |
| 7 यह बाधा (अंतराय) युक्त होता है। | 7 इसमें बाधा उपस्थित नहीं होती, यह सदा बना रहता है। |
| 8 इसका अंत अवश्यभावी है। | 8 इसका अंत होना आवश्यक नहीं है, यह अक्षय है, अनंत है। |
| 9 यह श्रम से मिलता है। | 9 यह विश्राम से मिलता है। |

⁷¹ दुःखरहित सुख, कन्हैयालाल लोढ़ा, पृ. 53

- 10 यह मोहमय होता है। 10 यह निर्विकार एवं प्रीतिमय होता है।
- 11 इसकी तृप्ति कभी नहीं होती। 11 इससे सदा तृप्ति रहती है।
- 12 यह इन्द्रियजगत् के स्तर पर, अर्थात् बाह्य-स्तर पर प्राप्त होता है। 12 यह आंतरिक-स्तर पर उपलब्ध होता है।
- 13 यह संकीर्ण होता है। 13 यह अनंत रसयुक्त होता है।
- 14 कामनापूर्ति में इस सुख का भास मात्र होता है। वास्तविक सुख कामना पूर्ति में नहीं होता। 14 कामनानिवृत्ति व त्याग से इस सुख का अनुभव होता है, यह वास्तविक सुख होता है।
- 15 यह निजस्वरूप की स्मृति भुलाता है। 15 यह निजस्वरूप की स्मृति जाग्रत करता है।
- 16 यह वक्रता, कठोरता, क्रूरता, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि दोषों को बढ़ाता है। 16 यह भव का अंत करता है।
17. इसके भोगी को बार-बार मरना पड़ता है, अतः यह विषतुल्य है 17 यह अमृतरूप है, मृत्युरहित करता है।
18. यह निजस्वरूप से विमुक्त करता है। 18 इससे निजस्वरूप में रमणता आती है।
- 19 यह रति-अरतिमय होने से अविरति उत्पन्न करता है। नवीन भोग की पृवृत्ति को जन्म देता है। 19 यह रति-अरतिरहित विरतिमय होता है।
- 20 इसके आदि व अन्त में दुःख होता है 20 इसके आदि, मध्य एवं अंत में सुख रहता है
- 21 यह सुख-दुःख का भय पैदा करता है। 21 यह दुःख के भय से रहित करता है। अभय बनाता है।
- 22 इसे बलपूर्वक रोक नहीं सकते, इसे सुरक्षित बनाए रख नहीं सकते, जैसे जवानी, बचपन, निरोगता आदि सुख 22 इसे सुरक्षित बनाए रखने में बल व श्रम की आवश्यकता ही नहीं होती।
- 23 इसमें राग रहता है। 23 यह विरागता या वीतरागता से होता है।

- 24 यह क्षितिज के समान है, जो केवल भासित होता है, परंतु प्राप्त कभी नहीं होता है, अस्तित्वहीन होता है
- 24 यह सत्, सत्तावान, अस्तित्ववाला है।
- 25 यह पुण्यों का क्षय करने वाला है।
- 25 यह पापों का क्षय करने वाला है।
- 26 इससे व्यक्तित्व और समाज-राष्ट्र दूषित होता है।
- 26 इससे सुंदर व्यक्तित्व, समाज-राष्ट्र का निर्माण व इसमें सुंदरता आती है।

वस्तुतः, आध्यात्मिक सुख और वैषयिक सुख का संक्षिप्त में विवेचन किया है। निश्चात्मक रूप से कह सकते हैं कि संसार में कोई भी सुख ऐसा नहीं है, जिसका कारण विषयसुख न हो। समस्त दुःखों का मूल कारण विषयसुख ही है। परन्तु आनंद आत्मिक सुख है एवं वास्तविक सुख है।

—————000—————

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 12 धर्म संज्ञा

- 1. धर्म की परिभाषाएँ**
- 2. धर्म का सम्यक् स्वरूप**
- 3. धर्म की जीवन में उपादेयता**
- 4. धर्म मोक्ष का साधन**

अध्याय—12

धर्म—संज्ञा {Instinct of Religion}

संज्ञाओं का जो षोडशविध वर्गीकरण¹ है, उसमें सर्वप्रथम आहारादि चार संज्ञाओं का विवेचन किया गया है। उसके बाद दसविध संज्ञाओं में चार कषायरूप संज्ञाओं {क्रोध, मान, माया, लोभ} के साथ-साथ लोक-संज्ञा और ओघ-संज्ञा का विवेचन आता है। जहाँ तक संज्ञाओं के षोडशविध वर्गीकरण का प्रश्न है, उसमें एक संज्ञा धर्मसंज्ञा भी है। वस्तुतः धर्मसंज्ञा मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से क्षमा, मार्दव आदि धर्मों के सेवन रूप है।² आचारांगसूत्र³ में शास्त्रकार ने संज्ञा का अर्थ चेतना {Consciousness} किया है। यहाँ चेतना का तात्पर्य धार्मिकता की चेतना से है। इसमें उन तथ्यों का विवेचन होता है, जो हमें धर्म की ओर अग्रसर करते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि धर्म का सारतत्त्व भावना {Feeling} है। धर्म तर्क-वितर्क एवं वाद-विवाद का विषय न होकर अनुभूति, विश्वास एवं श्रद्धा का विषय है। यह धर्म का प्राथमिक अर्थ है।

धर्म को अंग्रेजी में 'रिलीजन' {Religion} कहा जाता है। रिलीजन शब्द रि+लीजेर से बना है। इसका शाब्दिक-अर्थ होता है — फिर से जोड़ देना। धर्म मनुष्य को मनुष्य से और आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला है। धर्म का अवतरण मनुष्य को शाश्वत शांति एवं सुख से योजित करने के लिए हुआ है,⁴ जो मानवीय एकता के आधार पर ही संभव है।

¹ 1) आचारांगसूत्र 1/1/2

2) जीवसमास, अनु. साध्वी विद्ययुतप्रभाश्री, पृ. 71

² प्रवचनसारोद्धार, सा. हेमप्रभाश्री, द्वार 146, पृ. 81

³ आचारांगसूत्र— 1/1/2, अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, पृ.4

⁴ धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म — डॉ. सागरमल जैन, पृ.2

'धर्म' शब्द⁵ व्याकरण के अनुसार 'घृञ्-धारणे' धातु में 'मन्' प्रत्यय लगाने से बनता है। घृञ् का अर्थ है — स्थापित, सुरक्षित, नित्य, सहायक और धारण किया हुआ आदि। जबकि 'मन्' प्रत्यय का अर्थ है — याद करना, मानना, पूजा करना और प्रत्यक्ष करना आदि। हिन्दू-धर्मग्रंथों और जैन-आगमों में इसी आधार पर धर्म को अलग-अलग तरह से परिभाषित किया गया है। उसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ निम्न हैं — धियते लोकः अनेन इति धर्मः —जिससे लोक को धारण किया जाए, वह धर्म है।

धरति धारयति वा लोकं इति धर्मः — जो लोक को धारण करे, वह धर्म है।

धियते यः स धर्म — जो धारण किया जाए, वह धर्म है।

महर्षि कणाद ने धर्म की व्याख्या करते हुए वैशेषिकसूत्र में लिखा है— जिससे सांसारिक-विकास तथा निःश्रेयस की प्राप्ति हो, वह धर्म है,⁶ अर्थात् वे विचार, सिद्धांत और आचरण धर्म कहलाते हैं, जिनसे मनुष्य की सांसारिक, सामाजिक-उन्नति के साथ-साथ आत्मिक-उन्नति भी हो। इस प्रकार, धर्म बड़ा व्यापक शब्द है, जिसमें मनुष्य का शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा, लोक-परलोक, कर्म, उपासना आदि सब कुछ सम्मिलित हैं।

दशवैकालिकचूर्णि में कहा गया है कि जिस तरह किसी वस्तु को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर धरा जाता है, उसी तरह संसार के प्राणियों को बुरी गति में जाने से जो बचाता है, या दुःख से छुटकारा दिलाता है, साथ ही उक्त सुख को प्राप्त कराता है या उच्च गति में पहुँचाता है, वह धर्म है।⁷ वस्तुतः, धर्म वह है, जो

⁵ क) धियते लोकाऽनेन, धरति लोकं वा घृ + मन्। —संस्कृत हिन्दी कोश, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 488

ख) धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः। —वाल्मीकि रामायण 7/59, प्रक्षेप 2/70

⁶ यतोऽम्युदयनिः श्रेयससिद्धि स धर्मः। — वैशेषिकदर्शन 1/1/2

⁷ यस्माज्जीवं नरकतिर्यग्योनि कुमानुषदेवत्वेषु प्रयतन्तं धारयतीति धर्म। उक्त च —

दुर्गतिप्रसृतान् जीवान्, यस्माद्धारयते यतः।

द्यते चैतान् शुभस्थाने, तस्माद्धर्म इति स्थितः।। — दशवैकालिक, जिनदासगणि, चूर्णि पृ.15

जीवों को पतन से उठाकर उन्नत या उच्च स्थान पर धरता है। आचार्य समंतभद्र का कहना है —“जो उत्तम स्थान पर धरता है वही धर्म है।”⁸

धर्म जीवन का एक सशक्त रूप है, जिसकी अक्षुण्ण धारा अनादिकाल से प्रवाहित होती जा रही है। धर्मचेतना जीवन जीने की कला का परम उपादेय तत्त्व है। इसी कारण, धर्म की अपरिवर्तनीय एवं अवर्णनीय विशेषताओं को जीवन के व्यवहार-पक्ष से संयोजित कर दिया गया है। मानव कोई भी हो, धर्म की जिजीविषा से विमुख नहीं हो सकता। जिसकी धर्मप्राणता नष्ट हो जाती है, उसका जीवन निस्सार, निष्प्राण और सत्त्वहीन हो जाता है।

धर्म की पाश्चात्य-विद्वानों की परिभाषा — शब्दों का वह समूह जो किसी विषय में मुख्य सिद्धांतों को पूरी तरह से स्पष्ट करता है,⁹ परिभाषा कहा जाता है —“परितः भाषते इति परिभाषाः” जो विषय को चारों ओर से वर्णित करे, वह परिभाषा है।

अनेक पाश्चात्य-दार्शनिकों ने धर्म के अर्थ को व्याख्यायित करने हेतु अनेक परिभाषाएँ दी हैं, जो धर्म के मर्म को स्पष्ट करती हैं। पाश्चात्य-विचारकों के अनुसार धर्म की वही परिभाषा निर्दोष एवं संतोषप्रद कही जा सकती है, जो धर्म के ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक {Knowing, feeling & doing or willing} पक्ष पर प्रकाश डालती हो।

बुद्धि, भावना और क्रिया —तीनों के समवेत रूप को ही धर्म कहा जा सकता है। बुद्धि का अर्थ है — ज्ञान, भावना का अर्थ है — श्रद्धा और क्रिया का अर्थ है —आचार। जैन-परम्परा के अनुसार भी श्रद्धा, ज्ञान और आचरण —तीनों धर्म हैं और ये तीनों ही मोक्ष के साधन भी हैं।¹⁰

⁸ देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्
संसार दुःखतः सत्त्वान् यो धारयत्युत्तमे सुखे। — रत्नकरण्डकश्रावकाचार, 2

⁹ परितः प्रतिताक्षरापि सर्वं विषयं प्राप्तवती गता प्रतिष्ठान।
— संस्कृत हिन्दी कोष, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 587

¹⁰ तत्त्वार्थसूत्र — 1/1

पाश्चात्य-विचारकों द्वारा धर्म की परिभाषाएँ इस प्रकार दी गई हैं¹¹ –

हीगेल² (Hegel) – "Religion is the knowledge possessed by the finite mind of its nature as absolute mind."

ई.बी. टेलर³ (E.B. Taylor) – "Religion is the belief in spiritual beings."

मैक्समूलर⁴ (Maxemuller) – "Religion is a feeling of absolute dependence."

कांट⁵ (Kant) – " Religion is the recognition of all duties as divine command ments."

मैथ्यु अरनाड⁶ (Metthew Arnold) – "Religion is morality touched with emotion."

गैलवे⁷ (Galloway) – "Religion is a man's faith in a power beyond himself whereby he seeks to satisfy. Emotional needs and gain stability of life and which he expresses in act of worship and service."

ब्राइटमैन⁸ (Edgar s. Brightman) – "Religion, then is a total experience which includes this concern this devotion and this expression."

मार्टिन्यू⁹ (Martineau) – "Religion is a belief in and wprship of an everlasting God that is divine mind and will rulling the universe and holding moral relations with mankind."

प्रो. फिलन्ट {Prof. Flint}ने धर्म की इस प्रकार की परिभाषा दी है, जो धर्म के सभी आवश्यक पहलुओं पर प्रकाश डालती है। हीगेल, ई.बी.टेलर, मैक्समूलर ने जो धर्म की परिभाषाएं दी हैं, उनमें धर्म के एकमात्र ज्ञानात्मक-पक्ष को ही स्पष्ट किया गया है। कांट ने अपनी परिभाषा में ज्ञान के साथ-साथ क्रियात्मक पहलू पर भी ध्यान दिया है, लेकिन भावनात्मक पहलू की उपेक्षा कर दी है, लेकिन दार्शनिक गैलवे, ब्राइटमैन, मार्टिन्यू और प्रो. फिलन्ट ने धर्म की जो परिभाषाएं दी हैं, उनमें विश्वास (श्रद्धा), विचार (ज्ञान) और आचार तीनों का समावेश कर लिया गया है। इसलिए यह परिभाषा निर्दोष एवं संतोषप्रद है। पाश्चात्य-परम्परा में धर्म को विविध रूप से परिभाषित किया गया है, साथ ही भारतीय-परम्परा में धर्म को अनेक रूपों में परिभाषित किया गया है। उनमें से कुछ प्रमुख दृष्टिकोण इस प्रकार हैं –

¹¹ 2-9 धर्मदर्शन – प्रो. रामेश्वर प्रसाद शर्मा, पृ. 26-28

1. धर्म नियमों या आज्ञाओं का पालन है —

जैन-परम्परा में धर्म आज्ञापालन के रूप में विवेचित है। आचारांगसूत्र में महावीर ने स्पष्ट कहा है कि मेरी आज्ञाओं के पालन में धर्म है।¹² मीमांसादर्शन में धर्म का लक्षण आदेश या आज्ञा माना गया है। उसके अनुसार, वेदों की आज्ञा का पालन ही धर्म है।¹³ जैन-परम्परा में लौकिक-नियमों या सामाजिक-मर्यादाओं को भी धर्म कहा गया है। स्थानांगसूत्र में ग्रामधर्म, नगरधर्म, संघधर्म आदि के सन्दर्भ में धर्म को सामाजिक विधि-विधानों के पालन के रूप में ही देखा गया है।¹⁴ उपर्युक्त परिभाषाओं की चर्चा डॉ. सागरमल जैन ने अपने शोध-प्रबंध में भी की है।¹⁵ इस्लाम-धर्म का अर्थ आज्ञापालन और आत्म-समर्पण करना है। इस्लाम-धर्म की यह सबसे बड़ी शिक्षा (परिभाषा) है कि अल्लाह की आज्ञा का पालन करें तथा उसके सामने सभी प्रकार से आत्मसमर्पण करें।¹⁶

2. धर्म चारित्र का परिचायक है —

जैन-परम्परा में धर्म की दूसरी परिभाषा चारित्र के रूप में दी गई है। स्थानांगसूत्र की टीका में आचार्य अभयदेव ने धर्म का लक्षण चरित्र माना है।¹⁷ प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने भी चारित्र को ही धर्म का लक्षण चरित्र माना है।¹⁸ आचारांगनिर्युक्ति के अनुसार — शास्त्र एवं प्रवचन का सार आचरण है।¹⁹ वैदिक-परम्परा में मनु ने आचार को परमधर्म कहकर धर्म का लक्षण चारित्र या

¹² आणाए मामगं धम्मं — आचारांगसूत्र 1/6/2/185

¹³ मीमांसादर्शन, 1/1/2

¹⁴ दसविहे धम्मे पण्णत्ते, तं जहा — गामधम्मे, नयरधम्मे, रद्धधम्मे ! — स्थानांगसूत्र 1/101/760

¹⁵ जैन, बौद्ध और गीता के आचरणदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन — भाग-1, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 9

¹⁶ विश्वधर्मदर्शन की समस्याएँ, डॉ. बी.एन.सिंह, पृ. 228

¹⁷ स्थानांगसूत्र, टीका, 4/3/320

¹⁸ प्रवचनसार, 1/7

¹⁹ आचारांगनिर्युक्ति 16/17

आचरण बताया है।²⁰ आचार को स्पष्ट करते हुए मनु ने यह भी बताया है कि आचरण का वास्तविक अर्थ रागद्वेष से रहित व्यवहार है। वे कहते हैं कि रागद्वेष से रहित सज्जन विद्वानों द्वारा जो आचरण किया जाता है और जिसे हमारी अन्तरात्मा ठीक समझती है, वही आचरण धर्म है।²¹

3. जो दुर्गति और दुःख से बचाए वह धर्म —

गीतार्थ ज्ञानियों ने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है —‘दुर्गतो प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः’²² —अर्थात्, दुर्गति में गिरते हुए जीवों को जिससे शुभ स्थान में धारण किया जाता है, उसे धर्म कहते हैं। प्रवचनसार की तात्पर्याख्यावृत्ति के कर्ता के अनुसार²³ — धर्म वह है, जो मिथ्यात्व, राग आदि से हमेशा संसरण कर रहे भवसंसार से प्राणियों को उपर उठाता है और विकाररहित शुद्ध चैतन्यभाव में उन्हें धर देता है।” इस दुनिया में जो भी जीव आए, वर्तमान में हैं और भविष्य में आएंगे, वे सब इस दुनिया में किसी न किसी प्रकार से दुःखी रहते रहे हैं और रहेंगे। जीवों को इन सांसारिक—दुःखों से छुटकारा पाने के लिए जो इष्ट स्थान तक पहुंचा दे, धर दे, वह धर्म है।²⁴

हेमचन्द्राचार्य ने कहा है — “दुर्गति में गिरते हुए जीवों को धारण—रक्षण करने के कारण ही उसे धर्म कहते हैं। वह संयम आदि दस प्रकार का है, सर्वज्ञों द्वारा

²⁰ मनुस्मृति, — 2/108

²¹ वही, 2/1

²² दशवैकालिकसूत्र सूत्र व्याख्या में 1/1

²³ मिथ्यात्तरागादिसंसरणरूपेण भावसंसारे प्राणिनमुद्घृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः। — प्रवचनसार —तात्पर्यवृत्ति, 7/9

²⁴ क) इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः। — सर्वार्थसिद्धि, 9/2

ख) धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्

तत्राजवज्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदव्ययः॥ — पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, 715

ग) महापुराण, 2/37

कथित है, और मोक्ष के लिए है।²⁵ परमात्मप्रकाश में कहा है – धर्म जीव को मिथ्यात्व, राग आदि परिणामों से बचाता है, और उसे अपने निज, शुद्ध भाव में स्थिर करता है।²⁶ यही भावार्थ महापुराण²⁷, चारित्रसार²⁸ और द्रव्यसंग्रह-टीका²⁹ में भी है जो धर्म को परिभाषित करते हैं। दार्शनिक ओशो ने महावीर वाणी में कहा है – “जरा और मरण के तेज प्रभाव में बहते हुए जीव के लिए धर्म ही एकमात्र द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।”³⁰ योगसार में धर्म को परिभाषित करते हुए साफ-साफ शब्दों में घोषणा की है – “सिर्फ पढ़ लेने से ‘धर्म’ धर्म नहीं हो जाता, पुस्तक और पिच्छी धारण कर लेने से भी धर्म नहीं होता, किसी मठ में रहने से भी धर्म नहीं होता, केश-लोच करने को भी धर्म नहीं कहा जा सकता। बल्कि ‘धर्म’ वह है, जिसमें राग-द्वेष को छोड़कर अपनी आत्मा में ही वास किया जाता है। तीर्थकरों ने निज-आत्मा में रहने को धर्म कहा है, क्योंकि वह (निजात्मवास) पंचम गति कहे जाने वाले ‘मोक्ष’ तक पहुंचाता है।³¹

²⁵ क) दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद धर्म उच्चते ।
संयमादिर्दशविध सर्वज्ञाक्तो विमुक्तये ॥ – योगशास्त्र 2/11

ख) ज्ञानार्णव – 2/157

ग) राजवार्त्तिक – 9/2/3

²⁶ भावविसुद्धणु अप्पणउ धम्मु भणे विणु लेहु ।
चउगइ दुक्खइं जो धरइ जीव पंडतउ एहु ॥ – परमात्मप्रकाश, 2/68

²⁷ महापुराण, 47/302

²⁸ चारित्र सार, 3

²⁹ द्रव्यसंग्रह टीका, 35

³⁰ जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥ – ओशो, महावीर वाणी, भाग.1, पृ. 348

³¹ धम्मणु पढियइं होइ धम्मु ण पोत्था पिच्छियहं ।
धम्मणु मढिय-पएसि धम्मु ण मत्था लुंचियइं ॥
राय रोस वे परिहरिवि जो अप्पाण वसेइ ।
सो धम्मु वि जिण उत्तिमउ जो पंचमगइ णेइ ॥ – योगसार, 46-48

4. धर्म कर्त्तव्य की विवेचना करता है —

जैन परम्परा में अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म को उत्कृष्ट मंगल के रूप में भी परिभाषित किया गया है।³² इस प्रकार, धर्म को विश्वकल्याणकारक बताया गया है।³³ महाभारत में धर्म की परिभाषा इस रूप में की गई है कि जो प्रजा को धारण करता है, अथवा जिससे समस्त प्रजा (समाज) का धारण या संरक्षण होता है, वही धर्म है।³⁴ गीता में धर्मशास्त्र को कार्याकार्य अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य की व्यवस्था देने वाला बताया गया है।³⁵ उपर्युक्त परिभाषाओं की चर्चा डॉ. सागरमलजी जैन ने अपने शोध-प्रबंध में भी की है।

5. धर्म परम श्रेय की विवेचना करता है —

दशवैकालिकनिर्युक्ति में धर्म को भाव-मंगल और सिद्धि (श्रेय) का कारण कहा है। आचारांगनिर्युक्ति में भी धर्म का अंतिम लक्ष्य निर्वाण बताया गया है। उसमें कहा गया है कि लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम (सदाचार) है और संयम का सार निर्वाण है।³⁶ इस प्रकार, धर्म को परमश्रेय का उद्बोधक माना गया है। कठोपनिषद् में भी श्रेय और प्रेय के विवेचन में बताया गया है कि जो श्रेय का चयन करता है, वही विद्वान् है।³⁷ आचार्य शुभचन्द्र ने धर्म को भौतिक एवं आध्यात्मिक-अभ्युदय का साधक बताया है।³⁸ जैन-परम्परा में धर्म की एक परिभाषा वस्तु-स्वभाव के रूप में भी की गई है।³⁹ जिससे स्वस्वभाव में अवस्थिति और विभावदशा का परित्याग होता है, वह धर्म है, क्योंकि स्वस्वभाव ही

³² धम्मो मंगल मुक्किद्धं, अहिंसा संजंमो तवो। — दशवैकालिकसूत्र, 1/1

³³ अबन्धूनामसौ बन्धुरसखीनामसौ सखा।
अनाथानामसौ नाथो, धर्मो विश्वैकवत्सलः॥ — योगशास्त्र, 4/100

³⁴ महाभारत, कर्णपर्व- 69/59

³⁵ गीता- 16/24

³⁶ आचारांगनिर्युक्ति, 244

³⁷ कठोपनिषद्- 2/1/2

³⁸ अमोलसूक्ति, रत्नाकर, पृ. 27

³⁹ अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड-4, पृ. 2663

हमारा परमश्रेय हो सकता है और इस रूप में वही धर्म कहा जाता है। धर्म का लक्षण यह भी बताया गया है—जो आत्मा का परिशुद्ध स्वरूप है और जो आदि, मध्य और अन्त सभी में कल्याणकारक है, वही धर्म है।⁴⁰ वैशेषिकसूत्र में धर्म का लक्षण बताते हुए कहा गया है—जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि होती है, वह धर्म है।⁴¹ सिक्ख—धर्म के प्रवर्तक गुरुनानक ने 'हृदय की पवित्रता' को ही धर्म माना है।⁴² ईसाईधर्म क्षमा और दया को धर्म मानता है। ईसा ने सूली पर चढ़ते हुए भी अपने शत्रुओं के प्रति क्षमाशीलता को कायम रखा। उनकी अन्तिम प्रार्थना थी—“भगवान! इनको क्षमा करना, ए बेचारे नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।”⁴³

धर्म की इन अनेक व्याख्याओं के उल्लेख का प्रयोजन यही है कि हम धर्म के व्यापक स्वरूप को, जो विभिन्न धर्मदर्शनों में बताया गया है, उसको हृदयंगम कर सकें। ये व्याख्याएँ स्पष्ट करती हैं कि जीवन को उच्च, पवित्र और दिव्य बनाने वाले जो भी विधि—विधान या क्रियाकलाप हैं, वे सभी धर्म के अन्तर्गत हैं।

भारतीय—परम्परा की यह विशेषता है कि उसमें धर्म की किसी एकांगी परिभाषा पर ही बल नहीं दिया गया, वरन् धर्म के विविध पक्षों को उभारने का प्रयास किया गया है। वे कहते हैं कि वेद एवं स्मृति की आज्ञाओं का परिपालन, सदाचार और आत्मवत् व्यवहार धर्म का लक्षण है। वस्तुतः, पाश्चात्य परम्परा में इन विविध परिभाषाओं का आग्रह देखा जाता है। जैन—परम्परा में कार्तिकेयानुप्रेक्षा और दशवैकालिकसूत्र में प्रदर्शित धर्म की परिभाषाएँ धर्म के सभी तथ्यों को स्पष्ट करती हैं।

दशवैकालिक⁴⁴ में धर्म को उत्कृष्ट मंगल कहा है। मंगल शब्द का अर्थ है—पाप या बुराइयों का नाश और सुख एवं कल्याण की प्राप्ति। तात्पर्य यह है कि जो

⁴⁰ वही, पृ. 2669

⁴¹ वैशेषिकसूत्र, उद्धृत — नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ. 6

⁴² धर्म—दर्शन, प्रो. रामेश्वर प्रसाद शर्मा, पृ. 414

⁴³ "Father! forgive them for they know not what they do" – Jesus

⁴⁴ दशवैकालिकसूत्र— 1/1

आचार प्रणालिका हमारे जीवन को पाप की कालिमा से बचाती है; जीवनगत बुराइयों को दूर करती है और जिससे कल्याण का पथ प्रशस्त होता है, वही धर्म है। इस व्यापक परिभाषा से जैनागमप्रतिपादित धर्म सार्वभौम धर्म का दर्जा प्राप्त कर लेता है। जिससे आत्मा का मंगल हो, वह आत्म-धर्म है। जिससे राष्ट्र का मंगल हो, वह राष्ट्रधर्म है और जिस आचार-प्रणाली से विश्व का मंगल हो, वह विश्वधर्म है। इसी प्रकार, यह परिभाषा सभी समाजों और वर्गों पर लागू होती है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा⁴⁵ में कहा गया है –

धम्मो वत्थु सहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो।।

अर्थात्, वस्तु-स्वभाव धर्म है, क्षमादि दशविध धर्म हैं, रत्नत्रय धर्म हैं और जीवों की रक्षा करना धर्म है। यह धर्म की एक व्यापक परिभाषा है। धर्म की इस परिभाषा की व्याख्या हम अगले पृष्ठों में विस्तृत रूप से करेंगे।

⁴⁵ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 478

धर्म का सम्यक् स्वरूप —

सम्यक् शब्द का अर्थ है — ठीक, सही, यथार्थ या सत्य। जैनदर्शन में धर्म के सम्यक् स्वरूप को स्पष्ट करने वाले अनेक सूत्र और गाथाएँ हैं। वे जहाँ एक ओर धर्म के बाह्य-स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं, वहीं वे दूसरी ओर, धर्म की अन्तर्वस्तु को भी स्पष्ट करती हैं।

अज्ञात और अदृश्य शक्तियों के बारे में जानने की लालसा मानव में आदिकाल से ही रही है। पाश्चात्य विद्वानों की कल्पना है कि मानव की इसी रुचि ने धर्म को जन्म दिया, किन्तु यह उचित नहीं है। आदिमयुग से लेकर सभ्य समाजों तक हमें धर्म, धार्मिक-क्रियाकाण्ड और ईश्वर सम्बन्धी विचार हमें देखने को मिलते हैं। भारत जैसे धर्मपरायण देश में तो प्रातःकाल उठने से लेकर रात्रि तक तथा जन्म से मृत्यु तक अनेक धार्मिक-क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं। उन क्रियाओं में, चाहे वे वैयक्तिक हों, सामाजिक या पारिवारिक हों, कहीं-न-कहीं धर्म-भावना निहित होती है। सामान्यतया, मानव की सम्पूर्ण क्रियाओं का केन्द्र धर्म माना गया है और जीवन का अन्तिम लक्ष्य धर्म को अर्जित कर मोक्ष को प्राप्त करना ही है, किन्तु जैन-चिन्तकों का मानना है कि धर्म ही एक ऐसा पवित्र अनुष्ठान है, जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है।⁴⁶

धर्म के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा प्रत्येक मानव में पाई जाती है। धर्म क्या है ? इसका स्वरूप कैसा है ? इन प्रश्नों के आज तक अनेक उत्तर दिए गए हैं, किन्तु जैन-आचार्यों ने धर्म का जो स्वरूप एवं उसके लक्षण बताए हैं, वे विलक्षण हैं। जिनमें से मुख्य चार लक्षणों को स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा⁴⁷ में संगृहीत किया गया है, जो धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।

रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो।।

⁴⁶ एगा धम्मपडिमा, जं से आया पज्जवजाए।

—स्थानांगसूत्र 1/1/40

⁴⁷ कार्तिकेयानुप्रेक्षा— 478

अर्थात्, वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमा आदि भावों की अपेक्षा से वह दस प्रकार का है। रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) भी धर्म है तथा जीवों की रक्षा करना भी धर्म है।

सामान्यतः, धर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। इस संसार में जो भी पदार्थ हैं, उन सबका अपना-अपना स्वभाव है, जैसे— जल का धर्म है—शीतलता, आग का धर्म है—जलाना। यहाँ धर्म से हमारा तात्पर्य वस्तु के स्वाभाविक-गुणों से होता है, किन्तु जब यह कहा जाता है कि दुःखी एवं पीड़ितजनों की सेवा करना मनुष्य का धर्म है, अथवा गुरु की आज्ञा का पालन करना शिष्य का धर्म है, तो यहाँ धर्म का अर्थ होता है—कर्तव्य या दायित्व। इसी प्रकार, जब हम यह कहते हैं कि मेरा धर्म जैन है, या उसका धर्म ईसाई है, तो यहाँ धर्म का मतलब किसी दिव्यसत्ता-सिद्धान्त या साधना-पद्धति के लिए हमारी श्रद्धा, आस्था या विश्वास से है। प्रायः हम धर्म से यही तीसरा अर्थ लेते हैं, जबकि यह तीसरा अर्थ धर्म का अभिरूढ़ अर्थ है, वास्तविक अर्थ नहीं है। सच्चा धर्म सिर्फ धर्म है, वह न हिन्दू होता है न जैन, न बौद्ध, न ईसाई, न इस्लाम। हमारा सच्चा धर्म तो वही है, जो हमारा निज स्वभाव है,⁴⁸ इसीलिए जैन आचार्यों ने 'वस्थु सहावो धम्मो'⁴⁹ के रूप में धर्म को परिभाषित किया है। प्रत्येक के लिए जो उसका निज-गुण है, स्व-स्वभाव है, वही धर्म है। स्व-स्वभाव से भिन्न जो भी होगा, वह उसके लिए धर्म नहीं, अधर्म ही होगा।

1. वस्तु का स्वभाव धर्म है —

वस्तुतः, जल का स्वभाव है—शीतलता। जल को आग पर तपा-तपाकर कितना ही गर्म कर सकते हैं, किन्तु यदि उस गर्म जल में हाथ को डालें, तो हाथ जल जाएगा, यानी तीव्र अग्नि के सम्पर्क में आने पर पानी आग जैसे स्वभाव वाला हो जाता है। यह पानी का स्वभाव नहीं, विभाव है, विकृति है, फिर भी, उस गर्म

⁴⁸ धर्म का मर्म, —डॉ. सागरमल जैन, पृ. 14

⁴⁹ भावसंग्रह, गाथा-373

पानी को यदि हम जलती हुई आग पर डाल दें, तो वह गर्म पानी आग को तो बुझा देगा, ऐसा क्यों ? क्योंकि जल का मूल स्वभाव शीतलता है, उष्णता तो अग्नि के संयोग से उत्पन्न हुई, जो पर के निमित्त से है, स्वभाव नहीं। गीता⁵⁰ में कहा है —“स्वधर्म ही श्रेष्ठ है, परधर्म भयावह है।” अर्थात् अपना धर्म वही है, जो अपना निज स्वभाव है, विभावता तो परद्रव्यों के कारण आती है, जो अधर्म है। कोई भी व्यक्ति चौबीसों घण्टे क्रोध की स्थिति में नहीं रह सकता, किन्तु शान्त रह सकता है, अतः मनुष्य के लिए क्रोध विधर्म है, अधर्म है और शान्ति स्वधर्म है।

जब तक जीव संसार में है, इसकी प्रवृत्तियों में रंगा हुआ है, तब तक उस पर कर्मों के बन्धनों की कालिख चढ़ती रहती है, जिसका परिणाम यह होता है कि जीव के जो मूल गुण हैं, जो उसका स्वभाव (चेतना) है, वही मलिन हो जाता है। अपने में से मलिनता को कालिख को जिस क्षण वह निकालकर फेंक देता है, उस क्षण वह अपने शुद्ध निज-स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। एक बार अपने इस शुद्ध स्वभाव को पा लेने के बाद फिर उसमें मलिनता नहीं आती, अतः आत्मा या चेतना का जो स्वभाव होगा, वही हमारा वास्तविक धर्म होगा। धर्म के स्वरूप को समझने के लिए 'चेतना' के स्वलक्षण को जानना होगा। चेतना क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवतीसूत्र⁵¹ में भगवान् महावीर और गौतम के बीच हुए एक संवाद से मिलता है —

गौतम पूछते हैं, —“भगवान्! आत्मा क्या है ? और आत्मा का अर्थ या साध्य क्या है ?” महावीर उत्तर देते हैं — “गौतम! आत्मा का स्वरूप 'समत्व' है और समत्व को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है।”

यह बात न केवल दार्शनिक-दृष्टि से सत्य है, अपितु जीवशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से भी सत्य है। जीवशास्त्र {Biology} के अनुसार, जीवन का लक्षण है —आन्तरिक और बाह्य-संतुलन को बनाए रखना। फ्रायड नामक सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक का कथन है — चैत-जीवन और स्नायुजीवन का स्वभाव यह है कि

⁵⁰ स्वधर्म निधनं श्रेय परधर्मो भयावहः — गीता, 3/35

⁵¹ भगवतीसूत्र -1/9

वह विक्रोभ और तनाव को मिटाकर समत्व की स्थापना करता है। विक्रोभ, तनाव और मानसिक-द्वन्द्वों से ऊपर उठकर शान्त, निर्द्वन्द्व मनःस्थिति को प्राप्त करना — यह हमारी स्वाभाविक अपेक्षा है और यही धर्म है। आचारांगसूत्र⁵² में “समियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए” कहकर धर्म के स्वरूप को स्पष्ट किया है। कहा है — समता धर्म है, विषमता अधर्म है। जिस प्रकार आत्मा ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है (अप्पा णाणं, णाणं अप्पा), उसी तरह समता आत्मा और धर्म भी एक रूप है।

2. क्षमा आदि दस प्रकार के भाव धर्म हैं —

धर्म से आशय जहाँ वस्तु के स्वभाव से है, वहीं क्षमा आदि दस सद्गुण भी धर्म कहे गए हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य — ये दस धर्म गिनाए गए हैं।⁵³ ये सभी धर्म वस्तुतः धर्म की अपेक्षा धार्मिक-कर्तव्य हैं, जिनके निर्वाह से मनुष्य अपने स्व-स्वभाव में स्थित हो सकता है। ये दस धर्म मनुष्य के कर्तव्यों की ओर संकेत करते हैं कि उसे क्या करना चाहिए ? उसे अपने स्वभाव में स्थित होने के लिए दूसरों को क्षमा कर देना चाहिए, विनम्र होना चाहिए, कुटिलता से बचना चाहिए, किसी के प्रति भी ममत्व नहीं रखना चाहिए इत्यादि। मनुष्य के ये सभी साधारण कर्तव्य हैं।

⁵² आचारांगसूत्र, 1/8/3

- ⁵³ 1) उत्तमखममद्वज्जव सच्चसउच्चं च संजमं चेव ।
तवचागमकिंचण्हं, बम्ह इदि दसविहो धम्मो ॥ — समणसुत्तं, गाथा 84
- 2) दसविधे समणधम्मे पण्णत्ते, तं जहा—
खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे — स्थानांगसूत्र 10/16
- 3) समवायांगसूत्र, 10
- 4) उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्य — संयमतपस्त्यागाकिंचनब्रह्मचर्याणिः धर्मः — तत्त्वार्थसूत्र 9/6
- 5) धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः
धीर्विधा सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ — मनुस्मृति
- 6) द्वादशानुप्रेक्षा, 71—80

इन कर्तव्यों में कुछ कर्तव्य स्वयं से संबंधित हैं तथा कुछ अन्य से। मार्दव, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य मूलतः वैयक्तिक सदगुण हैं। क्षमा, आर्जव, सत्यादि सामाजिक-सदगुण के साथ वैयक्तिक-सदगुण भी हैं। चूंकि समाज के बीच में कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं हो सकती, इसलिए इन सदगुणों को भी वैयक्तिक और सामाजिक दोनों कोटियों में रखा जा सकता है। ये एकान्तिक सदगुण नहीं हैं।

धर्म के इन दसों लक्षणों में से प्रत्येक के साथ 'उत्तम' विशेषण लगाया जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि धर्म के यह दसों लक्षण 'धर्मसंज्ञा' को तभी प्राप्त कर पाएंगे, जबकि वे 'उत्तम' श्रेणी के होंगे। पूजा या ख्याति के लिए क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि को जीवन-पद्धति में स्वीकार कर लेना कभी शुद्ध धर्म का स्वरूप नहीं है,⁵⁴ चूंकि उनमें 'उत्तमता' हो ही नहीं सकती है,⁵⁵ इसलिए ये धर्म नहीं होंगे।

"अक्सर हम राग-द्वेष, घृणा, आसक्ति, ममत्व, तृष्णा, काम, क्रोध, अहंकार आदि को अधर्म (पाप) कहते हैं और क्षमा, शान्ति, अनासक्ति, निर्वेरता, वीतरागता, विरागता, निराकुलता आदि को धर्म कहते हैं।"⁵⁶ चूंकि क्षमा, आदि धर्म धारण करने से नए कर्मों का आना (आस्रव) तो बन्द हो ही जाता है, साथ ही पूर्व में बंधे कर्म भी निर्जरित होने लगते हैं और जीव को 'मोक्ष-पद' पाना सहज हो जाता है, इसी आशय से इन दसों को 'धर्म' कहा गया है।

3. रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) भी धर्म का स्वरूप हैं —

जैनदर्शन में दस सामान्य धर्मों के अतिरिक्त कुछ विशेष धर्म भी हैं जो मुनियों और सामान्यजन के लिए अलग-अलग निर्धारित किए गए हैं। जो धर्म के स्वरूप

⁵⁴ क) इष्ट प्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम्। — सर्वार्थसिद्धि, 9/6

ख) राजवार्तिक, 9/6/26

⁵⁵ चारित्रसार, 58/1

⁵⁶ धर्म का भर्म, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 16

को स्पष्ट करते हैं। धर्म के दो रूप माने गए हैं – 1. श्रुतधर्म, 2. चारित्रधर्म।⁵⁷ श्रुतधर्म का एक अर्थ है – जीवादि तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान और उनके प्रति श्रद्धा। चारित्रधर्म का अर्थ है – संयम और तप। चारित्रधर्म दो प्रकार का बताया गया है,⁵⁸ एक अनगारधर्म और दूसरा आगारधर्म। अनगारधर्म श्रमण-धर्म या मुनिधर्म है, जबकि आगार-धर्म गृहस्थ या उपासकधर्म है।

धर्म के सम्बन्ध में चाहे जितने ही मत बना लिए जाएं, परन्तु जब तक वे मोक्ष का निमित्त न बनें, तब तक वे एक तर्कजाल ही माने जाएंगे। आगमानुसार – धर्म मोक्ष का कारण तभी बन पाता है, जब वह सम्यक्त्व से युक्त हो।⁵⁹ चाहे मुनि हो या श्रावक, धर्माचरण में सम्यक्त्व होना जरूरी है, तभी वह 'धर्मसंज्ञा' को प्राप्त कर पाता है, क्योंकि दान, ब्रह्मचर्य, उपवास, अनेक प्रकार के व्रत, यहाँ तक कि मुनिलिंग को भी धारण करना तभी सार्थक होता है, जब व्यक्ति सम्यक्त्व से संयुक्त हो। इसके बिना ये सब संसारवृद्धि के कारण होते हैं।⁶⁰

धर्म का चरम लक्ष्य मुक्ति (मोक्ष) है और आत्मा की कर्मफल की विशुद्धता एवं मोह एवं क्षोभ से रहितता ही मोक्ष है। मोक्षरूपी मेरु पर पहुंचने के लिए रत्नत्रय-रूपी सीढ़ियाँ चाहिए, तभी वह अपने गन्तव्य तक पहुंच सकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय कहा गया है। सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचरण ही मोक्ष का मार्ग है।⁶¹

⁵⁷ स्थानांगसूत्र 2/1

⁵⁸ वही, 2/1

⁵⁹ क) एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुब्बयं मणियं।
सागाराणगाराणं उत्तमं सुहसंपजुते हि।। – बारह अनुप्रेक्षा, 68

ख) न धर्मस्तद्विना क्वचित्। – पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, 717

⁶⁰ दाणं पूजा सीलं उपवासं बहुविहंपि खिवणंपि।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्मविणा दीहसंसारं।। – रयणसार, 10

⁶¹ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। – तत्त्वार्थसूत्र, 1/1

सम्यग्दर्शन —

समस्त रत्नों का सारभूत रत्न एवं मुक्तिरूपी प्रासाद पर आरोहण करने का प्रथम सोपान है — सम्यग्दर्शन। वस्तुतः सम्यक्दर्शन शब्द सम्यक्+दर्शन —इन दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसका सीधा और सरल अर्थ है — सही ढंग से या अच्छी प्रकार से देखना, "वस्तुस्वरूपस्य यः निश्चितिः तद्दर्शनम्,"⁶² अर्थात् तत्त्व अथवा पदार्थ अपने स्वरूप से जैसे हैं, उनको उसी रूप में देखना सम्यग्दर्शन है। राग और द्वेष आँख पर चढ़े रंगीन चश्मे के समान हैं, जो सत्य को विकृत करके प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः राग-द्वेष और पूर्वाग्रह के घेरे से ऊपर उठकर सत्य का दर्शन करना ही सम्यग्दर्शन है।

जैन-परम्परा की दृष्टि से —(1) तत्त्व के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धा करना, (2) सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर श्रद्धा रखना, (3) आत्मतत्त्व पर श्रद्धा रखना और (4) जिनेश्वर देव के वचनों पर श्रद्धा रखना ही सम्यग्दर्शन है, लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि दृष्टि के निर्दोष और निर्विकार होने पर ही सत्य का यथार्थ रूप में दर्शन होगा और उस पर श्रद्धा या आस्था होगी। सम्यक्दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ भक्तिमार्ग के प्रभाव से जैनधर्म में आया है। मूल अर्थ तो दृष्टिपरक ही है, लेकिन श्रद्धापरक अर्थ भी साधना के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

समस्त जगत् के तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है,⁶³ अथवा तत्त्व रुचि भी सम्यग्दर्शन है।⁶⁴ आप्त, आगम और तत्त्वार्थ-श्रद्धा से सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है,⁶⁵ इसलिए अपने-अपने स्वभाव में स्थित तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन

⁶² जैनदर्शन, (सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्र के परिप्रेक्ष्य में) डॉ. साध्वी सुभाषा, पृ. 27

⁶³ तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। — तत्त्वार्थसूत्र 1/2

⁶⁴ 1) मोक्षपाहुड — 38

2) ज्ञानार्णव — 6/5

3) अभिधानराजेन्द्रकोश, खंड-5 पृष्ठ 24, 25

4) अत्तागमतच्चाणं सददहणादो हंवइ सम्मत — नियमसार, 5

⁶⁵ 1) अत्तागमतच्चाणं, जं सददहणं सुणिम्मलं होइ।

संकाइदोसरहियं, तं सम्मतं मुणोयव्वं।।

— वसुनन्दिश्रावकाचार, गा. 6

कहते हैं। समयसार की टीका में कहा गया है कि जीवादि जो नौ तत्त्व हैं, भूतार्थनय से उनको जानना एवं मानना ही सम्यग्दर्शन है।⁶⁶

आधारभूत तथ्य को तत्त्व कहते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र⁶⁷, योगशास्त्र⁶⁸ और नवतत्त्व-प्रकरण⁶⁹ में भी नौ या सात तत्त्वों के अस्तित्व में सद्भावपूर्वक श्रद्धा रखना ही 'सम्यक्त्व' है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह के अनुसार – जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है और वही आत्मा का स्वरूप है।⁷⁰ आगे इसी सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि वीतराग सर्वज्ञ श्री जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए जो शुद्ध जीव आदि तत्त्व हैं, उनमें चल, मलिन व अवगाढ़ दोषों से रहित जो श्रद्धान है, रुचि है, अथवा, 'जो जिनेन्द्र ने कहा, वही सत्य है – इस प्रकार की निश्चयरूप बुद्धि का नाम सम्यग्दर्शन है और वह सम्यग्दर्शन अभेदनय से आत्मा का स्वरूप है, अर्थात् आत्मा का परिणाम है।⁷¹ आचारांगसूत्र में सम्यग्दर्शन शब्द आत्मानुभूति, आत्मसाक्षात्कार, साक्षीभाव आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।⁷² आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में – व्यवहारनय से जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, किन्तु निश्चयनय से आत्मा का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है।⁷³

⁶⁶ जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थनाभिगतानि सम्यग्दर्शनम् – समयसार, 13

⁶⁷ तहियाणं तु भावाणं, सभावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्सए सम्मए तं वियाहिणं।। – उत्तराध्ययनसूत्र 28/15

⁶⁸ रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यक्श्रद्धानमुच्यते – योगशास्त्र, 19 (प्रथम प्रकाश)

⁶⁹ जीवाइनवपत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं
भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणेवि सम्मत्तं।। – नवतत्त्वप्रकरण, गा. 51

⁷⁰ जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रुवमप्पणो तं तु – बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 41 (पूर्वार्ध)

⁷¹ 'जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धजीवदितत्त्वविषये चलमलिनावगाढ़रहितत्वेन श्रद्धानं रुचिर्निश्चयइदमेवेत्थमेवेति निश्चयबुद्धिः सम्यग्दर्शनम्। 'रुवमप्पणो तं तु' तच्चाभेदनयेन रूपं स्वरूपं तु पुनः, कस्यात्मन आत्मपरिणाम इत्यर्थः। – बृहद्द्रव्यसंग्रह, व्याख्या, (तृतीय अधिकार), गा. 41, पृ. 130

⁷² आचारांगसूत्र – 3/2/28 (अंगसुत्ताणि, लाडनू, खंड-1, पृष्ठ-29)

⁷³ 1) जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं, जिणवरोहिं पण्णतं
ववहाराणिच्छयदो; अप्पाणं हवइ सम्मत्तं।। – दर्शनपाहुड, 20

2) सर्वार्थसिद्धि/तात्पर्यवृत्ति-155/220/11

परवर्तीकाल में जैन-साहित्य में प्रायः दर्शन शब्द देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा और भक्ति के अर्थ में रूढ़ हो गया है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार—सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में श्रद्धा सम्यक्त्व है।⁷⁴ सम्यक्त्व की यह व्याख्या मुख्यतः गृहस्थ-श्रावक की अपेक्षा से कही गई है, अर्थात् श्रावक को अरिहंतदेव के प्रति पुण्य-भाव, सुगुरु के प्रति सेवा-भक्ति के परिणाम तथा धर्मतत्त्व के प्रति अनुष्ठान भाव रखना चाहिए। इस प्रकार, देव, गुरु एवं धर्म में श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है।⁷⁵ मोक्षपाहुड,⁷⁶ आवश्यकसूत्र⁷⁷, कार्तिकेयानुप्रेक्षा⁷⁸, योगशास्त्र⁷⁹ आदि में अठारह दोषों से विरहित सुदेव, निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग के उपदेशक सुगुरु तथा हिंसा आदि से रहित सुधर्म है, इन सभी में श्रद्धा का होना सम्यग्दर्शन है। संक्षेप में तत्त्व के दो भेद हैं,⁸⁰ एक-जीव और दूसरा-अजीव। जीव का लक्ष्य शिव है, किन्तु उसका बाधक तत्त्व अजीव है। जीव शिव बनना चाहता है, पर अजीव-तत्त्व जीव में पय-पानीवत् घुल-मिल जाने के कारण जीव अपना शुद्ध स्वरूप पहचान नहीं पाता है। वह अनादि/अनन्तकाल से अपने अशुद्ध रूप को ही शुद्ध रूप समझने की भयंकर भूल कर रहा है, अपने-आपको शुद्ध चैतन्यस्वरूप न मानकर शरीर से, इन्द्रियों से, मन से कर्मोदयजनित मनुष्य-पर्यायों आदि से अभिन्न समझता रहा है, जो मिथ्या धारणा है।

⁷⁴ या देवे देवताबुद्धि, गुरौ च गुरुतामतिः
धर्मं च धर्मधीः शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते — योगशास्त्र 3/2

⁷⁵ धर्मसंग्रह, प्रथम भाग

⁷⁶ हिंसा रहित धम्मे अठारहदोसवज्जिए देवे।
निग्गंथ पव्वयणे सहहणं होइ सम्मतं॥ — मोक्षपाहुड मूल 90

⁷⁷ अरिहन्तो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णतं तत्तं इअ सम्मतं मए गहियं॥ — आवश्यकसूत्र

⁷⁸ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूल, 317

⁷⁹ या देवे देवताबुद्धिगुरौ च गुरुतामतिः।
धर्मं च धर्मधीः शुद्धा सम्यक्त्वमिदमुच्यते॥ — योगशास्त्र 2/2

⁸⁰ जीवरासी चेव अजीवरासी चेव — स्थानांगसूत्र 2/4/95

इसे ही जैन-दार्शनिकों ने मिथ्यात्व कहा है।⁸¹ रात्रि के अन्धकार को दूर किए बिना जैसे सहस्रत्ररश्मि सूर्य उदित नहीं होता, वैसे ही मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को नष्ट किए बिना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता।⁸² जब आत्मा में सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव होता है, तब वह आत्मा जीव और अजीव का पृथक्त्व समझ लेता है। मैं जड़ नहीं चेतन हूँ, मेरा स्वरूप शुद्ध चेतना है, मुझमें राग, द्वेष आदि की जो विकृति है, वह जड़ के संसर्ग से है, मैं सम्प्रति कर्मों से बद्ध हूँ, किन्तु कर्मों को नष्ट कर एक दिन मैं अवश्य ही मुक्त बनूंगा—इस प्रकार की निष्ठा उसके अन्तर्मानस में जाग्रत होती है और यही भावना सम्यग्दर्शन को निर्मल कर मोक्ष-पथ पर अग्रसर करती है।

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के दो कारण हैं— एक, नैसर्गिक और दूसरा, अधिगमिक⁸³। जो दूसरे के उपदेश के बिना स्वयं अपने-आप से उत्पन्न होता है, उसे नैसर्गिक-सम्यग्दर्शन कहते हैं तथा गुरु आदि के उपदेश—श्रवण, मनन, अध्ययन या परोपदेश से जो निष्ठा जाग्रत होती है, वह अधिगमिक-सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के लक्षण⁸⁴ —

जैनदर्शन में सम्यक्त्व के गुण-रूप पांच लक्षण स्वीकार किए हैं। किसी प्राणी में सम्यग्दर्शन है या नहीं, इसकी पहचान के लिए ज्ञानियों ने सम, संवेग, निर्वेद,

⁸¹ मिथ्या विपरीता दृष्टिर्यस्य स मिथ्यादृष्टिः — कर्मग्रन्थ टीका-2

⁸² अनिर्द्वय तमो नैशं; यथा नोदयतेऽशुमान्।
तथानुदभिद्य मिथ्यात्वतमो नोदेति दर्शनम्॥ — महापुराण, 119/9/200

⁸³ 1) तत्रिसर्गादधिगमाद्वा — तत्त्वार्थसूत्र 1/3
2) ज्ञानार्णव — 6/6
3) स्थानांगसूत्र — 2/1/70
4) पंचाध्यायी — 2/658-659
5) अनगारधर्माभूत — 2/47/171

⁸⁴ शम-संवेग-निर्वेदाऽनुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणैः।
लक्षणैः पंचभिः सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते॥ — योगशास्त्र 2/15

अनुकम्पा व आस्तिक्यरूपी लक्षणों का वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन के गुणों (लक्षण) का विवेचन इस प्रकार है —

1. सम —

सम का अभिप्राय है— समता। सभी प्राणियों को अपने ही समान समझना। 'शम' का अभिप्राय क्रोधादि कषायों का निग्रह करना तथा मिथ्याग्रह, दुराग्रह का शमन है। 'श्रम' यहाँ पुरुषार्थ और परिश्रम —दोनों ही रूपों में वर्णित है। सम्यक्त्वी अपनी आत्मा की उन्नति के लिए किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा न करके स्वयं ही पुरुषार्थ करता है और परिश्रम करके मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है।

2. संवेग —

जिससे कषायों का वेग 'सम्' हो जाए, वही संवेग है। उत्तराध्ययनसूत्र⁸⁵ के टीकाकारों ने संवेग का अर्थ मोक्ष की अभिलाषा (रुचि) किया है। वस्तुतः, मन में क्रोध आदि के भाव (वेग) आने पर प्रतिक्रिया नहीं करना ही संवेग (सम्+वेग) है।

संवेग के मोक्षाभिलाषी अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य रामचन्द्रसूरि लिखते हैं —“दैवीय—सुखों को भी दुःखरूप मानना (जो यथार्थ में सुखाभास है, किन्तु परिणामतः दुःखस्वरूप है) तथा एकमात्र मोक्ष का सुख ही सच्चा सुख है —ऐसा मानकर एवं मोक्ष के स्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा रखना ही संवेग है।”⁸⁶

3. निर्वेद —

यह सम्यक्त्व का तीसरा लक्षण है। उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में निर्वेद का अर्थ विषयों से विरक्ति है, अर्थात् सांसारिक—प्रवृत्तियों के प्रति उदासीन—भाव निर्वेद है। निर्वेद साधना—मार्ग में अग्रसर होने में अत्यन्त सहायक होता है। इससे निष्काम भावना तथा अनासक्त—दृष्टि का विकास होता है। 'निर्गत वेद यस्मिन् स निर्वेद' व्युत्पत्तिपरक व्याख्या के अनुसार — क्रोध आदि कषायों के वेदन का अभाव निर्वेद

⁸⁵ उत्तराध्ययनसूत्र टीका, (शान्त्वाचार्य), पत्र 577

⁸⁶ सम्यग्दर्शन, (रामचन्द्रसूरि), पृष्ठ—284

है। अर्थात् मन में क्रोध आदि से सम्बन्धित संकल्प-विकल्प का अभाव होना निर्वेद है। निर्वेद के प्रभाव से जीव आरम्भ का परित्याग कर संसार-मार्ग का विच्छेद करता है और मुक्ति को उपलब्ध करता है।⁸⁷

4. अनुकम्पा —

अनुकम्पा शब्द अनु+कम्पन के योग से बना है; 'अनु' अर्थात् तदनुसार एवं 'कम्पन', अर्थात् अनुभूति है। इस प्रकार, दूसरे व्यक्ति की अनुभूति का स्वानुभूति में बदल जाना अनुकम्पा है। दूसरे शब्दों में, किसी प्राणी के दुःख से पीड़ित होने पर उसी के अनुरूप दुःख की अनुभूति का होना अनुकम्पा है। इसे समानुभूति भी कहा जा सकता है। परोपकार की प्रवृत्ति मूलतः अनुकम्पा के सिद्धान्त पर आधारित है। अनुकम्पा से ही 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का उद्घोष स्फुटित होता है।

5. आस्तिक्य —

'अस्ति भावं आस्तिक्यम्' — अस्तित्व (सत्ता) में विश्वास आस्तिक्य है। अस्ति-है; शाश्वत रूप से है। जैनदर्शन के अनुसार नौ तत्त्वों एवं षटद्रव्यों की सत्ता को स्वीकार करने वाला ही आस्तिक्य है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व —

मानव-जीवन के व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक —दोनों क्षेत्रों में सम्यग्दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यथार्थ दृष्टिकोण एवं सम्यक्श्रद्धान के अभाव में जीवन की आध्यात्मिक-विकासयात्रा असम्भव है। उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्दर्शन का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए इसे मोक्ष का मूल कारण माना गया है। कहा गया है — "दर्शन अर्थात् अनुभूति के बिना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र प्राप्त नहीं होता और चारित्र के बिना मोक्ष (कर्मक्षय) नहीं होता है।"⁸⁸ इस संदर्भ में मनुस्मृति में भी कहा

⁸⁷ 1) उत्तराध्ययनसूत्र, 29/3

2) उत्तराध्ययनसूत्र, दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका महत्त्व — साध्वी डॉ. विनीत प्रज्ञा पृ. 310

⁸⁸ उत्तराध्ययनसूत्र, 28/30

गया है – “सम्यग्दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति को कर्म का बंध नहीं होता है, लेकिन सम्यग्दर्शन से विहीन व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता रहता है।”⁸⁹ बौद्धदर्शन में भी मिथ्या दृष्टिकोण को संसार का किनारा एवं सम्यक् दृष्टिकोण को निर्वाण का किनारा माना गया है।⁹⁰ सम्यग्दर्शन के श्रद्धापरक अर्थ के सन्दर्भ में गीता में भी कहा गया है कि – श्रद्धावाल्लभते ज्ञानम्, अर्थात् श्रद्धावान् ही ज्ञान को प्राप्त करता है।⁹¹ आध्यात्मयोगी आनन्दघनजी लिखते हैं कि जिस प्रकार राख पर लीपना व्यर्थ है, उसी प्रकार शुद्ध श्रद्धा के बिना समस्त क्रिया व्यर्थ है,⁹² इसीलिए ‘सम्यग्दर्शन’ को ‘मुक्ति का अधिकार-पत्र’ कहा जाता है।⁹³

सम्यग्दर्शन जीवन की अमूल्य निधि है। जिसे यह अमूल्य निधि प्राप्त हो जाती है, वह शूद्र भी देवतुल्य है – ऐसा तीर्थकरों ने कहा है।⁹⁴ कहा जाता है कि श्रीकृष्ण के पास सुदर्शन-चक्र था, जिससे सम्पूर्ण शत्रुओं को पराजित करके वे त्रिखण्ड के अधिपति बन गए। यदि आत्मारूपी कृष्ण के भी सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शनचक्र है तो वह भी कषायरूपी शत्रुओं को पराजित कर एक दिन त्रिलोकीनाथ बन सकता है। कहा गया है कि धर्मरूपी मोती सम्यग्दर्शनरूपी सीप में ही पनपता है।

सम्यग्ज्ञान –

रत्नत्रय में दूसरा रत्न सम्यग्ज्ञान है, जो धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करता है। सभी आध्यात्मिक-दर्शनों में ज्ञान को आत्मा का मूल गुण माना गया है। ज्ञान के द्वारा ही व्यक्ति अपने हित-अहित, उचित-अनुचित, श्रेय-प्रेय अथवा हेय-ज्ञेय एवं

⁸⁹ सम्यक्दर्शन सम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्धयते
दर्शनेन विहीनस्तु, संसारं प्रतिपद्यते।

– मनुस्मृति, 6/74

⁹⁰ अंगुत्तरनिकाय – 10/12 (उद्धत-जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन)

⁹¹ गीता – 17/3

⁹² आनन्दघन चौबीसी-स्तवन

⁹³ जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, द्वि.भाग, डॉ.सागरमल जैन, पृ.51

⁹⁴ रत्नकरण्डश्रावकाचार-28

उपादेय का बोध प्राप्त कर सकता है। जैनदर्शन में ज्ञान को मुक्ति का अनन्य साधन माना गया है। ज्ञान अज्ञान एवं मोहजन्य अन्धकार को नष्ट कर सर्वतथ्यों (यथार्थता) को प्रकाशित करता है।⁹⁵ सत्य के स्वरूप को समझने का एकमेव साधन ज्ञान ही है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—ज्ञान ही मनुष्य-जीवन का सार है,⁹⁶ लेकिन धर्म के स्वरूप को समझने के लिए एवं मोक्षमार्ग की साधना के लिए समीचीन ज्ञान कौनसा है, इसे जानने के लिए ज्ञान के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

जैन-धर्मदर्शन में ज्ञान के दो रूप माने गए हैं—1. सम्यक्ज्ञान, 2. मिथ्याज्ञान। सम्यक्ज्ञान के लिए जो आधार प्रस्तुत किया गया, वह यह है कि तीर्थकरों के उपदेशरूप गणधरप्रणीत जैनागम यथार्थज्ञान है और शेष मिथ्याज्ञान है,⁹⁷ किन्तु एकान्ततः ऐसा भी नहीं है। नन्दीसूत्र⁹⁸ और अभिधानराजेन्द्रकोश⁹⁹ में कहा है कि एक यथार्थ दृष्टिकोण वाले (सम्यक्दृष्टि) के लिए मिथ्या श्रुत (जैनेतर आगम ग्रन्थ) भी सम्यक्श्रुत है, जबकि एक मिथ्यादृष्टि के लिए सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत है। जैनाचार्यों ने यह धारणा प्रस्तुत की थी कि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण शुद्ध है, सत्यान्वेषी है, तो उसको जो भी ज्ञान प्राप्त होगा, वह भी सम्यक् होगा। इसके विपरीत, जिसका दृष्टिकोण दुराग्रह, दुरभिनिवेश से युक्त है, जिसमें यथार्थ लक्ष्योन्मुखता और आध्यात्मिक-जिज्ञासा का अभाव है, उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

जैनदर्शन में मोक्षमार्ग के लिए उपयोगी ज्ञान को ही सम्यक्ज्ञान कहा गया है। जिस ज्ञान से आत्मस्वरूप का बोध नहीं होता अथवा हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक नहीं होता, वह ज्ञान मिथ्यारूप होता है एवं मोक्षप्राप्ति के लिए अनुपयोगी

⁹⁵ उत्तराध्ययनसूत्र, 32/2

⁹⁶ दर्शनपाहुड, 31

⁹⁷ अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड-7, पृ. 515

⁹⁸ नन्दीसूत्र -सूत्र, 41

⁹⁹ 1) अभिधानराजेन्द्रकोश, 7, पृ. 514

2) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1, डॉ. सागरमल जैन, पृ.72

होता है।¹⁰⁰ जिस व्यक्ति में ज्ञान और प्रज्ञा होती है, वही निर्वाण के समीप होता है। गीताकार का कथन है कि अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशययुक्त व्यक्ति विनाश को प्राप्त होते हैं,¹⁰¹ जबकि ज्ञानरूपी नौका का आश्रय लेकर पापी-से-पापी व्यक्ति पापरूपी समुद्र से पार हो जाता है।¹⁰² ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है।¹⁰³ इस जगत् में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला अन्य कुछ नहीं है।¹⁰⁴

वस्तुतः, सम्यग्ज्ञान ही सच्चे धर्म और सुख का कारण है। जब तक सम्यग्ज्ञान नहीं होता तब तक विकारों का विनाश होकर विचारों का विकास नहीं होता, इसीलिए दशवैकालिकसूत्र में स्पष्ट कहा है कि पहले ज्ञान है, फिर दया अर्थात् चारित्र।¹⁰⁵ इससे यह स्पष्ट होता है कि सम्यग्ज्ञान का स्थान चारित्र से भी पहले है।

सम्यक्चारित्र –

निश्चयदृष्टि से चारित्र का सच्चा अर्थ समभाव या समत्व की उपलब्धि है। जैनदर्शन में चरित्र ही धर्म है— चारित्तं खलु धम्मो।¹⁰⁶ इस धर्म के अहिंसा, संयम और तप— ये तीन भेद हैं।¹⁰⁷ उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है —‘जो कर्म के चय (संचय) को रिक्त करे, वह चारित्र है।¹⁰⁸ चरित्र की यही व्याख्या निशीथभाष्य में भी उपलब्ध होती है।¹⁰⁹ आध्यात्मिक-जीवन की पूर्णता चारित्र के माध्यम से ही प्राप्त

¹⁰⁰ धम्मपद – 372

¹⁰¹ गीता- 4/40

¹⁰² वही –4/36

¹⁰³ वही –4/36

¹⁰⁴ वही –4/36

¹⁰⁵ पढमं णामं तओ दया, एवं चिद्दुइ सव्वसंजए” – दशवैकालिकसूत्र 4/10

¹⁰⁶ प्रवचनसार, गाथा 7

¹⁰⁷ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो। – दशवैकालिकसूत्र, 1/1

¹⁰⁸ उत्तराध्ययनसूत्र, 28/33

¹⁰⁹ निशीथभाष्य, उद्धृत जैनदर्शन और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 125

होती है। आचारांगनिर्युक्ति में कहा गया है — ज्ञान का सार आचरण है और आचरण का सार निर्वाण या परमार्थ की उपलब्धि है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार, चित्त अथवा आत्मा की वासनाजन्य मलिनता और अस्थिरता को समाप्त करना सम्यक्चारित्र है।¹¹⁰

वस्तुतः, चित्र का शरीर से व चरित्र का सम्बन्ध आत्मा से है। भारतीय जनमानस चित्र को आदर की दृष्टि से देखता है, फिर भी वह चित्र की प्रतिष्ठा में उतना श्रद्धावान् नहीं जितना चरित्र में है, क्योंकि चरित्र गुण को प्रतिबिम्बित करता है और सम्यक् आचरण ही व्यक्ति को धर्म में स्थिर करता है।

दूसरे अर्थ में स्वरूप में रमण करना ही चारित्र है, यही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है।¹¹¹ द्रव्य जिस समय जिस भाव—रूप अर्थात् पर्याय में परिणमन करता है, उस समय वह उसी रूप में होता है —ऐसा कहा गया है, इसलिए धर्मपरिणत आत्मा को धर्म समझना चाहिए। आध्यात्म—साधना में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र —इन तीनों का गौरवपूर्ण स्थान है।¹¹² दृष्टि की विशुद्धि से ज्ञान विशुद्ध होता है¹¹³ और ज्ञान की विशुद्धि से ही चारित्र निर्मल होता है¹¹⁴ और इन तीनों के सम्मिलित अर्थ को धर्म कहते हैं।

4. जीवों की रक्षा करना धर्म है —

धर्म का चतुर्थ स्वरूप जीवों की रक्षा करना है। भारतीय—चिन्तकों ने और जैनधर्म में अहिंसा का जितनी गहराई से चिन्तन किया है, उतना विश्व के अन्य

¹¹⁰ 1) आचारांगनिर्युक्ति —244

2) जैन, बौद्ध और गीता के आचार—दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग—2, पृष्ठ 84

¹¹¹ स्वरूपे चरणं चारित्रं। स्वसमय प्रवृत्तिरिक्तार्थः तदेव वस्तुस्वभावत्माद्धर्मः। — प्रवचनसार, गा.7 वही, गाथा—8

¹¹² तिविहे सम्मे पण्णत्ते, तं जहा—णाणसम्मे, दंसणसम्मे चरित्तसम्मे। — स्थानांगसूत्र 3/4/114

¹¹³ नादंसणिस्स नाणं — उत्तराध्ययनसूत्र 28/30

¹¹⁴ नाणेव विना न हुंति चरणगुणा — वही 28/30

विचारकों ने नहीं। "अहिंसा परमो धर्मः"¹¹⁵ —अहिंसा ही परमधर्म है। अहिंसा आत्मा का अवलोकन है, जीवन की पवित्रता है, मन का माधुर्य है, मैत्री का मूलमन्त्र है, स्नेह, सौहार्द्र और सद्भावना का सूत्र है, धर्म-संस्कृति, समाज का प्राण है और साधना का पथ है।

'हिंसा' शब्द हननार्थक 'हिसि' धातु से बना है। हिंसा का अर्थ है —प्रमत्त योग से दूसरों के प्राणों का अपहरण करना,¹¹⁶ दुष्प्रयुक्त मन, वचन या काया के योगों से प्राण व्यपरोपण करना।¹¹⁷ अहिंसा का अर्थ है — प्राणातिपात से विरति।¹¹⁸ सूत्रकृतांगसूत्र के अनुसार, ज्ञानी होने का सार यह है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसा ही समग्र धर्म का सार है, इसे सदैव स्मरण रखना चाहिए।¹¹⁹ "आचारांगसूत्र में कहा है — भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी अर्हत् यह उपदेश करते हैं कि किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए —यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है। समस्त लोक की पीड़ा को जानकर अर्हतों ने इसका प्रतिपादन किया है।¹²⁰ वस्तुतः, अहिंसा का मूलाधार जीवन के प्रति सम्मान, समत्वभावना एवं अद्वैत-भावना है। समत्वभाव से सहानुभूति तथा अद्वैतवाद से आत्मीयता उत्पन्न होती है, जो अहिंसा का आधार है। सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता, अतः निर्ग्रन्थ प्राणवध (हिंसा) का निषेध करते हैं।¹²¹ जैन-विचारणा हिंसा के दो पक्षों से विचार करती है। प्रथम, द्रव्यहिंसा और द्वितीय, भावहिंसा। हिंसा का बाह्य-पक्ष द्रव्यहिंसा है और हिंसा का विचार करना भावहिंसा कहलाता है। यह एक मानसिक-अवस्था है, जो प्रमादजन्य है। आचार्य अमृतचन्द्र हिंसा के भावात्मक-पक्ष पर बल देते हुए हिंसा-अहिंसा की परिभाषा इस प्रकार करते हैं —रागादि कषायों

¹¹⁵ महाभारत, 11/13

¹¹⁶ प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। — तत्त्वार्थसूत्र 7/13

¹¹⁷ मणवयकाएहि जोएहि दुष्पउत्तेहि जं पाणववरोपणं कज्जइ सा हिंसा। —दशवैकालिक, जिनदासचूर्णि, प्रथम अध्याय

¹¹⁸ अहिंसा नाम पाणतिवायविरती — दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि, पृ. 15

¹¹⁹ सूत्रकृतांगसूत्र 1/4/10

¹²⁰ आचारांगसूत्र 1/4/1/127

¹²¹ दशवैकालिक 6/11

का अभाव अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना ही हिंसा है। यही जैन-आगमों का सार है।¹²²

जिस प्रकार हाथी के पैर में सब प्राणियों के पैर समा जाते हैं, उसी प्रकार अहिंसा में सब धर्मों के अर्थ व तत्त्व समा जाते हैं। ऐसा समझकर जो अहिंसा का प्रतिपालन करते हैं, वे नित्य अमृत (मोक्ष) में वास करते हैं।¹²³

अभिप्राय यह है कि सभी धर्मों ने, पंथों ने, सन्तों और महर्षियों ने एक स्वर में अहिंसा के महत्त्व को स्वीकार किया है। अहिंसा धर्म, संस्कृति, समाज और राष्ट्र के योगक्षेम का मूलाधार है। अहिंसा के अभाव में धर्म, संस्कृति, समाज और राष्ट्र का कोई भी मूल्य नहीं है। अहिंसा एक अमृतकलश के समान है, जिसका स्वाद सभी के लिए मधुर है, मधुरतम है। जहाँ अहिंसा है, मैत्री है, करुणा है, दया है, स्नेह है, सौहार्द्र है, सद्भावना है, वहीं सर्वोदय है और जहाँ सर्वोदय है, वहीं शान्ति है, सुख है और वहीं धर्म है।

धर्म के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या के अन्तर्गत हमने धर्म के वस्तु-स्वभावरूप, क्षमादि सद्गुणोंरूप, रत्नत्रयरूप और अहिंसारूप —इन सभी को व्याख्यायित किया है।

यदि हम ध्यान से देखें, तो धर्म के स्वरूप की ये व्याख्याएं मूल में वस्तु स्वभावरूप परिभाषा का ही विस्तार है। अन्ततः, क्षमा आदि सद्गुण, रत्नत्रय और अहिंसा आत्मा के ही तो स्वभाव हैं। एक स्वभाव के कथन में अन्य स्वभावों का कथन स्वतः ही सम्मिलित हो जाता है, अतः इस स्वभाव की प्राप्ति में सहायक तत्त्व भी उपचाररूप से धर्म के स्वरूप ही माने जाते हैं।

¹²² ओघनिर्युक्ति, 754

¹²³ यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापि धार्यन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयते ।
अमृतः स नित्यं वसति योऽहिंसा प्रतिपद्यते ॥ — महाभारत 12/237/18/19

धर्म की जीवन में उपादेयता —

मनुष्य एक सामाजिक-प्राणी है। समाज से अलग-थलग रहना उसके लिए न उचित है और न ही संभव। समाज में रहते हुए समाज के लिए अधिक से अधिक उपयोगी बना रह सके, इसी में उसके जीवन की उपादेयता है, सार्थकता है। जो धर्म से ही संभव है। स्वस्थ चित्त वाले व्यक्तियों से ही स्वस्थ समाज का निर्माण होता है, अस्वस्थ व्यक्ति वही है, जिसका मन विकारों से विकृत रहता है, अतः सुखी-स्वस्थ समाज का निर्माण करने के लिए व्यक्ति-व्यक्ति के चित्त को निर्मल करना नितांत आवश्यक है। एक-एक व्यक्ति स्वस्थ एवं स्वच्छ-चित्त हो, शांतचित्त हो, तो ही समग्र समाज की शांति बनी रह सकती है। धर्म इस व्यक्तिगत शांति के लिए एक अनुपम साधन है और इसी कारण विश्व-शांति का भी एकमात्र साधन है। आदरणीय सत्यनारायणजी गोयनका का कथन है —

धर्म न हिन्दू बौद्ध है, धर्म न मुस्लिम जैन।

धर्म चित्त की शुद्धता, सुख शांति और चैन।।

धर्म का अर्थ संप्रदाय नहीं है। संप्रदाय तो मनुष्य-मनुष्य और वर्ग-वर्ग के बीच दीवारें खड़ी करने एवं विभाजन पैदा करने का काम करता है, जबकि शुद्ध धर्म दीवारों को तोड़ता है, विभाजनों को दूर करता है। शुद्ध धर्म मनुष्य के भीतर समाए हुए अहंभाव अथवा हीनभाव को जड़ से उखाड़ फेंकता है। मानव मन की आशंकाएं, उत्तेजनाएं, उद्विग्नताएं दूर करता है और उसे स्वच्छता और निर्मलता के धरातल पर प्रतिष्ठित करता है।

धर्म मनुष्य की आध्यात्मिक-आवश्यकता है। यह वह विशिष्ट माध्यम है, जिसके द्वारा मनुष्य सत्य, शिव और सुन्दर के पूर्ण स्वरूप की खोज करता है। धर्म मानव-अस्तित्व के उच्चतम मूल्यों के साथ व्यक्ति का सीधा और सहज सम्पर्क स्थापित करने का साधन है। "धर्म एक आदर्श जीवन-शैली है, सुख से रहने की पावन पद्धति है, शान्ति प्राप्त करने की विमल विद्या है तथा सर्वजन-कल्याणी

आचारसंहिता है,"¹²⁴ जो सबके लिए है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—धर्म जलाशय है और ब्रह्मचर्य घाट (तीर्थ) है उसमें स्नान करने से आत्मा शान्त, निर्मल और शुद्ध हो जाती है।¹²⁵ इसी प्रकार, बौद्धदर्शन में भी सच्चे स्नान का अर्थ मन, वाणी और काया से सदगुणों का सम्पादन माना गया है।¹²⁶ न केवल जैन और बौद्ध परम्परा में, वरन् वैदिक-परम्परा में भी यह विचार प्रबल था कि धर्म चित्त की यथार्थ शुद्धि या आत्मा के सदगुणों के विकास में निहित है। आत्मशुद्धि या विकारमुक्तता धर्म से ही प्राप्त की जा सकती है।

मानव-जीवन में धर्म की उपादेयता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। धर्म ने ही मानव की आध्यात्मिक और नैतिक-चेतना को जाग्रत कर उसके जीवन को सुव्यवस्थित किया है। महान विद्वान कालिदास ने धर्म को 'त्रिवर्ग' का सार कहा है।¹²⁷ अर्थ और काम की पूर्ति धर्म द्वारा ही होती है। मानव-इतिहास की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि धर्म मानव-जाति का वह सहायक, संरक्षक और संबल है, जो उसके समस्त दुःखों का समूल नाश कर शान्ति और सौहार्द की उत्पत्ति करता है।

1. धर्म व्यक्ति को उच्च स्थिति में स्थिर करता है —

धर्म व्यक्ति को संसरणात्मक-जगत् से ऊपर उठाकर निर्विकार शुद्ध चैतन्यभाव में पहुंचा देता है। जिस तरह गीले बिछावन पर पड़े रो रहे बालक को उसके माता-पिता दूसरे स्वच्छ और मुलायम बिछावन पर लिटा देते हैं, उसी प्रकार सांसारिक-बन्धन में पड़े दुःखी मानव को धर्म आध्यात्म के निर्मल, स्वच्छ और

¹²⁴ धर्म जीवन जीने की कला — सत्यनारायण गोयनका, पृ. 7

¹²⁵ धम्मे हरए, बंभे सन्तितित्थे अणविले अत्तपसन्नलेसे।

जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो सुसीइभूओ पजहामि दोसं।।— उत्तराध्ययनसूत्र 12/46

¹²⁶ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग-2, डॉ. सागरमल जैन पृ. 497

¹²⁷ अनेन धर्मः सविशेषमद्यः मे। त्रिवर्ग सारः प्रतिभाति भाविनि।

त्वया मनोनिर्विषयार्थं कामया। यदेक एवं प्रतिगृह्य सेव्यते।। — कालिदास, कुमारसंभवम्—5/38

उच्चपद पर आसीन कर देता है। धर्म मनुष्य की व्यावहारिक—जीवन की अर्थहीनता और क्षणभंगुरता का पाठ पढ़ाता है और उसे इस तथ्य का ज्ञान देता है कि इस जगत् से भी परे एक उच्च आध्यात्मिक—जगत् है, वही मनुष्य का आदर्श स्थान है। इस आदर्श स्थान को प्राप्त करना मनुष्य का प्रमुख और सर्वोच्च लक्ष्य है। धर्म मनुष्य को व्यावहारिक—जीवन के दुःखों और कष्टों को दूर कर उन्हें सहन करने की शक्ति प्रदान करता है।

2. धर्म व्यक्ति के विकास का अद्वितीय साधन है —

डॉ. राधाकृष्णन ने धर्म को व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के साधन के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है —“यह चारों वर्णों के और चारों आश्रमों के सदस्यों द्वारा जीवन के चार प्रयोजनों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के सम्बन्ध में पालन करने योग्य मनुष्य का समूचा कर्तव्य है। जहाँ सामाजिक—व्यवस्था का सर्वोच्च लक्ष्य है कि मनुष्य को आध्यात्मिक—पूर्णता और पवित्रता की स्थिति तक पहुंचाने के लिए प्रशिक्षण लिया जाए, वहाँ इसका एक अत्यावश्यक लक्ष्य इसके सांसारिक—लक्ष्य के कारण इस प्रकार की सामाजिक दशाओं का विकास करना भी है, जिनमें जनसमुदाय नैतिक, भौतिक और बौद्धिक—जीवन के ऐसे स्तर तक पहुंच सके, जो सबकी भलाई एवं शान्ति के लिए हो, क्योंकि यह दशा प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन और अपनी स्वतंत्रता को अधिकाधिक वास्तविक बनाने में सहायता देती है।”¹²⁸ इन्हीं मार्गों से चलकर व्यक्ति अपना विकास करता है, अतः धर्म व्यक्ति के विकास का अद्वितीय साधन है।

3. धर्म व्यक्ति को तनावों से मुक्त करता है —

मानव—मन की अशान्ति और दुःख के कारणों के मूल में मानसिक—तनाव या मनोवेग ही मुख्य हैं। मानव—मन की अशान्ति एवं उसके अधिकांश दुःख कषायजनित

¹²⁸ सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन का धर्म एवं दर्शन, — डॉ. डी.ए. गंगाधर, पृ. 53

हैं, अतः शान्त और सुखी जीवन के लिए मानसिक—तनावों एवं मनोवेगों से मुक्ति पाना आवश्यक है। धर्म व्यक्ति के तनावों को मुक्त करने में सहायक होता है। धर्म व्यक्ति के जीवन में समत्व की स्थापना करता है और कषायों को प्रशम करता है, इससे व्यक्ति तनावों से मुक्त हो जाता है। कितना भी क्रोधी व्यक्ति परमात्मा के मन्दिर में प्रवेश करता है, तो उसका क्रोध शान्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि धर्म व्यक्ति के तनावों को मुक्त करता है।

4. धर्म व्यक्ति को सदगुणों से युक्त बनाता है —

धर्म मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सम्यक् दिशा प्रदान कर भौतिक और आध्यात्मिक—विजय प्राप्त कराता है। धर्म में सच्ची आस्था रखने वाला व्यक्ति धर्म के प्रति लगाए गए आक्षेपों से विचलित नहीं होता है। धार्मिक—आस्था की अनिवार्यता पर बल देते हुए महात्मा गाँधी ने यहाँ तक कह डाला है —“धर्म—भावना के बिना कोई भी बड़ा कार्य नहीं हुआ है और न कभी भविष्य में होगा।”¹²⁹ मनुष्य की समस्त उपलब्धियाँ धर्म के सहयोग से परिपूर्ण होती हैं और एक उज्ज्वल भविष्य का संदेश देती हैं। वस्तुतः, धर्म मानवमात्र का कल्याणकर्ता है। यदि धर्म को मानव—जीवन से पृथक् कर दिया जाए, तो मानव बर्बर हो जाएगा। उसके जीवन का अर्थ और मूल्य समाप्त हो जाएगा और उसके अस्तित्व की उपादेयता नष्ट हो जाएगी। धर्म व्यक्ति को सदगुणों से युक्त बनाता है। यदि धर्म के प्रति श्रद्धा और विश्वास सही और नैष्टिक है, तो सत्य ईश्वर के दर्शन होंगे। मनुष्य को धर्म के प्रति पूर्ण आस्थावान् होना उसकी उन्नति और विकास के लिए अत्यन्त महत्त्व रखता है।

5. धर्म शान्ति की स्थापना करता है —

धर्म मानव—मानव से प्रेम और विश्व—बन्धुत्व की भावना को जाग्रत करता है तथा एकता और शान्ति का संचार करता है। आधुनिक युग भौतिक विकास का युग है, भौतिकता और आधुनिक वस्तुओं की प्रतिस्पर्धा के कारण व्यक्ति अशान्त बना हुआ है। व्यक्ति की इच्छा, आकांक्षा, तृष्णा, आधुनिक नवीन साधनों के प्रति मूर्च्छा,

¹²⁹ नीति : धर्म: दर्शन (गांधीजी) सम्पा. रामनाथ 'सुमन', पृ. 143

लालसा ने अशान्ति की ज्वाला विकराल कर दी है। पग-पग पर व्यक्ति पीड़ा और कष्टों को झेलता है। वह जानता है, पर पकड़ता उसी आग को है, जो उसे निरन्तर जला रही है। इस कारण, समाज के प्रत्येक घटक में घृणा, अविश्वास, मानसिक तनाव व अशान्ति के बीज प्रस्फुटित हो रहे हैं। वर्तमान युग में मनुष्य अपनी आवश्यकताओं या इच्छाओं को असीमित रूप में बढ़ाकर फिर उनकी पूर्ति हेतु मारा-मारा फिरता है और सुख-प्राप्ति की आशा करता है। यह तो मरुभूमि में प्यास बुझाने के समान है। इच्छाओं की वृद्धि में सुख नहीं, वरन् उनके संयम और सन्तोष में ही सुख है। महाभारत में कहा गया है —

स्व संतुष्टः स्वधर्मस्थो यः सर्वे सुखमेधते ॥¹³⁰

जो आत्मसन्तोषी और अपने धर्म में स्थित है, वही सुख प्राप्त करता है। कवि रहीम ने कहा है —

गोधन, गजधन, बाजिधन और रतनधन खान।

जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान ॥

जीवन में जिस सुख और शान्ति की प्राप्ति की अपेक्षा हमें है, वह न तो इस लक्ष्यविहीन भौतिक दौड़ से प्राप्त हो सकती है और न आवश्यकताओं को निर्बाध गति से बढ़ाने से। वस्तुतः, वास्तविक सुखशान्ति तो अन्दर ही है और धर्म इस शान्ति की स्थापना करता है।

6. धर्म पारिवारिक और सामाजिक-जीवन में समरसता लाता है —

भारतवर्ष धर्मप्रधान देश है। भारत की यह ख्याति आधुनिक भारतीय जीवन के कारण नहीं, वरन् इस कारण है कि प्राचीनकाल से भारत की प्रजा का जीवन धर्म से अनुप्राणित रहा है। जब से मानव-समाज का निर्माण हुआ, सभ्यता और संस्कृति का भी अभ्युदय हुआ, तभी से प्रजा के एक विशिष्ट वर्ग ने धर्मसम्बन्धी चिन्तन और उसके प्रचार-प्रसार के लिए अपना जीवन समर्पित किया और उस वर्ग की परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है।

¹³⁰ महाभारत

धर्म व्यक्ति और समाज के बीच एक सेतु का कार्य करता है। समाज में बुराइयों को धर्म नियंत्रित करता है और परिवार में भी शान्ति, समता और सौहार्द को स्थापित करता है। इस प्रकार, धर्म पारिवारिक और सामाजिक-जीवन में समरसता लाता है।

7. धर्म पारस्परिक-सहयोग और मैत्री-भाव का संस्थापक है -

धर्म व्यक्ति को मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ की भावनाओं से ओतप्रोत करता है। आचार्य अमितगति कहते हैं -

सत्त्वेषु मैत्री गुणीषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा-परत्वम् ।
मध्यस्थभावं विपरीत वृत्तो, सदाममात्मा विदधातु देव ॥

अर्थात्, हे प्रभु! मेरे मन में प्राणियों के प्रति मित्रता, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दुःखियों के प्रति करुणा तथा दुष्टजनों के प्रति माध्यस्थ-भाव विद्यमान रहे।¹³¹ इस प्रकार, इन भावनाओं के माध्यम से समाज के विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से पारस्परिक सहयोग और मैत्रीभावादि की स्थापना कर सकते हैं। पारिवारिक और सामाजिक-जीवन में हमारे पारस्परिक सम्बन्धों को सुमधुर एवं समायोजनपूर्ण बनाने तथा सामाजिक-टकराव के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें दूर करने के लिए उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार, आचारशुद्धि पर बल देकर व्यक्ति-सुधार के माध्यम से समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया है।

8. धर्म व्यक्ति को जीवन जीने की शैली सिखाता है -

धर्म जीवन जीने की कला है। स्वयं सुख से जीने की तथा औरों को सुख से जीने देने की कला है। वास्तविक सुख की अनुभूति हमारे भीतर ही होती है। वह सुख आंतरिक शांति में है और आंतरिक शांति चित्त की विकार-विहीनता में है, चित्त की निर्मलता में है। चित्त की विकार-विहीन अवस्था ही वास्तविक सुख-शांति की अवस्था है, जो धर्म से ही प्राप्त की जा सकती है, वही शुद्ध धर्म है। धर्म महज

¹³¹ उद्धृत - धर्म का मर्म - डॉ. सागरमल जैन, पृ. 62

शास्त्रीय-ज्ञान में नहीं, आचरण में है। "धर्म सैद्धांतिक-मान्यताओं में नहीं, सिद्धांतों का जीवन जीने में है। धर्म आचरण में उतरे, तो ही परिपूर्ण होता है, सम्यक् होता है, अन्यथा मिथ्या ही रहता है, चाहे उसे बौद्ध कहें, या जैन, ईसाई कहें, या हिन्दू, मुस्लिम कहें या यहूदी, पारसी कहें, या सिक्ख या और कुछ।"¹³² धर्मपालन का मुख्य उद्देश्य है —हम अच्छे आदमी बनें। धर्म का सार तो चित्त की शुद्धता में है, राग-द्वेष, मोह के बंधनों से मुक्त होने में है, विषम परिस्थितियों में भी चित्त की समानता बनाए रखने में है, मैत्री, करुणा, मुदिता में है।

¹³² धर्म जीवन जीने की कला — सत्यनारायण गोयनका, पृ. 76

धर्म मोक्ष का साधन —

भारतीय-चिंतन में धर्म सामाजिक-व्यवस्था और सामाजिक-शांति के लिए है, क्योंकि धर्म को 'धर्मो धारयति प्रजाः'¹³³ के रूप में भी परिभाषित कर उसका संबंध हमारे सामाजिक-जीवन से जोड़ा गया है। वह लोक-मर्यादा और लोक-व्यवस्था का ही सूचक है। पुरुषार्थ-चतुष्टय में केवल मोक्ष ही एक ऐसा पुरुषार्थ है जिसकी सामाजिक सार्थकता विचारणीय है।

'मोक्ष' शब्द संस्कृत की 'मुच्' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका शाब्दिक-अर्थ है —मुक्त करना, स्वतंत्र करना, छोड़ देना एवं ढीला कर देना, इसलिए मोक्ष का अर्थ है, मुक्ति, स्वतंत्रता, छुटकारा एवं निवृत्ति।¹³⁴ यह एक धार्मिक-सिद्धांत है, जिसका अर्थ है —संसार से निवृत्ति और आध्यात्मिक-जीवन में चिर-विश्रान्ति।

मोक्ष का संबंध मुख्यतः मनुष्य की मनोवृत्ति से है। बंधन और मुक्ति —दोनों ही मनुष्य के मनोवेगों से संबंधित हैं। राग-द्वेष, आसक्ति, तृष्णा, ममत्व, अहम् आदि की मनोवृत्तियाँ ही बंधन हैं और इससे मुक्त होना ही मुक्ति है। मुक्ति की व्याख्या करते हुए जैन-दार्शनिकों ने कहा था कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था ही मुक्ति है। आचार्य शंकर कहते हैं —'वासनाप्रक्षयो मोक्षः।'¹³⁵

वस्तुतः, मोह और क्षोभ हमारे जीवन से जुड़े हुए हैं और इसलिए मुक्ति का संबंध भी हमारे जीवन से ही है। वस्तुतः, मोक्ष मानसिक तनावों से मुक्ति है। मोक्ष या मुक्ति का अर्थ है —छुटकारा। मनुष्य को सब दुःखों से छुटकारा मिल जाए यही मोक्ष है। भारतीय साहित्य में मोक्ष के पर्यायवाची अनेक शब्द हैं। उदाहरणतः —मुक्ति, सिद्धि, निर्वाण, अमृतत्व, बोधि, विमुक्ति, विशुद्धि, कैवल्य इत्यादि। मोक्ष का अर्थ है —आध्यात्मिक-परिपूर्णता, अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति एवं दुःखों की समाप्ति। जो मोक्ष

¹³³ 1) मनुस्मृति, 8/15

2) जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-2, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 157

¹³⁴ संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ. 819

¹³⁵ तिवेकचन्द्रामणि 318

प्राप्त कर लेता है, वह संसार में पुनः वापस नहीं आता, साथ ही वह शुभ और अशुभ से ऊपर उठा हुआ होता है और सदैव शाश्वत शांति का उपभोग करता है।

निर्वाण और मोक्ष —ये दोनों शब्द पर्यायार्थक हैं। निर्वाण का अर्थ है —क्लेशों और तृष्णा की समाप्ति। इसका संबंध अविनश्वर और सर्वोच्च स्वतंत्रता की प्राप्ति से भी है। मोनियर विलियम्स निर्वाण शब्द की व्याख्या करते हुए इसका अर्थ करते हैं — अन्तगत, शान्त, दृश्य, जीवन्मुक्त, पदार्थमुक्त, सर्वोच्च सत्ता से सम्बद्ध, समस्त इच्छाओं और विकारीभावों से मुक्त और परमानन्द प्राप्त।¹³⁶

मोक्ष आध्यात्मिक—जीवन का अन्तिम सोपान है। मानव का धार्मिक और आध्यात्मिक—जीवन मोक्षमार्ग पर अग्रसर होकर ही प्रकाशमान् होता है। आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य ही मोक्ष व परमानन्द की चरम अनुभूति है। जीव ब्रह्म में लीन होकर मोक्ष—पद को प्राप्त करता है। आत्मा का यही सच्चा ज्ञान मोक्ष है।

धर्म और मोक्ष एक—दूसरे के साधन और साध्य के रूप में सम्पृक्त हैं। एक मार्ग है, दूसरा फल, एक उपाय है, दूसरा गंतव्य। गंतव्य अर्थात् मोक्ष वह प्रयोजन है, जिस तक केवल धर्मरूपी मार्ग द्वारा ही पहुंचा जा सकता है। मोक्ष केवल वे ही प्राप्त कर सकते हैं, जो धर्म—मार्ग पर चलते हैं। जैनदर्शन में मार्ग और मार्ग—फल इन दो अवधारणाओं में अन्तर किया गया है। धर्म मोक्ष का उपाय है और इसीलिए मोक्षमार्ग है। जो व्यक्ति सम्यक् मार्ग पर चलता है, वही अन्ततः मोक्ष प्राप्त करता है। इस मार्ग (धर्म) के अनुसरण के फलस्वरूप ही निर्वाण संभव हो सकता है।¹³⁷ जैनदर्शन में समत्व को धर्म कहा गया है। जो धर्म है, वही समत्व है।¹³⁸

¹³⁶ Monier Miner –Williams, A Sanskrit English Dictionary, P.P.834 – 35

¹³⁷ समणसुत्तं, पृ. 229

¹³⁸ वही, पृ. 274–275

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति कहते हैं कि बंध के कारणों का अभाव हो जाने और निर्जरा होने से कर्मों का अत्यन्त अभाव हो जाना, उनका संपूर्णतः नष्ट हो जाना, मोक्ष है।¹³⁹

वस्तुतः, मोक्ष अकेला पाने की वस्तु नहीं है। इस संबंध में विनोबा भावे के उद्गार विचारणीय हैं —“जो समझता है कि मोक्ष अकेले हथियाने की वस्तु है, वह उसके हाथ से निकल जाता है, 'मैं' के आते ही मोक्ष भाग जाता है; मेरा मोक्ष —यह वाक्य ही गलत है। 'मेरा' मिटने पर ही मोक्ष मिलता है।”¹⁴⁰

धर्म एक अमृत तत्त्व है और वह सार्वजनिक है, सार्वकालिक है, सार्वभौमिक है, सर्वदा और सर्वथा उपादेयरूप है। इस विराट् विश्व में मानव एक सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्येष्ठ प्राणी है। उसके अमूल्य जीवन का लक्ष्य मुक्ति-प्राप्ति है। यही उसका चरम और परम साध्य-बिन्दु है। इस साध्य की सिद्धि में धर्म प्रधान आधार है। धर्म वस्तुतः एक ऐसा राजपथ है जो हमें मुक्ति प्रासाद में पहुंचा देता है। धर्म और मुक्ति —दोनों एक-दूसरे के सम्पूरक हैं। इनका जो संबंध है, वह अभिन्न है, अच्छेद्य और अभेद्य है।

¹³⁹ बंधहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।- तत्त्वार्थसूत्र -10/2-3

¹⁴⁰ आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ. 71

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 13

(अ) मोह संज्ञा

1. मोह संज्ञा का स्वरूप
2. मोह के प्रकार
3. मोह मोक्ष में बाधक
4. मोह पर विजय कैसे ?

(ब) शोक संज्ञा

1. शोक संज्ञा का स्वरूप
2. शोक आर्तध्यान का ही एक रूप है।
3. शोक के दुष्परिणाम
4. शोक पर विजय कैसे ?

(स) विचिकित्सा (जुगुप्सा) संज्ञा

1. विचिकित्सा (जुगुप्सा) का स्वरूप
2. जुगुप्सा आवश्यक भी और अनावश्यक भी
3. विचिकित्सा के प्रकार
4. विचिकित्सा पर विजय कैसे ?

अध्याय—13

(अ) मोह—संज्ञा {Instinct of delusion}

मोह—संज्ञा का स्वरूप —

संज्ञाओं के चतुर्विध और दशविध वर्गीकरण में तो कही भी मोह—संज्ञा का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु संज्ञाओं का जो षोडशविध¹ वर्गीकरण है, उसमें मोह—संज्ञा को तेरहवां क्रम दिया गया है। जैन—परम्परा में मोह को कर्मबंधन का मूल हेतु माना गया है।² 'मोह' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि सत् और असत् में विवेक का अभाव ही मोह है। जो इस विवेक को कुंठित करता है, उसे मोहनीय—कर्म कहा जाता है। वस्तुतः, मोह व्यक्ति को सत् और असत् का विवेक करने से विमुख कर देता है और सत् और असत् के विवेक का यह अभाव ही मोह कहा जाता है। मोह के कारण ही व्यक्ति 'पर' में 'स्व' का आरोपण करता है। प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं — मोह से ही 'मैं' और 'मेरा' भाव उत्पन्न होता है।³ 'अहम्' और 'मम्' दोनों का आधार मोह ही है। यहाँ अहम् से तात्पर्य अहंकार से है और मम् से तात्पर्य मेरेपन के मिथ्याभाव से है। विवेक का अभाव होने से व्यक्ति में यह मिथ्या धारणा जन्म लेती है। मेरेपन का भाव ही ममत्व कहलाता है।⁴ मोह और तदजन्य ममत्ववृत्ति के कारण व्यक्ति 'पर' को अपना मानने लगता है। पर को अपना मानना अज्ञान—दशा है। इस प्रकार का भाव ही 'मोह—संज्ञा' है। वीतराग—दशा की प्राप्ति के पूर्व दसवें गुणस्थान तक इस मोह—संज्ञा का अस्तित्व रहता है। मोह के उदय के अभाव, में किन्तु अन्तस में उसकी सत्ता रहने पर उपशान्तमोह—संज्ञा प्राप्त होती है। यह ग्यारहवां गुणस्थान है। सत्ता में रहा हुआ

¹ 1) आचारांगसूत्र, 1/2/2 विवेचना

2) अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड-7, पृ. 301

² 1) उत्तराध्ययनसूत्र, 32/7

2) कर्मविज्ञान, आ. देवेन्द्रमुनि, भाग-4, पृ. 226

³ कीरदि अज्झवसाणं, अहं ममेदं ति मोहादो — प्रवचनसार, 2/91

⁴ ममेत्यस्य भावो ममत्वं। — स्वयम्भूस्तोत्र, टीका 10

सूक्ष्म मोह भी उदय में आकर क्रियाशील होकर व्यक्ति को पतन की ओर ले जाता है, किन्तु मोह का पूर्णतः नाश होने पर व्यक्ति शीघ्र ही वीतराग-दशा को प्राप्त कर मोक्ष को पा लेता है।

आचारांगसूत्र में कहा गया है —“मोहग्रस्त होने वाला साधक न इस पार का रहता है, न उस पार का, अर्थात्! न इस लोक का रहता है और न परलोक का।”⁵ अनेकानेक कामनाओं के कारण मनुष्य का मन बिखरा हुआ रहता है। वह अपनी कामनाओं की पूर्ति क्या करना चाहता है, एक तरह से छलनी को जल से भरना चाहता है।⁶ धवला में कहा गया है —क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति-अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व —इनके समूह का नाम ही मोह है। पंचास्तिकाय में कहा गया है —दर्शनमोहनीय के विपाक से जो कलुषित परिणाम होते हैं, वे ही मोह हैं। समयसार में कहा गया है कि जो मोह से ग्रस्त है, वे अज्ञानी हैं और व्यवहार में ही विमूढ़ हैं, वे ही परद्रव्य को मेरा कहते हैं, जो ज्ञानी हैं वे निश्चय से प्रतिबद्ध हो गए हैं, वे कणमात्र भी पुद्गलद्रव्य को, यह मेरा है —ऐसा नहीं कहते।⁷

वस्तुतः, जीव के संसार परिभ्रमण का मूल कारण मोह है। यह संसार मोह की ही लीला है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब बड़े-बड़े महान पुरुष मोह के आगे पराजित हो गए तो साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े तपस्वी महापुरुष भी मोह की भीषण शक्ति के आगे नतमस्तक हो जाते हैं। चार ज्ञान के धनी, अनेक लब्धियों के स्वामी श्री इन्द्रभूति गौतम गणधर भी (प्रशस्त) मोह के कारण भगवान् महावीर की उपस्थिति में केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सके।⁸ अपार समृद्धि के त्यागी शालिभद्रमुनि को भी थोड़े-से माता के मोह के कारण एक और

⁵ इत्थ मोहे पुणो पुणो सन्ना। नो हव्वाए नो पाराए। — आचारांगसूत्र, 1/2/2

⁶ अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे
से केयणं अरिहए पूरइत्तए। — वही 1/3/2

⁷ समयसार, गा. 324

⁸ श्रीकल्पसूत्र, 126, श्री जिन आनन्दसागर सूरीश्वरजी म.सा. पृ. 262

जन्म लेना पड़ा।⁹ भागवत पुराण के अनुसार, गृहत्यागी भरत को एक मृगशिशु के प्रति मोह के कारण अपनी साधना से विचलित होकर मृगयोनि में जन्म लेना पड़ा।¹⁰ रामायण के अनुसार दशरथ का अपनी पत्नी कैकेयी के प्रति मोह के कारण ही श्रीराम को चौदह वर्ष का वनवास स्वीकारना पड़ा।¹¹

अतः, मोह के कारण आत्मा मूढ़ बनकर अपने हिताहित का कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का, सत्य-असत्य का, कल्याण-अकल्याण का भान भूल जाता है। जैसे मद्यपान करके मुनष्य भले-बुरे का विवेक खो बैठता है, परवश होकर अपने हिताहित को नहीं समझता, वैसे ही मोह के प्रभाव से जीव सत्-असत् के विवेक से रहित होकर परवश हो जाता है और उसे आत्मा के शुद्ध स्वभाव का भान नहीं रहता। वस्तुतः, जो मोहित करता है, या जिसके द्वारा मोहा जाता है, वह मोहनीय-कर्म है।¹² जो कर्म आत्मा में मूढ़ता उत्पन्न करता है, वह कर्म मोहनीय-कर्म कहलाता है। आठ कर्मों में यह सर्वाधिक शक्तिशाली है। सात कर्म यदि प्रजा हैं, तो मोहनीय-कर्म राजा है। यह कर्म प्राणीय-जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करता है। दूसरे कर्म जीव की एक-एक शक्ति को आवृत्त करते हैं।¹³ जबकि मोहनीय-कर्म जीव की अनेक मूलभूत शक्तियों को आवृत्त नहीं, विकृत और कुण्ठित भी कर देता है, जिससे आत्मा अपने शुद्ध ज्ञाता स्वभाव (ज्ञाता-दृष्टाभाव) को भूलकर राग-द्वेष में फंस जाता है। परिणामस्वरूप, मोहनीय-कर्म को आत्मा का शत्रु कहा गया है, क्योंकि वह समस्त दुःखों की प्राप्ति में निमित्त कारण है। यही कारण है कि मोहनीय कर्म को भी जन्म-मरणादि दुःखरूप संसार का मूल कहा है। मोहनीय-कर्म को आगमों से कर्मों का सेनापति कहा है। जिस प्रकार सेनापति के चल बसने पर सेना में भगदड़ मच

⁹ कथा-साहित्य

¹⁰ कल्याण, भागवतांक, वर्ष-16, अंक-1, 1998, पृ. 418

¹¹ वाल्मीकि रामायण से

¹² मोहयति मोह्यतेऽनेति वा मोहनीयम्। - सर्वार्थसिद्धि 8/4/380/5

¹³ क) कर्मवाद - पृ. 60

ख) धर्म और दर्शन (आचार्य देवेन्द्र मुनि) पृ. 72

ग) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) से पृ. 204

जाती है, वैसे ही मोहकर्म के नष्ट हो जाने पर शेष सारे घातीकर्म नष्ट हो जाते हैं, शेष रहे चार अघातीकर्म भी आयुष्यकर्म की समाप्ति होते ही समाप्त हो जाते हैं।¹⁴

मोह के प्रकार —

मुक्ति के लिए ज्ञान की आवश्यकता है, किन्तु जब तक व्यक्ति सत्य के संदर्भ में मोह से युक्त रहता है, तो वह परद्रव्यों को अपना मानता रहता है। जैन-परम्परा में मोह को दो प्रकार से वर्गीकृत किया गया है।¹⁵ एक, दर्शनमोह और दूसरा, चारित्र-मोह। दर्शनमोह का अर्थ विपर्यय या विपरीत समझ है। ज्ञान और दर्शन—दोनों का सम्यक् न होना दर्शनमोह कहा जाता है और उसके कारण जो आचरण प्रदूषित होता है उसको चारित्रमोह कहते हैं। दर्शनमोह भ्रान्त दृष्टिकोण का सूचक है और चारित्रमोह मिथ्या आचरण का सूचक है। जैन-परम्परा में कहा गया है कि दर्शनमोह के कारण मिथ्या दृष्टिकोण या मिथ्या समझ उत्पन्न होती है और इसके फलस्वरूप व्यक्ति का आचरण भी दूषित हो जाता है, जो कषायों का जनक है।

मोह वस्तुतः दोहरा कार्य करता है। एक ओर से वह आत्मा के दर्शन अर्थात् श्रद्धा को विकृत व भ्रष्ट करता है, तो दूसरी ओर से वह चारित्र को विकृत और कुण्ठित करता है। इस कारण से मोह के दो रूप हैं। एक है — श्रद्धारूप और दूसरा है — प्रवृत्तिरूप। अन्य दर्शनों ने जिसे 'अविद्या' या 'माया' कहा है, उसे जैनदर्शन ने मोह कहा है। दर्शनमोह के कारण सम्यक् दृष्टिकोण लुप्त-सा हो जाने से जीव मिथ्या धारणाओं और विचारधाराओं का शिकार हो जाता है, उसकी विवके-बुद्धि असन्तुलित हो जाती है। चारित्रमोह के कारण वह परभाव को स्वभाव मान बैठता है।

¹⁴ क) धवला, 1, 1, 1/43

ख) कर्मवाद, पृ. 60

¹⁵ जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-3, पृष्ठ 340

वस्तुतः, चारित्रमोह को दो भागों में विभक्त किया गया है —कषायमोह और नोकषाय—मोह।¹⁶

कषाय, अर्थात् जो आत्मा के स्वाभाविक—गुणों शान्ति, मृदुता, ऋजुता और समता आदि को कृश या नष्ट करे, उसे कषाय कहते हैं।¹⁷ मोहजन्य कषायिकभावों के कारण संसार—परिभ्रमण की वृद्धि होती है, क्योंकि कषाय ही कर्मबन्ध का विशिष्ट हेतु है। कषाय के कारण ही कर्मों का स्थितिबन्ध और रसबन्ध होता है और जब तक ये दोनों हैं, तब तक जीव मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि बन्ध के अन्य कारण मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद भी कषाय के उदय से ही निष्पन्न होते हैं।

दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है —क्रोधादि चारों कषाय संसाररूपी वृक्ष (जन्म—मरणरूपी चक्र) के मूल का सिंचन करते हैं,¹⁸ क्योंकि रसबन्ध और स्थितिबन्ध का सबसे बड़ा आधार अगर कोई है, तो कषाय ही है। वस्तुतः, इन चारों कषायों, अर्थात् क्रोध, मान, माया, और लोभ की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं, अतः यहाँ उनके विस्तार में जाना उचित नहीं होगा, फिर भी हम इतना तो कह सकते हैं कि जब तक कषाय की सत्ता है, तब तक मोह रहता है।

चारित्रमोहनीय का दूसरा उपप्रकार नोकषाय है। नोकषाय शब्द दो शब्दों के योग से बना है। नोकषाय जैन—दार्शनिकों ने 'नो' शब्द को साहचर्य के अर्थ में ग्रहण किया है, 'नो' का अर्थ —ईषत्, अल्प अथवा सहायक है,¹⁹ अतः हम इन्हें अल्प या छोटे कषाय अथवा सहायक कषाय कह सकते हैं। वस्तुतः, नोकषाय प्रधान कषायों

¹⁶ 1) चरित्तमोहणं कम्मं दुविहे तु वियाहि यं।
कसाय—मोहणिज्जंतु नोकसायं तहेव यं। — उत्तराध्ययनसूत्र 33/10

2) दुविहं चरित्त—मोहं—कसायवेयणीयं नोकसायमिदि —कम्मपयडी, 55

3) प्रज्ञापनासूत्र 23/2

¹⁷ 1) कषः संसारस्तस्य आयो लाभ इति कषायः।

2) चारित्र परिणामकषणात् कषायः — तत्त्वार्थराजवार्तिक 9/7

3) कष्यन्ते हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः।

कषमयन्ते गच्छन्त्येभिर्जन्तवः इति कषायाः।। — प्रथम कर्मग्रन्थ टीका गा. 17

¹⁸ चत्तारि एए कसिणा कसाया सिंचन्ति मूलाणि पुणभवस्स। — दशवैकालिकसूत्र 8/40

¹⁹ 1) अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड—4, पृ. 2161

2) जैन बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन — डॉ.सागरमल जैन, पृ.503

के साथ उत्पन्न होते हैं और उन्हें उत्तेजित भी करते हैं। पाश्चात्य—मनोविज्ञान में उन्हें मूलप्रवृत्ति {Instincts} कहा गया है।²⁰ कर्मग्रन्थ के अनुसार, जो कषाय न हों, किन्तु कषाय के सहवर्ती हों, कषाय के उदय के साथ जिनका उदय होता है, कषायों को उत्पन्न करने में तथा उद्दीपन करने में जो सहायक हों, उन्हें 'नोकषाय' कहते हैं।²¹ नोकषायों पर पाश्चात्य—विचारकों ने जहाँ मात्र मनोवैज्ञानिक—दृष्टि से विचार किया है, वहाँ जैन—विचारणा में जो मानसिक—तथ्य नैतिक—दृष्टि से अशुभ होते हैं, उन्हें नोकषाय कहा गया है। कषायों के सहचारी कारणरूप मनोभावों को नोकषाय कहा गया है, यद्यपि मनोवैज्ञानिक—दृष्टि से विचार करने पर नोकषाय वे प्राथमिक स्थितियाँ हैं, जिनसे कषाय उत्पन्न होती है²² और जो कषायों के परिणाम भी होते हैं। नोकषाय के भेद भी नौ हैं, वे इस प्रकार हैं —1. हास्य, 2. रति, 3. अरति, 4. शोक, 5. भय, 6. जुगुप्सा, 7. स्त्रीवेद, 8. पुरुषवेद, 9. नपुंसकवेद²³

उत्तराध्ययनसूत्र में नोकषाय को 'सप्तविध' या 'नवविध' कहा गया है।²⁴ वस्तुतः, नोकषाय कषायों का हेतु और परिणाम—दोनों होते हैं। इस प्रकार, मिथ्या अथवा सम्यक् समझ के अभाव के कारण कषाय जन्म लेते हैं और कषाय के कारण दृष्टिकोण दूषित होता है, इसलिए कहा गया है कि दर्शनमोह ओर चारित्रमोह में कौन प्रारंभिक है—यह बताना कठिन है। जैसे मुर्गी और अण्डे में कौन पहले हुआ यह बताना संभव नहीं है, उसी प्रकार कषायों के कारण मोह उत्पन्न होता है, मोह के कारण कषाय, इसमें किसी की प्राथमिकता निर्धारित कर पाना संभव नहीं है।²⁵

²⁰ तुलना कीजिए — जीवनवृत्ति और मृत्यु वृत्ति (फ्रायड)

²¹ 1) कषाय—सहवर्तित्वात् कषाय—प्रेरणादपि

हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषाय—कषायता । — प्रथम कर्मग्रन्थ टीका 17

2) जस्स कम्मस्स उदएण जीवो णोकसाये वेदयति तं णोकसाय वेदणीयं णाम — धवला, 13/5

²² उद्धृत—जैन बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन — डॉ. सागरमल जैन, पृ. 501

²³ 1) तत्त्वार्थसूत्र, 8/10 2) उत्तराध्ययनसूत्र, 32/102 3) स्थानांगसूत्र — 9/500

4) प्रज्ञापनासूत्र 23/2 5) कर्मप्रकृति 62

6) प्रवचनसारोद्धार, द्वार 215, भाग—1, साध्वी हेमप्रभाश्री, पृ. 262

²⁴ उत्तराध्ययनसूत्र, 33/11

²⁵ जहा य अण्डप्पभवा बलागा अण्डं बलागप्पभवं जहा य।

एमेव मोहाययणं खु तण्हा मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ।। — उत्तराध्ययनसूत्र, 32/6

इस प्रकार, जहाँ मोह की सत्ता होती है, वहाँ जन्म-मरण की परंपरा सतत रूप से चलती रहती है, क्योंकि जैनाचार्यों की मान्यता है कि जब तक व्यक्ति मोह जन्य कषायों से ग्रसित है, तब तक मुक्ति संभव नहीं है। मुक्ति के लिए कषायों पर अर्थात् मोह पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

मोह मोक्ष में बाधक

जो अपना नहीं है, उसके प्रति ममत्व की भावना रखना मोह है। वस्तुतः, मोह मोक्ष में बाधक है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के दसवें 'मोक्ष' अध्ययन के प्रथम सूत्र में कहा गया है —“मोह के क्षय होने पर और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय के क्षय से केवलज्ञान प्रकट होता है।”²⁶ वाचक उमास्वाति के अनुसार, मोह को सर्वप्रथम रखने का मूल कारण यह है कि सभी कर्मों के बंध का प्रधान कारण मोह ही है। जहाँ मोह है, वहाँ राग-द्वेष है, जहाँ रागद्वेष हैं, वहाँ कषाय हैं, जहाँ कषाय है, वहाँ नो कषाय हैं, जहाँ नोकषायादि हैं, वहाँ अटारह पापस्थानों का सेवन होता है और जहाँ अटारह पापस्थानों का सेवन होता है, वहाँ निश्चित रूप से कर्मबंध होता है। उत्तराध्ययन में कहा गया है —“कर्मबंध के बीज रागद्वेष हैं और राग-द्वेष की उत्पत्ति मोह से होती है। वह मोह ही जन्म-मरण का मूल कारण है और जन्म-मरण की यह परम्परा ही वास्तव में दुःख है।”²⁷ जब तक मोह को नष्ट नहीं करेंगे, तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

“मोह के नष्ट होने पर ही तृष्णा, दुःख, लोभ, परिग्रह —सभी नष्ट हो जाते हैं।”²⁸ मोहकर्म सब कर्मों में सबसे बलवान् है, क्योंकि मोह व्यक्ति के दर्शन और चारित्र-गुण को दूषित करता है। दर्शन-गुण के दूषित होने पर जो पदार्थ जैसा है,

²⁶ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। — तत्त्वार्थसूत्र 10/1

²⁷ रागो य दासो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।

कम्मं न जाई-मरणस्स मूलं दुक्खं च जाई-मरणं वयन्ति।। — उत्तराध्ययनसूत्र, 32/7

²⁸ वही, 32/8

उसकी उसी रूप में प्रतीति नहीं होने देता है। मोह के कारण दृष्टि दूषित हो जाती है, सही-गलत का भान नहीं रहता, गलत को भी सही मान लिया जाता है और इस मिथ्या ज्ञान के कारण व्यक्ति बंधन के पाश में बंध जाता है।

पंचाध्यायी के अनुसार, 'दर्शनमोहनीय के उदय से जीव अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय और अधर्म को धर्म समझने लगता है।²⁹ वस्तुतः, मोह की उपस्थिति से व्यक्ति की स्थिति मदोन्मत पुरुष के जैसी हो जाती है। जब व्यक्ति सम्यक्-दर्शन से पतित होता है, तो मोह के कारण उसका चरित्र दूषित होता है, उसमें 'अहम्' और 'मम्' का भाव प्रबल होता है। मोह-ममत्व के कारण ही संसार में सारे दुष्कृत्य किए जाते हैं। मैं सुखी होऊँ, मेरा परिवार सुखी रहे, मुझे मान-सम्मान मिले, मेरी प्रतिष्ठा समाज में बनी रहे, —इन सबको प्राप्त करने के लिए वह दुष्कृत्यों को करता है और सम्यक्चारित्र से भी पतित हो जाता है। समाज में व्याप्त चोरी, डकैती, जमाखोरी, क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा आदि सभी बुराइयाँ मम् (मेरे) और अहम् (मैं) के पोषण के कारण ही उत्पन्न होती हैं। जब तक व्यक्ति में मोह है, स्वार्थ है, ममत्व है, तब तक बंधन निश्चित रूप से है, अर्थात् मोह है, तो मोक्ष नहीं है।

जैनदर्शन के मूलमंत्र 'नमस्कारमंत्र'³⁰ के प्रथम शब्द 'नमो' का अर्थ वस्तुतः नमन्, नमस्कार या प्रणाम करते हैं, पर प्रस्तुत प्रसंग में हम 'नमो' शब्द का अर्थ न+मो(ह) अर्थात् 'मोह नहीं' —ऐसा भी कर सकते हैं। मंत्र का प्रथम शब्द यही दर्शाता है कि यदि मोह नहीं होगा, तो व्यक्ति साधना के माध्यम से अपनी आत्मा का उत्थान कर मोक्ष प्राप्त कर सकेगा।

²⁹ तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह।

अपि यावदनात्मीयमात्मीयं मनुते कुट्टकू॥ — पंचाध्यायी— 2/990

³⁰ भगवतीसूत्र — 1

मोह के दुष्परिणाम —

1. कर्मबंधन का प्रमुख कारण मोह —

जैन-परम्परा में बन्धन के मूलभूत तीन कारण राग, द्वेष और मोह माने गए हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में राग और द्वेष —इन दोनों को कर्म-बीज कहा गया है³¹ और उन दोनों का कारण मोह बताया गया है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं, फिर भी उनमें राग ही प्रमुख है। राग के कारण ही द्वेष होता है। वस्तुतः, राग मोह का ही रूप है। जैन-कथानकों के अनुसार, इन्द्रभूति गौतम का महावीर के प्रति प्रशस्त राग भी उनके कैवल्य की उपलब्धि में बाधक रहा था। इस प्रकार, मोहजन्य राग ही बन्धन का प्रमुख कारण है। आचार्य कुन्दकुन्द राग को प्रमुख कारण मानते हुए कहते हैं —रागयुक्त आत्मा ही कर्म-बन्ध करता है और राग से विमुक्त मुक्त हो जाता है —यही जिनेश्वर परमात्मा का उपदेश है, इसलिए आसक्ति या रागभाव मत रखो।³² यदि राग का कारण जानना चाहें, तो जैन-परम्परा के अनुसार मोह ही इसका कारण सिद्ध होता है। यद्यपि मोह और राग-द्वेष सापेक्ष रूप में एक-दूसरे के कारण बनते हैं। इस प्रकार, द्वेष का कारण राग और राग का कारण मोह है। मोह तथा राग परस्पर एक-दूसरे के कारण हैं, अतः राग, द्वेष और मोह —ये तीनों ही जैन परम्परा में बन्धन के मूल कारण हैं।

बौद्ध-परम्परा में भी लोभ (राग), द्वेष और मोह को बन्धन का कारण माना गया है।³³

इस सम्बन्ध में आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं —“लोभ और द्वेष का हेतु मोह है, किन्तु पर्याय से राग, द्वेष भी मोह के हेतु हैं।”³⁴

³¹ 1) उत्तराध्ययनसूत्र, 32/7

2) जैन, बौद्ध तथा गीता के आधारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ.सागरमलजैन, भा.1,पृ.361

³² समयसार, 157

³³ अंगुत्तरनिकाय, 3/33, पृ. 137

³⁴ बौद्धधर्मदर्शन, पृ.25

गीता के अनुसार, आसुरी-सम्पदा बन्धन का हेतु है।³⁵ उसमें दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य एवं अज्ञान को आसुरी-सम्पदा कहा गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं – दम्भ, मान, मद से समन्वित आसक्ति (कामनाओं) से युक्त तथा मोह (अज्ञान) से मिथ्यादृष्टित्व को ग्रहण कर प्राणी असदाचरण से युक्त हो संसार-परिभ्रमण करते हैं।³⁶ वहाँ कहा गया है कि मोह-जाल में आवृत्त और कामभोगों में आसक्त पुरुष अपवित्र नरकों में गिरते हैं।³⁷ इच्छा, द्वेष और तज्जनित मोह से सभी प्राणी अज्ञानी बन संसार के बन्धन को प्राप्त होते हैं।³⁸ डॉ.सागरमल जैन ने अपने शोध-प्रबंध में कहा है –यहाँ गीताकार राग, द्वेष और मोह के इन तीन कारणों की व्याख्या ही नहीं करता, वरन् इच्छा-द्वेष से उत्पन्न मोह कहकर जैनदर्शन के समान राग, द्वेष और मोह की परस्पर सापेक्षता को भी अभिव्यक्त कर देता है।³⁹

सांख्य-योगदर्शन के योगसूत्र में बन्धन या क्लेश के पांच कारण माने गए हैं—

1. अविद्या (मोह), 2. अस्मिता (अहंकार), 3. राग (आसक्ति), 4. द्वेष और
5. अभिनिवेश (मृत्यु का भय)।⁴⁰ इनमें भी अविद्या (मोह) ही प्रमुख कारण है, क्योंकि मोह सहित रागद्वेष का समावेश भी अविद्या में हो जाता है।

न्यायदर्शन में जैनदर्शन के समान बन्धन के मूलभूत तीन कारण माने हैं— राग,द्वेष और मोह। राग के भीतर काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ, माया तथा दम्भ का समावेश होता है तथा द्वेष में क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह (हिंसा) तथा अमर्ष का समावेश होता है। मोह में मिथ्याज्ञान, संशय, मान और प्रमाद होते हैं, क्योंकि राग-द्वेष और मोह अज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं।⁴¹

³⁵ गीता, 18 / 15

³⁶ वही, 16 / 10

³⁷ गीता, 16 / 16

³⁸ वही, 7 / 27 गीता (शा) 7 / 27

³⁹ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ.सागरमल जैन, भा.1,पृ.65

⁴⁰ अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः । — योगसूत्र, 2 / 3

⁴¹ नीतिशास्त्र, पृ. 63

उपर्युक्त विवेचन को सारांश रूप में कहें, तो लगभग सभी धर्मदर्शनों में कर्मबन्ध या दुःख का मूल कारण मोह ही माना है।

2. दुःखों का मूल मोह है —

‘इसिभासियाइं’ में दुःखों का मूल कारण मोह को बताया है।⁴² वस्तुतः, मोहनीय कर्म को आत्मा का ‘अरि’ (शत्रु) कहा है, क्योंकि वह समस्त दुःखों की प्राप्ति में निमित्त कारण है। मोहनीय-कर्म के बिना शेष कर्म अपने-अपने कार्य की उत्पत्ति करते हुए नहीं पाए जाते हैं। मोह केन्द्रीय कर्म है और शेष कर्म उसके अधीन हैं। यद्यपि मोहनीय-कर्म की सत्ता नष्ट होने पर भी अघाती-कर्मों की सत्ता रहती है, फिर भी ऐसा इसलिए कहा जाता है कि मोहनीय के नष्ट होते ही जन्म-मरणादि से धिरे हुए दुःखरूप संसार के उत्पादन की सामर्थ्यता उन अघाती-कर्मों में नहीं रहती है। आयुष्यकर्म की समाप्ति होने पर शेष रहे तीन अघाती कर्म भी समाप्त हो जाते हैं।⁴³ इसी कारण से, मोहकर्म को सभी कर्मों का राजा कहा गया है। दशाश्रुतस्कंध में कहा है — जिस वृक्ष की जड़ सूख गई हो, उसे कितना ही सींचिए, वह हरा-भरा नहीं होता, उसी प्रकार मोह के क्षीण होने पर कर्म भी फिर से हरे-भरे नहीं होते।⁴⁴ इसिभासियाइं में कहा है — मूल को सींचने पर ही फल लगते हैं। मूल नष्ट होने पर फल भी नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जब तक मोह है, तब तक जन्ममरणादि के दुःख हैं।⁴⁵ मोह के समाप्त होने पर जन्म-मरण के चक्ररूपी दुःख भी समाप्त हो जाते हैं।

⁴² मोह मूलाणि दुःखाणि । — इसिभासियाइं 2/7

⁴³ 1) धवला, 1, 1, 1./43
2) कर्मवाद, पृ. 60

⁴⁴ सुक्कमूले जधा रूक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति ।
एवं कम्मा न रोहति, मोहविज्जे खजं गते ।। — दशाश्रुतस्कंध— 5/1

⁴⁵ मूलसिते फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फल । — इसिभासियाइं— 1/6

3. मोह से ममत्व बढ़ता है -

महाभारत में स्पष्ट कहा है -“बन्ध और मोक्ष के लिए क्रमशः दो ही पद प्रयुक्त होते हैं- 1. मम और 2. निर्मम। जब किसी पदार्थ के प्रति मम अर्थात् ममत्व या मेरापन का भाव आता है, तब ही प्राणी कर्म-बन्धन से बंध जाता है और जब किसी पदार्थ के प्रति निर्मम (मेरा नहीं है) भाव आता है, तब बन्धन से मुक्त हो जाता है।”⁴⁶

“अज्ञान में मोहित बुद्धि वाला जीव मिथ्यात्व रागादि विविध परिणामों से युक्त हुआ शरीरादि और शरीर से भिन्न स्त्री, पुत्र आदि मिश्र पदार्थों के संबंध में ऐसा मानता है कि यह मेरा है और मैं इनका हूँ, यह मेरा है, यह पूर्व में मेरा था, और भविष्य में भी मेरा होगा।”⁴⁷

“जो जीव मोह से युक्त हैं, वे विश्व के सभी पदार्थों से अलग होते हुए भी अज्ञान, राग-द्वेष और मोह के कारण विश्व के समस्त पर-पदार्थों को अपना मानते हैं। यह एकमात्र मोह का ही परिणाम है। इसका मूल मोह ही है और जिनमें यह मोह नहीं होता वे ही यति, साधु, ऋषि, मुनि हैं।”⁴⁸

वस्तुतः, मोक्ष के अभिलाषी जीव को कभी-कभी शरीरादि पर पदार्थों के प्रति ममत्व या मूर्च्छा के बदले परमात्मा या गुरु के प्रति भी ममत्व उत्पन्न हो जाता है, किन्तु जैनदर्शन में इसे भी मुक्ति में बाधक कहा गया है। जो व्यक्ति मोहग्रस्त होता है, उसकी दृष्टि दूषित होने से वह पुत्र, पुत्री, स्त्री, धन, मकान, अन्य साधन-सामग्री को अपना कहता है, पर ये सभी भी जब तक जीवन है, तभी तक अपने कहलाते हैं। पत्नी घर की देहरी तक, स्वजन श्मशान तक और यह शरीर चिता तक ही साथ

⁴⁶ द्वे पदे बन्ध-मोक्षाय, निर्ममेति ममेति च।
ममेति अध्यते जन्तुः, निर्ममेति विमुच्यते।। - महाभारत - 4/72

⁴⁷ समयसार, गाथा 20-23

⁴⁸ विश्वादिभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा, दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष, नास्तीह येषां यतयस्त एव।। - अमृतकलश, अमृतचन्द्राचार्य

देता है, फिर भी मोह—ममत्व के कारण व्यक्ति अपनी तृष्णा को प्रदीप्त करता है और इन परद्रव्यों को अपना मान लेता है।

जो व्यक्ति ऐसा करता है वह 'अज्ञानी' है, क्योंकि अज्ञानी जीव मोह से आवृत्त होते हैं⁴⁹ और 'मोह के कारण जीव बार—बार जन्म—मरण के आवर्त में फंसता है।'⁵⁰ और 'रागद्वेष करता हुआ ममत्वबुद्धि रखता हुआ, पापकर्म करता है।'⁵¹

गर्मी के समय रेगिस्तान की तपती भूमि में मृग प्यास से व्याकुल होकर दौड़ लगाता है, सामने चमकती रेतीली भूमि उसे धूप के कारण पानी के समान प्रतीत होती है, वह दौड़ता हुआ उसके समीप जाता है, पर पानी न मिलने पर निराश हो जाता है, पुनः आगे दृष्टि दौड़ाता है, वहाँ भी पानी नजर आता है, पर पुनः रेती देखकर प्यास से व्याकुल हुआ दौड़—दौड़कर थक जाता है और अन्ततोगत्वा प्राणों का त्याग कर देता है, पर कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाता। यही दशा यहाँ जीव की बनी हुई है। मंगतरायजी बारह भावनाओं में इसका सुन्दर चित्रण करते हुए कहते हैं—“मोहरूपी मृगतृष्णा के कारण परद्रव्य में सुख की कांक्षा में यह चेतनरूपी मृग यत्र—तत्र भ्रमण कर रहा है। सोचता है, यहाँ सुख मिलेगा, अब मिलेगा इसी आर्तध्यान में प्राणों को खो देता है, जीव को किंचित् मात्र भी हाथ नहीं लगता। परद्रव्य से सुख की चाह में भटकता हुआ, परद्रव्यों को अपना बनाता है, मानता है, किन्तु कभी भेदज्ञान करने की चेष्टा नहीं करता।⁵²

4. मोह आत्मतत्त्व के बोध में बाधक —

मोह से युक्त जीव आत्मतत्त्व को नहीं समझता है। मैं आत्मा हूँ, ज्ञान दर्शन मेरे गुण हैं, अपनी आत्मा के अलावा सभी 'पर' हैं, व्यर्थ हैं, उनके प्रति मेरापन मिथ्या कल्पनामात्र है —इस परमसत्य का आभास भी मोहान्ध जीव को नहीं होता है।

⁴⁹ मंदा मोहेण पाउडा। — सूत्रकृतांगसूत्र 3/1/11

⁵⁰ मोहेण गब्धै मरणाई एइ। — आचारांगसूत्र, 5/3

⁵¹ राग—द्वोसस्सिया वाला, पापं कुव्वंति ते बहु। — सूत्रकृतांगसूत्र —1/15/7

⁵² बारहभावना, मंगतरायजी, गा. 12—13, उद्धृत, प्रशान्तवाणी, पृ. 59

मोहासक्त अविवेकी जीव 'पर' की चिन्ता करता रहता है। पर की चिन्ता में स्वयं कभी दुःखी होता है, कभी उदास होता है, कभी प्रसन्न होता है, कभी नाराज होता है, कभी हर्ष, तो कभी शोक से युक्त होता है। मोह के कारण उसकी समझ सम्यक् नहीं बन पाती और आत्मतत्त्व के बोध में बाधक बनती है। निशीथचूर्णि में कहा है —विवेकज्ञान का विपर्यास ही मोह है।⁵³

5. सम्मोह मनुष्य के विनाश की अन्तिम स्थिति —

वस्तुतः, मोह का ही एक रूप सम्मोह है, जिसका अर्थ मूढ़ता होता है। गीता में कहा गया है —

“क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः।”⁵⁴

क्रोध से अत्यन्त मूढ़ता पैदा होती है और मूढ़ता से स्मृति विभ्रम होती जाती है, क्योंकि क्रोध से मनुष्य की चिन्तन-शक्ति क्षीण हो जाती है। जो कुछ थोड़ा-बहुत विवेक का प्रकाश रहता है, वह भी मोह के सघन आवरण के कारण, लुप्त हो जाता है, बुद्धि में विभ्रम, विक्षिप्तता और चंचलता पैदा हो जाती है। गीता में आगे तो यहाँ तक कहा है —

“स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।”

स्मृति के विनाश से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि के नाश से व्यक्तित्व का नाश हो जाता है, अतः हे अर्जुन —

यदा ते मोहकलिलं, बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेद, श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।⁵⁵

⁵³ मोहो विष्णाण विवच्चासो। — निशीथचूर्णिभाष्य, गाथा 26

⁵⁴ गीता, 2/63

⁵⁵ वही, 2/52

अर्थात्, जब तक तेरी बुद्धि मोह के दलदल को बिल्वुल छोड़कर ऊपर आएगी और मोह से पार हो जाएगी, तभी तेरी आत्मा कुछ सुनने योग्य होगी और सुनने मात्र से वैराग्य को प्राप्त करेगी।

6. मोह मनुष्य को धर्म से पतित करता है –

मोह से आक्रान्त मनुष्य धर्म के प्रति भी उदासीन रहता है। धर्म के प्रति उसके हृदय में श्रद्धा नहीं होती है, पवित्र भाव पैदा नहीं होते हैं। वह धर्म के सुन्दर, सम्यक् श्रेष्ठ प्रभाव को नहीं जान पाता है, क्योंकि उसे संसार ही लुभावना लगता है। उसे मान-सम्मान की चाह, लोभ का संग, कपट द्वारा वस्तुप्राप्ति की चाह, काम-भोग के साधन उसे अच्छे लगते हैं। मोह के कारण उसे सत्य का दर्शन नहीं हो पाता, इसलिए वह अपने निजधर्म और व्यावहारिक-धर्म से पतित हो जाता है। निज-धर्म से तात्पर्य स्व-स्वभाव का भान और व्यावहारिक-धर्म, अर्थात् नैतिक-जीवन के आदर्शों सहित समाज में जीना।

7. मोह-ममत्व का बोझ नरक ले जाता है –

मूर्च्छा कहो, ममत्व कहो, परिग्रह कहो या मोह कहो, अर्थ एक ही है। ममत्व और मोह से रंजित व्यक्ति संसार-सागर के बहुत नीचे सात नरक तक जा सकता है, इसलिए ममत्व, मूर्च्छा, मोह को तोड़ने का समत्व पाने का उपदेश सभी ज्ञानी पुरुष देते हैं।

शास्त्रों में उल्लेखित है कि वासुदेव अवश्य नरक में जाते हैं, क्योंकि मृत्यु-पर्यंत परिग्रह का, ममत्व का, त्याग नहीं करते हैं और सभी बलदेव मोक्ष में जाते हैं, क्योंकि वे मृत्यु के पहले परिग्रह का त्याग कर देते हैं। ठीक वैसे ही, जो चक्रवर्ती मृत्यु तक ममत्वबुद्धि बनाए रहते हैं, वह अवश्य सातवीं नरक में जाते हैं, जो मृत्यु के पूर्व ममत्व का त्याग कर देते हैं, वे स्वर्ग अथवा मोक्ष में जाते हैं।

जैन-कथानकों के अनुसार भरत चक्रवर्ती वगैरह सर्वथा अपरिग्रही थे, इसलिए मोक्ष में गए। सनत्कुमार चक्रवर्ती ने देह-ममत्व कम किया, तो वे तीसरे देवलोक में गए और सुभूम चक्रवर्ती ने ममत्व-परिग्रह-मोह नहीं त्यागा था, इसलिए नरक में गए।⁵⁶

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मोह के कारण ही मनुष्य की दुर्गति होती है, परंतु इस मोह को भी त्यागा जा सकता है, अतः आगे, इस मोह पर विजय कैसे हो- इस बात की चर्चा करेंगे।

मोह पर विजय कैसे प्राप्त करें ?

मोह वास्तव में एक मानसिक-आवेग है। मानसिक-आवेगों पर विजय कैसे प्राप्त की जाए -यह एक प्रश्न है ? मोह वस्तुतः दोहरा कृत्य है, जिसमें एक तो वह व्यक्ति के दृष्टिकोण को भ्रमित करता है तथा उसे दोषयुक्त बनाता है। दृष्टि के दूषित होने पर वस्तुस्थिति का निर्णय सम्यक् प्रकार से नहीं किया जा सकता है।

मोह पर विजय प्राप्त करने के लिए समयसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने जितेन्द्रिय, जितमोह तथा क्षीणमोह इन तीन प्रकार से मोह को जीतने की बात की है। जितेन्द्रिय होना, अर्थात् इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना। बाह्य-वस्तुओं के प्रति जिसका मोह अधिक होता है, उसे अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिए। चूंकि इन्द्रियों के विषय पराश्रित हैं, अतः मोह पर विजय पाने के लिए सर्वप्रथम चित्तवृत्ति को इन्द्रियों के विषयों अर्थात् बाह्य-विषयों से हटाकर स्व में स्थित करने का प्रयास करना चाहिए। जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर अपने ज्ञानस्वभाव के द्वारा आत्मा को जानता है, उसे ही नियम से, अर्थात् नय से साधु कहा जाता है।⁵⁷

⁵⁶ भावना-स्तोत्र, भाग-1, साध्वी सुलक्षणाश्री, पृ. 269

⁵⁷ जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।

तं खलु जिदिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।। - समयसार, गाथा-31

विषय अपने-आप में अच्छे या बुरे नहीं हैं, साधक की दृष्टि में मोहजन्य रागद्वेष के कारण विषय अनुकूल या प्रतिकूल बन जाते हैं। मोह मीठा जहर है, मधु-मिश्रित विष है। वह मन को मधुर लगता है, किन्तु परिणाम इसका भी विषतुल्य है। भगवद्गीता में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है।

“प्रत्येक इन्द्रिय के अर्थ (विषय) के साथ रागद्वेष विशेष रूप से अवस्थित रहे हुए हैं। साधक उन रागद्वेषरूपी मोह के वशीभूत न हो, क्योंकि यह मोह ही अंतरंग शत्रु है।”⁵⁸

आचारांगसूत्र में भी कहा है — जो अनायास प्राप्त मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श को पाकर मोह नहीं करता तथा अमनोज्ञ पापजन्य अशुभ शब्दादि को पाकर प्रद्वेष भी नहीं करता, वही साधक पंडित (अर्थात् जितमोह) कहलाता है।⁵⁹ उत्तराध्ययन में भी कहा है — इन पांचों इन्द्रियों के विषयों के ग्रहण के प्रति मन में जरा भी मोह न करें, मन को चंचल न होने दें, वचन से अच्छी-बुरी प्रतिक्रिया प्रकट न करें तथा काया को भी उसके प्रभाव से शून्य बना दें। मन में शुभ या अशुभ रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श का स्मरण-मनन न करें और न आसक्ति, मोह, लालसा, वासना, लिप्सा आदि करें।⁶⁰

इस प्रकार हम मोह को जीत सकते हैं, परंतु कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं कि मात्र इन्द्रियों के विषय को समाप्त करने से मोह पर विजय प्राप्त नहीं हो सकती, इसके लिए वस्तु के प्रति जो आसक्ति है, उसे हटाने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार के व्यक्ति को ही ‘जितमोह’ कहा गया है। जितमोह व्यक्ति मोह को जान तो रहा है, देख भी रहा है कि यह बुरा है, जैसे— कोई व्यक्ति बाह्य-रूप से मिटाई का त्याग करता है, वह जान रहा है कि यह त्याग मिटाई के प्रति उसकी

⁵⁸ इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ।

तयोर्न वशमागच्छेतौ हास्य परिपन्थिनौ।। — भगवद्गीता 3/34

⁵⁹ आचारांगसूत्र, 2/3/15/131-135

⁶⁰ जे सह-रुव-रस-गंधमायए, फासे य संपप्प मणुण्णपावए।

गेही पओसं न करेज्ज पंडिए, स होति दंते विरए अकिंचणं। — उत्तराध्ययनसूत्र, वृत्ति 32

जो आसक्ति है, उसे कम करेगा, उस व्यक्ति ने बाह्य-रूप से तो मोह को जीत लिया है, परंतु अंदर बनी रहने वाली आसक्ति को नहीं जीत पाया है।⁶¹ यहाँ पर भी मोह की सत्ता माननी तो होगी।

‘क्षीणमोह’ वह है, जो मोह का संपूर्ण रूप से क्षय कर देता है, जो व्यक्ति आंतरिक-रूप से भी मोह को त्याग देता है, वही क्षीणमोह कहलाता है।⁶²

कुन्दकुन्दाचार्य ने मोह को जीतने के लिए सर्वप्रथम बाह्य-इन्द्रियों के विषय को त्यागने की बात की, फिर बाह्य-वस्तु का त्याग तो मोह को जीतने के लिए किया, पर फिर भी कुछ अंश में मोह के प्रति आसक्ति बनी रही। मोह पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करना है, तो क्षयमोह से ही संभव है। मोक्ष का क्षय ही व्यक्ति को मोक्ष तक पहुंचा सकता है।

2. भेदविज्ञान द्वारा मोह पर विजय —

जिस प्रकार दूध और पानी एक क्षेत्रावगाही रहते हुए भी भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही एकक्षेत्रावगाही रहते हुए भी शरीर आत्मा से भिन्न है, दोनों के गुण-धर्म समान नहीं हैं। जैसे दूध पानी की तरह एकनिष्ठ दिखने वाले शरीर एवं आत्मा भी एक नहीं है, तो फिर साक्षात् रूप से भिन्न-भिन्न दिखाई देने वाले धन, मकान, पुत्र, स्त्री आदि अत्यन्त भिन्न पदार्थ जीव के कैसे हो सकते हैं ? मोह पर विजय पाने के लिए निरन्तर यह भेद-विज्ञान करते रहना चाहिए। जैसे नारियल अलग है और छिलका अलग, दूध अलग और पानी अलग हैं, वैसे ही शरीर अलग है और आत्मा अलग है, या कर्म अलग और आत्मा अलग है। यह चिन्तन या विचार करो कि यह शरीर अचेतन है, तुम चेतन हो, शरीर अज्ञानी है, जड़ है, तुम ज्ञानी हो, अनादिकाल से मोह के कारण एक माने जा रहे हो। जैसे पुरुषार्थ के द्वारा दूध-पानी को अलग

⁶¹ जो मोहं तु जिणित णाणसहावाधियं मुणइ आदं।

तं जिदमोहं साहुं परमट्ठावियाणया विति ॥ — समयसार, गाथा 32

⁶² जिदमोहस्स दुजइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।

तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहि ॥ — वही, गाथा 33

किया जा सकता है, वैसे ही भेदज्ञान द्वारा मोह पर विजय प्राप्त कर आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न माना जा सकता है।

3. मोह को तोड़ने के लिए एकत्व-भावना –

जिसका जैसा स्वभाव है, उसको उसी रूप में न समझना मोह है और जिसका जैसा स्वभाव है, उसको उसी स्वरूप में समझना ही मोक्षमार्ग की उत्तम सीढ़ी है।

अष्ट कर्मों में सबसे खतरनाक मोह ही है। अगर मोहनीय-कर्म पर विजय प्राप्त हो जाए तो ऐसा मानना चाहिए कि सेनापति पर नियंत्रण स्थापित हो गया है। जिस सेना का सेनापति नियंत्रण में आ जाए, उस सेना के पाँव उखड़ने में समय नहीं लगता है। दुःखमय संसार को सुखमय मानकर उसमें आसक्त रहने का मुख्य कारण मोहनीय-कर्म का ही परिणाम है।

‘एगोहं नत्थि मे कोई नाहमनस्स कस्सवि।’⁶³

मैं एकाकी हूँ, संसार के सारे संबंध नाशवान हैं, इस प्रकार की भावना मोह बंधन को तोड़ने के लिए खड़्ग के समान है।

4. अकेला आया हूँ, अकेला जाऊँगा, इस एकत्व-भावना से मोह पर विजय पाएं –

मोह को जीतने के लिए यह भाव सदा रखना चाहिए कि ‘अकेला आया हूँ अकेला जाऊँगा’। जब यह बात मंत्ररूपेण व्यक्ति के जीवन में रम जाए, तो मोह का अस्तित्व ही खत्म हो जाएगा। व्यक्ति अकेला ही गर्भ में उत्पन्न होता है और अपना शरीर बनाता है, वह जन्मता भी अकेला है, क्रमशः बाल, किशोर, युवान और वृद्ध भी अकेला ही होता है, अकेला ही रोग-शोक भोगता है, अकेला ही संताप-वेदना सहता है और अकेले ही मरता है, अकेला ही नरक के दुःख सहन करता है, नरक में

⁶³ आवश्यकसूत्र, गाथा 7

परवशता से दुःख अकेले को ही सहन करने पड़ते हैं। मोह के कारण व्यक्ति अपेक्षा रखना प्रारंभ कर देता है और अपेक्षा की पूर्ति नहीं होती है, तो वह दुःखी होता है। इसलिए मन में जब यह दृढ़ संकल्प रहेगा कि मैं अकेला आया हूँ और अकेला ही जाऊँगा, दूसरे स्वजन-परिजन मेरा कुछ भी नहीं कर सकते, इससे निश्चित रूप से मोह पर जय की जा सकती है।

प्रशमरति में उमास्वाति ने भी कहा है – “मैं अकेला हूँ, अकेला पैदा होता हूँ और मरता भी अकेला ही हूँ, नरक में जाता हूँ, तो भी अकेला और स्वर्ग की सैर करता हूँ, तो भी अकेला, मैं अकेला ही मनुष्य-गति में जन्म लेता हूँ और पशुयोनि में जाऊँ, तो भी मैं स्वयं ही – यह चिन्तन सतत् करते रहना चाहिए।⁶⁴

5. समत्व से मोह पर विजय –

यदि सभी कर्मों से मुक्ति पाना है तथा शारीरिक-मानसिक संतापों से, क्लेशों से मुक्त होना है, तो एकत्व और समत्व की आराधना करना होगी, एकत्व-भावना का चिन्तन प्रतिदिन करना होगा। उपाध्याय श्री विनयविजयजी शान्तसुधारस ग्रंथ में चौथी एकत्व-भावना समझाते हुए कहते हैं – “सोना जैसी कीमती धातु भी यदि हल्की धातु से मिल जाती है, तो अपना निर्मल रूप खो बैठती है, वैसे ही आत्मा परभाव में अपना निर्मल रूप खो बैठती है।⁶⁵

“परभाव के प्रपंच में पड़ी हुई आत्मा न जाने कितने स्वांग रचती है, पर वही आत्मा अनादि कर्मों के मैल से मुक्त हो जाए, तो शुद्ध सोने की भाँति चमक उठती है।⁶⁶

⁶⁴ एकस्य जन्म मरणे, गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते
तस्मादाकालिका हितमेकेनैवात्मनः कार्यम् ॥ – प्रशमरतिप्रकरण – 153

⁶⁵ पश्य कांचनमितरपुद्गलमिलितमंचति कां दशाम् ।
केवलस्य तु तस्य रूपं विदितमेव भवादृशाम् ॥ – शान्तसुधारस ग्रंथ, 4/5

⁶⁶ 1) एवमात्मनि कर्मवशतो भवति रूपमनेकधा ।
कर्ममलरहिते तु भगवति भासते कान्चविधा ॥ – वही 4/6
2) प्रवचनसार, गाथा-7

हमने बहुत बार मनुष्य-जन्म पाया, परन्तु आध्यात्म-चिंतन नहीं किया। अब आध्यात्मिक-दृष्टि पाकर मोह की छाती में आत्मा के एकत्व का तीर मारना ही है, मोह ममत्व को नष्ट करना ही है।

वार अनन्त चुकीया चेतन। इण अवसर मत चूक।

मार निशान मोहराय की छाती में मत उक।।

इस प्रकार, मोह पर विजय प्राप्त करने के लिए ज्ञानसार में यशोविजयजी ने मोह-अष्टक के माध्यम से, मोह पर विजय किस प्रकार से हो, इसकी चर्चा की है,⁶⁷ जिसे हम यहाँ यथावत् प्रस्तुत कर रहे हैं —

अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।

अयमेव हि नञ्पूर्वः, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित्।। 1।।

‘मैं’ और ‘मेरा’ —यह मोह राजा का मंत्र है, वह जगत् को अंधा और अज्ञानी बनानेवाला है, जबकि इसका प्रतिरोधक मंत्र भी है, जो मोह पर विजय हासिल करानेवाला है।

शुद्धात्मद्रव्यमेवाऽहं, शुद्धज्ञानं गुणो मम।

नान्योऽहं न ममान्ये चे-त्यहो मोहस्त्रमुल्वणम्।। 2।।

मोह का हनन करनेवाला एक ही अमोघ शस्त्र है और वह है : मैं शुद्ध आत्म-द्रव्य हूँ, केवलज्ञान मेरा स्थायी गुण है, मैं उससे अलग नहीं और अन्य पदार्थ मेरे नहीं, इस प्रकार का चिन्तन करना। इससे मोह समाप्त होने लगता है।

यो न मुह्यति लग्नेषु, भावेष्वौदयिकादिषु।

आकाशमिव पङ्केन, नाऽसौ पापेन लिप्यते।। 3।।

जो जीव लगे हुए औदायिक-भावों में मोहमूढ़ नहीं होता है, वह जीव, जिस तरह कीचड़ से आकाश लिप्त नहीं होता, ठीक वैसे ही पापों से लिप्त नहीं होता।

कहने का तात्पर्य यह है कि मोह राजा भले ही अनेकविध बाह्य-आभ्यन्तर आकर्षण पैदा करे, अपना जाल फैलाए, पर जीवात्मा को उसके वशीभूत नहीं होना

⁶⁷ ज्ञानसार —मोहत्याग, 4, गाथा 25-32, श्री भद्रगुप्तविजयजी, पृ. 39

चाहिए, बल्कि उससे दूर रहना चाहिए, तब मोह का जीव पर प्रभाव नहीं पड़ेगा, वह मोह बार-बार प्रयत्न करके हार जाएगा। जिस तरह कोई व्यक्ति आकाश को मलिन करने के लिए कीचड़ उछाले, तो उससे आकाश मलिन नहीं होता, ठीक उसी तरह, मोह द्वारा उछाले गए कीचड़ से आत्मा मलिन नहीं होती और ना ही वह पाप के अधीन होती है।

कहा गया है – अराग-अद्वेष के कवच को मोह के तीक्ष्ण तीर भी भेदने में पूर्णतया असमर्थ हैं।

पश्यन्नेव परद्रव्य-नाटकं प्रतिपाटकम्।

भवचक्रपुरस्थोऽपि, नाडमूढः परिखिद्यते ॥ 4 ॥

अनादि-अनंत कर्म-परिणामरूप राजा की राजधानी-स्वरूप भवचक्र नामक नगर में वास करते हुए भी एकेन्द्रिय आदि नगर की गली-गली में पर-द्रव्य के जन्म-जरा और मरणरूपी नाटक को देखती हुई मोहविमुक्त आत्मा दुःखी नहीं होती।

विकल्पचषकैरात्मा, पीतमोहाऽऽसवो ह्ययम्।

भवोच्चतालमुत्ताल-प्रपञ्चमधितिष्ठति ॥ 5 ॥

विकल्परूपी मदिरा-पात्रों से सदा मोह-मदिरा का पान करनेवाला यह जीवात्मा, सचमुच जहाँ हाथ ऊँचे कर तालियाँ बजाने की चेष्टा की जाती है, वैसे संसाररूपी मदिरालय का आश्रय लेता है।

मोह-मदिरा का नशा, अर्थात् वैषयिक-सुखों की चाह, उसमें अटका जी न जाने कैसे उन्मत्त, पागल बन मौजमस्ती करता है। जब तक मोह-मदिरा के चंगुल से आजाद न हुआ जाए, विकल्प के मदिरा-पात्र फेंक न दिए जाएं, तब तक निर्विकार ज्ञानानन्द में स्थिरभाव असंभव है। जब तक ज्ञानानन्द में स्थिर न हों, तब तक परब्रह्म में मग्न होना तो दूर रहा, उसका स्पर्श तक कठिन है।

स्थिरता के पात्र से ज्ञानामृत का पान करने वाली जीवात्मा ही विवेकी, विशुद्ध व्यवहारी बन सकती है।

निर्मलं स्फटिकस्येव, सहजं रूपमात्मनः।

अध्यस्तोपाधि सम्बन्धो, जडस्तत्र विमुह्यति ॥ 6 ॥

आत्मा का स्वाभाविक सिद्ध स्वरूप स्फटिक जैसा निर्मल है। उसमें उपाधि का संबंध आरोपित करके अविवेकी जीव उसमें फंसता है।

अनारोपसुखं मोह—त्यागादनुभवन्नपि।

आरोपप्रियलोकेषु, वक्तुमाश्चर्यवान् भवेत् ॥ 7 ॥

वीतराग सर्वज्ञ भगवन् द्वारा प्रतिपादित योगमार्ग पर निरंतर गतिशील योगी पुरुष, देवाधिदेव की अनन्यकृपा से जब मोह का क्षय—उपशम करने वाला बनता है और उस पर छाए मोहादि—आवरण के प्रभाव को नहींवत् बना देता है तब आत्मा के स्वाभाविक सुखों का अनुभव करता है और रात—दिन असत्याचरण में खोए मिथ्यात्वी जीवों को अपना अनुभव कहने में आश्चर्य करता है।

यश्चिददर्पणविन्यस्त — समस्ताऽऽचारचारुधीः।

क्व नाम स परद्रव्ये—ऽनुपयोगिनि मुह्यति? ॥ 8 ॥

परद्रव्य तब तक ही मन को मलिन, मोहित करने में समर्थ होता है, जब तक शीशे के दर्पण में मनुष्य अपने सौन्दर्य और व्यक्तित्व को देखने का प्रयत्न करता है। वह जैसे—जैसे आत्मस्वरूप के दर्पण में अपने व्यक्तित्व को (ज्ञान—दर्शन—चारित्र आदि) सुन्दरता को गौर से देखने का प्रयत्न करता है, वैसे—वैसे परद्रव्यों के प्रति रही आसक्ति, प्रीति—भाव कम होने लगता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ज्यों—ज्यों ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार —ये पांच आचारों के पालन की गति बढ़ती जाएगी, त्यों—त्यों आत्म—स्वरूप की सुन्दरता में बढ़ोतरी होने से पर—द्रव्यों के सम्बन्ध में जीवात्मा की आसक्ति (मोह) कम होने लगेगी।

(ब) शोक—संज्ञा {Instinct of Sorrow}

शोक—संज्ञा का स्वरूप —

संज्ञाओं के षोडशविध⁶⁸ वर्गीकरण के अन्तर्गत 'शोकसंज्ञा' का क्रम पन्द्रहवां है। शोक वस्तुतः एक मनोगतभाव है, जो इष्टवियोग और अनिष्ट-संयोग के कारण होता है।⁶⁹ यह हम स्वाभाविक रूप से देखते हैं कि जब हमारी किसी प्रिय वस्तु या स्वजन का संयोग होता है, तो मन प्रसन्न हो जाता है, साथ ही जब अनिष्ट या प्रतिकूल व्यक्ति का संयोग होता है, तो मन खिन्न हो जाता है। ऐसा मनोभाव लगभग सभी जीवधारियों के व्यवहार में देखा जाता है। जैनदर्शन के अनुसार, वनस्पति-जगत भी इससे प्रभावित होता है। जैनदर्शन में शोक को संज्ञा और मनोविज्ञान में एक मूलप्रवृत्ति कहा गया है।

जैनदर्शन के अनुसार, वस्तुतः शोक नोकषाय-मोहनीयकर्म की एक प्रवृत्ति है। नो-कषाय चार प्रधान कषायों के परिणाम होते हैं या उन्हें उत्तेजित करते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव किसी निमित्तपूर्वक अथवा बिना किसी निमित्त के भी शोकाकुल होता है, उसे शोक-मोहनीयकर्म कहते हैं।

अभिधानराजेन्द्रकोश में इष्ट का वियोग होने पर जो उद्वेग चित्त में उत्पन्न होता है, उसे शोक कहा गया है।⁷⁰

स्थानांगसूत्र में कहा गया है --नोकषाय और वेदनीयकर्म के उदय से जीव प्रिय वस्तु या व्यक्ति के विरहादि निमित्तों में अथवा पूर्व में भोगे हुए दुःख के प्रसंगों को याद करके रोता है, चीखता है, चिल्लाता है, आक्रन्दन करता है, छाती पीटता है, माथे को दीवार से टकराता है, भूमि पर लोटता है, आत्महत्या करने को प्रेरित होता

⁶⁸ 1) आचारांगसूत्र, 1/2/2 विवेचना

2) अभिधानराजेन्द्रकोश खण्ड-7, पृ. 301

⁶⁹ स च सचिताचित्तामिश्राणमिष्टानां वियोगेन, अनिष्टानां संयोगेन च भवति। - अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग-7, पृ. 1157

⁷⁰ 1) इष्टवियोगनाशादिजनिते चित्तोद्वेगे - वही

2) नियमसार, गाथा 131

है, उसे शोक कहते हैं।⁷¹ सर्वार्थसिद्धि में उल्लेख है — उपकार करनेवाले से सम्बन्ध के टूट जाने पर जो विकलता होती है, वह शोक है।⁷² धवला में कहा गया है कि शोक अरतिपूर्वक होता है, जहाँ अरति है, वहाँ शोक है।⁷³

भगवतीसूत्र में कहा गया है कि शोक से असातावेदनीय—कर्म का बंध होता है,⁷⁴ क्योंकि जब जीव दूसरों को दुःख देता है, रुलाता है, पीटता है, परिताप देता है, शोक उत्पन्न करता है, तो जीव असातावेदनीय—कर्म का बंध करता है। तत्त्वार्थसूत्र में भी इसी बात का समर्थन करते हुए आचार्य उमास्वाति लिखते हैं कि दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिवेदन स्वयं करने से, अन्य को कराने से अथवा दोनों को एक साथ उत्पन्न करने से असातावेदनीय—कर्म का बंध होता है।⁷⁵ शोक का विस्तार—क्षेत्र बहुत विशाल है। जब शोक उत्पन्न होता है, तो वह स्वयं को तो शोकग्रस्त करता ही है, साथ ही उसके आस—पास के प्राणी भी उस शोक से प्रभावित होते हैं। क्रोध वस्तुतः व्यक्त होकर समाप्त हो जाता है, परंतु शोक व्यक्ति को दीमक की तरह खोखला बना देता है। शोक जब उत्पन्न होता है, तो व्यक्ति निराश हो जाता है। उसे संसार की कोई भी वस्तु इष्ट नहीं लगती है। वह अन्दर ही अन्दर अपने आप को नष्ट करने की योजना बनाता रहता है और आत्महत्या करने के लिए भी तत्पर हो जाता है।

मनोविज्ञान जिसे निराशा, विशाद [Depression], उदासी, खिन्नता, तनाव [Tention] या चिन्ता कहता है, वस्तुतः वे सब शोक के ही रूप हैं। शोक एक ऐसी मानसिक—विकृति है, जिसमें व्यक्ति के भाव [feelings], संवेग [emotion] एवं तत्सम्बन्धी मानसिक—दशाओं में इतना उतार—चढ़ाव होता है कि उसका अपना

⁷¹ नोकषायवेदनीयकर्मभेदे, यदुदयेन शोकरहितस्यापि जीव स्याक्रन्दनादिः शोको जायते। —स्थानांगसूत्र, 9/69

⁷² अनुग्राहकसंबन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः। — सर्वार्थसिद्धि 6/11—338/12

⁷³ अरदीए विणा सोगाणुप्पत्तीए। — धवला— 12/4

⁷⁴ परदुक्खणयाये, परसोयणयाए, परतिप्पणयाए, परपिड्डणयाए, पर परियावणयाए, बहूणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जाव परियावणयाए एवं खलु गोयमा! जीवाणं अस्सायावेयणिज्जाकम्मा किज्जन्ते।

— भगवती, श.7 उ.6, सू. 286

⁷⁵ दुःखशोक तापाक्रन्दनवधपरिवेदनान्यात्म परोभयस्थानान्य सद्देद्यस्य। — तत्त्वार्थसूत्र, 6/12

दिन-प्रतिदिन का जीवन भी अस्तव्यस्त हो जाता है। विशाद के कारण व्यक्ति के सामाजिक एवं वैयक्तिक-जीवन में भी अनेक तरह की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

वस्तुतः, मनोवैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि जब व्यक्ति विषाद की अवस्था में होता है, तो भूख, नींद एवं शारीरिक-वजन में कमी होती जाती है। व्यक्ति की क्रियाशक्ति कम हो जाती है, उसकी अपनी अभिरुचि [interest] खत्म हो जाती है तथा उसका किसी कार्य में मन नहीं लगता है। ऐसे व्यक्तियों में नींद की कमी, शारीरिक-वजन में कमी, थकान, स्पष्ट रूप से सोचने की क्षमता में कमी तथा अपने अयोग्य होने का भाव उत्पन्न हो जाता है, यहाँ तक कि आत्महत्या [suicide] की प्रवृत्ति आदि भी इसके कारण ही होती है।⁷⁶

विषाद अर्थात् उदासी एक विकार है। डिप्रेशन एक बड़ा रोग है। उदास व्यक्ति अपनी क्षमताओं का ठीक से उपयोग नहीं कर पाता है, उसकी शक्तियाँ मुरझा जाती हैं, क्षीण हो जाती हैं, सीमित हो जाती हैं, जबकि प्रसन्न रहने वाला व्यक्ति अपनी शक्तियों का सही उपयोग कर पाता है।

अतः, स्पष्ट है कि शोक और उदासी व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक शक्ति को कमजोर बना देती है।

शोक आर्त्तध्यान का ही एक रूप है।

जैनदर्शन में शोक को संज्ञा (मूलप्रवृत्ति) के रूप में, नोकषाय के रूप में और आर्त्तध्यान के रूप में परिभाषित किया गया है। वस्तुतः, शब्द-संरचना की दृष्टि से सब अलग-अलग प्रतीत होते हैं, परंतु मूल में सबका स्वरूप प्रायः समान ही है। शोक-संज्ञा और नोकषाय के रूप में शोक की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। यहाँ हम आर्त्तध्यान के रूप में शोक की चर्चा करेंगे।

⁷⁶ आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, -अरुणकुमार सिंह, पृ. 444

“ऋते भवम् आर्तम्” इस निर्युक्ति के अनुसार, ऋत अर्थात् दुःख के निमित्त के कारण संकिलष्ट अध्यवसाय का नाम आर्तध्यान है।

आर्तध्यान :-

‘अर्ति’ शब्द का अर्थ चिन्ता, पीड़ा, शोक, दुःख, कष्ट आदि हैं। इसके सम्बन्ध से जो ध्यान होता है, वह आर्तध्यान है। जैनाचार्यों ने ध्यान को ‘चित्तनिरोध’ कहा है।⁷⁷ चित्त का निरोध हो जाना ही ध्यान है। ‘ध्यान’ शब्द का सामान्य अर्थ चेतना का किसी एक विषय या बिन्दु पर केन्द्रित होना है।⁷⁸ चेतना जिस विषय पर केन्द्रित होती है, वह प्रशस्त या अप्रशस्त—दोनों ही हो सकता है। इस हेतु से ध्यान के चार प्रकार कहे गए हैं—1. आर्तध्यान, 2. रौद्रध्यान, 3. धर्मध्यान और 4. शुक्लध्यान।⁷⁹ तत्त्वार्थसूत्र में ‘परेमोक्षहेतुः’⁸⁰ सूत्र से स्पष्ट होता है कि प्रारंभ के दो ध्यान आर्त और रौद्र-ध्यान संसार के हेतु या संसार बढ़ाने वाले हैं और परे अर्थात् अन्त के दो ध्यान (धर्मध्यान और शुक्लध्यान) मोक्ष के कारण हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में संसारवर्ती सकर्मी जीवों को शुभ या अशुभ कर्मों के उदय से क्रमशः इष्ट का संयोग और अनिष्ट का वियोग तथा इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग अनादिकाल से होता आया है। इस संयोग-वियोग के कारणों से मन में संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते ही रहते हैं। इसे ही ‘आर्तध्यान’ कहते हैं और इस आर्तध्यान का जो भाव है, वही शोक है।

दूसरे शब्दों में कहें, तो चेतना राग या आसक्ति में डूबकर किसी वस्तु और उसकी उपलब्धि की आशा पर केन्द्रित होती है, तो उसे आर्तध्यान कहा जा सकता

⁷⁷ 1) उत्तमसंहननस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानम्। — तत्त्वार्थसूत्र 9/27

2) उत्तराध्ययनसूत्र, 30/35

⁷⁸ ध्यानशतक —2

⁷⁹ 1) चत्वारि ज्ञाणा पण्णत्ता, तं जहा-अदृष्टेज्ञाणे, रोद्धेज्ञाणे, धम्मेज्ञाणे, सुक्केज्ञाणे —भगवती, श.25, उ.7, सूत्र 237

2) ध्यानशतक —5

3) आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि, — तत्त्वार्थसूत्र 9/29

4) जैन धर्म और तान्त्रिक साधना,—डॉ.सागरमल जैन, पृ. 258

⁸⁰ तत्त्वार्थसूत्र— 9/30

है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा या प्राप्त वस्तु के वियोग की संभावना की चिन्ता में चित्त का डूबना आर्त्तध्यान है।⁸¹

जिनेश्वर भगवान् ने इसके मुख्य चार भेद कहे हैं⁸² -

1. अमनोज्ञ-अनिष्ट संयोग - अनिष्ट अथवा अप्रिय (व्यक्ति, वस्तु आदि) का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए बार-बार चिन्ता करना।

2. मनोज्ञ इष्ट संयोग - इष्ट का संयोग होने पर उसका वियोग न होने की बार-बार चिन्ता करना।

3. आतंक - ज्वर, कुष्ठ आदि अनेक प्रकार के रोगों की प्राप्ति होने पर, अथवा प्रतिकूल परिस्थिति आने पर यह विचार होता है कि इसका शीघ्र नाश हो- इस प्रकार दुःख या कष्ट आने पर उसके दूर होने की बार-बार चिन्ता करना।

5. भोगेच्छा - अनुभव किए अथवा भोगे हुए काम-भोगों के वियोग न होने की वांछा करना और उसका विचार करते रहना।

मूलतः आर्त्तध्यान वर्तमान के सम्बन्ध में तो होता ही है; किन्तु यह भविष्य की आशंका-कुशंकाओं के अनवरत विचार के रूप में भी होता है जोकि शोकस्वरूप है। शरीर और सांसारिक भोगों आदि के विषय में होने से यह संसार बढ़ाने वाला है, अतः इसे दुर्ध्यान कहा गया है।

वस्तुतः, यह स्पष्ट है कि उत्तम समाधि की प्राप्ति सातवें (अप्रमत्तसंयत) गुणस्थान में होती है, अतः आर्त्तध्यान सातवें गुणस्थान से पहले-पहले, अर्थात् छठवें प्रमत्तसंयत-गुणस्थान तक होता है। स्थानांगसूत्र में⁸³ आर्त्तध्यान के निम्न चार लक्षणों

⁸¹ तत्त्वार्थसूत्र -9/31

⁸² 1) अट्टे ज्ञाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा -अमणुण्णसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओग संति समणा गए यावि भवति। - भगवती, श.25, उ.7, सूत्र 238

2) तत्त्वार्थसूत्र -9/32

3) स्थानांगसूत्र -4/60-72

⁸³ स्थानांगसूत्र -4/60-72

का उल्लेख हुआ है। वस्तुतः, जब शोक व्याप्त होता है, तब भी यही लक्षण सामान्यतः देखने में आते हैं।

1. क्रन्दनता – उच्च स्वर से रोना।
2. शोचनता – दीनता प्रकट करते हुए शोक करना।
3. तपनता – आँसू बहाना।
4. परिदेवनता – करुणा-जनक विलाप करना।

शोक के दुष्परिणाम –

शोक एक मानसिक-अवस्था है, मानसिक-अवस्था दो प्रकार की होती है, एक –प्रसन्नता की और दूसरी –उदासी (शोक) की। एक खिला हुआ फूल है, तो दूसरा मुरझाया हुआ फूल। विकसित फूल सबको अच्छा लगता है और मुरझाया हुआ फूल अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार प्रसन्नता जहाँ व्यक्ति को सक्रिय करती है, वहीं उदासी उसे निष्क्रिय करती है। शोक की अवस्था में व्यक्ति का चित्त अस्तव्यस्त हो जाता है और उसके आसपास रहे व्यक्ति भी शोक के कारण प्रभावित हो जाते हैं, जैसे –

कल्पसूत्र में⁸⁴ भगवान् महावीर ने माता के गर्भ में रहते हुए यह विचार किया कि अन्य माताओं का गर्भ जब फिरता है, तब उसके पेट में पीड़ा होती है, इसलिए मैं हिलना-चलना बंद कर दूँ, जिससे मेरी माता सुखी होगी। ऐसा निश्चय कर उदर के एक हिस्से में प्रभु निश्चलता से रह गए, तब त्रिशलादेवी को इस प्रकार का शोक व्याप्त हो गया। वह कहने लगी –

“अहो! मेरा गर्भ किसी दुष्ट देव ने हर लिया है या गर्भ मर गया है— च्यव हो गया है, गल गया है, खिर गया अथवा स्थान-भ्रष्ट हो गया है। पहले मेरा गर्भ हिलता था, चलता था, अब चलता-फिरता नहीं है, मेरा गर्भ कुशल नहीं है।” त्रिशला देवी का मन खिन्न हो जाता। खेद हुआ, शोकसमुद्र में प्रवेश कर, मुँह नीचे

⁸⁴ श्री कल्पसूत्र, श्री आनन्दसागरसूरिश्वरजी म.सा., गा.91, पृ. 160

कर, गाल पर हाथ धरकर दृष्टि जमीन पर रखकर वे सोचने लगी और इस तरह शोकग्रस्त होकर कहने लगी –

पंडितजनों ने सत्य ही कहा है कि अभागियों के घर पर चिंतामणि रत्न नहीं ठहर सकता, दरिद्रियों के घर निधान प्रकट नहीं होता, अल्प पुण्यवालों की अमृत-पान की इच्छा पूरी नहीं हो सकती। हे देव! मुझे धिक्कार हो, तुमने ऐसा क्या किया ? मेरा मनोरथरूपी वृक्ष जड़मूल से उखाड़ दिया। पहले नेत्र देकर फिर छीन लिए। मुझे मेरुपर्वत पर चढ़ाकर जमीन पर पटक दिया। अहो! अहो! क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किसके आगे पुकार करूँ ?

त्रिशला माता के शोकग्रस्त होने पर राज्य सभा में नृत्य-गीत, गान, वाजिंत्र आदि बन्द करा दिए गए, ऊँची आवाज से कोई बोल नहीं सकता, राजा सिद्धार्थ शोक-सागर में डूब गए, राजमहल सारा शून्य हो गया, सारी राजधानी में शोक छा गया, राजधानी दुःखों का भंडार हो गई। संताप का सागर बन गया, खान-पान-दान-स्नान-बोलना-सोना मानों सब विस्मरण हो गया, तमाम नागरिक शून्य चित्त और विमूढ़ हो गए। इस प्रकार, समग्र क्षत्रियकुंड ग्राम शोक-समुद्र में निमग्न हो गया है।⁸⁵

भगवान् महावीर ने जब अवधिज्ञान से देखा कि मेरे वियोग के कारण माता-पिता एवं नगरजन शोकाकुल हो रहे हैं। मातादि को अशुभ कर्मों का बंधन न हो इसलिए उन्होंने शोक का परिहार किया और गर्भ में यह अभिग्रह लिया कि माता-पिता के जीवित रहते मैं दीक्षा नहीं लूंगा, क्योंकि उन्हें अकुशलानुबंधी शोक होगा।⁸⁶ यहाँ अकुशलानुबंधी-शोक का तात्पर्य अपने इष्ट के वियोग से है।

⁸⁵ श्री कल्पसूत्र, जिनआनंदसागरसूरिश्वरजी म.सा., गाथा-92, पृ. 161

⁸⁶ भगवंडूत्थ नायं परिहरमाणे अकुसलाणबंधि अम्मापिइसोगंति । – पंचसूत्र, अध्याय-3 गाथा 8

शोक के दुष्परिणाम निम्न हैं —

1. शोक के कारण उदासी {Sadness}, निराशा {hopelessness}, दुःख {unhappyness}, दोषभाव, बेकारी का भाव आदि प्रधान होते हैं। इनमें उदासी सबसे प्रधान लक्षण है।
2. शोक के कारण व्यक्ति द्रवित हो जाता है, आँखों से आँसू बहना, छाती पीटना, दूसरे जीवों को रुलाना, शोकसंतप्त करना आदि क्रियाकलाप करता है और इन हेतुओं से शोक—मोहनीयकर्म का बंधन करता है। जब यह कर्म उदय में आता है, तब जीव शोकसागर में डूब जाता है।
3. शोक के कारण चिंता {anxiety} और तनाव {tention} अधिक बढ़ जाता है, इस कारण उन्हें अपने शौक {hobby}, मनोरंजन तथा परिवार —सभी अर्थहीन लगते हैं, इनसे उन्हें किसी प्रकार का कोई आनन्द नहीं आता। मनोवैज्ञानिक तो यहाँ तक कहते हैं कि विषाद (शोक) के कारण प्रमुख जैविक—क्रियाएँ, जैसे — भोजन, एवं यौन—सम्बन्ध भी इनके लिए कोई सार्थक सुख का साधन नहीं रह जाती है।⁸⁷
4. शोक व्यक्ति के चित्त में नकारात्मक भावों का उद्दीपक बन जाता है। शोकावस्था में व्यक्ति इतना उदास हो जाता है कि वह अपने—आपको समाप्त करने के लिए भी तत्पर हो जाता है।
5. आचार्य महाप्रज्ञजी ने उदासी का एक कारण ग्रंथियों का रसायन—स्राव संतुलित नहीं होना भी माना है। जेराटोनिन रसायन की कमी के कारण उदासी अकारण ही आ जाती है।⁸⁸ यह मस्तिष्क का एक रसायन है। इसकी कमी या असंतुलन उदासी (शोक) का कारण बनता है।

⁸⁷ आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, अरुणकुमार सिंह, पृ. 445

⁸⁸ सोया मन जग जाए, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 100

6. शोक के कारण व्यक्ति वस्तु तत्त्व का सही ज्ञान नहीं कर सकता, इसलिए शोक मुक्ति में बाधक है।
7. शोक के कारण व्यक्ति का चिंतन नकारात्मक हो जाता है। वह अपने-आपको असफल, अयोग्य और दोषभाव {guilt feeling} से युक्त मानता है। ऐसा व्यक्ति जीवन में जब-जब असफल होता है, उसका पूर्ण दायित्व वह अपने ऊपर ले लेता है और अपने भविष्य को निराशा एवं उदासी से भरा समझता है, इस कारण, उसकी बौद्धिक-क्षमता {intellectual ability} दिन-प्रतिदिन गिरती जाती है और संशय {Confusion} बढ़ता जाता है। वह घटनाओं को ठीक ढंग से याद नहीं रख पाता है। शोक के कारण वह छोटी-छोटी समस्याओं का समाधान भी ठीक ढंग से नहीं कर पाता है।
8. शोक के कारण भूख कम लगती है तथा शारीरिक-वजन में कमी आती है, या इसके विपरीत भूख अधिक लगती है या शारीरिक वजन में वृद्धि होती है।
9. ऊर्जा की कमी तथा थकान का अनुभव होता है।
10. शोकग्रस्त व्यक्ति अपनी जिंदगी की क्रियाओं एवं दबावों से बचने के लिए आत्महत्या {suicide} करने में भी नहीं हिचकिचाता।

वस्तुतः, शोक एक मानसिक-विकार है, जिसे सकारात्मक-विचारों के माध्यम से हटाया जा सकता है। अगले अध्याय में शोक पर विजय किस प्रकार से करे ? इस बात की चर्चा करेंगे।

शोक पर विजय कैसे ?

शोक का विपरीत शब्द उत्साह है, शोक तभी होता है, जहाँ उत्साह की कमी होती है। जहाँ उत्साह है, आत्मविश्वास है, दृढ़-निश्चय और पुरुषार्थ है, वहाँ शोक

कभी भी अपना साम्राज्य स्थापित नहीं कर सकता। शोक पर विजय हम मन की दृढ़ता और मजबूत विचारों के द्वारा कर सकते हैं, क्योंकि व्यक्ति शोक तभी करता है, जब उसको निराशा और असफलता प्राप्त होती है। वह असफलता को ही अपना मानकर निरुत्साह होकर शोक सागर में डूब जाता है, जैसे –

“गणधर गौतम का भगवान् महावीर के प्रति असीम अनुराग था। गौतम जब देवशर्मा को प्रतिबोध देने के बाद वापस पावापुरी की ओर आ रहे थे, उस समय जाते हुए देवताओं के मुखों से तथा अवरुद्ध कण्ठों से एक ही शब्द निकल रहा था – “आज ज्ञान का सूर्य अस्त हो गया है, प्रभु महावीर निर्वाण को प्राप्त हो गए हैं। अन्तिम दर्शन करने शीघ्र चलो।” देवों के मुख से निःसृत उक्त शब्द गौतम के कानों में पहुंचे और वे सहसा निराधार, निरीह, असहाय बालक की भांति सिसकियाँ भरते हुए विलाप करने लगे⁸⁹ –

“प्रभु तो पधार गए, अब मेरा कौन है ?” अन्तर की गहरी वेदना उभरने लगी, दिशाएँ अन्धकारमय प्रतीत होने लगी और चित्त में शून्यता व्याप्त होने लगी। तनिक जाग्रत होते ही उपालम्भ के स्वर्णों में वे बोल उठे –

“हे प्रभु! आपने मुझ रंक पर यह असहनीय वज्रपात कैसे कर डाला ? मुझे मझधार में छोड़कर कैसे चल दिए ? अब मेरा हाथ कौन पकड़ेगा ? मेरा क्या होगा? मेरी नौका कौन पार लगाएगा ? हे प्रभो! आपने यह क्या किया ? मेरे साथ कैसा अन्याय कर डाला ? विश्वास देकर विश्वास भंग क्यों किया ? अब मेरे प्रश्नों का उत्तर कौन देगा ? मेरी शंकाओं का समाधान कौन करेगा ? मैं किसे प्रभु कहूँगा? अब मुझे है गौतम! कहकर प्रेम से कौन बुलाएगा ? हे करुणासिन्धु! मेरे किस अपराध के बदले आपने ऐसी कठोरता बरतकर अन्त समय में मुझे दूर कर दिया?”⁹⁰

⁸⁹ 1) भगवतीसूत्र- 14/7

2) भगवान् महावीर, उपाध्याय केवल मुनि, पृ. 192

⁹⁰ 1) गौतमरासः परिशीलन, महोपाध्याय विनयसागर, पृ. 56-61

2) श्रीकल्पसूत्र

ऐसी दयनीय एवं करुण स्थिति में भी उनके आँसुओं को पोंछने वाला, भग्न हृदय को आश्वासन देने वाला और गहन शोक के संताप को दूर करने वाला इस पृथ्वीतल पर आज कोई न था। जब गौतम में आत्मनिरीक्षण तथा प्रशस्त शुभ अध्यवसायों का दीपक प्रकाशित हुआ, मोह, माया, ममता के शेष बन्धन क्षणमात्र में भस्मीभूत हो गए। उनकी आत्मा एकत्व-भावना के साथ पूर्ण निर्मल बन गई और उनके जीवन में केवलज्ञान का दिव्य प्रकाश व्याप्त हो गया। इस प्रकार उनका समस्त शोक समाप्त हो गया। गौतम को ज्ञात हो गया कि प्रभु के प्रति ममता, आसक्ति, अनुराग की दृष्टि तो मैं ही रखता था, मेरा यह प्रेम एकपक्षीय था। मेरी इस रागदृष्टि को दूर करने के लिए ही प्रभु ने अन्त समय में मुझे दूर कर प्रकाश का मार्ग दिखाकर मुझ पर अनुग्रह किया है।⁹¹

आत्मविश्वास शोक को समाप्त करता है ⁹²—

स्वयं का स्वयं पर विश्वास होना सुदृढ़ व्यक्तित्व की पहचान है। आत्म-विश्वास व्यक्तित्व-विकास का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। आज का व्यक्ति थोड़ी-सी असफलता और अनिष्ट की प्राप्ति पर शोक करता है तथा निराशा, हताशा, अवसाद, निरुत्साह के चक्रव्यूह में घिर जाता है। व्यक्ति शरीर से बूढ़ा हो, पर मन से नहीं। क्योंकि कहा गया है — “मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।” जिसके हृदय में उत्साह, ऊर्जा, उमंग और आशा है, वह वृद्धावस्था में भी युवा है। शोक, संताप, निराशा, अनिष्ट वस्तुएं उसको प्रभावित नहीं कर सकतीं। हमें यह विश्वास रहना चाहिए कि हर आत्मा में अनंत शक्ति भरी पड़ी है, आवश्यकता है सिर्फ उस पर रहे आवरण को हटाने की। भय, आशंका, हीन-भावना से स्वयं को सदा दूर रखें। जहाँ

⁹¹ गौतमरास : परिशीलन, महोपाध्याय विनयसागर, पृ. 61

⁹² 1) सफलता का सफर, सोहनलाल कमल सिपानी, पृ. 9
 2) आपकी सफलता आपके हाथ, श्री चन्द्रप्रभ, पृ. 37
 3) मन का सम्पूर्ण विज्ञान, दीप त्रिवेदी, पृ. 1

भी आत्मविश्वास का दीपक जलेगा, शोकरूपी अंधकार उसके अस्तित्व को छू न सकेगा, क्योंकि 'आत्मविश्वास ही सम्पूर्ण सफलताओं की जननी है।'

दृढ़ निश्चय से शोक पर विजय —

दृढ़-निश्चय के जागते ही सुप्त शक्तियाँ सक्रिय हो उठती हैं, जो निश्चित रूप से व्यक्ति के मन में छाई उदासी और शोकावस्था को समाप्त कर देती हैं। जब मन में लक्ष्य पाने की छटपटाहट हो, तो संकल्पशक्ति स्वतः ही संगृहीत और तीव्र हो जाती है, फिर उदासी और शोक का कोई स्थान नहीं होता। वह व्यक्ति लक्ष्य को प्राप्त कर ही विश्राम लेता है। यह संकल्पशक्ति सभी में समाहित है, आवश्यकता है, इसे जाग्रत करने की।

खुदी को कर बुलंद इतना, कि हर तकदीर से पहले
खुदा बंदे से खुद पूछे, बता तेरी रजा क्या है ?

साहस —

शोक के कारण व्यक्ति निरुत्साही-असहायी अपने-आपको मानता है, पर जो व्यक्ति साहसी, उत्साही होता है, वह कभी शोक नहीं करता। साहसी कभी हारते नहीं हैं, वे हर असफलता के बाद दोगुने साहस एवं चौगुने उत्साह के साथ अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते हैं। अब्राहम लिंकन सत्रह बार पराजित होने के बाद चुनाव में जीते और अमेरिका के राष्ट्रपति बने। साहस प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच समाधान ढूँढ लेता है। जहाँ साहस की रोशनी है, वहाँ भय, चिन्ता, आशंका, थकान, निराशा, असफलता का कोई अस्तित्व नहीं। 'सर्व सत्त्वे प्रतिष्ठितम्' यदि आपमें सत्त्व है, हिम्मत है, साहस है, तो सब कुछ है, अन्यथा कुछ भी नहीं है। जहाँ साहस है, वहाँ सिद्धि है।

पुरुषार्थ –

शोक और निराशा को पुरुषार्थ के माध्यम से भी हटाने का प्रयास कर सकते हैं। मधुमक्खियाँ सतत् श्रम से ही मधु का भंडार भरती हैं, किसान श्रम करके अन्न का भंडार भरता है, यदि दोनों ही पुरुषार्थ न करें, तो कार्य में सफल नहीं हो सकते उसी प्रकार शोक असफलता से ही उत्पन्न होता है, पर जब पुरुषार्थ करेंगे, तो असफलता प्राप्त ही नहीं होगी और शोक का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

प्रेक्षाध्यान से –

आचार्य महाप्रज्ञजी⁹³ ने उदासी, शोक, चिन्ता से उभरने के लिए प्रेक्षाध्यान को करने के लिए प्रेरित किया है। वे कहते हैं –स्वयं की समस्या का समाधान स्वयं में खोजने की चेष्टा करना चाहिए। प्रेक्षाध्यान के माध्यम से हम एकाग्रता को साधने का अभ्यास करते हैं। एकाग्रता सध जाए, तो विचय-ध्यान करते चलें, उस पर एकाग्र होते चलें। आपको प्रतीत होगा कि समस्या का समाधान हो गया है और समस्या सुलझ गई है। ध्यान का मुख्य प्रयोजन सच्चाई को खोजना है। जब सच्चाई का पता लग गया, तो शोक और संताप सभी समाप्त हो जाएंगे।

संतुलित आहार –

वैज्ञानिक उदासी (शोक) से मुक्ति पाने के लिए पोषक आहार पर्याप्त मात्रा में ग्रहण करने को प्रेरित करते हैं। यदि पोषक आहार पर्याप्त मात्रा में होता है, तो व्यक्ति उदासी से छुटकारा पा लेता है। पोषक आहार के अभाव में उदासी तत्काल आ जाती है। जिस आहार में विटामिन्स और एमिनो एसिड का उचित संतुलन होता है, उसके सेवन से उदासी का एक हेतु समाप्त हो जाता है।

⁹³ सोया मन जग जाए, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 101

नकारात्मक भाव मन में न आएँ —

शोक से बचने के लिए निषेधात्मक भावों से बचने का प्रयास करना चाहिए, क्योंकि व्यक्ति को नकारात्मक-भाव अधिक आते हैं। आदमी नकारात्मक-भाव में जीता है, इसलिए खिन्नता, अवसाद, उदासी, आत्महत्या का भाव आना, घर से पलायन करना आदि सोच मन-मस्तिष्क में चलती रहती है। नकारात्मक भाव मन में न आएँ, इसका अभ्यास इस संकल्प के द्वारा किया जा सकता है, कि आज मैं नकारात्मक-विचारों को मन में नहीं आने दूँगा, सकारात्मक-विचारों में ही रहूँगा। इस प्रकार का चिन्तन करते हुए नकारात्मक-भावों से मुक्त होते जाएंगे।

शोक पर विजय के लिए उपर्युक्त विवेचना के साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि प्राणी प्रवृत्ति से बंधता है और निवृत्ति से मुक्त होता है। प्रवृत्ति बांधती है और निवृत्ति मुक्त कराती है। प्रवृत्ति तभी बंधती है, जब उसके पीछे अविद्या के संस्कार रह जाते हैं। वीतराग भी प्रवृत्ति करता है, किन्तु वीतराग बंधता नहीं है।

शोक को भी मूल प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। जब भी शोक होगा, आर्तध्यान होगा और बंध का कारण बनेगा, इसलिए शोक से मुक्ति के लिए ज्ञातादृष्टा-भाव में रहना आवश्यक है। मात्र आत्मरमणता और स्वभाव में चित्त की वृत्तियाँ रहें, अन्य प्रवृत्तियों में नहीं रहें, ऐसी स्थिति में शोक स्वतः ही समाप्त हो जाएगा।

(स) विचिकित्सा-संज्ञा (जुगुप्सा) {Instinct of disgust}

विचिकित्सा (जुगुप्सा) संज्ञा का स्वरूप -

जैनदर्शन में संज्ञाओं के जो चतुर्विध, दशविध और षोडशविध वर्गीकरण⁹⁴ प्राप्त होते हैं, उनमें षोडशविध वर्गीकरण में विचिकित्सा को भी संज्ञा कहा गया है। संसारी जीवों की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, उसे संज्ञा कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में विचिकित्सा या जुगुप्सा को परिभाषित करते हुए कहा गया है - "इसके उदय से अपने दोषों का संवरण करने की और परदोषों को उजागर करने की जो वृत्ति होती है, उसे जुगुप्सा कहते हैं।"⁹⁵ सामान्यतया दूसरों में जो कमी या बुराइयों को देखने की प्रवृत्ति है, वही जुगुप्सा है। यह अपने दोषों को छिपाने और दूसरों के दोषों को उजागर करने की सामान्य प्रवृत्ति के अन्तर्गत आती है।⁹⁶ कभी-कभी जुगुप्सा का अर्थ घृणा का भाव भी है। दूसरों के शरीर, वस्त्र अथवा ज्ञानादि में कमी को देखकर उसके प्रति घृणा का जो भाव उत्पन्न होता है, वह जुगुप्सा है।

सामान्यतः, जुगुप्सा-संज्ञा⁹⁷ दूसरों के प्रति द्वेषरूप होती है।

वस्तुतः, जुगुप्सा नो-कषाय का ही एक रूप है।⁹⁸ व्यक्ति अपने अहंकार के पारितोषण के लिए दूसरों की कमी को देखता है। दूसरों के प्रति घृणा का भाव मान-कषाय का निषेधात्मक पक्ष है। जैनदर्शन में सम्यक्त्व के जो लक्षण बताए गए हैं उनमें विचिकित्सा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। नैतिक अथवा धार्मिक

⁹⁴ 1) आचारांगसूत्र, 1/1/2

2) अभिधानराजेन्द्रकोश खण्ड-7, पृ. 301

⁹⁵ यदुदयादात्मदोषसंवरणं परदोषाविएकरणं सा जुगुप्सा। - सर्वार्थसिद्धि 8/9, 386/1

⁹⁶ कुत्साप्रकारो जुगुप्सा।आत्मीयदोषसंवरणं जुगुप्सा। - राजवार्तिक, 8/9, 4/574/18

⁹⁷ जुगुप्सन जुगुप्सा जेसिं कम्माणमुदएण दुगुंछा उप्पज्जदि तेसिं दुगुंछ। इति सण्णा- धवला 6/19-1

⁹⁸ 1) स्थानांगसूत्र-9/69

2) तत्त्वार्थसूत्र, 8/10

3) प्रज्ञापनासूत्र 23/2

4) प्रथमकर्मग्रंथ गाथा 21

5) प्रवचनसारोद्धार

आचरण के फल के प्रति संशय करना, अर्थात् सदाचार का प्रतिफल मिलेगा या नहीं—ऐसा संशय करना विचिकित्सा है।⁹⁹ “संतमि वि वितिगिच्छा, सज्जेज्ज ण मे अयं अट्ठो”— यह कार्य होगा या नहीं, यह विचिकित्सा है। विचिकित्सा, अर्थात् मति का विप्लव होना। एक अन्य प्रकार से विचिकित्सा की व्याख्या घृणा से की गई है। साधु के मलिन वस्त्र, पात्र, उपकरण आदि देखकर निन्दा, गर्हा करना दुगुच्छा (विचिकित्सा) कहलाती है।

ज्ञानावरणीय और मोहनीय—कर्म के उदय से होने वाली चित्तविलुप्तिरूप स्थिति विचिकित्सासंज्ञा है,¹⁰⁰ या चित्त की अस्थिर समीक्षावृत्ति विचिकित्सा—संज्ञा है। दूसरे जीवों की प्रकृति, या व्यक्ति एवं पदार्थ आदि के प्रति घृणा/अरुचि का भाव जुगुप्सा—संज्ञा कहलाती है।

वस्तुतः अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूगल [Mc-Dougal] ने जिन चौदह मूलप्रवृत्तियों की चर्चा की है, उनमें विकर्षण की मूलप्रवृत्ति और सामान्य मनोविज्ञान में घृणा [Disgust] का संवेग जैनदर्शन की विचिकित्सा—संज्ञा के समान ही है। मनोवैज्ञानिक घृणा के भाव को एक संवेग के रूप में वर्णित करते हैं।¹⁰¹ वे कहते हैं कि जिस प्रकार क्रोध, भय, खुशी, डर आदि संवेग जीवन के प्रमुख संवेग हैं, उसी प्रकार बहुत सारे लोगों में घृणा का भाव भी पाया जाता है, जो व्यक्ति के मन और मस्तिष्क में उत्तेजना पैदा करते हैं, जिससे व्यक्ति को वस्तु और व्यक्ति के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होता है।

⁹⁹ 1) निशीथसूत्र 1/24

विदु कुच्छति व भण्णति, सा पुण आहारमोयमसिणाइं।

तीसु वि देसे गुरुणा, मूलं पुण सव्विहि होती। — वही — 1/25

2) देखिए गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 29 की अंग्रेजी टीका, जे.एल.जैनी, पृ. 22

3) जैनसिद्धान्त बोल संग्रह, प्रथम भाग, भैरोदान सेठिया, पृ. 178

4) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-2, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 60

¹⁰⁰ 1) मोहोदयात् चित्तविप्लुत्तो.....। — अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग-6, 1191

2) प्रवचन—सारोद्धार, — संज्ञाद्वार 147, गाथा 925, साध्वी हेमप्रभाश्री, पृ. 81

¹⁰¹ उत्तराध्ययनसूत्र दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका महत्त्व

—साध्वी डॉ. विनीतप्रज्ञा, पृ. 492

जुगुप्सा आवश्यक भी और अनावश्यक भी —

जुगुप्सा आवश्यक भी है और अनावश्यक भी, क्योंकि जहाँ किसी के प्रति ममत्व का पोषण हो रहा है, रागादि भावों की वृद्धि हो रही है, वहाँ जुगुप्सा करना आवश्यक भी है। व्यक्ति का सबसे अधिक ममत्व शरीर से होता है, वह शरीर के प्रति आसक्ति अधिक रखता है। शरीर को सजाने-संवारने, अच्छा दिखाई देने के लिए वह अपना सारा धन और समय लगाता है और कर्मबंधन करता चला जाता है। उस समय उसे यह विचार करना चाहिए कि उसका शरीर हाड़-मांस का बना पिंजरा है, सदा नष्ट होने वाला है, उस नश्वर देह के पोषण में वह अपना समय क्यों बर्बाद कर रहा है। धर्म के साधनरूप जो शरीरादि हैं, वे स्वभाव से ही अपवित्र हैं, अतः इस प्रकार उसके प्रति जुगुप्सा करना भी निर्जरा का कारण बनता है।

जुगुप्सा अनावश्यक भी —

वस्तुतः, जुगुप्सा शब्द 'गुप रक्षणे' धातु से बना है, जिसका अर्थ है —रक्षण की इच्छा और दूसरा अर्थ मानसिक-ग्लानि भी है। मान और अहम् के वशीभूत होकर, दूसरों को नीचा दिखाने एवं स्वयं को उच्च और महान् बताने के लिए जो घृणा, ग्लानि, निंदा, आलोचना की जाती है, वह बंधन का कारण बनती है। जुगुप्सा का भाव सम्यग्दर्शन में बाधक बनता है। सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचारों में विचिकित्सा (जुगुप्सा) भी एक है। अतिचार से अभिप्राय ऐसे असदाचरण से है, जिनसे सम्यग्दर्शन की विराधना होती है। इन्हें दूषण भी कहा जाता है, जो सत्य को अपने शुद्ध स्वरूप में विज्ञात करने में बाधक होते हैं। इनसे व्रत-भंग तो नहीं होता, परन्तु उसका सम्यग्दर्शन अवश्य प्रभावित होता है।

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव —इन पाँच दोषों को उपासकदशांग¹⁰², भगवती आराधना¹⁰³, तत्त्वार्थसूत्र¹⁰⁴ आदि में सम्यग्दर्शन

¹⁰² उपासकदशांगसूत्र, प्रथम अध्ययन, पृ. 46-47

¹⁰³ भगवतीआराधना -16/62/14

¹⁰⁴ शंकाकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः। - तत्त्वार्थसूत्र -7/18

के पाँच अतिचार बतलाये गये हैं तथा योगशास्त्र¹⁰⁵ और सम्यक्त्वसप्तति¹⁰⁶ में इन्हीं को 'दूषण' कहा गया है। चल, मल और अगाढ़ दोषों में जुगुप्सा मलदोष है, जो यथार्थ दृष्टिकोण की निर्मलता को प्रभावित करती है। पंडित आशाधरजी कहते हैं—क्रोध आदि के वश रत्नत्रयरूप धर्म में साधन, किन्तु स्वभाव से ही अपवित्र शरीर आदि में जो ग्लानि होती है, वह विचिकित्सा है। यह सम्यग्दर्शन आदि के प्रभाव में अरुचि रूप होने से सम्यग्दर्शन का मल-दोष है।¹⁰⁷

जो मोक्ष में बाधक बने, वह साधक के लिए सदा त्याज्य है, क्योंकि विचिकित्सा का भाव व्यक्ति को विचलित करता है, पर से जोड़ता है और समभाव में स्थिर नहीं होने देता। विचिकित्सा से चित्त विचलित हो जाता है और घृणादि के भाव मन के परिणामों को भी मलिन करते हैं, इसलिए जुगुप्सा अनावश्यक है।

समयसार में कहा है—जो जीव सभी वस्तु-धर्मों में ग्लानि नहीं करता है, वह जीव निश्चय कर विचिकित्सादोषरहित सम्यग्दृष्टि जीव होता है।¹⁰⁸

विचिकित्सा के प्रकार —

मूलाचार ग्रंथ में विचिकित्सा के दो प्रकार बताए गए हैं —

1. द्रव्यविचिकित्सा,
2. भावविचिकित्सा¹⁰⁹

¹⁰⁵ शंका कांक्षा विचिकित्सा मिथ्यादृष्टिप्रशसनम् ।

तत्संस्तवश्च पंचापि सम्यक्त्वं दूषयन्त्यलम् ॥ — योगशास्त्र, 2/17

¹⁰⁶ दूसिज्जइ जेहि इमं, ते दोसा पंच वज्जणिज्जा उ

संका कंखा विगिच्छा, परतित्थिपसंससंयवणं ॥ — सम्यक्त्वसप्तति, गाथा 28

¹⁰⁷ धर्माभृत, आनागार, द्वितीयोध्याय, श्लोक 79

¹⁰⁸ जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।

सो खलु णिविदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ — समयसार, गाथा 231

¹⁰⁹ विदिगिच्छा वि य दुविहा दव्वे भावे य होइ णायव्वा । — मूलाचार, गाथा 252

1. द्रव्यविचिकित्सा —

“साधुओं के शरीर के विष्टामल, मूत्र, कफ, नाक का मल, चाम, हाड़, रूधि, मांस, लोही, वमन, सर्व अंगों का मल, लार इत्यादि मलों को देखकर उनसे घृणा करना द्रव्य-विचिकित्सा है।”¹¹⁰

द्रव्यविचिकित्सा से तात्पर्य, बाह्यवस्तु और वातावरण को देखकर जो घृणा का भाव उत्पन्न होता है, वह द्रव्यविचिकित्सा है। मलिन वस्त्र, मलिन क्षेत्र, गृहादि में मलिनता, दरिद्रता देखकर घृणा के भाव जाग्रत होते हैं। वस्तुतः, द्रव्यविचिकित्सा ही भावविचिकित्सा को उत्पन्न करती है।

2. भावविचिकित्सा —

मूलाचार ग्रंथ में कहा गया है — क्षुधादि बाईस परीषहों में संक्लेश-परिणाम करना भावविचिकित्सा है,¹¹¹ अर्थात् हृदय में घृणा के भावों का होना भावविचिकित्सा है।

भावविचिकित्सा, वस्तुतः अपने में अपनी प्रशंसा द्वारा अपने गुणों की उत्कर्षता के साथ-साथ जो अन्य के गुणों के अपकर्ष में बुद्धि होती है, उसे भावविचिकित्सा कहते हैं।¹¹²

भावविचिकित्सा के कारण व्यक्ति यह सोचता है कि जैनमत में सब अच्छी बातें हैं, परंतु वस्त्र के आवरण से रहितता अर्थात् नग्नता और जलस्नान आदि का न करना —यही एक दूषण है।¹¹³

विचिकित्सा (जुगुप्सा) द्रव्य से हो या भाव से —दोनों को सम्यक्दर्शन का अतिचार माना गया है। द्रव्यविचिकित्सा को साफ-सफाई आदि के प्रयासों से हटाया

¹¹⁰ उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयं च चम्मट्ठी। पूयं च मंसोण्णिवंतं जल्लादि साधूणं।— वही, गा.253

¹¹¹ खुदादिए भावविदिर्गिछा। — मूलाचार, गाथा 252

¹¹² आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्धयां स्वात्मप्रशंसनात् परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सता स्मृता।

— पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, श्लोक 578

¹¹³ यत्पुनजैनसमये सर्व समीचीनं परं किन्तु वस्त्राप्रवरणं जलस्नानादिकं च न कुर्वन्ति तदैव दूषणम्।

—द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा —41/172/11

जा सकता है, पर जो भावरूपेण विचिकित्सा मन में बैठ जाती है, उसे हटाने में थोड़ा परिश्रम लगता है। विशेष प्रकार के ध्यान, एकत्व—स्वरूप और अशुचि—भावना का स्मरण करके ही भावविचिकित्सा को हटाने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

आगे हम विचिकित्सा पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है, इसकी चर्चा करेंगे।

विचिकित्सा पर विजय कैसे ?

सजीव अथवा अजीव द्रव्यों के प्रति घृणा/अरुचि को विचिकित्सा (जुगुप्सा) संज्ञा कहते हैं, जो मोहनीय—कर्म के कारण उत्पन्न होती है। जीव का देह के प्रति प्रगाढ़ आकर्षण होता है, उससे विमुक्ति पाना अति दुष्कर है, जब तक देह पर आसक्ति बनी रहेगी, तब तक राग और द्वेष की दृष्टि भी बनी रहेगी, व्यक्ति किसी से रागवश ममत्व और किसी से द्वेषवश घृणा करता रहेगा, अतः एक आध्यात्मिक—दृष्टि का विकास करके हम विचिकित्सा पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

आध्यात्मिक—विकास के दसवें सोपान, जिसे पारिभाषिक—शब्दावली में 'सूक्ष्मसम्पराय—गुणस्थान' कहा जाता है, उसके अनुसार, अन्य सभी कषायों के क्षय या उपशम हो जाने पर भी सूक्ष्म लोभकषाय का उदय रहता है और वह सूक्ष्म लोभ देह के प्रति आसक्ति—रूप होता है, अतः देहासक्ति से मुक्त होने के लिए 'अशुचि—भावना' का चिन्तन अवश्य करना चाहिए।

स्वशरीर की अशुचिता (अपवित्रता) का चिन्तन करना अशुचि—भावना है। इस भावना के परिप्रेक्ष्य में उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है —“यह शरीर अनित्य है, अशुचिरूप है और अशुचि से ही उत्पन्न हुआ है।”¹¹⁴

इसी सम्बन्ध में प्रशमरति में आचार्य उमास्वाति ने भी कहा है —यह शरीर पवित्र को भी अपवित्र बनाता है, इसकी आदि एवं उत्तर—अवस्था अशुचिरूप है, अतः

¹¹⁴ इमं सरीरं अणिच्चं असुइं असुइसंभवं। — उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा— 19/13

शारीरिक-अशुचिता का चिंतन करना चाहिए।¹¹⁵ ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार – मल्लिकुमारी (उन्नीसवें तीर्थंकर) ने शरीर की अशुचिता के माध्यम से विवाह करने के लिए आए हुए राजकुमारों को वैराग्यवासित किया था।¹¹⁶ उत्तराध्ययनसूत्र में शरीर को रोगों एवं व्याधियों का घर कहा है।¹¹⁷ इस प्रकार, अशुचिता की भावना का प्रयोजन शरीर की अपवित्रता का बोध कराकर आत्मा को देह के ममत्व से मुक्त करना है। देह का आकर्षण कम होने पर व्यक्ति का ध्यान आत्मा की ओर जाता है। वह अन्तर्मुखी होकर कर्मबंधन से बचने का प्रयास करता है।

वस्तुतः, अशुचि-भावना के माध्यम से हम स्वशरीर पर घृणा के भाव रखेंगे, तो हमें दूसरों के प्रति घृणा उत्पन्न ही नहीं होगी, क्योंकि दूसरों की अपेक्षा ज्यादा गंदगी तो हमारे (स्वशरीर) में दिखाई दे रही है। स्वयं के पास ही अशुचि ज्यादा है, इसका ज्ञान हो जाए तो किसी भी पर पदार्थ के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न नहीं होगा और धीरे-धीरे विचिकित्सा समाप्त हो जाएगी।

ध्यान के माध्यम से –

विचिकित्सा पर विजय ध्यान के माध्यम से की जा सकती है। ध्यान में बाह्य-वस्तु से नाता टूट जाता है। मन एकाग्र, आत्मलीन और अन्तर्मुखी हो जाता है। ध्यान में मात्र आत्मदर्शन के सिवाय अन्य परपदार्थ दिखाई नहीं देते हैं। ध्यानावस्था में व्यक्ति, वस्तु और अन्य पर न तो द्वेष होता है, न राग होता है। इस स्थिति में घृणादि के भाव नहीं हो सकते, अतः ध्यान विचिकित्सा को दूर करने की श्रेष्ठ चिकित्सा है। द्रव्यसंग्रहटीका में कहा गया है –निश्चय से तो निर्विचिकित्सा-गुण के बल से समस्त राग-द्वेषजन्य आदि विकल्परूप तरंगों का त्याग करके निर्मल

¹¹⁵ प्रशमरति, 155

¹¹⁶ ज्ञाताधर्मकथा, आठवाँ अध्ययन

¹¹⁷ उत्तराध्ययनसूत्र –10/27 एवं 19/14

आत्मानुभव करना, या निज शुद्धात्मा में स्थिति करना, निर्विचिकित्सा नामक गुण है।¹¹⁸

विचिकित्सा पर विजय का लक्ष्य यह है कि इस शरीर के प्रति ममत्व कम हो, दैहिक-सुन्दरता के प्रति आकर्षण कम हो और मनुष्य अपनी आत्मिक-सुन्दरता का दर्शन करे।

कस्तूरी काली है, तो क्या ? गुणवान है, हजारों रुपयों की तोला भर आती है, शकर सफेद है, किन्तु कस्तूरी जैसी गुणवान नहीं है, इसलिए पत्थरों से तुलती है। वस्तुतः, बाहरी रूप का कोई मूल्य नहीं है, मूल्य आत्मा की सुन्दरता का है।

अष्टावक्र ऋषि¹¹⁹ का शरीर आठ स्थानों से वक्र था, किन्तु आत्मज्ञान में वे बहुत श्रेष्ठ थे, इसलिए बड़े-बड़े ऋषि भी उन्हें प्रणाम करते थे। 'चक्रवर्ती सनत्कुमार' अपने सौन्दर्य का इतना विकृत रूप देखकर दहल उठे। शरीर और वैभव की नश्वरता को जानकर उन्होंने प्रव्रज्या ले ली। उनके शरीर में रोग उत्पन्न होकर क्रमशः बढ़ते जा रहे थे, परन्तु उन्होने न तो किसी प्रकार का उपचार किया और न शारीरिक-पीड़ा से व्याकुल बने। उन्हें ऐसी आत्मानुभूति हो रही थी कि शरीर है ही नहीं। भयंकर बीमारी में भी वे औषधि का प्रयोग नहीं करते थे। वे कहते थे—रोग शरीर का है, आत्मा का नहीं, परन्तु देवों के आग्रह से उन्होंने अपने थूक से शरीर के एक भाग का रोग मिटाकर दिखा दिया और एक दिन अपनी साधना में सफल होकर मुक्ति को प्राप्त हुए।

गुणग्राही दृष्टि जहाँ होगी, वहाँ विचिकित्सा नहीं हो सकती, क्योंकि जगत् के जितने भी ज्ञेय पदार्थ हैं, वे सभी गुणों से युक्त हैं। यदि दृष्टि गुणग्राही हो, तो वस्तुओं के प्रति कैसी घृणा और कैसी विचिकित्सा ? जैसे—श्रीकृष्ण महाराजा जब अपनी सेना के साथ गुजर रहे थे, तो रास्ते में उन्होंने एक सड़ी हुई कुतिया को

¹¹⁸ निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिर्विचिकित्सा गुणस्य बलेन समस्तद्वेषादिविकल्परूपकल्लोलमाला त्यागेन निर्मलात्मानुभूतिलक्षणे निजशुद्धात्मनि व्यवस्थानं निर्विचिकित्सा गुण इति।

—द्रव्यसंग्रह टीका— 41/173/2

¹¹⁹ न जन्म, न मृत्यु —श्री चन्द्रप्रभ, पृ. 10

देखा। जुगुप्सा के कारण सभी सैनिकों ने नाक पर हाथ रख लिए, परंतु श्रीकृष्ण बोले 'कुतिया की दंतपंक्ति कितनी सुन्दर है।'

जब दृष्टि सम्यक् हो जाती है, तब सभी वस्तुएं गुणों से युक्त दिखाई देती हैं। समयसार ग्रंथ में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—सम्यक्दृष्टि जीव की दृष्टि सम्यक् होती है। जो जीव सभी वस्तु धर्मों में जुगुप्सा, ग्लानि नहीं करता, वह जीव विचिकित्सा—दोष से रहित सम्यक्दृष्टि को प्राप्त होता है।¹²⁰

पाश्चात्य—चिन्तकों ने भी कहा है कि सुन्दरता देखने वालों की आँखों में होती है।¹²¹ यदि दृष्टि सम्यक् है, तो सभी वस्तुएं सम्यक् और सुन्दर दिखाई देती हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी यही मानते हैं कि घृणा को सकारात्मक—सोच के माध्यम से दूर किया जा सकता है, क्योंकि नकारात्मक—सोच दृष्टि को धूमिल बनाता है। जहाँ सकारात्मक सोच है, वहाँ न तो विकर्षण (मैकडूगल की चौदह मूल प्रवृत्तियों में से एक) होगा और न ही घृणा—संवेग उत्पन्न होगा।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि विचिकित्सा (जुगुप्सा) पर विजय अशुचिभावना, ध्यान, ममत्ववृत्ति के त्याग और सकारात्मक सोच के माध्यम से प्राप्त कर सकते हैं।

¹²⁰ समयसार, गाथा 231

¹²¹ "Beauty lies in the eyes of beholder."

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय -14

**जैन धर्म की संज्ञा की अवधारणा की बौद्ध धर्म की चैतसिकों की
अवधारणा से तुलना।**

अध्याय—14

‘जैनधर्म की संज्ञा की अवधारणा की बौद्धधर्म की चैतसिकों की अवधारणा से तुलना

बौद्ध-दर्शन में चार प्रकार के तत्त्व (पदार्थ) माने गए हैं, यथा — 1. चित्त, 2. चैतसिक, 3. रूप और 4. निर्वाण।¹ प्रस्तुत प्रसंग में, यहाँ हम जैनदर्शन की संज्ञा की अवधारणा से तुलना करने के लिए केवल चित्त और चैतसिकों का ही वर्णन करेंगे। मनुष्य-जीवन में जो भी चैतसिक-प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे चाहे शुभ हों या अशुभ, उन्हें बौद्धदर्शन में निम्न छः भागों में बांटा गया है — लोभ, द्वेष, मोह, अलोभ, अद्वेष और अमोह (प्रज्ञा)। इन छहों में प्रथम तीन अशुभ हैं और अन्तिम तीन शुभ हैं। बौद्ध दर्शन की भाषा में प्रथम तीन अकुशल और अन्तिम तीन कुशल हैं। जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है, उनमें भी राग, द्वेष और मोह को स्थान दिया है, किन्तु जब हम इनकी तुलना संज्ञा से करते हैं, तो संज्ञाओं में दशविध वर्गीकरण में लोभ और षोडशविध वर्गीकरण में मोह का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

यद्यपि द्वेषसंज्ञा का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं है, किन्तु मान-कषाय और माया-कषाय वस्तुतः द्वेष के ही रूप हैं।

बौद्धदर्शन में अलोप, अद्वेष और अमोह को कुशल धर्म कहा गया है, क्योंकि ये संसार के कारण नहीं होते हैं। जिस तरह से जैनदर्शन में राग, द्वेष एवं कषाय से रहित ईर्यापथिक-कर्म संसार-बंध के कारण नहीं हैं, उसी प्रकार बौद्धदर्शन में अलोप, अद्वेष और अमोह (प्रज्ञा) से जनित प्रवृत्तियाँ भी बंध का कारण नहीं होती हैं।

जहाँ तक जैनदर्शन की संज्ञाओं की अवधारणाओं से तुलना करने का प्रश्न है, उसमें ओघ और धर्म को छोड़कर शेष सभी संज्ञाएं संसारी जीवों में कर्मबंध कारण ही होती हैं। चित्त और चैतसिक-धर्मों में यह अन्तर है कि चित्त अधिष्ठायक है और

¹ तत्त्व वृत्थापिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो। चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा।

—अभिधम्मत्थसंगहो, उद्धृत— बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग-1, भरतसिंह उपाध्याय, पृ. 464

चैतसिक—धर्म उसमें रहते हैं। चित्त आधार है और चैतसिक आधेय हैं। यह चित्त जैनदर्शन में भाव—मन के रूप में परिभाषित है। चैतसिक हमारे मन की विभिन्न अवस्थाएँ या पर्यायें हैं।

बौद्धदर्शन में कुल चैतसिकों की संख्या बावन मानी गई हैं। इन बावन चैतसिकों को निम्न तीन भागों में विभाजित किया गया है —

1. साधारण चैतसिक — जो प्रत्येक चित्त में सदैव रहते हैं। ये सात हैं — 1. स्पर्श, 2. वेदना, 3. संज्ञा, 4. चेतना, 5. आंशिक एकाग्रता 6. जीवितेन्द्रिय, 7. मनोविकार।²

2. प्रकीर्ण—सामान्य चैतसिक — जो प्रत्येक चित्त में यथावसर उत्पन्न होते रहते हैं। ये छह हैं —1. वितर्क, 2. विचार, 3. अधिमोक्ष (आलम्बन में स्थिति) 4. वीर्य (साहस), 5. प्रीति (प्रसन्नता) और 6. छन्द (इच्छा)।³

3. अकुशल चैतसिक — ये चौदह हैं —1. मोह, 2. निर्लज्जता, 3. अभीरुता (पाप करने में भयभीत नहीं होना), 4. चंचलता, 5. लोभ, 6. मिथ्यादृष्टि, 7. मान, 8. द्वेष, 9. ईर्ष्या, 10. मात्सर्य (कष्ट), 11. कौकृत्य (पश्चात्ताप या शोक), 12. सत्यान (चित्त का तनाव), 13. मृद्ध (चैतसिकों का तनाव) और 14. विचिकित्सा (संशयालुचन)।⁴

4. कुशल चैतसिक — ये पच्चीस हैं — 1. श्रद्धा, 2. स्मृति, 3. ह्री, 4. अपत्रया (पापों से भय करना), 5. अलोभ, 6. अद्वेष, 7. तत्रमध्यस्था (विषय में अपेक्षा करना), 8.

² फस्सो वेदना सज्जा चेतना एकगता जीवितेन्द्रियं मनसिकारो चेति सन्ति मे चेतसिका सव्वचित्तसाधारणा नाम। अभिधम्मत्थसंगहो चेतसिक कण्डो।

—बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग-1, भरतसिंह उपाध्याय, पृ. 466

³ वित्तक्को विचारो अधिमोक्खो वीरियं पीति छन्दो चेति छयिमे चेतसिका पकणिका नाम।— वही

⁴ मोहो अहिरीकं अनोत्तपं उद्धच्चं लोभो दिट्ठि मानो दोसो इस्सा मच्छरियं कुक्कुच्चं थिनं मिद्धं विचिकिच्छा चेति चुहसि मे चेतसिका अकुसला नाम।—अभिधम्मत्थ संगहो।— वही

कायप्रश्रब्धि (प्रसन्नता), 9. चित्तप्रश्रब्धि (चित्तों का शान्त होना), 10. कायलघुता (अहंकार का भाव), 11. चित्तलघुता, 12. कायमृदुता, 13. चित्तमृदुता, 14. कायकर्मण्यता, 15. चित्तकर्मण्यता (चित्त-सरलता), 16. कायप्रागुण्य (समर्थता), 17. चित्तप्रागुण्य, 18. कायऋजुता, 19. चित्तऋजुता, 20. सम्यक् वाणी, 21. सम्यक् कर्मान्त, 22. सम्यक् आजीव, 23. करुणा, 24. मुदिता और 25. अमोह (प्रज्ञा)।⁵

इस प्रकार ये बावन चैतसिक-धर्म कुशल, अकुशल और अव्याकृत-कर्मों के प्रेरक हैं।

जहाँ तक जैनदर्शन की संज्ञाओं का प्रश्न है, वे भी कर्म की प्रेरक हैं। इन बावन चैतसिकों में जो चौदह अकुशल चैतसिक हैं, उनकी तुलना हम जैनदर्शन की संज्ञाओं से कर सकते हैं। इन चौदह चैतसिकों में मोह, लोभ, मान और विचिकित्सा – ये चार अकुशल चैतसिक जैनदर्शन की सोलह संज्ञाओं की अवधारणा में पाए जाते हैं।

जैनदर्शन की संज्ञाओं में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, सुख, दुःख, शोक के नाम यद्यपि इन चैतसिकों में नहीं पाए जाते हैं, किन्तु गहराई से विचार करने पर ये सभी बौद्धधर्म में भी मान्य हैं। जहाँ तक जैनधर्म में लोक, ओघ और धर्म-संज्ञा का प्रश्न है, उनमें से धर्म और लोक को हम कुशल चैतसिकों में मान सकते हैं। जैनदर्शन की संज्ञा की अवधारणा और बौद्धदर्शन के चैतसिकों की अवधारणा का सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि दोनों को ही कर्म का प्रेरक माना गया है।

जैनदर्शन में जो षोडशविध संज्ञाओं का वर्गीकरण मिलता है, उसमें धर्म और ओघ-संज्ञा को कुशल चैतसिकों में और शेष को अकुशल चैतसिकों में माना जा सकता है। क्योंकि बौद्धदर्शन में शोभन या कुशल चैतसिकों में श्रद्धा और जो

⁵ सद्धा सति हिरी ओतप्पं अलोभो अदोसो तत्र मञ्जुत्तता कायप्पस्सद्धि चित्तप्पस्सदि कायलहुता चित्तलहुता कायमुदुता चित्तमुदुता कायकम्मञ्जता चित्तकम्मन्तता कायपागुञ्जता चित्तपागुञ्जन्तता, कायुजुकता चित्तुजुकता चेति एकनवीसति मे चेतसिका सोभन साधारणा नाम।
—अभिधम्मत्थ संगहो, चेतसिक काण्डो।

आष्टांगिक मार्ग का निर्देश है, वह सब धर्मसंज्ञा के अंतर्गत आ जाते हैं और अमोह (प्रज्ञा) को हम ओघसंज्ञा से जोड़ सकते हैं।

डॉ. सागरमल जैन^६ ने भी अपने शोधप्रबंध में कहा है कि जैनदर्शन में स्वीकृत लगभग सभी संज्ञाएं, बौद्धदर्शन के इस वर्गीकरण में आ जाती हैं। इतना ही नहीं, वरन् बौद्धदर्शन उनका काफी गहन विश्लेषण भी प्रस्तुत करता है, लेकिन मूलभूत धारणाओं के विषय में दोनों का दृष्टिकोण समान ही है।

—000—

^६ जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1, डॉ.सागरमल जैन, पृ.465

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 15

जैनदर्शन की संज्ञा की अवधारणा और मनोवैज्ञानिक मैकड्यूगल की मूलवृत्ति की अवधारणा का तुलनात्मक विवेचन।

अध्याय—15

“जैनधर्म की संज्ञा की अवधारणा और मनोवैज्ञानिक मैकड्यूगल {Mc-Dougall} की मूलप्रवृत्ति की अवधारणा का तुलनात्मक विवेचन

अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकड्यूगल के अनुसार, मूलप्रवृत्ति केवल यांत्रिक [Mechanical] क्रिया—मात्र नहीं है, बल्कि वह एक ऐसी जन्मजात मनोदैहिक [Psychophysical] प्रवृत्ति है, जिससे प्रभावित होकर व्यक्ति किसी उत्तेजना—विशेष की ओर अपना ध्यान देता है, किसी विशेष प्रकार के संवेग अथवा आवेश का ही अनुभव करता है तथा उस उत्तेजना—विशेष के प्रति विशिष्ट [Specific] ढंग की ही प्रतिक्रिया प्रकट करता है। मैकड्यूगल के अनुसार मूलप्रवृत्तियों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं, जो जैनधर्म की संज्ञाओं से अंशतः भिन्न भी हैं और अंशतः समान भी हैं।

मैकड्यूगल के अनुसार, मूलप्रवृत्तियाँ जन्मजात मनोदैहिक—प्रवृत्ति है। वे जन्मना हैं, व्यक्ति उन्हें सीखता नहीं,¹ जैसे —बया पक्षी घोंसला बनाने का काम सीखकर नहीं करता, बल्कि स्वतः करता है। जैनदर्शन में संज्ञाओं को कर्मजन्य अर्थात् जन्मना माना गया है। मात्र धर्म और ओघ संज्ञाएं अर्जित हैं। शेष सभी संज्ञाएं मुख्यतः वेदनीय—कर्म और मोहनीय—कर्म के उदय से होती हैं। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि ऐसी ही संज्ञाएं हैं। जैनदर्शन के अनुसार, अरिहंत और सिद्ध जीवों को छोड़कर ये संज्ञाएँ लगभग सभी संसारी—जीवों में पाई जाती हैं।

मैकड्यूगल के अनुसार, मूलप्रवृत्तियाँ जीव को एक विशेष प्रकार के पदार्थ या क्रिया की ओर अवलोकन करने के लिए प्रेरित करती हैं, जैसे —सभी बिल्लियाँ चूहों

¹ Instincts are inborn patterns of behavior that are biologically determined rather than learned.

— Understanding Psychology, Robert S. Feldman P.N. 289

का शिकार करने के लिए उन्हें ध्यानावस्थित होकर देखती हैं, पक्षी घोंसला बनाने के लिए घास, फूस और टहनी आदि पर विशेष ध्यान देते हैं। जैनदर्शन की भी यह मान्यता सत्य है कि जब संज्ञाओं का उदय प्रबल होता है तो जीव भी उस ओर आकृष्ट होता है, इच्छित वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास करता है, इसके साथ ही, जैनदर्शन यह भी मानता है कि संज्ञाओं को विवेक के माध्यम से परिष्कारित कर सकते हैं। जब आहार-संज्ञा की प्रबलता होती है, तब भी व्यक्ति विवेकपूर्वक यह ध्यान रखता है कि उसके लिए क्या ग्राह्य हैं और क्या त्याज्य हैं, उसी प्रकार अन्य संज्ञाओं में भी समझ सकते हैं। इस प्रकार, जैनदर्शन संज्ञाओं को मात्र अंधप्रवृत्ति न मानकर, उनमें मानवीय-विवेक को स्थान देता है।

मैकड्यूगल के अनुसार, मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया के साथ-साथ व्यक्ति एक विशेष प्रकार के संवेग का अनुभव करता है। जब हम किसी साँप को देखकर प्राणरक्षा के लिए भागते हैं, तो उस समय भय का अनुभव करते हैं, किन्तु जैनदर्शन यह मानता है कि जब भयसंज्ञा का उदय होता है, तभी व्यक्ति को भय लगता है और वह भागता है। यह सत्य है कि किसी व्यक्ति को साँप से डर लगता है, किन्तु किसी को यह डर नहीं भी लगता है, क्योंकि उसमें भयसंज्ञा का उदय नहीं है। जैन-कर्मग्रंथों के अनुसार, भय आठवें गुणस्थानक के अन्त में, अर्थात् आध्यात्मिक-विकास की एक विशेष अवस्था में नहीं भी लगता है। लोभ एवं मैथुन का भाव भी दसवें गुणस्थान में समाप्त हो जाता है। इस प्रकार, जैनदर्शन के अनुसार आध्यात्मिक-विकास की विभिन्न अवस्थाओं में ये संज्ञाएं लुप्त होती जाती हैं। मनोवैज्ञानिकों और जैन-दार्शनिकों के मत में यह महत्त्वपूर्ण अंतर है।

मूलप्रवृत्त्यात्मक-क्रियाएँ जीवनरक्षक व्यवहार में सहायक होती हैं। जब हम किसी हिंसक जानवर को देखकर भागते हैं, तो उस भागने का एकमात्र ध्येय होता है—उस जानवर से अपने जीवन की रक्षा करना। इसी प्रकार, किसी प्रकार की मूलप्रवृत्त्यात्मक-क्रिया क्यों न हो, लेकिन उसका ध्येय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जीवन-रक्षा का होता है। जैनदर्शन में ओघसंज्ञा और धर्मसंज्ञा के अतिरिक्त सभी

चौदह संज्ञाएँ जीवन संरक्षणात्मक हैं। जहाँ ओघसंज्ञा वस्तुतः सामान्य आचार नियमों के पालन के प्रति प्रेरित करती हैं, वहीं धर्मसंज्ञा व्यक्ति को आध्यात्म-पक्ष की ओर प्रेरित करती हैं, अतः ये दोनों मूलप्रवृत्तियों से भिन्न हैं।

मूलप्रवृत्त्यात्मक-क्रियाएँ श्रृंखलाबद्ध और जटिल होती हैं। मूलप्रवृत्ति से एक ही क्रिया प्रेरित नहीं होती, बल्कि कई क्रियाएँ प्रेरित होती हैं, इसीलिए इन्हें श्रृंखलाबद्ध और जटिल व्यवहार कहा जाता है, जैसे —अण्डा सेंकने, घोंसला बनाने आदि की क्रियाएँ। जैनदर्शन के अनुसार, जब तक संज्ञाएँ बनी रहती हैं, कर्मबंधन का क्रम चलता रहता है।

मैकड्यूगल ने सहजक्रिया {Reflex Action} और मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओं को जन्मजात माना है, क्योंकि कोई भी प्राणी इन्हें अपने जीवन के अनुभवों से नहीं सीखता है। इनकी योग्यता जीव में जन्म से ही मौजूद रहती हैं और ये उस ध्येय को पूरा करने में सहायक होती हैं; जीव को उसका विशेष ज्ञान अर्जित हो या न हो। किन्तु कुछ समानताओं के होते हुए भी जैनदर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान अर्थात् दोनों में जो भी भिन्नताएँ हैं, वे दोनों को एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न करती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में भी सहज क्रियाओं और मूलप्रवृत्तियों में अन्तर माना गया है, जो मूलप्रवृत्तियों को जैनदर्शन के थोड़ा निकट ला देता है।

वस्तुतः, सहज-क्रिया सरल {Simple} और मूलप्रवृत्त्यात्मक-क्रिया जटिल {Complex} होती हैं। कोई चीज नाक में पड़ने से तत्काल छींक आती है और वह समाप्त हो जाती है, लेकिन घोंसला बनाने की मूलप्रवृत्त्यात्मक-क्रिया में कई क्रियाएँ सम्मिलित रहती हैं, इसीलिए सहजक्रिया को सरल और मूलप्रवृत्त्यात्मक-क्रिया को जटिल कहा जाता है। जैनदर्शन में भी संज्ञा को कर्मजन्य होने से सरल, किन्तु उसमें विवेक का योगदान होने से वह जटिल भी है।

उपर्युक्त विशेषता से यह भी स्पष्ट है कि सहजक्रिया क्षणिक होती है, किन्तु मूलप्रवृत्त्यात्मक-क्रिया सापेक्षतया दीर्घकालिक होती है। ऊपर के उदाहरण में छींक

के शुरू होने और समाप्त होने में देर नहीं होती, किन्तु घोंसला बनाने की क्रिया शीघ्र समाप्त न होकर बहुत दिनों तक होती रहती है।

जीवन के अनुभवों का असर सहज-क्रिया पर नहीं पड़ता, इसलिए उसमें कभी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। मूलप्रवृत्त्यात्मक-क्रिया के साथ ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस पर जीवन के अनुभव का प्रभाव पड़ता है और इसमें परिवर्तन भी होता है।

जैनदर्शन भी मैकड्यूगल की इस बात का समर्थन करता है। वह स्वीकार करता है कि छींकने की क्रिया सहज है, उसमें परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, परंतु आहारादि संज्ञाओं को विशेष प्रयत्न, प्रयास और प्रक्रिया के द्वारा परिमार्जित और अन्त में समाप्त भी किया जा सकता है।

सहजक्रियाओं को शरीर के किसी एक भाग से सम्बन्धित कर सकते हैं, किन्तु मूलप्रवृत्त्यात्मक-क्रिया के सम्बन्ध में ऐसा करना संभव नहीं है।

सहजक्रिया से ध्येय की पूर्ति तत्काल होती है, किन्तु मूलप्रवृत्त्यात्मक-क्रिया से तत्काल ऐसा हो, यह जरूरी नहीं है। चूंकि मूलप्रवृत्ति सम्बन्धी क्रियाएँ स्वयं देर तक होती हैं, अतः उनके ध्येय की प्राप्ति भी विलम्ब से होती है।

मूलप्रवृत्ति के प्रकार {Kind of Instincts}

विद्वानों ने मूलप्रवृत्तियों का वर्गीकरण कई आधारों पर किया है। मैकड्यूगल के अनुसार भी मूलप्रवृत्तियाँ विभिन्न प्रकार की हैं। यहाँ हम इन मूलप्रवृत्तियों की जैनदर्शन में वर्णित संज्ञाओं के षोडशविध वर्गीकरण से तुलना करेंगे, साथ ही यह देखने का प्रयास भी करेंगे कि इन दोनों में कितनी समानताएँ एवं विभिन्नताएँ हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक संवेग {Emotion} को भी मूलप्रवृत्तियों से सम्बन्धित करते हैं। संवेग की संख्या तो अनेक है, फिर भी मैकड्यूगल की चौदह मूलप्रवृत्तियों के निम्न चौदह संवेग हैं —

<u>जैन-संज्ञाएँ</u>	<u>मैकड्युगल की मूलप्रवृत्तियाँ</u>	<u>मूलप्रवृत्तियों से सम्बद्ध संवेग</u>
1. आहारसंज्ञा	1. भोजन ढूँढना	1. भूख
2. भयसंज्ञा	2. भागना	2. भय
3. मैथुनसंज्ञा	3. लड़ना / आक्रामकता	3. क्रोध
4. परिग्रहसंज्ञा	4. उत्सुकता	4. आश्चर्य
5. क्रोधसंज्ञा	5. रचना	5. रचनात्मक आनन्द
6. मानसंज्ञा	6. संग्रह	6. संग्रह-भाव
7. मायासंज्ञा	7. विकर्षण	7. घृणा
8. लोभसंज्ञा	8. शरणागत होना	8. करुणा
9. लोकसंज्ञा	9. यौनप्रवृत्ति	9. कामुकता (Sexuality)
10. ओघसंज्ञा (मूलप्रवृत्तियों से अलग है)	10. शिशुरक्षा	10. स्नेह
11. सुखसंज्ञा	11. दूसरों की अभिलाषा	11. एकाकीपन का भाव
12. दुःखसंज्ञा	12. आत्मप्रकाशन	12. उत्साह
13. धर्मसंज्ञा (मूलप्रवृत्तियों से अलग है)	13. विनीतता	13. आत्महीनता
14. मोहसंज्ञा	14. हंसना	14. प्रसन्नता
15. शोकसंज्ञा		
16. विचिकित्सा (जुगुप्सासंज्ञा)		

जैनदर्शन में संज्ञाओं की जो अवधारणा है, वह पाश्चात्य-मनोविज्ञान के मैकड्युगल के मूलप्रवृत्तियों के सिद्धांत से बहुत कुछ समानता रखती है। तुलनात्मक-दृष्टि से विचार करने पर जैनदर्शन में मूलभूत चार संज्ञाएँ—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा मानी गई हैं, उनकी समरूपता

मैकड्यूगल की मूलप्रवृत्तियों से देखी जा सकती है, जैसे—जैनदर्शन में जो आहारसंज्ञा बताई गई है, उसे मैकड्यूगल ने भोजन की खोज नामक मूलप्रवृत्ति माना है और उसका आधार 'भूख' संवेग को बताया है। जैन-दर्शन के अनुसार, सभी संसारी-जीवों में आहारसंज्ञा होती है, मात्र वीतराग केवली-परमात्मा में आहारसंज्ञा को लेकर मतभेद हैं। दिगम्बर-परम्परा उनमें आहारसंज्ञा का अभाव मानती है, श्वेताम्बर उनमें भी आहार-ग्रहण मानते हैं।

उसी प्रकार, मैकड्यूगल की भागने की मूलप्रवृत्ति का संबंध जैनदर्शन की भयसंज्ञा से जोड़ा जा सकता है। मैकड्यूगल ने भी इस भागने की प्रवृत्ति का आधार 'भय' का संवेग ही माना है।

इसी क्रम में, जैनदर्शन की मैथुनसंज्ञा को मैकड्यूगल की यौनप्रवृत्ति के समरूप माना जा सकता है। मनोविज्ञान ने इसका संबंध कामुकता के संवेग से माना है। यौनप्रवृत्ति या कामुकता वस्तुतः मैथुनसंज्ञा की ही अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार, जैनदर्शन परिग्रहसंज्ञा की बात करता है, उसे मैकड्यूगल ने संग्रह की प्रवृत्ति माना है। मनोवैज्ञानिक ने इसे संग्रह-भावरूप संवेग बताया है।

जैनदर्शन में संज्ञाओं का जो दसविध वर्गीकरण मिलता है, उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों को भी संज्ञा के रूप में वर्गीकृत किया गया है। जैन-दर्शन जिसे क्रोध कहता है, मैकड्यूगल ने उसे आक्रामकता की मूलप्रवृत्ति माना है, मनोविज्ञान ने 'इसका' संवेग क्रोध माना है। जैनदर्शन में जिसे मानसंज्ञा कहा गया है, उसे मैकड्यूगल ने आत्मप्रकाशन की मूलप्रवृत्ति माना है। मानसंज्ञा अहंकार का ही एक रूप है और आत्मप्रकाशन भी अहंकार की ही अभिव्यक्ति का एक माध्यम है।

जैनदर्शन ने जिसे मायासंज्ञा कहा है, वस्तुतः वह व्यक्ति में रही हुई छिपाने की वृत्ति का ही परिणाम है, अर्थात् रूप में तो नहीं, किन्तु मैकड्यूगल की शरणागत की प्रवृत्ति से इसका संबंध देखा जा सकता है। वस्तुतः, व्यक्ति में अपने को बचाने की भावना है, शरणागतता और माया/कपटवृत्ति भी गहराई में उससे जुड़ा हुआ

तत्त्व ही है, क्योंकि उसमें भी अपनी कमियों को छिपाने की प्रवृत्ति ही काम करती है।

जैनदर्शन में जो लोभसंज्ञा की चर्चा है, वह वस्तुतः प्रारंभिक चार संज्ञाओं में परिग्रहसंज्ञा से बहुत अधिक दूर नहीं है। परिग्रह की भावना, संग्रहवृत्ति और लोभ-संज्ञा प्रायः पर्यायवाची ही माने जा सकते हैं। लोभ एक मानसिक-स्थिति है और संग्रहवृत्ति इसकी ही बाह्य-अभिव्यक्ति है।

जैनदर्शन में संज्ञाओं के षोडशविध वर्गीकरण में विचिकित्सा नामक संज्ञा का उल्लेख है। वस्तुतः, यह घृणा की भावना या विकर्षण का ही एक रूप है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैनदर्शन की सोलह संज्ञाओं में से नौ संज्ञाएँ कहीं-न-कहीं मैकड्यूगल की चौदह मूलप्रवृत्तियों और उनके संवेगों से ही जुड़ी हुई है।

लोक, ओघ, सुख, दुःख, धर्म, मोह और शोक —ये सात संज्ञाएँ ऐसी हैं, जिनका मूलप्रवृत्ति के रूप में कहीं कोई उल्लेख नहीं हुआ है, फिर भी सुख के प्रति आकर्षण और दुःख के प्रति विकर्षण का भाव तो प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है। आचारांगसूत्र में कहा गया है —“सभी दुःख अप्रिय हैं, सुख प्रिय”² ये आकर्षण और विकर्षण के भाव ही जैनदर्शन में राग और द्वेष के तत्त्वों के रूप में वर्णित हैं।³ संवेगों में इन्हें स्नेह और घृणा के भाव कहा गया है। शिशुरक्षा आदि की प्रवृत्ति भी कहीं-न-कहीं रागजन्य है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैनदर्शन में जो संज्ञाओं का विवेचन है, वह आधुनिक मनोविज्ञान की मूलप्रवृत्तियों और स्थाई भावों की अवधारणा के साथ बहुत कुछ समरूपता रखता है।

आधुनिक मनोविज्ञान मूलप्रवृत्तियों को जन्मना मानता है। जैनदर्शन के अनुसार भी ये पूर्वकर्मजन्य होने के कारण इन्हें जन्मना माना जा सकता है, फिर भी

² आचारांगसूत्र— 1/4/2

³ उत्तराध्ययनसूत्र— 32/7

जैनदर्शन में धर्म और ओघ —ये दो संज्ञाएं आधुनिक मनोविज्ञान से भिन्न ही हैं। यद्यपि धर्म का तात्पर्य वस्तुस्वभाव मानने पर उसे किसी रूप से आधुनिक मनोविज्ञान के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया जा सकता है, फिर भी दोनों में बहुत कुछ अन्तर है, क्योंकि आधुनिक—मनोविज्ञान अपने को प्राणीय—व्यवहार तक सीमित रखता है, जबकि जैनदर्शन प्राणीय—व्यवहार के पीछे दैहिक और चैतसिक —दोनों बातों को स्वीकार करता है, फिर भी लोकोत्तर जीवन या मोक्ष की बात करता है। जैनदर्शन में इन संज्ञाओं का आधार न केवल जैववृत्ति है, अपितु उसके पीछे कर्मजन्य भौतिक—पक्ष एवं आध्यात्मिक—पक्ष भी रहा हुआ है।

आधुनिक—मनोविज्ञान वस्तुतः, प्राणी—व्यवहार का विज्ञान है, अतः वह अपने को प्राणी—व्यवहार की व्याख्या तक ही सीमित रखता है, परन्तु जैनदर्शन धर्म—आधारित है, इसलिए वह प्राणी—व्यवहार के पीछे एक आध्यात्मिक—दृष्टि को भी मानकर चलता है। आधुनिक मनोविज्ञान केवल, व्यवहार क्या है और कैसा है ? तक ही अपने—आपको सीमित करता है; जबकि जैनदर्शन, प्राणीव्यवहार ऐसा क्यों है और उसे कैसा होना चाहिए ? इन पहलुओं को लेकर सूक्ष्मता से विचार करता है। व्यवहार के कारण की खोज और जीवन—लक्ष्य का निर्धारण —यह आधुनिक—मनोविज्ञान से जैनदर्शन की भिन्नता को सूचित करता है।

जैनदर्शन केवल तथ्यात्मक ही नहीं, वह आदर्शपूर्वक भी है और यही कारण है कि उसने संज्ञाओं के इस वर्गीकरण में भी ओघसंज्ञा और धर्मसंज्ञा को एक आदर्श प्रेरक के रूप में उपस्थित किया है। इस प्रकार, मैकड्यूगल के मूलप्रवृत्ति के सिद्धांत और जैनदर्शन में आंशिक समरूपता होते हुए भी आंशिक—वैभिन्न्य भी है।

जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय - 16

1. संज्ञा और विवेक
2. संज्ञा और संज्ञी में अन्तर
3. संज्ञा विवेकशीलता के रूप में
4. उपसंहार

अध्याय – 16

उपसंहार

प्राणी—व्यवहार गतिशील होता है। पाश्चात्य—मनोविज्ञान में इस प्राणीय—व्यवहार को गति देने वाले प्रेरक तत्त्वों को मूलप्रवृत्तियों {Instincts} संवेगों {Emotions} एवं स्थाई—भावों {Sentiments} के रूप में जाना जाता है। पाश्चात्य—मनोविज्ञान के प्राणीय—व्यवहार के इन प्रेरक—तत्त्वों को जैनदर्शन में 'संज्ञा' के नाम से जाना जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान में ये प्रवृत्तियाँ जन्मजात मानी गई हैं। जैनदर्शन इनमें से आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि कुछ प्रवृत्तियों को जन्मजात मानता है, तो धर्म आदि कुछ प्रवृत्तियों को अर्जित भी मानता है।

जैनदर्शन के अनुसार, इन सभी प्रवृत्तियों का संबंध लौकिक—जीवन से ही है। यद्यपि जैनदर्शन में जिन्हें संज्ञा कहा गया है, वे आधुनिक मनोविज्ञान की मूलप्रवृत्तियों, संवेगों और स्थाई भावों से भिन्न नहीं हैं, फिर भी इनमें आंशिक समानता ही देखी जाती है। जैनदर्शन के अनुसार, ये सभी प्रवृत्तियाँ संसारी—जीवों में ही पाई जाती हैं, जीवों में नहीं, क्योंकि प्रायः ये सभी देहाश्रित हैं, किन्तु जैनदर्शन का यह भी मानना है कि प्राणी और विशेष रूप से मनुष्य का यह दायित्व है कि वह इनसे ऊपर उठने का प्रयत्न करे, क्योंकि वह इन वासनाजन्य जैविक—मूल—प्रवृत्तियों से ऊपर उठ सकता है।

संज्ञा शारीरिक—आवश्यकता और मानसिक—संचेतना है, जो अभिलाषा और आकांक्षा के रूप में अभिव्यक्त होती है और प्राणी को उस दिशा में व्यवहार करने को प्रेरित करती है। सामान्यतया, हम कह सकते हैं कि संज्ञाओं या व्यवहार के अभिप्रेरकों से बाधित होकर ही जीव इस लोक में कर्म करता है और उन कर्मों के परिणामस्वरूप सांसारिक—सुख या दुःख को प्राप्त होता है। मात्र यही नहीं, इन्हीं संज्ञाओं की उपस्थिति के कारण व्यक्ति तनावग्रस्त भी होता है। जैनदर्शन की मान्यता यह है कि क्षुद्र प्राणी से लेकर मनुष्य तक —सभी संसारी जीवों में आहार,

भय, मैथुन और परिग्रह—रूप वृत्तियाँ पाई जाती हैं। इतना ही नहीं, अपितु उनमें किसी—न—किसी रूप में क्रोध, मान, माया और लोभ के तत्त्व भी पाए जाते हैं, फिर भी जैनदर्शन में यह मान्यता है कि मनुष्य इनसे ऊपर उठ सकता है, अतः जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान में मूलप्रवृत्तियाँ एक बाध्यता—रूप है, वहाँ जैनदर्शन में कम—से—कम मनुष्यों के लिए ये बाध्यता—रूप नहीं हैं, क्योंकि मनुष्य में इन पर विजय पाने की क्षमता है। जैनदर्शन की यह भी मान्यता है कि वीतराग परमात्मा में आहार, भय, मैथुन और परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, दुःख, मोह, शोक और विचिकित्सा—इन बारह संज्ञाओं का अभाव होता है, वे लौकिक—प्रवृत्तियों से भी रहित होते हैं। इस प्रकार जैनदर्शन के अनुसार यद्यपि संज्ञाएँ व्यवहार की प्रेरक हैं, किन्तु फिर भी वे मानवीय—व्यवहार के लिए बाध्यता रूप नहीं हैं। व्यक्ति अपने दृढ़ संकल्प के बल पर इनसे ऊपर उठ सकता है।

साथ ही, जैनदर्शन में यह 'संज्ञा' शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। व्याकरण—शास्त्र की अपेक्षा से संज्ञा शब्द नाम या पहचान का वाचक है, लेकिन प्रस्तुत शोधप्रबंध में हमने संज्ञा शब्द का जो अर्थ गृहीत किया है, वह इससे भिन्न है। यद्यपि सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थसूत्र की टीका में संज्ञा का अर्थ नाम या पहचान बताया गया है,¹ फिर भी प्रस्तुत प्रसंग में संज्ञा का यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। सामान्यतया, व्यक्ति के जीवन के अभिप्रेरक के रूप में संज्ञा को स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन में संज्ञा एक पारिभाषिक—शब्द है। जैन आचार्यों ने संज्ञा की परिभाषा इस प्रकार की है —“वेदनीय तथा मोहनीय कर्मों के उदय से एवं ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से आहारादि के प्रति जो वासनात्मक—अभिरुचियाँ होती हैं तथा उचित या अनुचित की विवेकात्मक—प्रवृत्ति होती है, वही संज्ञा है।”²

इस प्रकार, जैनदर्शन में संज्ञा शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वेदनीय व मोहनीय—कर्म के उदय से आहार, भय, मैथुन आदि की जो अभिलाषा, अभिरुचि

¹ संज्ञा नामेत्युच्यते। तत्त्वार्थसूत्र — 2/24/181/10

² भगवतीवृत्ति 6/161, उद्धृत—भगवई, खंड-2, आचार्य महाप्रज्ञ, जैनविश्वभारती लाडनू, पृ. 382

होती है वह भी संज्ञा है। साथ ही ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से जो हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक जाग्रत होता है, वह विवेकात्मक-शक्ति भी संज्ञा कहलाती है। इस प्रकार, जैनदर्शन में संज्ञा शब्द का प्रयोग दो अर्थों में देखा जाता है —वासनात्मक एवं विवेकात्मक।

जैनदर्शन में संज्ञाओं का जो चतुर्विध वर्गीकरण पाया जाता है, उसमें आहार, भय, मैथुन और परिग्रह—संज्ञाएं समाहित हैं, यह संज्ञा का वासनात्मक-पक्ष है। इसी प्रकार, क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों को उद्दीप्त करने वाली वृत्ति को भी संज्ञा कहा गया है, ये भी मानवीय-व्यवहार के वासनात्मक-पक्ष से ही संबंधित हैं। इसी क्रम में, लौकिक-प्रवृत्तियां तथा सुख-दुःख आदि की अभिप्रेरक वृत्तियाँ भी संज्ञा कही गई हैं, साथ ही मोह, शोक, विचिकित्सा आदि को भी संज्ञा में समाहित किया गया है। ये सभी वासनात्मक-पक्ष की परिचायक हैं। लोक-संज्ञा से प्राणी में जो लोक-परम्परा के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है, वह भी संज्ञा कही जाती है, किन्तु जैनदर्शन में संज्ञाओं के इस वासनात्मक-पक्ष की अपेक्षा भी विवेकात्मक-पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है। संज्ञाओं के षोडशविध वर्गीकरण में चौदह संज्ञाएं वासनात्मक-पक्ष को ही अभिप्रेरित करती हैं, पर ओघ और धर्म-संज्ञा ऐसी संज्ञाएं हैं, जो संज्ञा के विवेकात्मक पक्ष को प्रस्तुत करती हैं। संज्ञा के दोनों पक्षों की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं, अतः अभी यहाँ विस्तार से वर्णन करना उचित नहीं।

'संज्ञा' शब्द की व्युत्पत्ति सम् + ज्ञान से भी मानी जाती है। यह प्राणी में रही हुई विचार-विमर्श की सूचक है। यही कारण था कि जैन आचार्य उमास्वाति³ ने तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के जिन पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख किया है, उनमें संज्ञा शब्द को मतिज्ञान का पर्यायवाची माना है। इस प्रकार, संज्ञा विवेक-सामर्थ्य की भी सूचक है।

³ मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। — तत्त्वार्थसूत्र — 2/13

ऐन्द्रिकज्ञान और विमर्शात्मकज्ञान भी संज्ञा के अन्तर्गत ही आते हैं, यही कारण है कि आचार्यों ने ओघ और धर्म को संज्ञा के रूप में ही स्वीकार किया है। इस प्रकार, हम यह कह सकते हैं कि जैनदर्शन में संज्ञा शब्द जीववृत्ति और विवेकवृत्ति—दोनों का ही परिचायक रहा है। वह यह बताता है कि प्राणी जो भी व्यवहार करता है, उसके पीछे कोई भी संज्ञा अवश्य रहती है। यद्यपि वासनात्मक और विवेकात्मक—संज्ञाएँ व्यवहार की प्रेरक रही हैं, फिर भी वासना की अपेक्षा विवेक को प्रधानता देने के उद्देश्य से संज्ञा विशेष महत्त्वपूर्ण मानी गई है। जैनदर्शन में इन संज्ञाओं को दो भागों में बांटा गया है। पहला—उदयजन्य, जो कर्म के उदय से प्राप्त होती हैं और दूसरी—क्षयोपशमजन्य, जो कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती हैं।

उदयजन्य संज्ञाएँ मोहनीयकर्म के उदय से होती हैं, इसलिए वे संसार का कारण भी होती हैं, किन्तु ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से जो संज्ञाएँ उत्पन्न होती हैं, वे प्राणी के विवेकात्मक—पक्ष पर विशेष बल देती हैं। विवेक—आधारित संज्ञाओं के तीन प्रकार माने गए हैं। 1. हेतुवादोपदेशिकी—संज्ञा, 2. दीर्घकालिक—संज्ञा 3. दृष्टिवादोपदेशिकी—संज्ञा।⁴

1. हेतुवादोपदेशिकी—संज्ञा — वह संज्ञा, जिसमें वर्तमान के संदर्भ में ही ज्ञान, चिंतन और उपयोग हो और दुःख—मुक्ति का एवं सुख—प्राप्ति का उद्देश्य हो उसे हेतुवादोपदेशिकी—संज्ञा कहते हैं, जैसे गर्मी हो, तो छाया में जाना, सर्दी हो, तो धूप में जाना, भूख लगने पर आहारादि के लिए प्रवृत्ति करना आदि।

2. दीर्घकालिक संज्ञा — वह संज्ञा, जिसमें भूत, वर्तमान एवं भविष्यकाल—तीनों कालों का विचार—चिन्तन होता है, उसे दीर्घकालिक—संज्ञा कहते हैं। मनोबलप्राण वाले समस्त जीवों में यह संज्ञा पाई जाती है। इसका दूसरा नाम संप्रसारण—संज्ञा भी है।

⁴ दण्डक प्रकरण, गाथा—33

3. दृष्टिवादोपदेशिकी—संज्ञा — जो जीव सम्यग्दर्शन के परिणामस्वरूप आत्मा का हित—अहित सोचते हैं, अविवेक, अनिष्ट, अकरणीय, अभक्ष्य का त्याग करके इष्ट, करणीय एवं भक्ष्य को स्वीकार करते हैं, उन जीवों की संज्ञा दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा होती है। पंचेन्द्रिय गर्भज मनुष्यों में ही ये संज्ञाएँ होती हैं।

इस प्रकार, मोहनीय—कर्मप्रकृति के उदय से होने वाली संज्ञाएँ, जो उदयजन्य संज्ञा हैं, इसका वर्गीकरण भी अनेक प्रकार से किया गया है। संज्ञाओं का जो चतुर्विध, दशविध और षोडशविध वर्गीकरण पाया जाता है, उनमें चतुर्विध के अन्तर्गत आने वाली चार संज्ञाएँ (आहार, भय, मैथुन और परिग्रह), संज्ञाओं के दशविध वर्गीकरण में नौ संज्ञाएँ (आहार आदि चार तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, लोक) वासनारूप और ओघ विवेकरूप संज्ञा हैं। इसी प्रकार संज्ञाओं के षोडशविध वर्गीकरण में— आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, लोक, सुख, दुःख, मोह, शोक, विचिकित्सा —ये चौदह संज्ञाएँ वासनात्मक—पक्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसमें धर्म और ओघ विवेकात्मक—पक्ष की परिचायक हैं। ये दोनों संज्ञाएँ किसी—न—किसी रूप में दर्शनावरण और ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होती हैं।

संक्षेप में, वासनात्मक—संज्ञाएँ भववृद्धि का कारण हैं और विवेकात्मक—संज्ञाएँ संसार से विमुक्ति का कारण है।

संज्ञाओं के स्वरूप एवं उनके वासनात्मक एवं विवेकात्मक पक्ष को लेकर जो प्रमुख चर्चा हमने पूर्व में की है, उसका सार निम्न है —

जैनदर्शन में आहार, भय, मैथुन, और परिग्रह नामक जिन चार संज्ञाओं का विवेचन मिलता है, वे संज्ञाएँ मूलतः व्यक्ति के वासनात्मक—जीवन की परिचायक हैं।⁵ मनोविज्ञान की भाषा में हम इन्हें मूलप्रवृत्ति भी कह सकते हैं, क्योंकि इनका आधार जैविक है।⁶ शरीरधारी सभी प्राणियों में इनका अस्तित्व माना गया है। जब इन चार संज्ञाओं में क्रोध, मान, माया और लोभ —इन चार संज्ञाओं को जोड़ दिया

⁵ उपासकाध्ययनसूत्र, गाथा— 56—56

⁶ व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, अरुणकुमार सिंह, आशीषकुमार सिंह, पृ. 191

जाता है, तो ये आठों ही मूलतः प्राणी की जैविक-वृत्ति की परिचायक ही लगती हैं। इस प्रकार, संज्ञाओं के चतुर्विध और दशविध –दोनों वर्गीकरणों में केवल लोक और ओघ-संज्ञा को छोड़ दें, तो शेष आठों संज्ञाएँ प्राणी की जैविक-मूलप्रवृत्तियों की ही परिचायक हैं। मात्र यही नहीं, इन दशविध संज्ञाओं में लोकसंज्ञा भी प्राणियों की सामान्य जैविक-प्रवृत्तियों की ही परिचायक है। इस प्रकार, संज्ञाओं के दशविध वर्गीकरण में नौ संज्ञाएँ मूलतः प्राणी के जैविक और वासनात्मक-पक्ष को ही प्रस्तुत करती हैं। इनमें ओघसंज्ञा भी सामान्य व्यवहार की ही वाचक है, किन्तु ओघनिर्युक्ति⁷ आदि जैन-ग्रन्थों में ओघ शब्द का जो अर्थ दिया गया है, उससे इसे वासनात्मक न मानकर विवेकात्मक भी मानना पड़ता है। जैनदर्शन के अनुसार, व्यक्ति का विवेक चाहे कितनी ही प्रसुप्त अवस्था में क्यों न हो, विवेक का एक पक्ष तो अवश्य ही उदघाटित रहता है, किन्तु यह विवेक प्राणी के सामान्य व्यवहार से जुड़ा है या आध्यात्मिक व्यवहार से जुड़ा हुआ है, यह विचारणीय प्रश्न है। जैनदर्शन में ओघनिर्युक्ति में नैतिक एवं धार्मिक-आचार के सामान्य नियमों का उल्लेख है, अतः ओघ को विवेकपूर्ण आचार के सामान्य नियमों का वाचक भी माना जा सकता है। इस प्रकार, जैन-आचार्यों ने ओघनिर्युक्ति नामक ग्रंथ में ओघ को वासनात्मक-पक्ष से न जोड़कर मात्र सदाचारात्मक विवेकपूर्ण जीवन से भी जोड़ा है। इसे आचार के नियमों की सामान्य समझ के रूप में बताया गया है।⁸ इस प्रकार ओघसंज्ञा को वासना और विवेक –दोनों से सम्बन्धित माना जा सकता है।

जैनदर्शन में संज्ञाओं का एक षोडशविध वर्गीकरण भी मिलता है,⁹ इसमें से सुख-दुःख, मोह, शोक और विचिकित्सा –इन पांच संज्ञाओं को मिला लें, तो सोलह में से चौदह संज्ञाएँ मूलतः जैविक-मूल-प्रवृत्तियाँ हैं, जो जीवन के वासनात्मक-पक्ष की ही परिचायक हैं।

⁷ ओघनिर्युक्ति-2

⁸ ओघनिर्युक्ति-2

⁹ 1) आचारांगसूत्र, 1/1/2 विवेचन में।

2) प्रशमरति परिशिष्ट, भाग-2, श्री भद्रगुप्तविजयजी, पृ. 284

ज्ञातव्य है कि संज्ञाओं के इस षोडशविध वर्गीकरण में पूर्व की चार और दस संज्ञाएँ भी समाहित हो जाती हैं। इस प्रकार, षोडश संज्ञाओं में ओघ को अंशतः और धर्म को पूर्णतः प्राणी के विवेकात्मक-पक्ष से जोड़ा जा सकता है, शेष सभी चौदह संज्ञाएँ प्राणी के वासनात्मक-पक्ष से ही संबंधित हैं।

धर्मसंज्ञा को हम किस अर्थ में गृहीत करें, यह एक विचारणीय-पक्ष है। धर्म शब्द वस्तुतः स्वभाव का वाचक है, अतः प्राणी-स्वभाव को भी धर्म कहा जा सकता है।¹⁰ इस दृष्टि से धर्म भी जैविक-मूलवृत्ति के रूप में स्थापित होता है, किन्तु जैन आचार्यों ने धर्म को केवल प्राणी-स्वभाव के रूप में ही व्याख्यायित नहीं किया, अपितु वे उसे एक विवेकात्मक और सदाचारात्मक-पक्ष के रूप में भी प्रतिपादित करते हैं, इसलिए धर्म-संज्ञा प्राणी के विवेकात्मक-पक्ष से संबंधित है।

जैनदर्शन की यह मूलभूत मान्यता है कि जीव किसी भी अवस्था में हो, उसमें ज्ञान और दर्शन-पक्ष तो अंशतः सदैव उद्घाटित रहता ही है, अतः हम यह कह सकते हैं कि संज्ञाएँ किसी-न-किसी रूप में प्राणी के वासनात्मक और विवेकात्मक -दोनों पक्षों को अभिव्यंजित करती हैं।

जैनदर्शन में संज्ञा को वासनात्मक और विवेकात्मक -दोनों माना गया है। संज्ञा के विवेकात्मक-पक्ष को स्पष्ट करते हुए आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ में कहा गया है -प्राणियों को इस बात का ज्ञान या विवेक ही नहीं होता है कि मैं कहाँ से आया हूँ।¹¹ आचारांगभाष्य में आचार्य महाप्रज्ञजी ने भी यहाँ 'सण्णा' शब्द का अर्थ संज्ञान या विवेक ही किया है,¹² किन्तु जब संज्ञा (सण्णा) का सम्बन्ध आहार, भय, मैथुन या परिग्रह की वृत्ति से जोड़ा जाता है, तो उसे एक जैव-वृत्ति या जीवन के वासनात्मक-पक्ष के रूप में भी व्याख्यायित किया जाता है। उसके ये दोनों अर्थ जैनागमों में प्रतिपादित हैं।

¹⁰ वत्थु सहावो धम्मो, भाव संग्रह, गाथा 373

¹¹ इहमेगेसि नो सण्णा भवइ, आचारांगसूत्र, 1/1/1

¹² आचारांगभाष्य, आचार्य महाप्रज्ञ, जैनविश्वभारती संस्थान, लाडनू पृ. 16

संज्ञा विवेकशीलता के रूप में —

जैसा कि हमने पूर्व में विवेचन किया है कि जैन परम्परा में संज्ञा शब्द चेतना के वासनात्मक और विवेकात्मक दोनों पक्षों के लिए प्रयोग हुआ है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, लोक, सुख—दुःख, मोह, शोक और विचिकित्सा —ये सभी संज्ञाएं चेतना के वासनात्मक पक्ष से संबंधित हैं। लोक संज्ञा भी सामान्य लौकिक प्रवृत्तियों से जुड़ी होने से उसका संबंध भी हमारे जैविक चेतना के वासनात्मक पक्ष से ही रहा हुआ है।

संज्ञाओं की जो चर्चा जैन परंपरा में मिलती है, उसमें ओघ और धर्म —ये दो संज्ञाएं ही ऐसी हैं, जिनका संबंध हम चेतना के विवेकात्मक पक्ष से जोड़ सकते हैं। यद्यपि हमने पूर्व में सूचित किया है कि यदि हम ओघसंज्ञा को सामान्य प्रवृत्ति के रूप में और धर्मसंज्ञा को प्राणी स्वभाव के अर्थ में ग्रहण करते हैं, तो इनका संबंध भी चेतना के वासनात्मक पक्ष से होगा, किन्तु ओघ का अर्थ विवेकपूर्ण आचरण और धर्म का अर्थ विभाव से स्वभाव में स्थित होने की प्रक्रिया मानें, तो इन दोनों का संबंध विवेक से मानना होगा।

यद्यपि जैनदर्शन में संज्ञा को मूलतः जैविक वासनात्मक पहलू के रूप में विवेचित किया गया है, किन्तु जैन दर्शन की यह भी मान्यता रही है कि इन जैविक वासनात्मक प्रवृत्तियों के ऊपर नियंत्रण या विजय प्राप्त करने और अपने सहज चेतन स्वभाव में अर्थात् ज्ञातादृष्टाभाव में स्थित रहने का सामर्थ्य मनुष्य में है। जैन-आचार शास्त्र की विशेषता यही है कि उसने सदैव वासना पर विवेक का अंकुश रखा है। प्रत्येक संज्ञा के विवेचन में हमने यह दिखाया है कि उन संज्ञाओं पर विजय कैसे प्राप्त करें। सामान्यतः, जो संज्ञाएँ जीवन व्यवहार के वासनात्मक पक्ष की उद्दीपक हैं, उन पर तो नियंत्रण आवश्यक है।

सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि संज्ञा अर्थात् अपनी विवेकशक्ति को क्रोध, मान, माया, लोभ आदि चेतना के वासनात्मक पक्ष में निवेशित न करें।¹³ यहाँ वासना पर विवेक के अंकुश की बात स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

संज्ञा और संज्ञी में अंतर –

जैनदर्शन में संज्ञा के वासनात्मक पक्ष को संज्ञा और विवेकात्मक पक्ष को संज्ञी के रूप में विवेचित किया गया है। जैनदर्शन में संज्ञा और संज्ञी –ये दो शब्द स्पष्ट रूप से प्रयुक्त हुए हैं। सामान्यतया, संज्ञी वह कहा जाता है जिसमें विवेकात्मक मन हो।¹⁴ इसी विवेक क्षमता के आधार पर जैन आचार्यों ने संज्ञा और संज्ञी में अंतर किया है।

जैन आचार्यों ने यह माना है कि संज्ञी प्राणी ही मोक्ष का अधिकारी होता है, जबकि मात्र संज्ञा होने पर किसी को मोक्ष का अधिकार प्राप्त हो –यह आवश्यक नहीं है। श्वेताम्बर परंपरा में आहार संज्ञा को छोड़कर शेष सभी संज्ञाओं की उपस्थिति में मोक्ष का अभाव माना है। दिगंबर परम्परा तो आहार संज्ञा की उपस्थिति में भी मोक्ष की संभावना स्वीकार नहीं करती है। धर्म और ओघ संज्ञा को जब हम विवेकात्मक रूप से स्वीकार करते हैं तब वह मोक्ष का साधन बनती है। लेकिन मोक्ष अवस्था तो निश्चय में संज्ञा और संज्ञी से भिन्न है। मोक्ष दशा में न संज्ञा रहती है और न संज्ञा का भाव रहता है।¹⁵

¹³ अणासिता नाम महासियाला, पगब्धिणो तत्थ सयायकोवा ।
खज्जति तत्थ बहुकूरकम्मा, अदूरया संकलियाहिं बद्धा ॥ 20 ॥
सदाजला नाम नदी भिदुग्गा, पविज्जला लोहविलीणतत्ता ।
जंसी भिदुग्गंसि पवज्जमाणा, एगाइयाऽणुक्कमणं करेत्ति ॥ 21 ॥
एआई फासाइं फुसति बालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठित्तीयं ।
ण हम्ममाणस्स तु होति ताणं, एगो सयं पच्चणुहोति दुक्खं ॥ 22 ॥

—सूत्रकृतांगसूत्र 2/5/20,21,22

¹⁴ संज्ञिनः समनस्काः । – तत्त्वार्थसूत्र, 2/25

¹⁵ प्रज्ञापनासूत्र, सूत्र 1965–1973

जैन आचार्यों की दृष्टि में जहाँ संज्ञा शब्द सामान्य जैविक प्रवृत्तियों की वाचक है, वहीं संज्ञी शब्द विवेकशील प्राणियों का ही वाचक है। जैन आचार्यों ने यह माना है कि —जिसमें हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक हो, वही संज्ञी कहलाता है।¹⁶ इस आधार पर वे यह मानते हैं कि संज्ञा सामान्यतः संसार के सभी प्राणियों में पायी जाती है, किन्तु संज्ञी वे ही होते हैं, जो हेय, ज्ञेय और उपादेय की विवेक क्षमता से युक्त होते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार, सांसारिक प्राणियों में उच्चस्तरीय पंचेन्द्रिय प्राणी और मनुष्य ही ऐसे हैं, जो संज्ञी पद के अधिकारी हैं। यद्यपि नारकों और देवों में संज्ञीपना माना गया है,¹⁷ किन्तु वे दोनों की भोगभूमियाँ हैं। यहाँ वे केवल अपने शुभाशुभ कर्मों का भोग करते हैं, उनमें त्याग मार्ग या निवृत्ति मार्ग में आगे बढ़ने की क्षमता नहीं होती। चाहे उनमें हेय, ज्ञेय या उपादेय का विवेक हो (क्योंकि नरक में भी सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं), किन्तु न तो उनमें हेय का परित्याग करने की और न उपादेय को ग्रहण करने की क्षमता होती है और वह अपने जैविक-वृत्तियों से भिन्न जीवन जी सकते हैं यद्यपि कुछ पशु, देव एवं नारक, संज्ञा और संज्ञी —दोनों हैं, फिर भी हेय का परित्याग और उपादेय का ग्रहण करने की शक्ति न होने के कारण वे उसी जीवन में मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं।

इस प्रकार, सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि सामान्यतया संज्ञाएँ प्राणीय जीवन के वासनात्मक और जैविक-पक्ष को प्रस्तुत करती हैं, जबकि संज्ञा का भाव प्राणी के विवेकात्मक पक्ष को प्रस्तुत करता है। यहाँ हमें यह समझ लेना चाहिए कि ज्ञानात्मक विवेक क्षमता और आचरणात्मक विवेक में अंतर है। ज्ञानात्मक विवेक देव, नारक और पंचेन्द्रिय तिर्यच में भी होता है, किन्तु आचरणात्मक विवेक केवल मनुष्य में ही पाया जाता है, इसलिए मनुष्य में ज्ञानात्मक-विवेक और आचरणात्मक-विवेक दोनों की ही संभावना है। यद्यपि जैनदर्शन में तिर्यच पंचेन्द्रिय

¹⁶ द्रव्यानुयोग, भाग-1, मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' अध्याय-9 पृ. 270

¹⁷ प्रज्ञापनासूत्र, सूत्र 1968-1973

को भी संज्ञी कहा गया है, किन्तु उसमें आचरणात्मक विवेक—क्षमता सीमित होती है। परम्परागत मान्यता के अनुसार वे केवल अंशतः ही श्रावक व्रत का पालन कर सकते हैं। ज्ञातव्य है कि इस सम्बन्ध में आधुनिक जैव-वैज्ञानिकों और जैन चिन्तकों में मतभेद हैं। उनमें ज्ञानात्मक विवेक की संभावना है, किन्तु आचरणात्मक विवेक की सीमित संभावना होने से वे भी मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं और इस दृष्टि से वे संज्ञी होते हुए संज्ञाओं पर पूर्णतः विजय पाने की शक्ति से रहित होते हैं। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो संज्ञा पर अपने संज्ञीपने के द्वारा पूर्णतः विजय प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी हो सकता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संज्ञा प्रायः प्राणी के वासनात्मक जैविक पक्ष को प्रस्तुत करती है, तो संज्ञीपना प्राणी के विवेकशील पक्ष को प्रस्तुत करता है। संज्ञा सभी जीवों में पाई जाती है, किन्तु संज्ञीपना मात्र कुछ जीवों में ही होता है और उसमें भी हेय, ज्ञेय और उपादेय के विवेक के साथ हेय का पूर्णतया त्याग और उपादेय के ग्रहण की सामर्थ्य मात्र मनुष्य में ही है। मनुष्य संज्ञायुक्त भी है और संज्ञी भी है। वह अपने संज्ञीपने के द्वारा संज्ञाओं पर विजय प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता है, यही उसकी विशेषता है।

पंचेन्द्रिय जीवों में ये संज्ञाएं स्पष्टः अनुभूत होती हैं और एकेन्द्रिय आदि जीवों में अव्यक्त रूप से होती है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के प्रथम अध्ययन में संज्ञाओं के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

इस शोध प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय आहारसंज्ञा के विवेचन से सम्बन्धित है। क्षुधा वेदनीयकर्म के उदय से आहार के पुद्गलों को ग्रहण करने की अभिलाषा आहार संज्ञा है। स्थानांगसूत्र में इसकी उत्पत्ति के निम्न चार कारण बताये हैं —

1. पेट के खाली होने से अर्थात् शारीरिक संरचना के कारण आहार की आंकाक्षा होने पर
2. क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से
3. आहार सम्बन्धी चर्चा से
4. आहार का चिन्तन करने से

यद्यपि भारतीय संस्कृति धर्म और अध्यात्म प्रधान है, किन्तु धर्म और अध्यात्म की साधना देह आश्रित है। भारतीय मनीषियों ने यह माना है कि धर्म साधना के लिए शरीर आवश्यक है। बिना शरीर के साधना संभव नहीं है, किन्तु यह शरीर आहार आश्रित है, आहार के बिना शरीर नहीं चल सकता, अतः शरीर के रक्षण और पोषण के निमित्त आहार को आवश्यक माना गया है, किन्तु भारतीय चिंतकों का यह भी मानना है कि जीवन के लिए भोजन अपरिहार्य होते हुए भी स्वस्थ एवं संयमी जीवन के लिए आहार का विवेक आवश्यक है। जब तक जीवन है, तब तक आहार की आकांक्षा भी रही हुई है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि जो भी चाहा या जब भी चाहा खा लिया जाय। उसके लिए आहार का विवेक भी आवश्यक है, क्योंकि बिना आहार विवेक के स्वास्थ्य और साधना—दोनों संभव नहीं हैं। प्रस्तुत द्वितीय अध्याय में हमने आहार की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए यह निर्धारित करने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य में आहार का विवेक किस रूप में हो। आहार संज्ञा मनुष्य में बैठी हुई पाशविक प्रवृत्ति की परिचायक है, तो आहार—विवेक उस पाशविक—प्रवृत्ति को मानवीय गुण प्रदान करता है। यही कारण है कि हमने द्वितीय अध्याय में जहाँ एक ओर आहार संज्ञा के स्वरूप, उसकी उपस्थिति और अनिवार्यता की चर्चा की है, वहीं दूसरी ओर आहार के विवेक की चर्चा भी की और बताया है कि जैन परम्परा के अनुसार मनुष्य को क्या, कब और कितना खाना चाहिए, क्योंकि आहार के विवेक के अभाव में स्वयं व्यक्ति का स्वास्थ्य भी खतरे में पड़ जायेगा। वर्तमान युग में मनुष्य अपने स्वास्थ्य के प्रति सजग हुआ है, अतः आहार संज्ञा का तथ्यात्मक और मूल्यात्मक विवेचन किया जाना चाहिए, यह युग की मांग है। प्रस्तुत शोधप्रबंध में हमने इसी दिशा में प्रयत्न किया है।

इस शोधप्रबंध का तृतीय अध्याय भय—संज्ञा से सम्बन्धित है। मोहनीय—कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला आवेग भय है, उद्वेगों के मूल में भय की सत्ता रही हुई है, स्थानांगसूत्र के अनुसार भय की उत्पत्ति के चार कारण निम्न हैं —

1. सत्त्वहीनता से
2. भयमोहनीय कर्म के उदय से

3. भयोत्पादक वचनों को सुनकर
4. भय सम्बन्धी घटनाओं के चिन्तन से

यद्यपि भय-संज्ञा एक मनोभाव है, किन्तु उसके कारण आज सम्पूर्ण विश्व संकटपूर्ण स्थिति से गुजर रहा है। वर्तमान स्थिति को देखें, तो भय-संज्ञा या अंधविश्वास एक विकट रूप लिये हुए है। विश्व का प्रत्येक देश जितना प्रयास एवं अर्थव्यय मानव कल्याण के लिए नहीं करता है, उतना वह सुरक्षा के लिए करता है, क्योंकि उसे अन्य शक्तिशाली देशों के आक्रमण का भय सतत बना रहता है। आज पारस्परिक अविश्वास के कारण अस्त्र-शस्त्रों की अंधी दौड़ ने मानव को भयभीत बना दिया है। वर्तमान युग में वे मानवीय कल्याण की बात छोड़कर सुरक्षा को प्राथमिकता देते हैं। इसी संदर्भ में जैनदर्शन में सप्तविध भय की अवधारणा का उल्लेख मिलता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसका अध्ययन आवश्यक है। जैन दर्शन भय के स्थान पर अभय (अहिंसा) की अवधारणा के विकास को प्रमुखता देता है। प्राणीमात्र भय से कैसे मुक्त हो, विश्व में शान्ति कैसे स्थापित हो एवं मानव जाति का कल्याण कैसे हो, इन बातों का तथ्यात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। प्रस्तुत शोधप्रबंध में हमारा यही उद्देश्य रहा है कि मानवता को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण प्राणी जगत् को भय से कैसे मुक्त किया जावे।

इस शोधप्रबंध का चतुर्थ अध्याय मैथुन-संज्ञा के विवेचन से सम्बन्धित है। चारित्रमोहनीय-कर्म के उदय के कारण कामवासनाजन्य आवेग मैथुन संज्ञा कहलाती है। स्थानांगसूत्र में मैथुन संज्ञा के चार कारण बताये हैं -

1. नामकर्मजन्य दैहिक संरचना के कारण
2. मोहनीय कर्म के उदय से
3. कामसम्बन्धी चर्चा करने से
4. वासनात्मक चिन्तन करने से

स्त्री-पुरुष की कामेच्छा को मैथुन संज्ञा कहते हैं। जैन दर्शन में अंतरंग कामेच्छा के समान ही बहिरंग मैथुन प्रवृत्ति को भी कर्मबन्ध का कारण बताया गया

है। वस्तुतः, मैथुन संज्ञा मनुष्य की पाशविक प्रवृत्ति की परिचायक है। इस पर विजय पाने हेतु जैन दर्शन में ब्रह्मचर्य की साधना को मुक्ति का सोपान बताया गया है। यह बात ठीक है कि मैथुन संज्ञा के बिना संसार नहीं चल सकता। इसीलिए इसे पूरी तरह से नकारा नहीं जा सकता, परन्तु इस सम्बन्ध में भी विवेक अतिआवश्यक है। यदि कामवासनाओं पर विवेक की लगाम न लगाई जाये तो सम्पूर्ण समाज व्यवस्था खतरे में पड़ सकती है। प्रस्तुत चतुर्थ अध्याय में हमने कामवासना सम्बन्धी विकारों को विवेक की तराजू में तोलने का प्रयास किया है, साथ ही कामवासना के जय की प्रक्रिया और ब्रह्मचर्य की साधना के महत्त्व को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है तथा यह दिखाने का प्रयास किया है कि कामवासना का निरसन कैसे संभव है।

शोधप्रबंध का पंचम अध्याय परिग्रह-संज्ञा के विवेचन से सम्बन्धित है। लोभ मोहनीय कर्म के उदय से सचित्त व अचित्त द्रव्य का संचय करने की वृत्ति परिग्रह संज्ञा है। प्राणी की संचयात्मक वृत्ति के कारण इसकी उत्पत्ति के चार प्रकार बताए हैं -

1. संचय-करने की वृत्ति से
2. लोभ-मोहनीय कर्म के उदय से
3. अर्थ सम्बन्धी कथा सुनने से
4. परिग्रह सम्बन्धी विचार करने से

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि 'मूर्च्छा परिग्रहः है'। वस्तुतः संचय में गाढ़ आसक्ति परिग्रह संज्ञा है। परिग्रह दो प्रकार का बताया गया है - 1. बाह्य 2. आभ्यन्तर। प्रस्तुत शोध में परिग्रह के स्वरूप एवं लक्षण की चर्चा तो की ही गई है, साथ ही संचय-वृत्ति से होने वाले दुष्परिणामों को भी दर्शाया गया है। समाज में संचय वृत्ति को लेकर जो आपा-धापी या अराजकता फैली हुई है, उसका निराकरण कैसे सम्भव है, यह दिखाने का प्रयास किया गया है, साथ ही महात्मा गांधी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त कितना सार्थक हो सकता है और मानव जीवन में

ममत्व वृत्ति का त्याग एवं समत्व वृत्ति का विकास कैसे संभव हो सकता है, इस दिशा में चिन्तन किया गया है।

शोध-प्रबन्ध का षष्ठ अध्याय क्रोध-संज्ञा के विवेचन से सम्बन्धित है। क्रोध संज्ञा मानसिक मनोविकार तो है ही, किन्तु उत्तेजक आवेग भी है, जिसके उत्तेजित होते ही व्यक्ति भावाविष्ट हो जाता है। उसकी विचार क्षमता और तर्कशक्ति लगभग शिथिल हो जाती है। प्रस्तुत अध्याय में क्रोध के स्वरूप, लक्षण, कारण और उसके विभिन्न रूपों के बारे में चर्चा तो की ही गई है, साथ ही क्रोध-संज्ञा से होने वाले दुष्परिणामों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। आधुनिक मनोविज्ञान में क्रोध संवेग और आक्रामकता की मूलवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए क्रोध-संज्ञा पर विजय कैसे प्राप्त की जाये एवं जीवन में मानसिक शांति किस प्रकार स्थापित की जाये, इसकी भी चर्चा की गई है।

शोधप्रबन्ध का सप्तम अध्याय मान-संज्ञा के विवेचन से सम्बन्धित है। स्वयं को उच्च एवं दूसरों को निम्न समझना या अहंकार की मनोवृत्ति मानसंज्ञा है। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है - "अभिमानी अहम् में चूर होकर दूसरों को परछाई के समान तुच्छ मानता है।" मानसंज्ञा विनयभाव और मैत्रीभाव का हनन करने वाली है। अहंकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ का घातक है एवं विवेक रूपी चक्षु को नष्ट करने वाला है। इस प्रकार प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के सप्तम अध्याय में मानसंज्ञा का स्वरूप, उसके भेद एवं उसके दुष्परिणामों की चर्चा की गई है। साथ ही मानसंज्ञा या अहंकारवृत्ति पर विजय किस प्रकार से प्राप्त की जाये यह बताने का प्रयास किया गया है।

शोधप्रबन्ध का अष्टम अध्याय माया-संज्ञा के विवेचन से सम्बन्धित है। माया संज्ञा से तात्पर्य कपटवृत्ति से है। मुख्यतः हृदय की वक्रता का नाम माया है, जैसे बंजर भूमि में बोया बीज निष्फल जाता है। मलिन चादर पर चढ़ाया केसरिया रंग व्यर्थ हो जाता है, नमक लगे बर्तन में दूध विकृत हो जाता है; ठीक वैसे ही मायावी का किया गया धर्म-कार्य भी सफल नहीं हो पाता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अष्टम

अध्याय में माया संज्ञा अर्थात् कपटवृत्ति का स्वरूप, भेद एवं उसके दुष्परिणामों पर चर्चा की गई है साथ ही, माया संज्ञा या कपटवृत्ति पर विजय किस प्रकार से प्राप्त की जाये, यह भी बताने का प्रयास किया गया है।

शोधप्रबंध का नवम अध्याय लोभ—संज्ञा के विवेचन से सम्बन्धित है। मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा या लालसा लोभ कहलाती है। लोभ एक ऐसी मनोवृत्ति है, जिसके वशीभूत होकर व्यक्ति पापों के दलदल में पैर रखने के लिए भी तैयार हो जाता है। स्थानांगसूत्र में लोभ प्रवृत्ति को अमिषावर्त कहा गया है। जिस प्रकार मांस के लिए गिद्ध आदि पक्षी चक्कर काटते हैं, उसी प्रकार लोभी मनुष्य इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए उद्यमशील रहता है। प्रस्तुत शोध प्रबंध के नवम अध्याय में लोभसंज्ञा से होने वाले दुष्परिणामों को भी बतलाने का प्रयास किया गया है। साथ ही लोभवृत्ति पर विजय के क्या उपाय हो सकते हैं, यह भी खोजने का प्रयत्न किया गया है।

इस शोधप्रबंध का दशम अध्याय लोकसंज्ञा एवं ओघसंज्ञा से सम्बन्धित है। लोक व्यवहार से चेतना का प्रभावित होना लोक संज्ञा है, या ऐसी इच्छा करना जैसे संसार में मेरी पूछपरख हो, मेरी प्रतिष्ठा में वृद्धि हो और भौतिक सुखों की प्राप्ति हो आदि की अभिलाषा लोक संज्ञा है। उपनिषदों में एवं जैन ग्रन्थ आचारांग, इसिभासियाइं आदि में लोकैषणा का उल्लेख हुआ है। हमारी दृष्टि में लोकैषणा का तात्पर्य लौकिक उपलब्धियों की आकांक्षा से है। इसके साथ ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में लोक संज्ञा की प्रासंगिकता पर विचार करने का प्रयास किया गया है। साथ ही लोक संज्ञा के दुष्परिणामों को भी स्पष्ट किया गया है। इसी अध्याय में लोक संज्ञा के साथ-साथ ओघ संज्ञा की भी चर्चा की गई है। प्राणी मात्र में रहने वाली सामान्य अनुकरण की वृत्ति या सामुदायिकता की वृत्ति ओघ संज्ञा है। जो वृत्ति सम्पूर्ण जाति, वर्ग आदि में समान रूप से पाई जाती है, वह वृत्ति ओघ संज्ञा है। जैनाचार्यों ने जनसाधारण की वृत्ति के अनुसार आचरण करने का अथवा लोक प्रचलित व्यवहार का समर्थन करने को ओघ संज्ञा कहा है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के

इस दसवें अध्याय में ओघ संज्ञा के अर्थ को विस्तारपूर्वक समझाने का प्रयत्न किया गया है। समाज एवं जनसामान्य के हित को ध्यान में रखकर लोकसंज्ञा और ओघसंज्ञा पर कैसे विजय प्राप्त की जाये, यह बताने का भी प्रयास किया गया है।

इस शोधप्रबंध का ग्यारहवाँ अध्याय सुखसंज्ञा और दुःखसंज्ञा से सम्बन्धित है। सातावेदनीय कर्म के उदय से होने वाली सुखद अनुभूति सुखसंज्ञा है और असातावेदनीय कर्म के उदय से होने वाली दुःखद अनुभूति दुःखसंज्ञा है। आधुनिक मनोविज्ञान में यह भी बताया है कि सुख सदैव अनुकूल इसलिए होता है कि उसका जीवन शक्ति को बनाये रखने की दृष्टि से मूल्य है और दुःख इसलिए प्रतिकूल होता है कि यह जीवन शक्ति का ह्रास करता है। यही सुख—दुःख का नियम समस्त व्यवहार का चालक है। जैन—दार्शनिक भी प्राणीय व्यवहार के चालक के रूप में इसी सुख—दुःख के नियम को स्वीकार करते हैं। अनुकूल के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल के प्रति विकर्षण यह प्राणीय स्वभाव है। आचारांगसूत्र में कहा गया है —“सभी प्राणियों को सुख प्रिय है, अनुकूल है और दुःख अप्रिय है, प्रतिकूल है।” सभी प्राणी सुख प्राप्त करना चाहते हैं और दुःख से बचना चाहते हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में ग्यारहवें अध्याय में सुख और दुःख संज्ञाओं का अर्थ तथा उनकी सापेक्षता को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। साथ ही सुख व्यवहार के प्रेरक के रूप में और दुःख व्यवहार के निवर्तक के रूप में किस प्रकार कार्य करते हैं, इस बात का भी उल्लेख करने का प्रयास किया गया है। साथ ही सुखवाद की अवधारणा एवं भौतिक सुख और आत्मिक आनन्द में क्या अन्तर है, इसको भी समझाने का प्रयत्न किया गया है।

इस शोध प्रबंध का बारहवाँ अध्याय धर्म—संज्ञा से सम्बन्धित है। आत्मा की कर्मक्षय के निमित्त से होने वाली स्वभाव परिणति धर्मसंज्ञा है। जैन दर्शन में स्व—स्वभाव में अवस्थिति और परपरिणति से निवृत्ति को ही धर्म संज्ञा कहा गया है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में धर्म के विभिन्न कार्य उसकी परिभाषाएँ एवं धर्म संज्ञा का सम्यक् स्वरूप क्या है, यह बताने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही धर्म की

जीवन में क्या उपादेयता है, इस बात को समझाने का भी प्रयास किया गया है। धर्म संज्ञा ही मोक्ष का सोपान किस रूप में है उसे भी स्पष्ट किया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध के तेरहवें अध्याय में हमने मोहसंज्ञा, शोकसंज्ञा और विचिकित्सासंज्ञा की चर्चा की है। यहाँ मोह का अर्थ सांसारिक पदार्थ के प्रति ममत्व की वृत्ति है, मोह पर में स्व का आरोपण है और इसलिए वह मोक्ष में बाधक है। प्रस्तुत अध्याय में मोहसंज्ञा की विवेचना करते हुए यह भी बताने का प्रयास किया है कि मोह पर विजय कैसे प्राप्त की जाये।

इसी प्रकार, इस अध्याय में शोकसंज्ञा की चर्चा की गई और उसे आर्त्तध्यान का ही रूप बताया गया है। इस शोक के साथ यह भी स्पष्ट किया गया है कि इसके क्या दुष्परिणाम होते हैं और उस पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है?

इस प्रकार, इस अध्याय में विचिकित्सा संज्ञा अर्थात् धृणा की वृत्ति की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि यह वृत्ति किसके प्रति आवश्यक है और किसके प्रति अनावश्यक है। मुख्य रूप से हमारा प्रतिपाद्य यह है कि जहाँ से राग का जन्म होता है, वहाँ जुगुप्सा साधना का आवश्यक अंग है और जहाँ द्वेष का जन्म होता है, वहाँ जुगुप्सा अनावश्यक है। वस्तुतः जुगुप्सा की वृत्ति हमें राग और द्वेष से मुक्ति दिलाती है और इस प्रकार वह हमारे आध्यात्मिक विकास में सहायक बनती है।

इस शोध प्रबन्ध का चौदहवां अध्याय जैन धर्म की संज्ञाओं की अवधारणा का बौद्धधर्म की चैत्तसिकों की अवधारणा से तुलना से सम्बन्धित है। इसमें बौद्ध दर्शन के बावन चैत्तसिकों के स्वरूप आदि को स्पष्ट करके उनकी जैन दर्शन की संज्ञाओं के साथ तुलना की गई है।

शोध प्रबन्ध के पंद्रहवें अध्याय में जैन दर्शन की संज्ञा की अवधारणा और मनोवैज्ञानिक मैकड्यूगल की मूलवृत्ति की अवधारणा का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है और उनमें रही हुई समानता और भिन्नता को स्पष्ट किया गया है।

शोध प्रबन्ध का अन्तिम सोलहवां अध्याय उपसंहार रूप है इसमें संज्ञा और संज्ञी में अन्तर, संज्ञा विवेकशीलता [Faculty of Reasoning] की चर्चा के साथ-साथ सभी अध्यायों के सारतत्त्व का उल्लेख किया गया है।

वस्तुतः हमारी चेतना पर धर्मसंज्ञा को छोड़कर संज्ञाओं का जो आधिपत्य है, उसे कैसे तोड़े ? चित्त को वासनामुक्त कैसे करें तथा संज्ञाओं के संस्कारों को कैसे मिटाएँ – आज यह साधना के क्षेत्र का भी ज्वलंत प्रश्न है, इस प्रश्न के निराकरण के सम्यक् उपाय की खोज ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का मुख्य लक्ष्य रहा है।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि बीमारी एक होती है, परन्तु भेद के कारण उसके अनेक रूप हो जाते हैं, जैसे दर्द दर्द है पर स्थानभेद के कारण सिर का दर्द, घुटने का दर्द, छाती का दर्द, कंधे का दर्द, गर्दन का दर्द आदि उसके अनेक रूप हो जाते हैं, इसी प्रकार संज्ञा मूलतः दैहिक एवं चैतसिक पर्याय रूप एक ही है, मात्र स्वरूप भेद के आधार पर उसके अनेक प्रकार हो जाते हैं।

आहार के प्रति जो इच्छा और तदजन्य जो आसक्ति होती है, वह आहारसंज्ञा कहलाती है, चेतना में जब भय का संवेग उत्पन्न होता है और तदजन्य जो दैहिक प्रतिक्रियाएं होती हैं तो वे भय संज्ञा कहलाती है तथा परिग्रह या संचयन के प्रति जो आसक्ति या मूर्च्छा का भाव उत्पन्न होता है, तो वह परिग्रहसंज्ञा कहलाती है। वैसे देखा जाए तो संज्ञा पर के प्रति रागात्मक भाव ही है, परन्तु उसकी जिन-जिन दैहिक प्रतिक्रियाओं के रूप में अभिव्यक्ति होती है, वे भिन्न-भिन्न संज्ञाओं का रूप ले लेती हैं।

चेतना किसी समय किसी एक विषय पर सघन होती है और किसी एक विषय पर विरल होती है। नारकीय जीवों में भय-संज्ञा, देवताओं में परिग्रह-संज्ञा, तिर्यंच में आहार-संज्ञा और मनुष्य में मैथुन-संज्ञा प्रबल होती है। यह विभाजन प्रधानता की दृष्टि से किया जाता है। वैसे तो सभी प्राणीय जीवों में आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाएँ होती ही हैं, किन्तु सबका एक समय में प्रबल होना आवश्यक नहीं है, किन्तु धर्म-संज्ञा को छोड़कर शेष सभी संज्ञाओं में राग-भाव या

चैतसिक-आसक्ति ही प्रधान होती है। अतः वह राग-भाव, तृष्णा या आसक्ति कैसे छूटे, यह संज्ञा मुक्ति का उपाय है।

प्रस्तुत शोधप्रबंध का सार यही बतलाना है कि संज्ञाओं को जाने, पहचाने और उस पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करें। यह असंभव नहीं है कि हम संज्ञाओं से मुक्त न हों। आदमी का व्यक्तित्व परिवर्तनशील है, वह चेतना के स्तर पर संज्ञाओं के आवरण को तोड़ सकता है, अर्थात् इस प्रकार अनासक्त, वीततृष्णा या वीतराग जीवन-दृष्टि का विकास कर अपनी चेतना में विवेकशीलता का विकास कर सकता है। यदि यह सम्भव नहीं होता है तो साधना की बात ही व्यर्थ हो जाएगी, धर्म-साधना का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा तथा हमारे पुरुषार्थ की भी कोई सार्थकता नहीं होगी।

जैन-धर्मदर्शन की यह मान्यता है कि -'प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकती है।' परमात्मपद की यह प्राप्ति तृष्णा, राग-द्वेष एवं मोह पर विजय अर्थात् संज्ञाओं पर विजय प्राप्ति के द्वारा ही संभव है। आत्मा परमात्मा बने, हमारी चेतना निराकुल हो सके, यह बताना ही इस शोधप्रबन्ध की उपादेयता है।

-----000-----

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

जैन आगमों की सूची

क्र	ग्रन्थ का नाम	संपादक/अनुवादक	प्रकाशन	सन्
1.	अनुयोगद्वारसूत्र	संपा. मधुकरमुनि जी	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1984
2.	अंकुत्दशांगसूत्र	संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाडनूं (राज.)	वि.सं. 2031
3.	आचारांगसूत्र (भाग-1,2)	संपा. आत्मारामजी मुनि समदर्शी	जैनागम प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना	1963
4.	आचारांगसूत्र	वा.प्र./आचार्य तुलसी सं./आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाडनूं (राज.)	2000
5.	आचारांगसूत्र भाग-1	संपा. नेमीचंद बांठिया पारसमल चण्डालिया	श्री अखिल भारतीय सुधर्म, जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, ब्यावर (राज.)	2006
6.	आचारांग निर्युक्ति	सं. शीलांककृत	आगमोदय समिति, सूरत	वि.सं. 1973
7.	आवश्यकसूत्र	सं. जिनेन्द्रगणी	हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबाखल, शान्तिपुरी (सौराष्ट्र)	1975
8.	आवश्यकसूत्र	सं. युवाचार्य श्री मिश्रिमल	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)	
9.	आवश्यकनिर्युक्ति	सं. भद्रबाहुकृत निर्युक्ति की मलयगिरि टीका	आगमोदय समिति, बम्बई	1928
10.	अभिधान राजेन्द्रकोष (भाग 1-7)	कोश-संकलन श्रीमद्र राजेन्द्रसूरि जी म.सा.	श्री अभिधानराजेन्द्रकोश प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद	1986
11.	आगम शब्द कोष	आचार्य तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाडनूं	1980
12.	जैन आगम : वनस्पति कोश	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूं (राज.)	1996
13.	इसिभासियाई सुत्ताई	सं. महोपाध्याय विनयसागर	प्राकृतभारती अकादमी, जयपुर	1988
14.	उत्तराध्ययनसूत्र	सं. आ. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1984
15.	उत्तराध्ययनसूत्र	स. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूं (राज.)	2000
16.	उत्तराध्ययन निर्युक्ति	स. शान्तिसूरि	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार	1927
17.	उपासकदशांगसूत्र	स. आचार्य मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1984
18.	उपासकदशांगसूत्र	सं. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाडनूं (राज.)	2000
19.	ओघनिर्युक्ति	सं. विजयाजिनेन्द्र सूरि	श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबाखल, शान्तिपुरी	1989
20.	औपपातिकसूत्र	सं. युवाचार्य श्री मिश्रिमल	श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबाखल, शान्तिपुरी	1989

21. कल्पसूत्र	सं. आनन्दसागरजी	आनन्दसागर जी, सैलाना	1976
22. ठाणं	मुनि नथमल (महाप्रज्ञ)	जैन विश्वभारती लाडनू (राज.)	वि.सं. 2033
23. दसवेआलियं	सं. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाडनू (राज.)	1964
24. नन्दीसूत्र	सं. आचार्य मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1984
25. निशीथसूत्र	व्याख्या, अमोलक ऋषि	हैदराबाद सिकन्दराबाद जैन संघ	वि.सं. 2446
26. प्रश्नव्याकरण	सं. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाडनू (राज.)	
27. प्रज्ञापनासूत्र	सं. आ. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)	1993
28. भगवतीसूत्र	स. युवाचार्य श्री मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)	
29. भगवई (विआहपण्णत्ति)	सं. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाडनू (राज.)	1994
30. सूत्रकृतांगसूत्र	सं. आचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)	1991
31. समवायांगसूत्र	सं. आचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)	1991
32. ज्ञाताधर्म कथांग	सं. आचार्य मधुकर मुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)	1981

बौद्ध परम्परा के त्रिपिटक ग्रन्थों की सूची

क्र	ग्रन्थ का नाम	संपादक/अनुवादक	प्रकाशन	सन्
1.	अंगुत्तरनिकाय	अनु. भदन्त आनन्द कौशव्यायन्	महाबोधि सभा कलकत्ता	1963
2.	अभिधम्मत्थसंगहो	आचार्य अनुरुद्ध/ अनु. भदन्त आनन्द कौशव्यायन्	बुद्ध विहार, लखनऊ	1960
3.	धम्मपद	अनु. राहुल जी	बुद्ध विहार, लखनऊ	
4.	मज्झिमनिकाय	भिक्षु जगदीश	नव नालंदा महाविहार, संस्करण	
5.	मज्झिमनिकाय (हिन्दी)		महाबोधि सभा, सारनाथ	
6.	संयुक्त निकाय		नव नालंदा महाविहार	
7.	संयुक्त निकाय (हिन्दी)	अनु. जगदीश काश्यप	धर्मरक्षित महाबोधिसभा	1954
8.	सुत्तनिपात	अनु. भिक्षु धर्मरत्न	महाबोधिसभा, बनारस	1950

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों की सूची

क्र	ग्रन्थ का नाम	संपादक/अनुवादक	प्रकाशन	सन्
1.	तत्त्वार्थराजवार्तिक	अकलंकदेव, सं. प्रो. महेन्द्र कुमार जैन (भाग 1-2)	भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नईदिल्ली	1997
2.	पुरुषार्थसिद्धियुपास	श्री अमृतचन्द्राचार्य	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	1966
3.	धर्माभूत अनंगार	पं. आशाधर, सं. कैलाशचन्द्रशास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन, नईदिल्ली	
4.	तत्त्वार्थसूत्र	वाचक उमास्वाति सं. पं. सुखलाल सिंघवी	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	2007
5.	तत्त्वार्थसूत्र	वाचक उमास्वाति सं. उपाध्याय श्री केवलमुनि	श्री जैन दिवाकर साहित्यपीठ, महावीर भवन, 156, इमली बाजार, इन्दौर	1987
6.	प्रशमरति	वाचक उमास्वाति	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, मुम्बई	1950
7.	प्रशमरति (भाग 1-2)	वाचक उमास्वाति अनु. भद्रगुप्त विजयजी	श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, महेसाणा, गु.	वि.सं. 2042
8.	पंचास्तिकाय संग्रह	कुन्दकुन्दाचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	2000
9.	समयसार	कुन्दकुन्दाचार्य	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	1950
10.	प्रवचनसार	कुन्दकुन्दाचार्य	श्री पाठन दिगम्बर जैन	1982
11.	नियमसार	कुन्दकुन्दाचार्य	दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान	1950
12.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	आ. कार्तिकेय	श्री राजचन्द्र ग्रन्थमाला, अगास	1960
13.	मोक्षमार्ग प्रकाशक	पं. टोडरमल	साहित्य प्रकाशन ए-4, बापुनगर, जयपुर	1994
14.	छहढाला	कविवर दौलतराम	पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4 बापुनगर जयपुर	
15.	गोमटसार (जीवकाण्ड)	आ. नेमिचन्द्र	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास	1978
16.	द्रव्यसंग्रह (बृहद्द्रव्यसंग्रह)	आ. नेमिचन्द्र	गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला	1966
17.	प्रवचन-सारोद्धार	आ. नेमिचन्द्र अनु. साध्वी हेमप्रभाश्री भाग 1-2	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	1999
18.	सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद देवनन्दी सं. फूलचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड नईदिल्ली	1999
19.	षट्खण्डागम (षट्खण्डागम की धवला टीका सहित)	श्री पुष्पदंत भूतबलि सं. फूलचन्द्र शास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1985

20.	बृहत्संस्कृतसंग्रह (टीकासहित)	ब्रह्मदेव	श्रीमद्र राजचन्द्र आश्रम, अगास	वि.सं. 2022
21.	मूलाचार	आचार्य वट्टकेरस्वामी	भारत वर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्	1996
22.	ज्ञानार्णव	आचार्य शुभचन्द्र	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्र राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास	1995
23.	श्री रत्नकरण्डक श्रावकाचार	श्री समन्तभद्र आचार्य	श्री मध्यक्षेत्रीय मुमुक्षु मण्डल संघ, सागर (म. प्र.)	1983

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों की सूची

क्र	ग्रन्थ का नाम	संपादक/अनुवादक	प्रकाशन	सन्
1.	अर्थवेद		संस्कृति संस्थान, बरेली	1962
2.	ऋग्वेद		संस्कृति संस्थान, बरेली	1962
3.	कल्याण (भागवतांक) सोलहवें वर्ष विशेषांक		'कल्याण' कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर	1998
4.	श्रीमद्भगवद्गीता		गीताप्रेस, गोरखपुर	
5.	गीता (शांकरभाष्य)		गीताप्रेस, गोरखपुर	सं. 2018
6.	गीता (रामानुजभाष्य)		गीताप्रेस, गोरखपुर	सं. 2008
7.	गरुड पुराण		संस्कृति संस्थान, बरेली	
8.	महाभारत	वेदव्यास	गीताप्रेस, गोरखपुर	
9.	मनुस्मृति	आचार्य मनु	पुस्तक मंदिर, मथुरा	वि.सं. 2015
10.	मार्कण्डेयपुराण	वेदव्यास	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं. 2057
11.	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण	महर्षि वाल्मीकी	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं. 2057
12.	श्री विष्णुपुराण (हिन्दी अनुवाद सहित)	वेदव्यास	गीताप्रेस, गोरखपुर	स. 2057

परवर्ती आचार्यों एवं लेखकों कृत सूची

क्र	संपादक/अनुवादक	ग्रन्थ का नाम	प्रकाशन	सन्
1.	अन्नमभट्ट	तर्कसंग्रह	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1985
2.	अरुण कुमार सिंह, आशीष कुमार सिंह	आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	2008
3.	अरुण कुमार सिंह	उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1997

4.	अरुण कुमार सिंह	व्यक्तित्व का मनोविज्ञान	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	2000
5.	अरुण कुमार सिंह	आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	2001
6.	अमर मुनि	सूक्ति त्रिवेणी	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-2	1988
7.	ओझा एवं भार्गव	शारीरिक मनोविज्ञान	हरप्रसाद भार्गव पुस्तक, 4/230, कचहरी घाट, आगरा	1983
8.	ओशो	महावीर वाणी (1+2)	रेबल. पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि., 50 कोरेगाँव पार्क, पुणे	1998
9.	केवल मुनि	भगवान महावीर	जैन दिवाकर सेवासंघ, बाजार रोड कर्नाटक	1992
10.	कन्हैयालाल लोढा	दुःखरहित सुख	प्राकृत भारतीय अकादमी, जयपुर	2005
11.	कन्हैयालाल लोढा	जैन धर्म में ध्यान	प्राकृत भारतीय अकादमी, जयपुर	2007
12.	गिरधारीलाल श्रीवास्तव	शिक्षा मनोविज्ञान	न्यू बिल्डिंग्स, अमीनाबाद, लखनऊ	1972
13.	श्री चिरंतनाचार्य सं. श्री जितेन्द्रविजयजी	श्री पंचसूत्र	शा. भीमराज भगवानचन्द्रजी धारीवाल पो. गढ़ भिवाना (राज.)	
14.	चितरंजनदास (डॉ. रामकृष्ण आचार्य)	सांख्यकारिका	साहित्य भंडार, सुभाष बाजार, मेरठ	
15.	चितरंजनदास (डॉ. रामकृष्ण आचार्य)	सांख्यकारिका	हंसा प्रकाशन, जयपुर	2008
15.	श्री चन्द्रप्रभसागर	आपकी सफलता आपके हाथ	जितयशा फाउंडेशन बी-7, अनुकंपा द्वितीय एम.आई.रोड, जयपुर	2005
16.	श्री चन्द्रप्रभ सागर	न जन्म न मृत्यु	पुस्तक महल, दिल्ली	2003
17.	श्री जिनभद्रगणि श्रमाश्रमण	विशेषावश्यक भाष्य	प्राकृत विद्यापीठ वैशाली, बिहार	
18.	श्री जिनसेनाचार्य	महापुराण	जयप्रकाश नाथ एंड कंपनी, मेरठ	1973
19.	डॉ. जे.एन. सिन्हा	नीतिशास्त्र	जयप्रकाश नाथ एंड कंपनी, मेरठ	
20.	मुनि तरुणसागर	दुःख से मुक्ति कैसे मिले ?	अहिंसा महाकुंभ प्रकाशन, 196, सेक्टर-18, फरीदाबाद (हरियाणा)	2010
21.	देवेन्द्रसूरिकृत, सं.प मुनि श्री मिश्रीमलजी	कर्मग्रन्थ (1-5)	श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर, ब्यावर	1976
22.	आ. देवेन्द्रमुनि	कर्मविज्ञान (1-9)	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, शास्त्री सर्किल, उदयपुर	1993

23	आ. देवेन्द्रमुनि	धर्म, दर्शन, मनन और मूल्यांकन	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, शास्त्री सर्किल, उदयपुर	1983
24	आ. देवेन्द्रमुनि	अणु से पूर्ण की यात्रा	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, शास्त्री सर्किल, उदयपुर	1995
25	आ. देवेन्द्रमुनि	व्यसन छोड़ो जीवन मोड़ो	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, शास्त्री सर्किल, उदयपुर	1996
26	आ. देवेन्द्रमुनि	भगवान महावीर एक अनुशीलन-शास्त्र	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, शास्त्री सर्किल, उदयपुर	1974
27	दुलीचन्द जैन	जिनवाणी के मोती	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	2000
28	श्री धर्मदासगणी	उपदेशमाला	जैन आत्मानंद सभा खारगेट, भावनगर सौरा.	वि.सं. 2041
29	नीरज जैन	मानवता की धुरी	प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर	2006
30	महर्षि पतंजलि, सं. कन्हैयालाल लोढा	पातंजल योगसूत्र (अभिनव निरूपण)	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2009
31	भरतसिंह उपाध्याय	बौद्धदर्शन एवं भारतीय दर्शन (1-2)	बंगाल हिन्दी मण्डल	सं. 2011
32	भैरोदान सेठिया	श्री जैन सिद्धांत बोल संग्रह	अगरचंद भैरोदास सेठिया जैन परमार्थिक संस्था, बीकानेर	1998
33	आचार्य महाप्रज्ञ	सोया मन जाग जाए	जैन विश्वभारती प्रकाशन लाडनू (राज.)	1998
34	आचार्य महाप्रज्ञ	अवचेतन मन से सम्पर्क	जैन विश्वभारती प्रकाशन लाडनू (राज.)	1984
35	आचार्य महाप्रज्ञ	अभय की खोज	जैन विश्वभारती प्रकाशन लाडनू (राज.)	1985
36	आचार्य महाप्रज्ञ	महावीर का अर्थशास्त्र	जैन विश्वभारती प्रकाशन लाडनू (राज.)	2007
37	आचार्य महाप्रज्ञ	महावीर का स्वास्थ्य शास्त्र	जैन विश्वभारती प्रकाशन लाडनू (राज.)	2000
38	आचार्य महाप्रज्ञ	चेतना का उर्ध्वारोहण	जैन विश्वभारती प्रकाशन लाडनू (राज.)	1978
39	मुनि मनितप्रभसागर	प्रथम कर्मग्रन्थ	जहाज मंदिर, मांडवला (राज.)	वि.सं. 2533
40	मुनि मनितप्रभसागर	दण्डक प्रकरण	जहाज मंदिर, मांडवला (राज.)	2009
41	यशोविजयजी, अनु. डॉ. प्रीतिदर्शनश्रीजी	अध्यात्मसार	प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर म.प्र.	
42	यशोविजयजी, विवेचन भद्रगुप्त विजयजी	ज्ञानसार	विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट भवन महेसाणा	2042
43	यशोविजयजी अनु. गणि मणिप्रभसागर	ज्ञानसार	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	1995
44	डॉ. रामनाथ शर्मा	सामान्य मनोविज्ञान की रूपरेखा	केदारनाथ रामनाथ, 132, कालिज रोड, मेरठ	1979

45	Robert S. Feldman	Understanding Psychology	Tata Mc Graw Hill Publishing Company Limited, New-Delhi	2005
46	वादिदेवसूरि	प्रमाणनय तत्त्वालोक	जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, अहमदाबाद	1972
47	मुनि विनयसागर	गौतमरास : परिशीलन	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	1987
48	साध्वी डॉ. विनीतप्रज्ञा	उत्तराध्ययन दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका महत्व	श्री चन्द्रप्रभु महाराज जुन जैन मंदिर ट्रस्ट, 345 मिन्ट स्ट्रीट	2002
49	वामन शिवराम आप्टे	संस्कृत-हिन्दी कोश	मोतीलाल बनारसीलाल वाराणसी	
50	हरिभद्रसूरि	श्री ललित विस्तार	दिव्यदर्शन ट्रस्ट द्वारा कुमारपाल विशाह, 36 कलिकुण्ड सोसायटी, धोलका, (गुजरात)	वि.सं. 2055
51	आ. हेमचन्द्राचार्य	योगशास्त्र	निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली-6	1975
52	आ. हेमचन्द्राचार्य	त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र	जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर	
53	आ. श्री हेमरत्नसूरि	रीसर्च ऑफ डार्इनींग टेबल	अर्हद् धर्म प्रभावक ट्रस्ट प्रार्थनापीठ, 17, इलोरा पार्क सोसायटी, जैन देरासर के पास, नारणपुरा, चार रस्ता, अहमदाबाद	सं. 2063
54	सा. डॉ. हेमप्रज्ञा जी	कषाय : एक तुलनात्मक अध्ययन	श्री विचक्षण प्रकाशन, इन्दौर	1999
55	डॉ. सागरमल जैन	जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (भाग 1-2)	राजस्थान प्राकृत भारतीय संस्थान, जयपुर	1982
56	डॉ. सागरमल जैन	धर्म का मर्म	प्राच्यविद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर म.प्र.	2010
57	डॉ. सागरमल जैन	जैन धर्मदर्शन एवं संस्कृति (भाग-1)	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1994
58	डॉ. सागरमल जैन	अहिंसा की प्रासंगिकता	प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर	
59	डॉ. सागरमल जैन	जैनधर्म और तांत्रिक साधना	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1997
60	संगमलाल पाण्डे	नीतिदर्शन की पूर्व पीठिका	प्राकृत भारतीय अकादमी जयपुर	2005
61	संगमलाल पाण्डे	नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण	सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद	1969
62	डॉ. साध्वी सुभाषा	जैनदर्शन, सम्यक्ज्ञान दर्शन के परिप्रेक्ष्य में	भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली	2004

पत्र-पत्रिकाएं

1. अनेकान्त	स. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर, उ.प्र.	वीर सेवा मन्दिर, नईदिल्ली
2. अनुसन्धान	विजयशीलचन्द्रसूरि	क्रिश्ना ग्राफिक्स, किरीट हरजीभाई पटेल, 966, नारणपुरा, जूना गाम, अहमदाबाद
3. चरम मंगल (मासिक पत्रिका)	सं. अजय विराट	जय गुरुदेव साहित्य 'एलारका हाउस' 11वीं 'ई' रोड, सरदारपुरा, जोधपुर
4. जिनवाणी	प्रो. डॉ. धर्मचन्द्र जैन	जिनवाणी, दुकान नं. 182 के उपर, बापू बाजार, जयपुर-03 (राज.)
5. तुलसी प्रज्ञा	मुमुक्षु शान्ता जैन	जैन विश्वभारती लाडनूं, राज.
6. देवेन्द्रभारती	वीरेन्द्र डांगी	श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर (राज.)

